संस्कृति का दार्शनिक विवेचन

डा॰ देवराज

प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

संस्कृति का दार्शनिक विवेचन

संस्कृति का दार्शनिक विवेचन

hिन्दी समिति ग्रन्थमाला — ७

संस्कृति का दार्शनिक विवेचन

[सृजनात्मक मानववाद की भूमिका]

डॉ० देवराज

दर्शन-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण
१९५७

मूल्य
छः रुपया

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राजकार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रामाणिक ग्रन्थ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रन्थों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब इसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के सम्बन्ध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्राय: वे सब विषय ले लिये गये हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नहीं है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणों से अन्य स्थानों से नहीं हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रों से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भंडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह

सचिव, हिन्दी समिति

देशभक्त, लेखक और नीतिवेत्ता

जवाहरलाल नेहरू

को

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक में एक नये जीवन-दर्शन की रूपरेखा देने का प्रयत्न किया गया है। इस जीवन-दर्शन को "सृजनात्मक मानववाद" की संज्ञा दी गई है, और उसके आलोक में मानवीय अनुभूति के कतिपय महत्वपूर्ण क्षेत्रों का स्वरूप समझने की कोशिश की गई है। एक नयी जीवन-दृष्टि के प्रतिपादन के मूल में युग की कुछ जरूरतें रहती हैं। हमारे युग की जरूरतें या समस्याएँ अनेक और विविध हैं। हमारी सबसे बड़ी जरूरत है—जीवन-मूल्यों के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण। आज के मनुष्य के मन में यह धारणा क्रमशः घर कर गई है कि हमारे नैतिक तथा दूसरे मूल्य बहुत दूर तक सापेक्ष होते हैं। प्रस्तुत पुस्तक का एक प्रयोजन है, मूल्यों-सम्बन्धी इस संशयवादी तथा निषेधात्मक मनोभाव का निराकरण। इसका दूसरा प्रयोजन है, मनुष्य की उन क्रियाओं की जिनके द्वारा वह विभिन्न मूल्यों की सृष्टि और उपभोग करता है, सम्बद्ध अवगति प्राप्त करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लेखक द्वारा किये हुए व्यवस्थित विवेचन के प्रयत्न ने क्रमशः एक व्यापक "संस्कृति दर्शन" का रूप धारण कर लिया। यह महसूस किया गया कि इस प्रकार का दर्शन ही उन अनेक समस्याओं का समुचित समाधान दे सकता है जो हमारे युग को आन्दोलित कर रही हैं।

एक नवीन जीवन-दर्शन की उपलब्धि के लिये कोई लघु मार्ग नहीं है। जो व्यक्ति इस प्रकार के दर्शन या दृष्टि को विकसित करना चाहता है, उसे अनिवार्य रूप में युग-बोध और युगानुभूति के समस्त क्षेत्रों की परीक्षा और समीक्षा करनी पड़ेगी। संस्कृति-दर्शन इन क्षेत्रों की छानबीन इस दृष्टि से करता है कि वह उनके पारस्परिक सम्बन्धों को उद्घाटित करते हुए यह बता सके कि उनमें से प्रत्येक का, जीवन के व्यापक प्रयोजन एवं अर्थवत्ता की दृष्टि से, क्या और कहाँ स्थान है।

आज के "वैज्ञानिक" मनोवृत्ति के विचारक, फिर चाहे वे नर-विज्ञानी हों अथवा समाज-शास्त्री किंवा तर्क-मूलक भाववाद से प्रभावित दार्शनिक, सब प्रकार के मूल्यानुप्राणित अध्ययनों तथा कथनों के प्रति शंका का भाव रखते हैं। बीसवीं सदी

के चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रचलित धारणा यह है कि मूल्यों की बात करनेवाला शास्त्र या अन्वेषक अवैज्ञानिक होता है। इस प्रचलित मतवाद या फ़ैशन के विरुद्ध प्रस्तुत निबन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि दर्शन को विज्ञान से भिन्न या अवैज्ञानिक ही होना चाहिए। मनुष्य की समस्त क्रियाओं का—और उनमें बोध-क्रिया का भी समावेश है—-लक्ष्य मूल्यों का उत्पादन है। मनुष्य जानने की इच्छा करता है या तो इसलिये कि "जानना" अपने में एक संतोषप्रद अनुभव है, अथवा इसलिये कि उसके द्वारा बाह्य परिवेश को अपनी जरूरतों के अनुरूप ढालने में मदद मिलती है। ज्ञान दो प्रकार का होता है, वैज्ञानिक और दार्शनिक। वैज्ञानिक बोध हमें मुख्यतः परिवेशगत वस्तुओं तथा घटनाओं पर नियंत्रण देता है; इसके विपरीत दार्शनिक बोध वह है जो हमें अनुभूति के, अर्थात् सोचने, महसूस करने और संकल्प करने के, उच्चतर तथा निम्नतर रूपों में विवेक करना सिखलाये। इस दृष्टि से हम दर्शन की परिभाषा निम्न प्रकार से कर सकते हैं: दर्शन का कार्य मनुष्य या मानव-जीवन से सम्बन्धित चरम मूल्यों की प्रकृति का अन्वेषण या उद्घाटन है। जिसे हम वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं वह कारण-मूलक तथा वस्तुओं के अस्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाली होती है, अर्थात् वह उन स्थितियों या दशाओं का संकेत करती है जो वस्तुओं या घटनाओं के आविर्भाव, तिरोभाव और विशेष अवधि तक बने रहने से सहचरित होती हैं। इसके विपरीत दर्शन का कार्य मनुष्य की निरुपयोगी, सांस्कृतिक क्रियाओं की आदर्श-सापेक्ष व्याख्या और मूल्यांकन करना है। यह कहने की जरूरत नहीं कि दर्शन का विषय उक्त क्रियाओं के सामान्य रूप हैं। दर्शन में उन सांस्कृतिक क्रियाओं या अनुभूतियों का जो कला, वैज्ञानिक चिन्तन, नैतिक व्यवहार, आध्यात्मिक साधना तथा दर्शन में भी निहित होती हैं, विश्लेषण और व्याख्या की जाती है, इस उद्देश्य से कि उन नियमों अथवा मानदंडों का उद्घाटन किया जाय जिनके द्वारा उन क्रियाओं अथवा अनुभूतियों के उच्चतर रूपों को निम्नतर रूपों से विविक्त किया जा सके। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र, सौन्दर्य-दर्शन और अध्यात्म-दर्शन (Philosophy of Religion) उसी प्रकार दर्शन के अंग हैं जैसे कि तर्क-शास्त्र और ज्ञानमीमांसा। हमारे मत में दर्शन प्रधानतया मानवीय व्यक्तित्व के गुणात्मक विकास का उपकरण है।

प्रस्तुत पुस्तक का मूल प्रयोजन रचनात्मक है। फिर भी लेखक को अनेक अध्यायों में तर्क-मूलक भाववाद से मतभेद प्रकट करते हुए उसकी परीक्षा करनी पड़ी है। कारण यह है कि उक्त सम्प्रदाय केवल तर्क-शास्त्र की ही प्रामाणिकता को स्वीकार करता है,

और नीति-शास्त्र, सौन्दर्य-दर्शन तथा अध्यात्म-दर्शन को सन्देह की दृष्टि से देखता है, अर्थात् यह कहता है कि वे प्रामाणिक विद्याएँ नहीं हैं।

तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार दर्शन को तर्क-शास्त्र से समीकृत किया जा सकता है, अथवा दर्शन तर्क-शास्त्र का ही एक विभाग है। यह मन्तव्य दो मान्यताओं (Assumptions) पर आधारित है। पहली मान्यता यह है कि जहाँ मनुष्य का तार्किक मस्तिष्क नियमानुसारी ढंग से व्यापृत होता है, वहाँ उसकी नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक चेतना किन्हीं नियमों के अनुसार व्यापृत नहीं होती। दूसरी मान्यता यह है कि जहाँ दर्शन के लिये यह अन्वेषण ज़रूरी है कि मनुष्य की तार्किक प्रकृति किस प्रकार कार्य करती है, वहाँ उसे (दर्शन को) इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि हम नैतिकता तथा सौन्दर्य के क्षेत्रों में एक मानदंड को मानकर चलते हैं या दूसरे को। विज्ञानावलम्बित क्रियाओं द्वारा हम बाह्य परिवेश को परिवर्तित और नियंत्रित करते हैं; तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार शायद यह परिवर्तन और नियंत्रण ही महत्वपूर्ण है। उसके मत में दर्शन को वैज्ञानिक वक्तव्यों के स्पष्टीकरण का उपकरण होना चाहिए, क्योंकि विज्ञान ही महत्वपूर्ण है। कला और नैतिकता महत्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध हमारी चेतना के परिवर्तन या परिष्कार से है, बाह्य परिवेश से नहीं।

तर्क-मूलक भाववादियों की चिन्ता का सब से बड़ा विषय यह है कि हमें केवल निश्चयात्मक ज्ञान के क्षेत्र में ही रहना चाहिए। निश्चयात्मकता की खोज करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानव-जीवन के समस्त मूल्य सापेक्ष ही नहीं, निराधार है। अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' (हिस्टरी आफ़् वेस्टर्न फिलासफ़ी) के चौबीसवें अध्याय के प्रारम्भ में यूनानियों का उल्लेख करते हुए श्री बर्ट्रांड रसेल ने लिखा है कि उन्होंने कला, साहित्य और दर्शन में जो उपलब्धियाँ कीं उन्हें, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, श्रेष्ठ या हीन कहा जा सकता है; किन्तु ज्यामिति के क्षेत्र में उनकी उपलब्धि को लेकर दो मत नहीं हो सकते। मतलब यह कि कला, साहित्य आदि क्षेत्रों में कभी निश्चयात्मक मूल्यांकन नहीं हो सकता। संस्कृति के किसी क्षेत्र के इतिहासकार ने शायद ही कभी ऐसी निषेधात्मक सम्मति प्रकट की हो।

तर्क-मूलक भाववादियों की यह निश्चित धारणा है कि दर्शन को सौन्दर्य, नैतिकता आदि के सम्बन्ध में मतामत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है। इसका मतलब

यह हैं कि दर्शन के अध्ययन से हमें किसी प्रकार के जीवन-विवेक को पाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।

दर्शन की यह स्थिति संकट की स्थिति कही जा सकती है। यदि दर्शन को जीवन के मूल्यों के बारे में कुछ नहीं कहना है, यदि वह हमें जीवन-विवेक नहीं दे सकता, यदि वह विज्ञान का सहकारी मात्र है और उसका विज्ञान से कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा स्वामी से सेवक का होता है, यदि दर्शन का कार्य वैज्ञानिक चिन्तन के मार्ग को साफ करना भर है, तो यह स्पष्ट है कि उसका जीवन के उन पहलुओं से जो हमें महत्वपूर्ण लगते हैं, कोई सम्पर्क या लगाव नहीं रह जाता।

हमारी समझ में दर्शन की इस स्थिति के मूल में योरपीय विचारकों का एक दुराग्रह या भूल है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने प्रायः तेईस शताब्दियों पूर्व अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "नीति-दर्शन" में लिखा था: 'शिक्षित मनुष्य का यह लक्षण है कि वह प्रत्येक वर्ग की वस्तुओं में उतने ही सहीपन की माँग करे जितना कि विषय की प्रकृति संभव बनाती है; स्पष्ट ही यह मूर्खता है कि हम एक गणितज्ञ से केवल सम्भाव्य प्रमाण की माँग करें, और एक अलंकारशास्त्री (Rhetorician) से वैज्ञानिक उपपत्ति की।' चूँकि मनुष्य का व्यवहार सृजनात्मक होता है, इसलिये उसके नियामक कानून प्रकृति-जगत् के नियामक कानूनों से अवश्य ही भिन्न होंगे। फलतः हम मानवीय व्यवहार का अध्ययन उन पद्धतियों से नहीं कर सकते जिन से प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। योरपीय दर्शन के इतिहास में विचारकों ने जो बार-बार इसका प्रयत्न किया है कि दर्शन को गणितात्मक अथवा वैज्ञानिक बना दें, उसके मूल में उनके द्वारा उक्त तथ्य की उपेक्षा ही रही है।

इस पुस्तक में मानवीय सृजनशीलता का अध्ययन यह समझने के लिये किया गया है कि मनुष्य द्वारा किये गये मूल्यों के उत्पादन और उपभोग में उसका क्या हाथ रहता है। यहाँ सृजनशीलता की धारणा का उपयोग जहाँ एक ओर मानवीय संस्कृति के विभिन्न रूपों के बोध या व्याख्या के लिए किया गया है, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक मनुष्य की प्रमुख समस्याओं के समाधान के लिये भी। 'भूमिका' में सृजनशीलता के स्वरूप का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु वह वर्णन पूर्ण नहीं है। जैसे-जैसे विवेचन अग्रसर होता है, उक्त धारणा का अर्थ अधिकाधिक परिस्फुट और समृद्ध होता जाता है। किन्तु पाठक देखेंगे कि इस पुस्तक में उक्त धारणा का प्रयोग

क़िसी रहस्यमय, काल्पनिक अथवा तत्व-कल्पना से संबंधित (Metaphysical) अर्थ में नहीं किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत लेखक तथा फ्रांसीसी दार्शनिक हैनरी बर्गसाँ के मतों में प्रायः कुछ भी समानता नहीं है। अन्तिम विश्लेषण में बर्गसाँ की दर्शन-पद्धति काफ़ी हद तक बुद्धि-विलासी (Speculative) है, जब कि प्रस्तुत लेखक को दार्शनिक चिन्तन की वह शैली पसन्द है जो परिचित अनुभव से अधिक दूर नहीं जाती।

हमारे मत में दर्शन का विषय कोई इन्द्रियातीत तत्व पदार्थ नहीं है। दर्शन का काम मानवीय चेतना के उन सामान्य रूपों का विश्लेषण और व्याख्या है जो स्वयं में मूल्यवान् समझे जाते हैं। दर्शन में परिवर्तन और विकास होता है क्योंकि, मनुष्य के सृजनात्मक इतिहास की अग्रगति के साथ, उक्त चेतना के रूप भी परिवर्तित और विकसित होते रहते हैं। दर्शन की परम्परागत शाखाएँ, अर्थात् नीति-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, तर्कशास्त्र आदि उक्त रूपों की विभिन्न विशेषताओं के प्रगतिमान उद्घाटन में लगे रहे हैं, साथ ही वे उन सिद्धान्तों तथा मानदंडों का विकासमान निरूपण भी करते रहे हैं जिनसे उक्त चेतना-रूपों की प्रामाणिकता तथा महत्व को आँका जा सके। इस आलोक में देखने पर यह जान पड़ेगा कि नीति-शास्त्र अथवा सौन्दर्य-दर्शन के उत्तरकालीन सिद्धान्त पूर्व सिद्धान्तों का उसी प्रकार खंडन नहीं करते जिस प्रकार कि आधुनिक गणित-मूलक तर्क-शास्त्र (Mathematical Logic) अरस्तू के तर्कशास्त्र का खंडन नहीं करता। उदाहरण के लिये सौख्यवादियों का यह सिद्धान्त कि मनुष्य को "अधिकांश मनुष्यों के अधिक सुख" को अपने कर्मों का लक्ष्य बनाना चाहिए उन दूसरे सिद्धान्तों का खंडन दही करता जिनके अनुसार हमें सत्य, सौन्दर्य, साधुता अथवा आध्यात्मिक पूर्णता को जीवन का ध्येय बनाना चाहिए। इसी प्रकार कला-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त और पैमाने एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक होते हैं।

प्रस्तुत लेखक स्वभाव से बहुत पृच्छाशील और संशयालु रहा है। इस पुस्तक में उसने अनेक मतवादों से मतभेद प्रकट किया है, किन्तु उसे सबसे अधिक संघर्ष स्वयं अपनी शंकाओं तथा सन्देहों से करना पड़ा है। शायद इसीलिये जहाँ उसने प्रकृतिवाद तथा भौतिकवाद को अस्वीकार किया है, वहाँ वह किसी श्रेणी के अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद को स्वीकार नहीं कर सका है। कुछ दिनों उसे यह सोचते हुए संकोच और कष्ट भी रहा कि उसकी विचार-पद्धति का भारत की प्राचीन दार्शनिक परम्परा

से कोई लगाव नहीं दीखता। किन्तु एक दिन उसने सहसा एक गहरे वैसे लगाव की चेतना प्राप्त की, और तब उसे बड़ा सन्तोष और प्रसन्नता हुई। इस लगाव का विशेष सम्बन्ध वेदान्त दर्शन से है। अद्वैत वेदान्त के प्रमुख विचारकों ने विश्व-ब्रह्मांड की कारण-मूलक व्याख्या में कभी विशेष रुचि नहीं ली, उनका प्रधान लक्ष्य यह था कि मानव-अस्तित्व को उच्चतर तथा पूर्णतर बनाने के उपायों का निर्देश करें। प्रस्तुत लेखक की सम्मति में भी दार्शनिक चिन्तन और बोध का प्रमुख ध्येय यही है, अर्थात मानव-व्यक्तित्व को अधिक परिष्कृत और श्लाघ्य बनाना। फिर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि अद्वैत वेदान्त और प्रस्तुत लेखक के विचारों में बहुत ज्यादा समानता है। मैं वेदान्त के वैराग्यवाद और परलोकवाद को स्वीकार नहीं करता; प्रस्तुत गुणात्मक मानववाद में भी अनेक भारतीय दर्शनों के वैराग्यवाद के लिये स्थान नहीं है।

इस समय हमारे देश में दार्शनिक जिज्ञासा और चिन्तन बड़ी अवनत अवस्था में हैं। मौलिक चिन्तन का अभ्यास तो जैसे हम भूल ही गये हैं। विदेशी शासन के समय में हमारे देश के अनेक मनीषियों, जैसे स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, तथा सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, और श्री अरविन्द तथा गांधीजी ने भी, प्राचीन विचार-पद्धतियों की नयी, युगोचित व्याख्याएँ दीं। इन व्याख्याओं ने हमारे देशवासियों में आत्म-गौरव की भावना जागृत करने में मदद दी, और इस प्रकार हमारे स्वतंत्रता-संग्राम को प्रच्छन्न रूप में पुष्ट किया। किन्तु हमारी धारणा है कि प्राचीन दर्शनों की पुनर्व्याख्या कभी नये चिन्तन तथा नवीन विचार-पद्धतियों के निर्माण का स्थान नहीं ले सकती। यह उचित ही है कि हम अपनी प्राचीन दार्शनिक धरोहर पर गर्व करें, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आज हम, नये युग के नये बोध और प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए, नवीन, साहसपूर्ण चिन्तन न करें।

यातायात के बढ़े हुए साधनों ने आज विभिन्न देशों का भौगोलिक एकान्त समाप्त कर दिया है, इसलिए आज के भारतीय विचारकों को जहाँ प्राचीन भारत से प्रेरणा लेनी चाहिए, वहाँ अन्य सभ्य देशों की समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं की उपेक्षा न करते हुए उनसे भी पूर्ण लाभ उठाना चाहिए। आज हम ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में, विशेषतः आधुनिक योरप की, सांस्कृतिक लब्धियों की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम उपेक्षा कर भी नहीं रहे हैं: जनतंत्र तथा समाजवाद के सम्बद्ध प्रयोगों एवं बढ़ते हुए औद्योगिक प्रयत्नों के रूप में आज योरपीय संस्कृति हमारे जीवन के भीतरी कक्षों में प्रवेश कर चुकी है।

इसका यह मतलब हर्गिज़ नहीं कि हमें प्राचीन देशों और विचारकों की उपेक्षा करनी चाहिए, या उनसे हमें कुछ नहीं सीखना है। आज के मनुष्य की सांस्कृतिक स्थिति इतनी नाजुक है कि उसे, उपयोगी जीवन-विवेक प्राप्त करने के लिये, मानव-अतीत के समस्त संचित बोध की आवश्यकता है। बात यह है कि जहाँ भौतिक प्रकृति से सम्बन्धित ज्ञान के क्षेत्र में आज का मनुष्य बहुत आगे बढ़ गया है, वहाँ आत्म-ज्ञान अर्थात् अपनी जीवन-संभावनाओं के क्षेत्र में, उसकी जानकारी बहुत अधिक बढ़ी है, इसमें सन्देह किया जा सकता है। पिछले डेढ़-दो हज़ार वर्षों में मानव-प्रकृति और उसकी प्रेरक प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ वही रही हैं, भले ही उनकी अभिव्यक्ति के रूप अधिक जटिल और विस्तृत हो गये हों। मनुष्य के सुख-दुख के अधिकांश हेतु भी मूलतः वही हैं। यही कारण है कि हम आज भी न केवल प्राचीन साहित्यिक कृतियों जैसे "रामायण" और "इलियड", "मेघदूत" और 'विटा नूवा" में रस ले पाते हैं, बल्कि कौटिल्य, शुक्राचार्य, भीष्म आदि नीति-विशारदों की शिक्षाओं से लाभान्वित भी होते हैं। निष्कर्ष यह कि हमें प्राचीन यूनान, चीन, फारस आदि देशों की संस्कृतियों का भी तुलनात्मक आकलन करना चाहिए। हमें भारत, चीन आदि की प्राचीन संस्कृतियों का केवल इसीलिये तिरस्कार नहीं करना चाहिए कि आज वे देश राष्ट्रों के बीच नेतृत्व के पद पर नहीं हैं। विशेषतः हमें विनम्र भाव से इन प्राचीन देशों की आध्यात्मिक (Religious) परम्पराओं को हृदयंगम करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रस्तुत लेखक को इस बात की प्रसन्नता है कि वह आध्यात्मिक साधना के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण विकसित कर सका है।

आज के भारतीयों को एक बात विशेष रूप में याद रखनी चाहिए : हमारी वर्तमान संस्कृति का माप और मूल्यांकन केवल हमारी प्राचीन धरोहर के आधार पर नहीं किया जायगा; वैसा करने के लिये देखना होगा कि हमारी साम्प्रतिक स्थिति क्या है। संस्कृति मूलतः विशिष्ट क्रियाओं का नाम है, और किसी देश के निवासियों की संस्कृति का अर्थ उनकी आत्मिक क्रियाओं की तीव्रता और विस्तार है। यदि हम आज वैसे क्रियाशील नहीं हैं, यदि आज हममें सक्रिय जिज्ञासा, सत्य और सौन्दर्य की उपलब्धि का भाव, नहीं है, तो हम अपनी समस्त धरोहर के बावजूद संस्कृत नहीं कहला सकेंगे। वस्तुतः हम समृद्ध प्राचीन धरोहर को ठीक से तभी समझ और सँभाल सकते हैं जब हममें पर्याप्त विचार-शक्ति और आत्मिक क्रियाशीलता तथा लगन हो। ये गुण हमारे आगे बढ़ने और दूसरे देशों के बीच पुनः इतिहासोचित गौरवपूर्ण स्थान पाने की आवश्यक शर्त हैं।

इस कृति के प्रतिपाद्य विषय पर मैं प्रायः चार-पाँच वर्ष से काम कर रहा था, और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा स्थापित "हिन्दी समिति" की ओर से "संस्कृति का दार्शनिक विवेचन" पुस्तक की माँग होने से पूर्व, उस विषय पर अंग्रेज़ी में बहुत-कुछ लिख चुका था। अपने वर्तमान रूप में यह पुस्तक इस आशा से देश के आत्म-गौरवी युवक-युवतियों को अर्पित की जा रही है कि वह उन में मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति को विकसित और उत्तेजित करेगी।

इस पुस्तक की विषय-वस्तु बड़ी व्यापक है, फलतः मुझे अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए अनेक शब्द तथा व्यंजनाएँ गढ़नी पड़ी हैं। पाठकों की सुविधा के लिये परिशिष्ट-रूप में आवश्यक शब्द-कोश दे दिया गया है। पुस्तक में जहाँ 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग उद्धरणकामाओं के बीच हुआ है, वहाँ उसका अभिप्राय नर-विज्ञान के प्रचलित अर्थ के अनुकूल है। अन्यत्र प्रायः उसका वह अर्थ है जो प्रस्तुत लेखक को अभिप्रेत है।

इस पुस्तक में प्रस्तुत की हुई विचार-पद्धति के निर्माण में मुझे जिन असंख्य स्वदेशी-विदेशी चिन्तकों और लेखकों से प्रेरणा मिली है उनके प्रति उपयुक्त कृतज्ञता-प्रकाशन सम्भव नहीं है। मैं खासतौर से जर्मन दार्शनिक कांट, बौद्ध विचारक नागार्जुन और धर्मकीर्ति, तथा वेदान्त के आचार्यों से प्रभावित रहा हूँ। तर्क-मूलक भाववाद ने मेरे विज्ञान-सम्बन्धी मन्तव्यों को गठित किया है। अनेक साहित्य-मीमांसकों (जैसे टी० एस्० इलियट) ने भी मुझे प्रभावित किया है।

लखनऊ विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर काली प्रसाद, डॉ० राजनारायण, डॉ० राधाकमल मुकर्जी, और प्रोफेसर के० सुब्रह्मण्य अय्यर से मुझे समय-समय पर सुझाव और प्रोत्साहन मिलते रहे; उन सबका मैं कृतज्ञ हूँ।

लखनऊ **देवराज**

विश्लेषणात्मक विषय-सूची

अध्याय १

भूमिका

भाग १ : वर्तमान सांस्कृतिक संकट

संकट का अर्थ, बौद्धिक विभ्रम और अरक्षा की भावना—संकट के दो भेद—संकट का अर्थ है अवरुद्ध सृजनशीलता। साम्प्रतिक संकट एक दार्शनिक समस्या है। उन्नीसवीं सदी का संकट, और उससे भेद। बीसवीं सदी का अबुद्धिवाद, सापेक्षवाद और संशयवाद। १–९

भाग २

सृजनात्मक मानववाद की परिभाषा—एक मानव-केन्द्रित दर्शन; उसकी दो मान्यताएँ—अतिमानव तत्वों का बहिष्कार; मानवीय ज्ञान की रुचि-सापेक्षता। मानवीय सृजनशीलता के चार रूप। शिलर और कॉरलिस लेमान्ट के मानववादी दर्शनों से भिन्नता। पद्धति-मूलक द्वैतवाद। ९–१८

भाग ३

मानवीय सृजनशीलता और मानवीय विद्याएँ। वस्तुनिष्ठता का अर्थ : सापेक्षता और वस्तुनिष्ठता। तर्कना का आधार, संभावनाओं की अवगति : परिचित अनुभव का विस्तार और पुनः संगठन। भिन्नों तथा विपरीतों की सहप्रामाणिकता का नियम। ज्ञान में सृजनात्मक तत्व। मानवीय सृजनशीलता की अभिव्यक्तियाँ : संस्कृति और सभ्यता। विज्ञान और दर्शन। मोक्षधर्म का महत्व। सारांश और निष्कर्ष!

१८–३६

अध्याय २

मूल्यों की वस्तुनिष्ठता : यथार्थ व अस्तित्व के क्रम

विषय-प्रवेश। ध्वंसात्मक और रचनात्मक समीक्षा। आत्मनिष्ठतावाद का खंडन। आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त का खंडन। वस्तुनिष्ठता की परिभाषा—वस्तु-

निष्ठता और सामान्य-रूपता—प्रतिभा और सामान्यरूपता—शिक्षा और सामान्य-रूपता। तत्वदर्शन-सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष। विज्ञान का स्वरूप और विज्ञानप्रकल्पित पदार्थों की तात्विक स्थिति—यथार्थ या अस्तित्व के विभिन्न क्रम। मूल्यांकन-सम्बन्धी मतभेद। ३७–८०

अध्याय ३

मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-पद्धति

विषय प्रवेश। मानवीय विद्याओं की परिभाषा। मानवीय व्यवहार की जटिलता। मानवीय व्यवहार के निर्धारक। मानवीय विद्याओं का सामान्य वर्गीकरण। मानवीय विद्याओं की सामान्य विशेषताएँ—अमूर्तता—मूल्यात्मकता—ऐतिहासिकता। मानवीय विद्याओं में व्याख्या : सामान्य विवेचन—वैज्ञानिक तथा दार्शनिक व्याख्याएँ। मात्रा-मूलक पद्धतियाँ तथा मानवीय विद्याएँ। मानवीय विद्याओं की विषय-वस्तु। मानवीय विद्याओं में व्याख्या और सामान्य कथन—कारणों और कार्यों की अनेकता—मानवीय सृजनशीलता। मानवीय विद्याओं में सामान्य कथन गुणात्मक होते हैं; वे बुद्धिगम्य सम्बन्धों को प्रकट करते हैं। आँकड़ा-विज्ञान की सीमाएँ—मानवीय विद्याएँ और मनोविज्ञान। यहाँ सामान्य कथन, अर्थों के सन्दर्भ में, मानवीय व्यवहार की संभावनाएँ द्योतित करते हैं। यहाँ ज्ञान सृजनात्मक होता है, और अनुभव के विस्तार तथा पुनः संगठन पर निर्भर करता है। मानवीय विद्याओं में परीक्षण और बोध समानात्मक होते हैं। मानवीय विद्याओं में संयोजक आवश्यक कथन सम्भव हैं।
८१–१३८

अध्याय ४

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यता शब्दों के प्रयोग में अनिश्चय—उसका कारण, मानवीय उपलब्धियों के स्वरूप का अज्ञान। संस्कृति सम्बन्धी कुछ असंतोषजनक मतवाद—नर-विज्ञान का दृष्टिकोण और उसकी समीक्षा। संस्कृति की वर्ग-मूलक व्याख्याएँ : टी० एस्० इलियट का मत और उसकी समीक्षा। मार्क्सवादी मन्तव्य और उसकी समीक्षा—मनुष्य केवल सामाजिक प्राणी नहीं है—सामाजिक जीवन वर्ग-सम्बन्धों में निःशेष नहीं होता। अनुभूति के आयाम : निजी या मनोवैज्ञानिक और विश्व-सम्बन्धी

आयाम—मनुष्य की ऐतिहासिक प्रकृति—मानव-संस्कृति की अविच्छिन्नता। सभ्यता और संस्कृति मूल्यों के रूप में—सभ्यता की परिभाषा : आवश्यकताओं तथा अन्यायपूर्ण नियंत्रण से मुक्ति—प्रवृत्ति से मुक्ति। सभ्यता का अर्थ है उद्योग-तंत्रों की प्रगति तथा संस्थाबद्ध जीवन। संस्कृति की परिभाषा : वे क्रियाएँ जिनके द्वारा मनुष्य वास्तविक या कल्पित यथार्थ के निरुपयोगी रूपों से सम्बन्ध स्थापित करता है। संस्कृति एक साध्यात्मक या चरम मूल्य है—संस्कृति की सार्थकता—संस्कृति, कल्पना और यथार्थ—संस्कृति केवल कल्पना की चीज नहीं—संस्कृति और सभ्यता : सभ्यता सांस्कृतिक क्रिया की ही उपज है। उक्त मन्तव्य का मार्क्सवाद से विरोध। सांस्कृतिक क्रिया के अभ्यस्त रूप सभ्यता हैं। संस्कृति के स्तर—सांस्कृतिक प्रौढ़ता के प्रतिमान : साक्षी की भावना; निर्वैयक्तिकता—निर्वैयक्तिकता और सामान्यरूपता। प्रतिभाशाली और प्रगति-विद्रोह के अन्तर्नियम—विद्रोही और क्रांतिकारी का भेद। प्रतिभाशाली उपेक्षित यथार्थ के प्रवक्ता के रूप में—प्रतिभा और पांडित्य। विद्रोह मानवीय सृजनशीलता की माँग है। क्रान्ति-सम्बन्धी मार्क्सवादी मन्तव्य का खंडन। मनुष्य की सृजनात्मक जरूरतें। इतिहास-दर्शन की समीक्षा। सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगतिशील समाज प्रतिभाशाली की स्थिति की ओर बढ़ता है—आपत्तियाँ और उनका निराकरण। प्राचीन संस्कृतियों का महत्व। १३९–२१०

अध्याय ५

कला की प्रकृति

कला में यथार्थ के प्रति संकेत रहता है—तर्क-मूलक भाववाद के मन्तव्य का खंडन। कला की परिभाषा : रागात्मक सार्थकता वाले जीवन-क्षणों की सृष्टि या अभिव्यक्ति। गीत-काव्य—कथा-मूलक साहित्य। क्रोचे के मत की संक्षिप्त समीक्षा। कला की प्रामाणिकता—अनुभव और अभिव्यक्ति। मनोविश्लेषणवादी मन्तव्य की समीक्षा। कला का युग और परिवेश से सम्बन्ध। कला और परिचित अनुभव—पोप और ऑडेन के मत। कलाकार "क्लासिक्स" क्यों पढ़ें? कलात्मक महत्व के प्रतिमान—निर्वैयक्तिकता—सामान्यरूपता में नवीनता। समीक्षा का स्वरूप और उपयोगिता—समीक्षा की परिभाषा : कला-कृति के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन का प्रयत्न। विश्लेषण और व्याख्या का स्वरूप। आलोचना के सम्प्रदाय—संशयवादी सिद्धान्त—मानदंडों की भिन्नता की व्याख्या। मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय समीक्षा-

सिद्धान्त और उनकी कमियाँ। प्रभाववादी समीक्षा और उसकी कमियाँ। अभिव्यंजनावादी समीक्षा-दृष्टि का खंडन—सारांश और निष्कर्ष। ... २११—२४७

अध्याय ६

दर्शन का स्वरूप

दर्शन के सम्बन्ध में साम्प्रतिक अनिश्चय और उसका कारण। चिंतन के उदय का कारण, अनुभवों में संगति की खोज—विज्ञान और दर्शन। दर्शन-सम्बन्धी स्पेन्सर का मत और उसकी समीक्षा—दर्शन का कार्य व्यापक नियमों का अन्वेषण नहीं है। विज्ञानों की एकता का अन्दोलन, उसकी समीक्षा। भूतशास्त्रवाद की समीक्षा। दर्शन की परिभाषा—सांस्कृतिक अनुभूति के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन का प्रयत्न। दार्शनिक विश्लेषण का स्वरूप—प्रवाहशील क्रिया का विश्लेषण कैसे हो सकता है? आक्षेप का समाधान—अर्थ और प्रेषण—विश्लेषण की परिभाषा—तर्क-मूलक भाववाद के विश्लेषण-सम्बन्धी मन्तव्य से भेद। व्याख्या का अर्थ—प्रत्यय या धारणा की व्याख्या—कथनों की व्याख्या। दर्शन का मूल्यांकन व्यापार—दो प्रकार का मूल्यांकन। दर्शन की समन्वय-क्रिया—दार्शनिक समन्वय अस्तित्व-मूलक नहीं होता, बल्कि मूल्यात्मक होता है। उक्त मन्तव्य की पुष्टि—वेदान्त का मत, कान्ट का मत, बौद्ध मत। दर्शन केवल विश्लेषण नहीं। दार्शनिक चिन्तन का मंडन।
२४८—२८७

अध्याय ७

नीति-धर्म या आचार-नीति

नैतिक अनुभूति की व्यापकता: नैतिक चिन्तन का उदय। नैतिक निर्णयों की सापेक्षता। श्री टूलमिन का मन्तव्य, श्रेयत्व अथवा नैतिक अच्छाई-बुराई गुण नहीं हैं। समस्या: नैतिक मतभेदों की नैतिक मूल्यों की वस्तुनिष्ठता से कैसे संगति बिठाई जाय? श्रेयत्व और नैतिक औचित्य दोनो गुण हैं। साध्यात्मक और साधनात्मक मूल्य। चरम श्रेय सम्बन्धी भिन्न मतों का समन्वय। नैतिक व्यवहार के नियम—उनकी व्याख्या सृजनात्मक होनी चाहिए। दो नियम: (१) दूसरों के प्रति वैसा आचरण न करो जो अपने प्रतिकूल है: (२) मनुष्य को यथाशक्ति निर्वैयक्तिक ढंग से स्वतंत्र और अर्थवान् जीवन-कणों को उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिए। कर्तव्य-

पालन और साधुता : सभ्य व्यवहार कर्तव्य-पालन है; साधुता सांस्कृतिक क्षेत्र की चीज है। व्यक्ति और समाज–मनुष्य की सामाजिकता का मूल उसकी सृजनशील प्रकृति में है––इसी हैसियत से उसे दूसरों के लिए त्याग करना चाहिए। साधुता स्वयं अपना साध्य या पारितोषिक है। २८८–३१७

अध्याय ८

मोक्षधर्म और आध्यात्मिक साधना

धर्म-दर्शन का स्वरूप और कार्य: आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अनुभूति का विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन। विश्लेषण सप्रयोजन होता है, विशुद्ध अस्तित्व-मूलक नहीं। जेम्स का यह प्रस्ताव कि हम अध्यात्म-क्षेत्र की प्रतिभाओं का अध्ययन करें, उपयुक्त है। सामान्य और असामान्य की अविच्छिन्नता; आदिम और विकसित की अविच्छिन्नता। धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभूति की परिभाषा : एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा उपस्थिति (सत्ता) की प्रतीति जो जीवन के समस्त मूल्यों का आधार समझी जाती है। धार्मिक धारणाओं की उत्पत्ति–रहस्यानुभूति तथा अवचेतन–आध्यात्मिक अनुभूति का विषय अवचेतन या उपचेतन मन का प्रक्षेप होता है। गुह्य-शक्तिवाद : धार्मिक अनुभूति के विषय की रहस्यमय शक्ति के रूप में कल्पना जो-देवताओं, दानवों आदि का रूप धारण करती है। परम श्रेय की कल्पना। नेति-नेति––उसकी मानववादी सार्थकता : निम्न, उपयोगी जीवन-क्रम के प्रति वैराग्य-भावना। संत-चरित्र। मोक्षधर्म और समाज–धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूति की प्रामाणिकता। ईश्वर-सम्बन्धी एक युक्ति और उसका खंडन। आदिम धर्म। विज्ञान, दर्शन और अध्यात्म–मोक्षधर्म का भविष्य। ३१८–३४९

अध्याय ९

प्रेम और मैत्री : शिक्षा और राजनीति

प्रस्तुत अध्याय की समस्या: सृजनशील व्यक्तित्व के विकास की हेतुभूत स्थितियों का अन्वेषण। सहयोग, सभ्य व्यवहार का आधार, प्रेम के बिना संभव है; प्रेम हमारे सृजनात्मक जीवन की आवश्यकता है। प्रेम के दो तत्व : प्रेमास्पद की जीवन-प्रक्रिया में साझेदार होने की अभिलाषा, और अपनी जीवन-प्रक्रिया में उसे

साझेदार बनाने की आकांक्षा। प्रेम और निर्भरता–प्रेम और प्रेरणा–प्रेम और विवाह–प्रेम और मैत्री। प्रेम और सन्त जीवन।

शिक्षा की कुछ परिभाषाएँ: शिक्षा सांस्कृतिक विरासत का नियंत्रित और चयनात्मक सम्प्रेषण है। शिक्षा लाभप्रद समझी जाती है। शिक्षा के आदर्श और जीवन-लक्ष्य-विषयक धारणाएँ। दो विरोधी मन्तव्य: प्रथम को वैज्ञानिक-यथार्थ-वादी कह सकते हैं; ज्ञान की सार्थकता कर्म में है—परिवेश पर नियंत्रण ध्येय है, अनुभव-मूलक समीक्षात्मक अन्वेषण-पद्धति साधन। दूसरा मत, नैतिक-सौन्दर्यात्मक-मानववादी: संस्कृत व्यक्तित्व लक्ष्य है, "होना" पर गौरव "पाने" और "करने" पर नहीं। उक्त मतों का समन्वय: विविध मूल्यों के उत्पादन, उपभोग और रक्षण की क्षमताओं का संपादन ही शिक्षा का ध्येय है। विशेषीकरण की आवश्यकता। मूल्य-जगत में प्रवेश–मानव व्यक्तित्व के प्रति ममता और श्रद्धा–व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास। भौतिक सम्पत्ति और सुख-भोग के प्रति उचित दृष्टि–वर्तमान भोगवाद की आलोचना।

व्यक्ति, समाज और राज्य

समस्या: जनता के गुणात्मक विकास की सामाजिक, राजनीतिक हेतुस्थितियों का अन्वेषण। उचित शिक्षा सुव्यवस्थित समाज में ही सम्भव है। राज्य की लगातार विद्यमानता को मान कर चला जा सकता है। राज्य के प्रति दो भिन्न दृष्टियाँ–अरस्तू और हीगल–साम्यवादी और अराजकतावादी। राज्य केवल वर्ग की संस्था नहीं। केवल जनतंत्रीय सरकार ही अपनी शक्ति कम कर सकती है। साम्प्रतिक स्थिति में क्रान्ति की अशक्यता। जनतंत्र और समाजवाद–जनतंत्रीय सरकार वर्ग की सरकार नहीं होती। समाजवाद का अर्थ और महत्व। राज्य एक युद्धकर्ता के रूप में। युद्ध वर्ग-विभाग का कार्य नहीं—प्रो० लास्की का खंडन। राजनीति जीवन-दर्शन की स्थानापन्न नहीं—मनुष्य केवल सामाजिक जीव या नागरिक नहीं। आत्मिक मूल्यों पर गौरव की आवश्यकता–आत्म-परिष्कार पर गौरव होना चाहिए। सभ्यता और संस्कृति के विरोध की धारणा, उसका खंडन। विश्व-शान्ति और प्रभावशील विश्व-व्यवस्था का आधार। ३५०–३९०

शब्दकोष ३९१–३९७

संस्कृति का दार्शनिक विवेचन

अध्याय १

भूमिका

वर्तमान सांस्कृतिक संकट

आज का मनुष्य अपने को एक कठिन तथा व्यापक संकट के बीच पाता है। इस संकट (Crisis) का स्वरूप तथा कारण क्या है? संकट की स्थिति में दो सम्बद्ध मनोदशाएँ वर्तमान रहती हैं, एक बौद्धिक विभ्रम और दूसरी अरक्षा की भावना। संकट की अनुभूति केवल उन्हीं प्राणियों को हो सकती है जिनमें कल्पना-शक्ति है, और जो सृजनशील हैं। दूसरे जन्तुओं के जीवन में जब कोई असामान्य और खतरे की स्थिति आती है, तो सम्भवतः वे परेशान और भयभीत महसूस करते हैं। मनुष्यों में भी प्रायः वे ही संकट का विशेष अनुभव करते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान और संवेदनशील होते हैं। संकट दो प्रकार का होता है। एक प्रकार के संकट की स्थिति तब आती हैं जब, सामने खतरे को देखते हुए, मनुष्य की बुद्धि और कल्पना उसे दूर रखने का उपाय नहीं सोच पातीं। आज की दुनियाँ में, युद्ध की विभीषिका के रूप में–ऐसे युद्ध की जो अपने साथ असंख्य भय तथा कष्ट लाता है—इस कोटि के संकट की स्थिति बराबर बनी हुई है। इस समय विश्व के लोगों में कुछ ऐसी भावना घर कर गई है कि भविष्य में युद्ध होना ही है, भले ही कुछ महान् राज-नीतिज्ञों के प्रयत्न से उस युद्ध की तिथि टल जाय। लोग युद्ध की संभावना को एक दैवी विधान-सा मानते हुए काल-यापन कर रहे हैं।

दूसरी कोटि का संकट, इतने नाटकीय रूप में स्पष्ट न होते हुए भी, ज्यादा गम्भीर चीज़ है। और इस स्थिति से उसकी गम्भीरता कम नहीं होती कि हम उसकी प्रकृति और विस्तार को ठीक से नहीं समझते। जैसा कि मनोविश्लेषण का सिद्धान्त बतलाता है, मानसिक स्वास्थ्य के लिए हमारी सचेत वृत्तियाँ उतनी खतरनाक

नहीं होतीं जितनी कि वे चीजें जो हमारे अवचेतन या उपचेत में क्रियाशील होती हैं। यहाँ हम जिस संकट का उल्लेख कर रहे हैं उसका सम्बन्ध मुख्यतः व्यक्तियों के जीवन से होता है, और वह अपने को उनकी कल्पना की उस अक्षमता में व्यक्त करता है जिसके कारण वे आस्था-पूर्वक जीवन के लक्ष्यों एवं प्रयोजनों का स्वरूप स्थिर नहीं कर पाते। जब मानवीय कल्पना, अनिश्चय और भ्रम में पड़कर, अपना सृजनात्मक कार्य नहीं कर पाती, तो संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कल्पना का सृजनात्मक कार्य यह है कि वह महत्वाकांक्षी व्यक्ति के सम्मुख लगातार उच्चतर तथा श्रेष्ठतर जीवन-रूपों को प्रस्तुत करती रहे। ये जीवन-रूप या आदर्श ऐसे होने चाहिएँ कि उनका समसामयिक दर्शन-पद्धतियों द्वारा विश्वास-पूर्वक मंडन हो सके, और जिनका उत्तम तथा महान लोग अनुसरण करें। ऐसे आदर्शों के अभाव में जीवन दिशाहीन, निरर्थक और उबाने वाला हो जाता है। इस प्रकार की आत्मिक ऊब आज के मनुष्य की केन्द्रगत बीमारी है। हमारे युग का बुद्धिमान तथा संवेदनशील व्यक्ति अपने सामने किसी ऐसे लक्ष्य या प्रयोजन को नहीं रख पाता जो उसकी उच्चतम शक्तियों का आह्वान करे, और उन्हें कार्य-लग्न कर दे। इस प्रकार के लक्ष्य के अभाव में मनुष्य के असंख्य प्रयत्न और क्रियाएँ, यहाँ तक कि उसकी सफलताएँ भी, उसमें वास्तविक आत्मिक तृप्ति और संतोष की भावना पैदा नहीं कर पातीं।

जान पड़ता है कि मनुष्य केवल अपने वर्तमान के सम्बन्ध में ही अरक्षा-भावना से पीड़ित नहीं होता, वह जीवन की भावी सम्भावनाओं के लिए भी चिन्तित और अरक्षित महसूस करता है। अवश्य ही वह यह चाहता है कि अपने जीवन के उस ढर्रे के सम्बन्ध में, जिससे उसकी दैनिक जरूरतें पूरी होती हैं, निश्चिन्तता तथा सुरक्षा का अनुभव करे। किन्तु वह एक दूसरी कोटि की सुरक्षा भी चाहता है। वह चाहता है कि उसके जीवन की गति ऐसी हो कि वह लगातार नयी, अप्रत्याशित सफलताओं तथा तृप्तियों को पाता रहे। मतलब यह कि मनुष्य न केवल अपने से सम्बन्धित मौजूदा स्थिति की ही सुरक्षा चाहता है, बल्कि इसकी भी कि वह अनवरत सृजनात्मक प्रगति एवं उपलब्धियाँ करता रहे। इस दृष्टि से देखने पर हम संकट की परिभाषा **अवरुद्ध सृजनशीलता** कर सकते हैं। वह कोई भी स्थिति जिसमें हमारी बुद्धि या कल्पना सृजनात्मक सफलता नहीं प्राप्त कर पाती, संकटमय लगती है। किन्तु सृजनशील शक्तियों का अवरोध तब विशेष बुरा लगता है जब उसके मूल में जीवन की संभावनाओं अथवा मूल्यों के प्रति अविश्वास रहता है।

हमारे युग में कुछ दूसरी चीजें भी है जो संकट की स्थिति को तीव्रतर बना देती हैं। अभी हमने सतत वर्तमान युद्ध के भय का उल्लेख किया। आज के मनुष्य की गम्भीर बेचैनी तथा असंतोष के मूल में एक दूसरी चीज़ भी है, उसकी अतिशय व्यस्तता। हमारी यांत्रिक सभ्यता शोर-गुल और जल्दबाज़ी की सभ्यता है। उसके अनेक यांत्रिक आकर्षण, जैसे सिनेमा और रेडियो, इच्छाओं को उद्दीप्त करने वाली हज़ारों आकर्षक वस्तुएँ, उसका बढ़ा हुआ, विशुद्ध व्यावसायिक धरातल पर चलने वाला मनुष्यों का सम्पर्क ये सब आज के आदमी को विशुद्ध मनन तथा सृजन के प्रयत्न से रोकते हैं। आज के अधिकांश नर-नारियों के जीवन में–फिर चाहे वे किसी फैक्टरी के श्रमिक हों, अथवा किसी कार्यालय के क्लर्क, चाहे वे शासक वर्ग के अंग हों, अथवा किसी कारखाने के मैनेजर या डाइरेक्टर–काम और सृजनशील प्रयत्न का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है।

आज कारखाने का एक श्रमिक अथवा सेना का एक सिपाही अपने को उस स्थिति में पाता है जिसमें, यास्पर्स के शब्दों में, वह 'मशीन का वह पुर्जा होता है जिसके निराले अस्तित्व का कोई महत्व नहीं होता, और जिसे कभी भी वैसे ही दूसरे पुर्जे से बदला जा सकता है।'[१] आज का मनुष्य दोनों ही चीजें खो बैठा है, अपना व्यक्तित्व, और यह विश्वास कि वह सचमुच ही एक असाधारण, वीरोचित जीवन व्यतीत कर सकता है। ऐसे आदर्शों के अन्वेषण में, जिन्हें अन्तरात्मा द्वारा स्वीकार किया गया है, लगे रहने के बदले हमारे युग का व्यक्ति ऐसी सुविधाओं तथा विनोदों के पीछे ज़ोर-शोर से पड़ जाता है जिन्हें समाज के अधिकांश लोग वांछनीय बतलाते हैं।

आज के मनुष्य की स्थिति का वर्णन अस्तित्ववाद की निम्न धारणाओं में निहित है: चिन्ता और भय, नैराश्य, संकल्पहीनता, अकेलापन आदि। इन स्थितियों के मूल में जितनी हमारे सामाजिक-राजनैतिक तथा औद्योगिक परिवेश की अनिश्चयात्मकता है, उतनी ही ऐसे आध्यात्मिक मूल्यों में अनास्था भी है जिनमें सब साझेदार बन सकें।

भौतिक तथा सामाजिक परिवेश की शक्तियों का ज्ञान इस अर्थ में हमें स्वतंत्र करने वाला होता है कि वह आवश्यक भौतिक सामग्री तथा सेवाएँ प्राप्त करने में सहायक होता है। किन्तु जीवन में वास्तविक तृप्ति तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए मनुष्य को उस जीवन-विवेक की जरूरत होती है जो विभिन्न लक्ष्यों तथा प्रयोजनों के तुलनात्मक

मूल्यों को आंकता है। जब तक मनुष्यों में ऐसा विवेक नहीं होगा, तब तक वे उन साधनों तथा उस सामग्रियों का उचित उपयोग नहीं कर सकेंगे जो विज्ञान ने हमारे लिए सुलभ कर दी है। अपने अस्तित्व के अनेक भौतिक-आत्मिक रूपों का अन्वेषण अथवा उपभोग करके ही मनुष्य यह जान पाता है कि उनमें से कौन रूप कम या अधिक वांछनीय है; इस दिशा में विभिन्न यंत्रों का प्रयोग करने की विकसित क्षमता विशेष लाभदायक नहीं होती। मानव-जीवन की असली स्वतंत्रता और समृद्धि के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य को विभिन्न भौतिक, सामाजिक तथा आत्मिक जीवन-रूपों के गुणात्मक भेदों की समुचित अवगति हो। इस प्रकार की अवगति या विवेक, जिसमें उन विभिन्न न्यूनाधिक सही पैमानों के स्वरूप एवं प्रयोग की जानकारी निहित रहती है जिनके द्वारा तर्कात्मक चिन्तन, कला, नीति एवं अध्यात्म के क्षेत्रों में मनुष्य घटिया-बढ़िया को पहचानता है, दार्शनिक चिन्तन का परम्परागत लक्ष्य रहा है। इसलिए आज का संकट, जिसके मूल में मनुष्यों का मूल्यांकन-सम्बन्धी असमंजस है, मुख्यतः उसकी दार्शनिक बुद्धि के लिए एक चुनौती प्रस्तुत करता है।

उन्नीसवीं सदी

मानवीय बुद्धि को एक ऐसी ही चुनौती उन्नीसवीं सदी में उस समय मिली थी, जब डार्विन के सिद्धान्त ने जीव-योनियों की उत्पत्ति का एक नया विवरण प्रस्तुत किया था। उस विवरण में यह बतलाया गया था कि जीव-योनियों में अकस्मात् परिवर्तन होते हैं, जिनमें से कुछ लाभकारी रहते हैं और किसी योनि के थोड़े सदस्यों में ही प्रकट होते हैं। इन सदस्यों तथा जीव-योनियों में आवश्यक भोजन आदि के लिये निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में योग्यतम सदस्यों अथवा जीवयोनियों की विजय, अर्थात् प्रकृति द्वारा उनका चुनाव, होता है। इस प्रकार विकास की प्रगति में वे जीव तथा जीव-योनियाँ बच रहती हैं जिनमें उपयोगी अंगों का विकास हुआ है। इस विधि से डार्विन ने यह दर्शित किया कि जीवों की प्रयोजनवती शरीर-रचना की व्याख्या करने के लिए चरम हेतुओं की कल्पना आवश्यक नहीं है।

डार्विन के सिद्धान्त ने हीगल से प्रभावित उस दर्शन को निश्चित रूप में धक्का पहुँचाया जो यह मानता था कि विश्व-ब्रह्माण्ड मानवीय रुचियों तथा प्रयोजनों का अनुवर्ती है। डार्विनीय सिद्धान्त ने यह प्रमाणित किया कि जीवों की विचित्र शरीर-रचना की व्याख्या के लिए किसी सर्वज्ञ स्रष्टा की ज़रूरत नहीं है। किन्तु यह बात

इतनी मुख्य नहीं थी। डार्विन से पहले भी एशिया तथा योरप के अनेक विचारकों ने ईश्वर की सत्ता में सन्देह प्रकट किया था। उक्त सिद्धान्त की ज्यादा चौंकाने वाली बात यह मान्यता थी कि मनुष्य का अन्तर्भाव पशु-जगत में होना चाहिये, जिसका मतलब था कि मानवीय जीवन का कोई ऐसा लक्ष्य नहीं हो सकता जो पशु-सुलभ अस्तित्व के परे हो। कुछ संवेदनशील लोगों को जीवन तथा जगत की जड़वादी व्याख्याएँ सन्तुष्ट नहीं करतीं, इसका प्रमुख कारण यह है कि वे मनुष्य की अनन्त अर्थ-पूर्ण लक्ष्य अथवा पूर्णत्व की खोज या लालसा का कोई अर्थ नहीं लगा पातीं। उपनिषद में लिखा है 'जो भूमा अथवा अनन्त है वही सुख है, सान्त या समीप में सुख नहीं है।'[२] एक सन्तोषप्रद दर्शन-पद्धति को यह बता सकना चाहिए कि ससीम मानव मस्तिष्क में असीम का यह अयुक्त पक्षपात क्यों है।

उन्नीसवीं सदी ने डार्विन से प्रभावित भौतिकवाद के निराशा-जनक प्रभाव पर दो तरीकों से विजय पायी। प्रथमतः कुछ विचारकों ने विकासवाद की तर्क-पद्धति का स्वयं भौतिकवाद के विरुद्ध उपयोग किया। जिस विश्व ने मनुष्य के विकास को सम्भव किया है, वह केवल अन्धी, जड़ शक्तियों की क्रीड़ा-भूमि नहीं हो सकता। इस दृष्टि से देखा जाने पर विकास-सिद्धान्त हीगल की आध्यात्मिक द्वन्द्व-प्रक्रिया (Idealistic Dialectic) का मंडन करता है न कि खंडन। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में योरप के अध्यात्मवादी विचारकों ने भौतिकवाद के विरुद्ध एक दूसरी रक्षा-पंक्ति का निर्माण किया। इस मंडन ने सूक्ष्म ज्ञानमीमांसा-सम्बन्धी चिन्तन का रूप धारण किया, जिसका लक्ष्य भौतिकवाद की जड़ पर ही कुठाराघात करना था। इस कोटि के चिन्तन ने इंगलैण्ड के टामस हिल ग्रीन तथा एफ० एच० ब्रेडले, अमरीका के जोशिया राइस, इटली के बी० क्रोचे तथा जर्मनी के विन्डेल बैण्ड, रिकर्ट, यूकेन आदि की विचार-पद्धतियों में फिर एक बार हीगल की बुद्धिवादी (Rationalistic) मनोवृत्ति को उज्जीवित किया।

बीसवीं सदी का अबुद्धिवाद, सापेक्षवाद और सन्देहवाद

बीसवीं सदी का प्रारम्भ अध्यात्मवादी विचारकों की बौद्धिक मनोवृत्ति तथा चिन्तनात्मक अतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के साथ हुआ। इस प्रतिक्रिया के अनेक नेता थे, जैसे अमरीकामें विलियम जेम्स, इंगलैण्ड में एफ० सी० एस्० शिलर और फ्रांस में हैनरी बर्गसां। इनमें जेम्स और शिलर ब्रेडले आदि ब्रिटिश ब्रह्मवादियों के खुले

शत्रु थे। बर्गसां के अबुद्धिवाद का विरोध मुख्यतः वैज्ञानिक यंत्रवाद से था, यद्यपि वह अध्यात्मवादी प्रयोजनवाद के भी उतना ही विरुद्ध था। जेम्स और शिलर ने बुद्धि के स्थान पर कृति-शक्ति (Will) को महत्वपूर्ण घोषित किया, और आत्म-संगति (Coherence) के स्थान पर व्यावहारिक सफलता को सत्य की कसौटी बतलाया। कुछ ही दिनों बाद योरप और अमेरिका में नव्य तथा समीक्षात्मक यथार्थ-वाद (New and Critical Realism) के सम्प्रदायों का उदय हुआ, जिन्होंने मुख्यतः अध्यात्मवादी ज्ञानमीमांसा को चुनौती दी। किन्तु यथार्थवादी विचारकोंमें जेम्स और बर्गसां के बुद्धिविरोधी पक्षपात का अभाव था।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद योरप तथा अमेरिका के बौद्धिक जीवन पर दूसरे प्रभाव पड़ने लगे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण नवीन भौतिक विज्ञान का प्रभाव था। यद्यपि श्री मैक्स प्लैंक ने अपने "क्वेंटम"—सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्नीसवीं सदी के अन्तिम महीनों में किया था, और आइन्स्टाइन का सीमित सापेक्षवाद (Restricted Principle of Relativity) सन् १९०५ में निरूपित हो गया था, फिर भी दूसरे क्षेत्रों के विचारक उनके क्रान्तिकारी निष्कर्षों या अभिप्रायों को काफी बाद में हृदयंगम कर सके। आइन्स्टाइन ने अपना सामान्य सापेक्षवाद का सिद्धान्त (General Principle of Relativity) सन् १९१५ में प्रतिपादित किया, और हाइज़ेनबर्ग का अनिर्धारण-सिद्धान्त (Principle of Indeterminacy) सन् १९२७ में प्रस्तुत किया गया। भौतिकशास्त्र की इन नयी प्रगतियों के फलस्वरूप दर्शन में उस महत्वपूर्ण सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसे तर्क-मूलक भाववाद (Logical Positivism) कहते हैं और जिसका बाद के दशकों में निश्चित प्रभाव रहा।

हम कह सकते हैं कि तर्क-मूलक भाववाद तथाकथित अनुभववाद का अतिरंजित रूप है, जिसे तत्वदर्शन-सम्बन्धी (Metaphysical) चिन्तन से विशेष शत्रुता है। यद्यपि तर्क-मूलक भाववादी बुद्धि के विरोधी नहीं हैं, फिर भी उन्हें विशुद्ध बौद्धिक चिन्तन (Speculative Reasoning) में गम्भीर अविश्वास है। वे किसी भी ऐसी स्थापना (Hypothesis) या सिद्धान्त (Theory) को अर्थपूर्ण नहीं मानते जिसे इन्द्रिय-अनुभव द्वारा परीक्षित न किया जा सके। तर्कमूलक भाववाद ने अपने को विज्ञान के एक महत्वपूर्ण दर्शन में विकसित किया और घोषणा की कि ऐसा कोई सत्य नहीं है जो विवादास्पद न हो, और यह कि समस्त वैज्ञानिक स्थापनाएँ अस्थायी कल्पनाएँ मात्र होती हैं, जिनमें भावी प्रयोगात्मक अन्वेषणों द्वारा संशोधन आवश्यक

हो सकता है। इस प्रकार, तर्कमूलक भाववाद के अनुसार कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्तिम सत्य की झाँकी नहीं कराता। विज्ञान के सारे सिद्धान्त उपयोगी कल्पनाएँ भर होते हैं। तर्कमूलक भाववादियों को इस बारे में निश्चित सन्देह है कि विज्ञान प्रकृति के बारे में कभी अन्तिम सत्यों को पा सकता है। और विज्ञान के बाहर के क्षेत्रों, जैसे नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र में, तो किसी प्रकार के सत्य को पाया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार निश्चित अथवा अन्तिम सत्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में––फिर वह प्राप्ति चाहे केवल तर्क से हो, अथवा अनुभव द्वारा परीक्षित तर्क से––तर्कमूलक भाववादियों का मनोभाव निषेधात्मक तथा निराशावादी है। इस प्रकार तर्कमूलक भाववाद में जेम्स आदि की बुद्धि-विरोधी दृष्टि सन्निहित है। साथ ही उसे बुद्धि से भिन्न मनुष्य की किसी दूसरी क्षमता में विश्वास नहीं है, जैसा कि जेम्स को कृति-शक्ति में था। तर्कमूलक भाववाद मानता है कि प्रत्येक विवाद में हमारी आखिरी अदालत इन्द्रियानुभूति है। ऐन्द्रिय अनुभूति के समर्थक होने के नाते इस संप्रदाय के लोग ह्यूम की भाँति सार्वभौम संयोजक कथनों या सत्यों (Synthetic Necessary Propositions) की सम्भावना से इनकार करते हैं।

फ़ायडीय सिद्धान्त दूसरा शक्तिशाली संप्रदाय है जो हमारे युग के बुद्धि-विरोधी पक्षपात को पुष्ट करता है। फ्रायड के अनुसार हमारी अधिकांश तर्कना हमारे आवेगों तथा आवेगमूलक पक्षपातों द्वारा संचालित रहती है; प्रायः हम अपने आन्तरिक पक्षपातों के मंडन के लिये तर्क करते हैं, न कि वस्तु परक सत्य की प्राप्ति के लिए। इसलिए सत्य ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त हम बुद्धि नामक उपकरण पर निर्भर नहीं कर सकते।

हमें कुछ रुककर इन मन्तव्यों के कतिपय भयंकर निष्कर्षों पर ध्यान देना चाहिये। तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार जहाँ हम प्रकृति का केवल कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, वहाँ उन जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में जिनका हमारी जिन्दगी से गहरा लगाव है, हम किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। फ्रायड के अनुसार भी मानवीय चरित्र एकदम बुद्धि-विरोधी है। चूँकि मनुष्य अपने लक्ष्यों तथा प्रयोजनों का चुनाव करते समय बुद्धिपूर्वक अग्रसर नहीं हो सकता, इसलिये यह प्रश्न कि मानव-प्रयत्नों का चरम लक्ष्य क्या है, निरर्थक हो जाता है।

एक दूसरी ओर से भी आज का मनुष्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचता दिखाई देता है। समाज-शास्त्र और नर-विज्ञान अपेक्षाकृत नयी विद्यायें हैं; उन्नीसवीं सदी में उन पर

विकासवाद का विशेष प्रभाव रहा। वे यह मानती रहीं कि मनुष्य क्रमशः उच्चतर स्थितियों की दिशा में विकास करता आया है। जैसा कि श्री सोरोकिन ने लक्षित किया है: '...अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों का सामाजिक चिन्तन इस विश्वास से अनुप्राणित था कि विकास एक रेखा में प्रगति की ओर होता है।'[३] वर्तमान शताब्दी में उक्त विज्ञानों ने अपने को विकासवाद के जादू से मुक्त कर लिया है; उनका यह विश्वास जाता रहा है कि मनुष्य अनिवार्य रूप में प्रगति करता है। अब वे विज्ञान, अर्थात् समाजशास्त्र और नर-विज्ञान, विकसित हो चले हैं। इधर उन्होंने जिस चीज पर विशेष गौरव दिया है वह है—मूल्य-सम्बन्धी एकान्त सापेक्षता।

समाजशास्त्रियों में श्री वेस्टरमार्क का नाम खास तौर से नैतिक सापेक्षतावाद (Ethical Relativity) से सम्बद्ध है। उनकी एक पुस्तक का, जो सन् १९३२ में प्रकाशित हुई थी, नाम भी यही है, अर्थात् "नैतिक सापेक्षता"। इससे पहले उनकी एक दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिसका अब नाम था "नैतिक धारणाओं का उद्भव और विकास।" इस पुस्तक में श्री वेस्टर मार्क इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि नैतिक वक्तव्यों का उद्गम हमारे आवेगों में होता है। इस निष्कर्ष का साफ अभिप्राय यह है कि हमारे नैतिक वक्तव्य वस्तुगत रूप में प्रामाणिक नहीं होते, जैसा कि हमारी सहज बुद्धि और नीति-शास्त्र के आदर्श-मूलक सिद्धान्त प्रकट करते हैं।[४] नैतिक सापेक्षता का 'मतलब यह है कि नैतिक जीवन का कोई वस्तुगत पैमाना नहीं है',[५] जिसे सब मनुष्य स्वीकार कर सकें। नैतिकता के वस्तु-परक पैमानों के सम्बन्ध में ऐसा ही विश्वास आज के नर-विज्ञानी भी प्रकट करते हैं।

ऊपर हमने उन कारणतत्वों का परिगणन किया जो आज के सांस्कृतिक संकट का मूल हैं, अर्थात् जो जीवन के मूल्यों तथा आदर्शों के सम्बन्ध में अनिश्चय एवं भ्रांति को जन्म देते हैं। हमारे युग का यह संकट उन्नीसवीं सदी के संकट से अधिक उग्र है, और इसलिये उसका प्रभाव भी अधिक विषाक्त है। उन्नीसवीं सदी में यह विश्वास वर्तमान था कि मानवीय बुद्धि सत्य का अनुसंधान कर सकती है। इसके विपरीत हमारी शताब्दी को मानवीय बुद्धि में एकदम ही आस्था नहीं है, और वह यह मानकर चलती प्रतीत होती है कि मनुष्य कभी उन मूल्यों के स्वरूप से परिचित नहीं हो सकता जिनके लिये उसे जीना चाहिए। मूल्यों के सम्बन्ध में मनुष्य कोई भी मन्तव्य क्यों न बनाये, वह अनिवार्य रूप में आत्म-परक होगा। इसका मतलब यह है कि ऐसे कोई वस्तु-परक अर्थात् वास्तविक मूल्य नहीं हैं जिनके लिए मानव-जीवन को जिया जाय।

मनुष्य-सम्बन्धी विद्याएँ आज जिस दुरवस्था में हैं उसके कारणों को ठीक-ठीक न समझते हुए कुछ परीक्षकों ने यह प्रस्ताव किया है कि मानवीय विद्याओं को भौतिक विज्ञानों की अन्वेषण-पद्धतियों का अवलम्ब लेना चाहिये। ये भोले लोग समझते हैं कि इस प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग करके मनुष्य अपने पर तथा अपने भविष्य पर अधिक नियंत्रण कर सकेगा। मानो कि माप और गणना की मात्रा-मूलक क्रियाएँ विभिन्न जीवन-नीतियों या आदर्शों के गुणात्मक भेद पर प्रकाश डाल सकेंगी! मानो कि अभी दुनिया की सरकारें, प्रेस, रेडियो और पुलिस की सहायता से, अपनी जनता पर आवश्यकता से अधिक नियंत्रण नहीं रख रही हैं!

संकट की धारणा ही गुणात्मक है, जिसमें अनेक मूल्यात्मक अर्थात् गुणात्मक निर्णय संनिहित हैं। यह कैसे संभव है कि हम उसे मूल्य-बहिष्कारी प्रत्ययों की मदद से समझ लें, और विशुद्ध मात्रा-मूलक व्यापारों द्वारा उसका प्रतिकार कर सकें? जब तक हम यह निश्चित रूप में न दिखा दें कि मनुष्य की गुणात्मक प्रतीतियाँ और पक्षपात, उसका तर्क-मूलक व्यवहार और उसकी नैतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ, अनिवार्य रूप में उन यांत्रिक तथा रासायनिक परिवर्तनों से सहचरित हैं जिन्हें ठीक-ठीक नापा-जोखा जा सकता है, तब तक मात्रा-मूलक पद्धतियों के प्रयोग का उचित मंडन नहीं हो सकता। हमारे युग की, और संभवतः सब युगों की, मुख्य समस्या यह है कि कैसे मनुष्यों में वह विवेक और क्षमता उत्पन्न की जाय जिनसे वे उच्चतर एवं निम्नतर जीवन-स्थितियों में भेद कर सकें और उच्चतर के अन्वेषण में प्रवृत्त हो सकें।

२

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य संस्कृति का, उसे एक मूल्य मानते हुए, विश्लेषण और निरूपण करना है। संस्कृति का जो विवेचन यहाँ किया गया है वह दो मौलिक मान्यताओं पर निर्भर है। ये दोनों मान्यताएँ "सृजनात्मक मानववाद" व्यंजना में समावेशित हैं। पहले हम उस सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को समझाने का प्रयत्न करेंगे जो उक्त व्यंजना में निहित है।

"मानववाद" शब्द का शुरू से ही विभिन्न लोगों के लिये अलग-अलग अर्थ रहा है, और आज भी स्थिति बदली नहीं है। उसके निम्न अर्थ प्रचलित रहे हैं: धार्मिकता का अभाव और मध्ययुगीन मनोवृत्ति का विरोध; यूनानी जीवन-दृष्टि (Paganism)

और इन्द्रियों अथवा इन्द्रिय-जन्य सुखों के महत्व की घोषणा; इहलोकवाद, बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद; मानवीय अधीतियों की अर्थात् साहित्य, दर्शन और अध्यात्म से सम्बन्धित "क्लासिक्स" के अध्ययन में अभिरुचि; मानव-जीवन और अनुभूति के महत्व में आस्था, इत्यादि। प्रो० एडवर्ड चेने के अनुसार 'सोलहवीं सदी के बाद से मानववाद से अभिप्राय उस दर्शन का रहा है जिसका केन्द्र और प्रमाण दोनों मनुष्य ही है।'[६]

प्रो० चेने ने मानववाद का जो वर्णन दिया है वह, बहुत स्पष्ट न होते हुए भी, इतना आकर्षक है कि किसी को अग्राह्य नहीं होसकता। वह अस्पष्ट है, और वैसे ही अस्पष्ट है जैसे कि यूनानी सोफिस्ट विचारक प्रोटेगोरस की यह उक्ति कि 'मनुष्य ही सब चीजों का माप या मानदण्ड है।' इसका कारण है: दोनों में कोई भी 'मनुष्य' शब्द का ठीक अर्थ नहीं बतलाता। स्पष्ट ही उक्त वक्तव्यों का यह अर्थ नहीं हो सकता कि ज्ञानवान् एवं विवेकी पुरुष और मूर्ख, सामान्य मनुष्य और असामान्य (Abnormal) अथवा अवसामान्य (Subnormal) व्यक्ति, समान रूप में मानववादी दर्शन का प्रमाण हो सकते हैं। इन्हीं कारणों से हम पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे इस पुस्तक में प्रयुक्त "सृजनात्मक मानववाद" व्यंजना पर परम्परागत अर्थों तथा अनुषंगों (Associations) का भार न लादें, और उसे एक पारिभाषिक पदावली मानकर अग्रसर हों। यहाँ हम जिस मानववाद का प्रतिपादन करना चाहते हैं उसे दूसरी दृष्टि से गुणात्मक मानववाद (Qualitative Humanism) भी कहा जा सकता है। श्री क्रेन ब्रिन्टन ने अपनी पुस्तक "विचार और मनुष्य" (Ideas and Men) में एक विशेष कोटि के मानववाद का उल्लेख किया है, अर्थात् उद्दाम उल्लास-मूलक मानववाद (Exuberant Humanism) का; गुणात्मक मानववाद उससे भिन्न होगा, क्योंकि वह जीवन की गुणात्मक विशेषता पर अधिक गौरव देगा। फिर भी हमने "सृजनात्मक" शब्द के प्रयोग को पसन्द किया है, कारण यह है कि इस शब्द का हमारी मानव-प्रकृति और मानव-उपलब्धियों से सम्बन्धित मन्तव्यों की अपेक्षा से विशिष्ट अभिप्राय और महत्व है।

सृजनात्मक मानववाद एक मानव-केन्द्रित दर्शन है जिसके अनुसार मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सृजनशीलता है। यहाँ 'मानव-केन्द्रित' व्यंजना के दो अभिप्राय हैं। प्रथमतः हम मानते हैं कि दार्शनिक चिन्तन का वास्तविक विषय स्वयं मनुष्य है, अर्थात् वह मनुष्य जो मूल्यों का वाहक और स्रष्टा है। जैसा कि

कवि पोप ने कहा है, मानव जाति के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य है। दार्शनिक अध्ययन का विषय मनुष्य है, इस मान्यता पर गौरव देने के लिये हमने आगे दर्शन को 'मानवात्मा अथवा मानवीय संस्कृति का अपरोक्षमूलक वर्णन' (Phenomenology of Human spirit or Human Culture) कथित किया है। हमारी दर्शन की परिभाषा इस प्रकार है : दर्शन सांस्कृतिक अनुभव के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन का प्रयत्न है। मनुष्य को आत्म-ज्ञान सम्पादित करना चाहिए, ऐसा विचारक लोग प्राचीन काल से कहते आये हैं; यह शिक्षा उपनिषदों में भी मिलती है और यूनानी विचारक सुकरात में भी। दूसरे, मानव-केन्द्रित विशेषण का अभिप्राय यह है कि इस जीवन-दर्शन में परलोक और पारलौकिक शक्तियों के लिये स्थान नहीं है। हम मनुष्य से ऊँची किसी सत्ता में विश्वास नहीं रखते। फिर भी यह दर्शन प्रकृतिवाद से भिन्न है,क्योंकि हम मानते हैं कि मनुष्य का अध्ययन उसे प्रकृति का अंग मानकर नहीं किया जा सकता। अधिकांश विचारक जो परलोक को नहीं मानते, अपने को प्रकृतिवादी कहते हैं; प्रकृतिवाद और भौतिकवाद लगभग पर्यायवाची शब्द हैं। सृजनात्मक मानववाद का किसी भी कोटि के प्रकृतिवाद अथवा भौतिकवाद से कोई लगाव नहीं है।

भूततत्त्व अथवा पुद्गल की कोई ऐसी परिभाषा देना कठिन है जिसे सब स्वीकार कर सकें। उसके अन्तर्गत हम उन सब सूक्ष्म तथा विशाल वस्तुओं का समावेश कर सकते हैं जिनका अध्ययन भौतिक विज्ञानों में होता है। हमारी मान्यता और विश्वास है कि वे विज्ञान किसी भी भाँति मानव-जीवन और अनुभूति का अल्प-सफल अध्ययन भी नहीं कर सकते। वे वास्तविकताएँ जो खास तौर से मानवीय हैं, भौतिक शास्त्र तथा रसायनशास्त्र जैसे विज्ञानों की पकड़ में बिल्कुल ही नहीं आ सकतीं। इसलिये मानवीय जीवन तथा अनुभूति के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण समीचीन नहीं है।

ऊपर हमने कहा कि हमारी अलौकिक अथवा अतिमानव वास्तविकताओं में आस्था नहीं है; इसका मतलब यह है कि हम ईश्वर, ब्रह्म जैसे पदार्थों की, जिनकी स्थिति मानवीय अनुभूति से परे समझी जाती है, कल्पना को उचित नहीं समझते। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सृजनात्मक मानववाद धर्म-विरोधी है। हमारे मत में धर्म या अध्यात्म की स्थिति मानवीय अनुभव में ही है; सम्भवतः आध्यात्मिक अनुभूति मनुष्य की सबसे ऊँची अनुभूति होती है। किन्तु हम मानते हैं कि यह अनुभूति **मानवीय** अनुभूति होती है, और इसलिए वह न तो उस अनुभूति की परिधि का अति-

क्रमण ही करती है, और न अ-बुद्धिगम्य ही होती है। प्रस्तुत लेखक के मत में आध्यात्मिक अनुभूति का तत्व दो चीजों में निहित होता है : सब प्रकार के सीमित एवं नश्वर पदार्थों तथा मूल्यों के प्रति वैराग्य-भावना में, और इस आस्था में कि मानव-जीवन की कोई ऐसी परिणति है जिसमें अनन्त सार्थकता या मूल्य है। सब प्रकार की उच्च सांस्कृतिक क्रियाओं में धार्मिक उदासीनता तथा रहस्यपूर्ण ऊँचे लक्ष्य के प्रति लगाव का अंश रहता है; ये चीजें गहरी तथा तीव्र आदर्शोन्मुख (Platonic) प्रेमानुभूति में भी पायी जाती हैं। अपने अस्तित्व का कल्पना-मूलक विस्तार करके प्रायः सभी मनुष्य सभी देशों तथा युगों के रहस्यवादियों एवं प्रेमियों की उल्लासपूर्ण अनुभूतियों में साझेदार बन जाते हैं।

तीसरे, मानव-केन्द्रित व्यंजना एक अन्वेषण-सम्बन्धी मन्तव्य को प्रकट करती है : सब प्रकार का व्यवस्थित या संगठित ज्ञान मानव-रुचियों और प्रयोजनों का सापेक्ष होता है, और कोई ज्ञान ऐसा नहीं है जो मानवीय अनुभूति तथा कल्पना की सीमाओं का अतिक्रमण करता हो। इस मन्तव्य के उत्तरार्ध को हम ऊपर समझा चुके हैं, आगे हम उसके पूर्वार्ध की व्याख्या करेंगे।

सब प्रकार का ज्ञान, विशेषतः संगठित एवं व्यवस्थित ज्ञान, मानवीय रुचियों का सापेक्ष होता है। सम्भव है कि मनुष्य के कुछ मामूली संवेदन उसकी रुचियों तथा प्रयोजनों से सम्बन्धित न होते हों, किन्तु उसकी समस्त प्रतीक-मूलक चिन्तन-क्रियाएँ, सब प्रकार का प्रत्ययात्मक बोध, आवश्यक रूप में उसके एक या दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध होता है। मनुष्य की सारी बातचीत और विवेचना प्रयोजन-सापेक्ष होती है, और प्रयोजनों के सन्दर्भ में ही उसकी धारणाओं तथा वक्तव्यों का अर्थ होता है। इस प्रतीति का कि भौतिक विज्ञानों का बोध प्रयोजन-निरपेक्ष या उदासीन होता है, कारण यह है कि विज्ञान का सीधा लगाव साधनों से होता है, और उसका साध्यों या लक्ष्यों से दूर का सम्बन्ध ही रहता है। विज्ञान उसी अर्थ में पूर्णतया वस्तु-परक (Objective) और बुद्धचनुसारी (Rational) होता है, जिस अर्थ में एक स्पष्ट, बुद्धि-संगत लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त साधन बुद्धचनुसारी हो सकते हैं। जहाँ तक जीवन के लक्ष्यों का सवाल है, उनमें से किसी को वैज्ञानिक अथवा तर्क-मूलक पद्धति से बुद्धि-संगत सिद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये हम यह कभी सिद्ध नहीं कर सकते कि किसी जीवधारी की स्वस्थ स्थिति, अथवा मानव-अस्तित्व का लगातार बने रहना, ऐसी वांछनीय चीजें हैं जिनके लिये प्रयत्न किया जाय।

जहाँ तक उन धारणाओं का प्रश्न है जो साधनों के क्रम का वर्णन करती हैं, यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि वे मानवीय लक्ष्यों से असंबद्ध होती हैं। उदाहरण के लिये मात्रा या बोझ, दूरी, वेग आदि की धारणाएँ, सीधे या दूरवर्ती ढंग से, एक या दूसरे मानव-प्रयोजन से सम्बन्धित हैं। प्रकृति-जगत का वर्णन करते हुए मनुष्य इन धारणाओं का प्रयोग करता है, क्योंकि उसे दूरियाँ तय करने और विभिन्न वस्तु-पिण्डों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में अभिरुचि है।

किन्तु, इस कथन का कि मनुष्य का समस्त ज्ञान प्रयोजन-सापेक्ष है, यह अर्थ नहीं कि वह निष्पक्ष, वस्तु-परक या तटस्थ अन्वेषण कर ही नहीं सकता। हमारा अनुमान है कि इस सम्बन्ध में परम्परागत व्यवहारवाद (Pragmatism) का सिद्धान्त भ्रामक चिन्तन का अपराधी रहा है। यह ठीक है कि मनुष्य वेग (Speed) नामक धारणा का प्रयोग इसलिये करता है कि उसका उसके प्रयोजनों से सम्बन्ध है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ध्वनि, प्रकाश आदि के वेगों का निर्धारण करते हुए अन्वेषक पर, **व्यक्तिगत** प्रयोजनों का प्रभाव रहता है। प्रस्तुत लेखक के मत में सब प्रकार की उच्च सांस्कृतिक क्रिया में उन चीजों के प्रति जो केवल व्यक्तिगत और उपयोगी हैं, आवश्यक रूप में उदासीनता का भाव रहता है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक अन्वेषण तथा चिन्तन भी व्यक्तिगत प्रयोजनों तथा उपयोगिता का अतिक्रमण करता है। यह ठीक है कि मानवीय ज्ञान अनिवार्य रूप में उन बौद्धिक साँचों में ढाला जाता है जिनका रूप मानवीय प्रयोजनों से निरूपित होता है; किन्तु उन प्रयोजनों का सम्बन्ध मनुष्य नामक जीव-योनि की सामान्य रचना से होता है, न कि अन्वेषकों के व्यक्तिगत स्वार्थों से।

हमारे तथा व्यवहारवाद के मन्तव्यों में एक दूसरा महत्वपूर्ण भेद है। व्यवहारवादी प्रायः प्रयोजन का अर्थ मनुष्य का वह स्वार्थ समझते हैं जिसका सम्बन्ध उसके अस्तित्व तथा सुरक्षा से होता है। इसके विपरीत हम मानते हैं कि मनुष्य के कतिपय विशुद्ध आत्मिक या आध्यात्मिक प्रयोजन भी हैं। उदाहरण के लिये मनुष्य यह चाहता है कि वह अपने अनुभवों को एक आत्मसंगत बौद्धिक समष्टि में ढाल ले, अर्थात् अपने अनुभवों को सम्बद्ध रूप में एकत्रित कर ले। उसका यह प्रयोजन उपयोगिता की परिधि में नहीं आता, उसका मूल मनुष्य की सौन्दर्यसम्बन्धी माँगों में है। इस प्रयोजन की पूर्ति चाहने वाला कलाकार या अन्वेषक स्थूल उपयोगिताओं के प्रति दूर तक उदासीन होता है। मनुष्य का उक्त प्रयोजन उसकी प्रकृति की एक दूसरी प्रेरणा

या प्रवृत्ति से सम्बद्ध होकर व्याप्त होता है, अर्थात् उसकी अपने आन्तरिक अस्तित्व का विस्तार करने की प्रवृत्ति।

अब तक हमने 'मानव-केंद्रित' पद का अर्थ समझाने की कोशिश की। अब हम सृजनात्मक मानववाद की दूसरी मान्यता की व्याख्या करेंगे, अर्थात् इस मान्यता की कि मनुष्य सृजनशील प्राणी है। मनुष्य की सृजनशीलता का ज्ञान हमें स्वानुभूति या आत्मानुभूति से होता है। हम यहाँ उसे एक मान्यता (Postulate) के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि यह कठोर तर्क-प्रणाली से सिद्ध नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य सृजनशील ढंग से आत्म-निर्धारण करता है। मनुष्य उपयोगी तथा निरुपयोगी या सांस्कृतिक दोनों धरातलों पर सृजनशील होता है। उसकी सृजनशीलता अपने को निम्न रूपों में प्रकट करती है :

(क) मनुष्य प्रकृति के तथ्य-क्रम में अपने उपयोगात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक प्रयोजनों के अनुसार परिवर्तन और नये संगठन उत्पन्न करके अपनी सृजनशीलता को प्रमाणित करता है। इस कोटि की सृजनशीलता की अभिव्यक्ति हमें निम्न श्रेणी के जन्तुओं में भी मिलती है, जैसे कि चिड़ियों में जो अपने घोंसले बनाती हैं। जब कोई जीव प्रकृति द्वारा प्रस्तुत किये हुए वस्तु-क्रम को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करता और उसे इस प्रकार तोड़ता-फोड़ता तथा पुनर्गठित करता है कि वह उसके विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्ति कर सके, तब उसका व्यवहार सृजनात्मक होता है। आज हम नगरों आदि के जिस कृत्रिम परिवेश में रहते हैं उसके अस्तित्व का एक मात्र कारण मनुष्य है। मनुष्य के हस्तक्षेप के बिना यह परिवेश, जो प्राकृतिक क्रियाओं के निहित उद्देश्यों से एकदम बहिर्भूत है, कभी भी अस्तित्व में न आता।

(ख) मनुष्य अपने परिवेश को एक सार्थक क्रम या व्यवस्था (Meaningful Order) के रूप में जानता या ग्रहण करता है। वह विभिन्न वस्तुओं, जैसे सोने, सिक्कों और नोटों के प्रति समान प्रतिक्रिया करता है, और विभिन्न अवसरों पर, उन्हीं वस्तुओं के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ करता है। तात्पर्य यह कि वस्तुओं तथा घटनाओं के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ यांत्रिक, एकरूप या सुनिश्चित न होकर परिवर्तनशील होती हैं और वस्तुओं के विभिन्न अवसरों पर बदले हुए अर्थों के अनुसार बदल जाती हैं। विभिन्न मौकों पर मनुष्य अपनी उन्हीं जरूरतों को विभिन्न ढंगों से पूरा करता है, और वह अपनी जरूरतों एवं उनकी पूर्तियों के क्रमों को नये संगठनों में ग्रथित करता रहता है।

(ग) मनुष्य लगातार अपनी प्रतिक्रियाओं की सीमा में विस्तार करता रहता है; जिस यथार्थ के प्रति ये प्रतिक्रियाएँ की जाती हैं, वह भी निरन्तर विस्तृत होता रहता है। यही कारण है कि हम परिवर्तन की कामना करते हैं, यात्राएँ करना चाहते हैं, दूसरे साथियों के साथ समाज में बैठना और गप करना पसन्द करते हैं, सिनेमा जाते हैं, कथा-साहित्य पढ़ते हैं, और दूसरे सैकड़ों काम करते हैं।

(घ) अन्त में, कहा जा सकता है कि मनुष्य की सृजनशील प्रकृति का सबसे स्पष्ट प्रकाशन उसकी प्रतीक-बद्ध कल्पना-मूलक निर्मितियों में होता है। कविता और कथा-साहित्य में ही नहीं, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचार-पद्धतियों में, विभिन्न स्थापनाओं और सिद्धान्तों, योजनाओं और आदर्शों में, मनुष्य की सृजनशील कल्पना अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है।

सृजनात्मक मानववाद को मानववाद की कतिपय दूसरी दार्शनिक कोटियों से तुलित एवं पृथक् करना उपयोगी होगा। मानववाद के कुछ अदार्शनिक रूप भी है, जैसे स्वर्गीय प्रो० इरविंग बैबिट और स्व० पाल एलमर मोर का पांडित्य-मूलक मानववाद (Academic Humanism) और श्री जॉक मारितॉ का समन्वयात्मक या कैथालिक मानववाद (Integral or Catholic Humanism)। इनसे हमारे मन्तव्यों की तुलना पाठकों के लिये विशेष ज्ञानदायक नहीं होगी।

व्यवहारवाद (Pragmatism) से मिलते-जुलते एक प्रकार के दार्शनिक मानववाद का प्रतिपादन ऑक्सफोर्ड के श्री एफ० सी० एस्० शिलर ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में किया था। शिलर ने प्रोटेगोरस की इस प्रसिद्ध उक्ति को कि 'वस्तुओं का मानदंड मनुष्य हैं', अपने चिन्तन का आरम्भ-बिन्दु बनाया। उक्ति में विद्यमान मनुष्य शब्द का अर्थ उन्होंने मानव जाति किया, जो कि उचित था। मतलब यह हुआ कि सम्पूर्ण मानव जाति ही मानवीय वस्तु-बोध का प्रतिमान हो सकती है। सम्भवतः यह 'मनुष्य' शब्द की व्याख्या न होकर पुनर्व्याख्या थी। शिलर ने इसी प्रकार मानदंड या माप (Measure) शब्द का भाष्य करते हुए कहा कि उसमें नाप-तोल की माँग निहित है,[७] जो कि आधुनिक विज्ञान की अन्वेषण-पद्धति का आधार-स्तम्भ है। इस भाष्य की समीचीनता और उपयोगिता में सन्देह किया जा सकता है। अपने मानववाद में शिलर ने निम्न वक्तव्यों पर जोर दिया:[८] (क) मनुष्य का व्यावहारिक जीवन या व्यवहार मुख्य है, और चिन्तन गौण; (ख) विशुद्ध बौद्धिकता अथवा

विशुद्ध चिन्तन का विशेष महत्व नहीं है, वस्तुतः विशुद्ध बुद्धि अथवा चिन्तन की स्थिति ही नहीं है। तात्पर्य यह कि समस्त चिन्तन व्यावहारिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिये होता है। (ग) शिलर के मानववाद ने इस बात पर जोर दिया कि ज्ञान के क्षेत्र में कृति-शक्ति (Will) का विशेष स्थान होता है। जिसे हम तात्विक पदार्थ या यथार्थ कहते हैं वह, वह चीज है जो हमारी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करती है। तथाकथित बुद्धि 'वह हथियार है जिसके द्वारा हम अपने को परिवेश के अनुकूल बनाते और जीवन-संग्राम में विजयी होते हैं।'[९] इस मान्यता का एक निष्कर्ष यह है कि समस्त सच्चा ज्ञान उपयोगी होता है, और निरुपयोगी ज्ञान मिथ्या होता है। (घ) कांट ने व्यावहारिक बुद्धि की मुख्यता (Primacy of Practical Reason) का मन्तव्य प्रतिपादित किया था। उसे स्वीकार करते हुए शिलर मानते हैं कि श्रेय (Good) की धारणा प्रधान है, और सत्य तथा यथार्थ की धारणाएँ गौण या अप्रधान हैं।

सृजनात्मक मानववाद शिलर की इस मान्यता से सहमत है कि मनुष्य का ज्ञान उसके प्रयोजनों का सापेक्ष होता है। किन्तु वह यह नहीं मानता कि मनुष्य के प्रयोजन केवल उपयोगी या व्यावहारिक ही होते हैं। मानव-जीवन केवल बाह्य परिवेश की अपेक्षा में अनुकूलीकरण (Adaptation) नहीं है, और मानव-बुद्धि का कार्य उस अनुकूलता की स्थिति को उत्पन्न करके ही समाप्त नहीं हो जाता। सफल अनुकूलीकरण तथा प्रभावपूर्ण अस्तित्व की जरूरतों से कहीं ऊपर उठकर मनुष्य की बुद्धि और कल्पना उसे कला-सृष्टि और वैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन की सृजनात्मक क्रियाओं में लगा देती हैं, जिनके द्वारा मानव-आत्मा का विस्तार या प्रसार होता है। सृजनात्मक मानववाद की शिक्षा में निहित एक तत्व यह है कि मनुष्य को उसके प्रति जो केवल उपयोगी और व्यक्तिगत है, कुछ हद तक उदासीन होना चाहिए। इसलिये इस कथन का कि समस्त ज्ञान प्रयोजन-मूलक होता है यह अर्थ नहीं (जैसा कि व्यवहारवादी प्रतिपादित करते हैं) कि समस्त ज्ञान उपयोगी होता है। सृजनात्मक मानववाद यह भी नहीं मानता कि सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा बौद्धिक क्रियाओं की अपेक्षा नैतिक व्यवहार आवश्यक रूप में उच्चतर होता है। वस्तुतः, जैसा कि आगे दिखाया जायगा, 'नैतिक' शब्द का अर्थ अनिश्चित है। उसका मतलब या तो वह चीज हो सकती है जो प्रत्याशित और कर्तव्य है, या वह व्यवहार जिसमें सृजनशील धार्मिकता या साधुता की अभिव्यक्ति होती है। जब हम नैतिक को इस दूसरे अर्थ में लेते हैं, तब उसे सौन्दर्य-सम्बन्धी व्यवहार तथा बौद्धिक व्यवहार से कुछ ऊपर स्थान दिया जा सकता है।[१०]

किन्तु नैतिक की इस प्रकार की श्रेष्ठता शिलर को अभिप्रेत नहीं है। नैतिक की श्रेष्ठता का उनके लिए कुछ दूसरा ही अर्थ है। जहाँ तक उपयोगी चीजों का सवाल है, उनका स्थान साधनात्मक मूल्यों के बीच है, और वे निश्चित रूप में सौन्दर्य तथा दूसरे साध्यात्मक मूल्यों से घटिया होती हैं। उपयोगिता से सम्बद्ध प्रत्ययों या धारणाओं का भौतिक विज्ञानों के वर्णनों तथा प्रतिपादनों में विशेष स्थान होता है, किन्तु सौन्दर्य-मूलक तथा तर्कशास्त्रीय निर्मितियों में उनका कोई खास स्थान नहीं होता। अपने ऊँचे रूपों में तो विज्ञान की निर्मितियाँ (Constructions) भी सौन्दर्य-मूलक तथा तर्कशास्त्रीय ज़रूरतों से नियंत्रित रहती हैं।

हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक "मानववाद, एक दर्शन के रूप में" में न्यूयार्क के श्री कारसिल लेमान्ट ने तथाकथित भौतिकवादी मानववाद की स्पष्ट एवं विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की है। लेमान्ट ने इस बात पर विशेष गौरव दिया है कि भौतिकवाद मानववाद का एक आवश्यक तत्व है। उन्होंने यह सम्मति प्रकट की है कि मानवीय इतिहास के प्रायः समस्त भौतिकवादी विचारक–प्रोटेगोरस और डेमोक्राइटस, एपीक्यूरस और ल्यूक्रीशियस, ला मैत्री और हेल्वेशियस, होल्वाश और डिडेरो, मार्क्स और एंगेल्स, कॉम्त और जान स्टुअर्ट मिल, रसेल, ड्यूई आदि––उनके अभिमत मानववाद के दार्शनिक पूर्वगामी थे। लेमान्ट द्वारा प्रतिपादित मानववाद स्पष्ट रूप में धर्म-विरोधी है। उन्हें पुनर्जागृति-काल का यह आदर्श पसन्द है कि मनुष्य को अपना व्यक्तित्व चारों ओर से विकसित करना चाहिए। लेमान्ट ने इस बात पर जोर दिया है कि मनुष्य को इस धरती के इस जीवन में अधिकतम रस लेने तथा उसका उपभोग करने का प्रयत्न करना चाहिये।[११]

लेमान्ट का उत्साह सराहनीय है। किन्तु उन्होंने जिस प्रकार के जीवनोपभोग की सिफारिश की है, उसमें हल्केपन का आभास होता है। लेमान्ट के जीवन-दर्शन में उस चीज के लिये कोई स्थान दिखलायी नहीं देता जिसे फ्रेंच विचारक ज्ञॉक मारिताँ ने "वीरोचित जीवन की कामना" कहा है, और जिसे वह मानव-प्रकृति की निसर्ग-सिद्ध कामना मानते हैं।[१२]

यह काफी नहीं है कि मनुष्य सभ्यता का निर्माण करे, और उसके सुखों का उपभोग करे; यह भी काफी नहीं है कि सभ्य जीवन की सुविधाएँ सब मनुष्यों के लिए सुलभ बना दी जायँ। मानव-जीवन की सार्थकता केवल इसमें नहीं है कि उसकी

जरूरतें पूरी हो जायँ, यह उस जीवन की सार्थकता का महत्वपूर्ण अंग भी नहीं है। मनुष्य की सार्थकता इसमें है कि वह ऐसी चीजों की चेतना प्राप्त करे जिनका उसकी जरूरतों से दूर का सम्बन्ध भी नहीं है, और इस प्रकार जरूरतों के क्षेत्र का अतिक्रमण करके अपने को विश्व की निरुपयोगी छवियों से सम्बद्ध असंख्य जीवन-संभावनाओं में उत्क्षिप्त करे। परम्परा के अनेक प्रतिबन्धों के होते हुए भी किसी के लिये यह बड़ी बात नहीं है कि वह अपने को इन्द्रिय-सुखों के आवर्त में डाल दे; वैसी परम्परा का विरोध भी कोई बड़ी बात नहीं है। ऐतिहासिक समाजों के प्रतिबन्धों के बीच ऐसे मनुष्य सदैव होते आये हैं जो इन्द्रिय-सेवी थे; सदैव ऐसे मनुष्य रहे हैं जो पुरानी रीतियों का आदर नहीं करते थे, और देवी-देवताओं से नहीं डरते थे। किन्तु इन्द्रिय-सुखों के उपभोग के जीवन में यह क्षमता नहीं होती कि मानव-प्रकृति को उदात्त बना सके। इसके विपरीत वह जीवन मनुष्य को उससे बाँध रखता है जो तत्काल सामने है, और इस प्रकार उसकी कल्पना के परों को कतर कर उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में बाधा डालता है।

लेमान्ट का कथन है कि मनुष्य और प्रकृति का द्वैत मिथ्या है।[13] इसके विपरीत सृजनात्मक मानववाद इस द्वैत को अन्वेषण-सम्बन्धी आवश्यक मान्यता (Methodological Postulate)) के रूप में स्वीकार करता है। मनुष्य का सचेत व्यवहार शायद ही कभी एक निश्चित दिशा में निर्धारित होता है। मानव कर्त्ता प्रायः अनेक सम्भावनाओं के क्षेत्र में व्यापृत होता है। इन सम्भावनाओं में से एक उसकी संकल्प-शक्ति के हस्तक्षेप से यथार्थ बन जाती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य का व्यवहार, बुद्धि-गम्य और व्याख्येय होते हुए भी, ऐसा नहीं होता कि उसकी ठीक-ठीक भविष्यवाणी की जा सके। इन दृष्टियों से प्रकृति के व्यवहार मानवीय व्यवहारों से उलटे अर्थात् विरोधी ध्रुव पर स्थित होते हैं। इसलिये वे अन्वेषण-पद्धतियाँ जो प्रकृति के अध्ययन में काम आती हैं, मनुष्य के अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं होतीं।

३

मनुष्य को समझने की ओर पहला कदम यह है कि हम उसकी प्रकृति की सृजन-शीलता को मुक्त भाव से स्वीकार कर लें। यह सृजनशीलता मनुष्य को प्रकृति से भिन्न बना देती है। इस स्वीकृति के बिना हम अनन्त काल तक इस बात पर विस्मय प्रकट करते रहेंगे कि मानवीय विद्याएँ वैसी प्रगति क्यों नहीं कर रही हैं जैसी कि भौतिक

विज्ञान कर रहे हैं, और फिर भी उक्त पहेली के किसी हल या समाधान पर नहीं पहुँच सकेंगे। वस्तुतः यह परिस्थिति उन लोगों के लिये जो मनुष्य को प्रकृति में निमग्न कर देना चाहते हैं, एक न बूझने योग्य पहेली ही है। किन्तु उन अन्वेषकों को जो इस स्पष्ट तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य सृजनशील है, और उसकी प्रतिक्रियाएँ बदलती रहती हैं, धैर्य-पूर्वक यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि मानव-प्रकृति की उक्त विशेषता मानवीय विद्याओं को किन ढंगों से प्रभावित कर सकती है।

वस्तुनिष्ठता का अर्थ

विश्व की विभिन्न वस्तुओं को मनुष्य सार्थक तत्वों के रूप में ग्रहण करता है; उसकी बुद्धि में ये तत्व अर्थपूर्ण पद्धतियों के अंग बन जाते हैं। चूँकि मनुष्य में विभिन्न रुचियाँ एवं प्रयोजन पाये जाते हैं, वह वस्तुओं को अनेक रूपों में अर्थपूर्ण पाता है। विभिन्न अवसरों पर एक ही वस्तु के मनुष्य के लिये विभिन्न अर्थ हो सकते हैं, अथवा वह विभिन्न रूपों में मूल्यवान प्रतीत हो सकती हैं। इसी प्रकार भिन्न दीखने वाले पदार्थ भी उसके लिये एक अर्थ रख सकते हैं। उदाहरण के लिये जब हम एक सिंह या मगरमच्छ को चिड़ियाघर में देखते हैं तब वे हमारे लिए सौन्दर्यात्मक पदार्थ हो सकते हैं, जिनके देखने में हम रस का अनुभव करते हैं; किन्तु प्रकृति के प्रांगण में दीखने पर वे ही जन्तु हमारे भय का कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार जब हमारा प्रयोजन कुछ चीजें बेचना या खरीदना होता है, तो चाँदी या सोने के सिक्कों और कागज के नोटों का एक ही अभिप्राय होता है। एक और बात है; विभिन्न लोग एक ही वस्तु को अलग-अलग अर्थ-सन्दर्भों में रखकर उसे अलग-अलग रूपों में देखते हैं। उदाहरण के लिये एक शान्तिवादी (Pacifist) की क्रियाएँ एक व्यक्ति को बुद्धि-विरोधी तथा देशभक्ति के विपरीत प्रतीत हो सकती हैं, और दूसरे को युक्ति-संगत तथा उदात्त और मानवोचित। एक ऐसे संन्यासी अथवा सन्त की दृष्टि में, जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, सोने का कुछ भी मूल्य नहीं होता। इसी प्रकार गणित की एक तालिका अगणितज्ञ या कविता-प्रेमी के लिए निरर्थक वस्तु हो सकती है।

तो क्या यह मानना चाहिये कि वस्तुओं में हम जिन मूल्यों का आरोप करते हैं वे एकदम आत्मनिष्ठ होते हैं? इस प्रश्न का हम इस प्रकार उत्तर देंगे। यदि आत्मनिष्ठ का अर्थ वह चीज़ है जो ज्ञातृ-चेतना की सापेक्ष है, अथवा वह चीज जो ज्ञाता के शरीर या मन में स्थित है, तब तो वैज्ञानिक यंत्रों से लिये हुए उल्लेख (Readings)

वैसे ही आत्मनिष्ठ बन जायँगे जैसे कि गौण गुण तथा मूल्य। उक्त दशा में सब चीजें समान रूप में आत्मनिष्ठ या आत्म-परक बन जायेंगी, और आत्म-परक तथा वस्तु-परक का भेद खत्म हो जायगा। इस कठिनाई से बचने के लिये हमें वस्तुनिष्ठ या वस्तु-परक की परिभाषा इस प्रकार देनी चाहिये : 'एक अर्थ वस्तु-परक होता है यदि, एक खास सन्दर्भ में, सब सामान्य (Normal) प्रेक्षकों के लिये उसका एक ही वाच्य या अभिप्राय हो।' विभिन्न अर्थ विभिन्न रुचियों अथवा प्रयोजनों के सन्दर्भ में ही अस्तित्ववान् होते हैं, और सब सामान्य मनुष्य, सहानुभूति-मूलक कल्पना द्वारा, उन सन्दर्भों में प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रकार अर्थों की अवगति प्रायः मनुष्य की सृजनशील कल्पना पर निर्भर करती है; वह कल्पना व्यक्ति की तात्कालिक जरूरतों की निरपेक्ष होकर व्यापृत होती है।

प्रस्तुत लेखक ब्रेडले के इस मन्तव्य को स्वीकार करता है कि समस्त गुण आपेक्षिक होते हैं; उसे नागार्जुन और ब्रेडले का यह अधिक सामान्य सिद्धान्त भी स्वीकार है कि समस्त चीजों की स्थिति आपेक्षिक या सापेक्ष होती हैं। वह एक सम्बन्धहीन, निरपेक्ष तत्व या ब्रह्म की धारणा को स्वीकार नहीं करता। प्रस्तुत लेखक अध्यात्मवादी विचारकों के इस मन्तव्य को स्वीकार करता है कि ज्ञात विश्व, आवश्यक रूप में, मानवीय बुद्धि का सापेक्ष होता है। वस्तुतः जर्मन दार्शनिक कान्ट के समान वह यह मानता है कि ज्ञात विश्व पर मानवीय प्रज्ञा, अथवा मानवीय प्रयोजनों द्वारा, निर्धारित सामान्य रूपाकार (Forms) आरोपित रहते हैं। किन्तु हमारी समझ में यह स्थिति यथार्थवाद (Realism) के विरुद्ध अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद की पुष्टि नहीं करती, कारण यह कि स्वयं मनुष्य के प्रयोजन भी वाह्य जगत् की अपेक्षा में ही समझे जा सकते हैं। वाह्य विश्व और मानवीय बुद्धि या चेतना एक-दूसरे की संबद्धता में ही समझ में आ सकते हैं।

श्री वेस्टर मार्क ने लिखा है : 'नैतिक मूल्यों की तथाकथित वस्तुनिष्ठता का अर्थ यह होगा कि वे मूल्य मानवीय मस्तिष्क की निरपेक्षता में अस्तित्ववान हो सकते हैं।'[१४] हम नहीं समझते कि नैतिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी, अथवा तर्क-मूलक किसी भी प्रकार के मूल्यों की वस्तुनिष्ठता का यह विचित्र अर्थ कैसे हो सकताहै। वस्तुतः विश्व के पदार्थों में किसी भी ऐसी विशेषता को पाना कठिन है जिसका मानवीय मस्तिष्क से, साक्षात् या दूर का, सम्बन्ध नहीं है। जहाँ तक चरम मूल्यों का प्रश्न है, वे चेतन अनुभव

के कुछ रूपों के समानात्मक होते हैं। साधनात्मक मूल्यों को तो साध्यात्मक मूल्यों की अपेक्षा में ही समझा जा सकता है। मूल्यों को वस्तु-परक कहने से हमारा मतलब यह है कि सामान्य संवेदना तथा कल्पना से सम्पन्न सभी मनुष्य उन्हें चेतन जीवों के सुख के साधनों अथवा उपादानों के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

सचेत अनुभव (Sentient Experience) की वे सम्भावनाएँ (Possibilities) भी जिनका साक्षात्कार सब सामान्य (Normal) नर-नारी कर सकते हैं, वस्तु-परक या वस्तुनिष्ठ कही जा सकती हैं।

समस्त तर्कना, साक्षात् प्रतीति के अतिरिक्त साधनों से घटित होने वाला समस्त ज्ञान-विस्तार, संभावनाओं की अवगति पर निर्भर करता है। विज्ञान में हम किसी स्थापना को स्वीकार करके उसके संभव निष्कर्षों पर ध्यान देते हैं। तथ्यान्वेषी (Positive) तथा आदर्शान्वेषी (Normative) समस्त शास्त्रों का ज्ञान संभावनाओं के साक्षात्कार पर आधारित है।

भौतिक विज्ञान तथा गणित में विस्तृत चिन्तन तभी हो सकता है जब हम स्थापनाओं को लेकर चलें, और उन्हें सही मानकर उनके निष्कर्ष निकाल डालें। मूल्य-विज्ञानों के क्षेत्र में जिन संभावनाओं पर विचार किया जाता है, और जिनका मूल्यांकन करना होता है, वे दो तरह की होती हैं। कुछ संभावनाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें मनुष्य के सुपरिचित अनुभव के आधार पर समझा जा सकता है। सुधार तथा नवनिर्माण की अधिकांश योजनाएँ इस कोटि में आती हैं। दूसरी संभावनाएँ कतिपय दार्शनिक अथवा धार्मिक मान्यताओं पर आधारित होती हैं, जिन्हें सीधी अन्तर्दृष्टि से नहीं जाना जा सकता। उक्त कोटि की मान्यताओं के कुछ उदाहरण हैं: हिन्दू दार्शनिकों की मोक्षावस्था की धारणा, साम्यवादियों द्वारा कल्पित राज्यहीन समाज (Stateless Society) इत्यादि। इस प्रकार की मान्यताओं के आधार पर प्रकल्पित संभावनाएँ अवश्य ही न्यूनाधिक अनिश्चित बनी रहेंगी। हमारे मत में कल्पना-प्रसूत स्थापनाओं का अनुसरण करने वाली तर्क-पद्धति उन तथ्यान्वेषी विज्ञानों में ही उचित होती है जहाँ परीक्षा (Verification) सम्भव होती है; वह तर्क-पद्धति मानवीय विद्याओं में, विशेषतः आदर्शान्वेषी अथवा मूल्यात्मक अध्ययन-क्षेत्रों में, समीचीन नहीं होती।

दूसरी ओर हम यह मानते हैं कि संभावनाओं का वह बोध जो हमारे परिचित अनुभव के विस्तार और पुनः संगठन पर निर्भर करता है, मानवीय विद्याओं में ग्राह्य

होता है। हम मानते हैं कि मानवीय विज्ञानों तथा आचार-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के वे सिद्धान्त या नियम जो कल्पना-प्रसूत (Speculative) नहीं होते, इसी प्रकार परिचित अनुभव के विस्तार और पुनः संगठन द्वारा प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के नियम और सिद्धान्त भौतिक विज्ञानों के कल्पना-प्रसूत एवं परीक्षित नियमों से भी अधिक दृढ़ आधार वाले होते हैं। बात यह है कि, अन्तिम विश्लेषण में, भौतिक विज्ञान के नियम कल्पना-प्रसूत होते हैं, और उनकी प्रामाणिकता का आधार व्यावहारिक सफलता होती है। इस मन्तव्य से यह अनुगत होता है कि कुछ दृष्टियों से मानवीय विद्याएँ भौतिक विज्ञानों से भी अधिक निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि मानवीय विद्याओं के अनुभवात्मक कल्पना-मूलक (Empirico-imaginative) नियमों तथा सिद्धान्तों की निश्चयात्मकता पूर्णतया गुणात्मक होती है, वह नाप-जोख पर निर्भर नहीं करती। इस क्षेत्र में आँकड़ों तथा दूसरी मात्रा-मूलक पद्धतियों का प्रयोग भी ऐसे नियमों पर नहीं पहुँचाता जो मात्रा-मूलक हैं। मानवीय विद्याओं में आँकड़ों और व्यक्तिगत तथा सामान्य इतिहासों का अध्ययन हमारे मन में मानवीय अनुभव तथा व्यवहार की गुणात्मक संभावनाओं की चेतना ही उत्थित करता है। मानवीय विद्याएँ अर्थों के उन गुणात्मक सम्बन्धों का अध्ययन करती हैं जो मानव-जीवन तथा अनुभूति के उपादान होते हैं।

आदर्शान्वेषी विद्याओं के तथ्य मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा नैतिक पसन्दें होती हैं; ये पसन्दें या नापसन्दें उतनी ही मानव-प्रकृति में निहित होती हैं जितने कि मनुष्य के देखने, तर्क करने के तरीके। मूल्यों के क्षेत्र में कभी-कभी मनुष्यों के बीच आकाश-पातल के अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं, इसके दो कारण हैं। प्रथमतः मनुष्य जब कतिपय कल्पना-प्रसूत आदर्शों तथा लक्ष्यों को पकड़ बैठता है, तो वह उन मूल्यों की यथार्थ प्रकृति को नहीं देख पाता जो सामान्य मानव-संवेदना को आकर्षक लगते हैं। उदाहरण के लिये मोक्ष की एक खास धारणा को मानकर चलने वाले जैन साधु अपने सिर के बाल नोच डालते हैं, और इसके लिये उनकी प्रशंसा की जाती है। यदि हम जैनियों के विशिष्ट आदर्श को न मान लें, तो कभी ऐसे रोमांचक व्यवहार की प्रशंसा नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में यह बात याद रखने की है कि अपने पर नियंत्रण और कष्ट-सहन की क्षमता प्रशंसनीय चीज़ें हैं, जिनके द्वारा व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास हो सकता है। इस दृष्टि से जैन साधुओं का व्यवहार प्रशंसनीय माना जा सकता है। दूसरी चीज, जो मूल्य-दृष्टियों में भेद उत्पन्न करती है, निम्न है। विभिन्न मनुष्य

अलग-अलग तरीकों से अलग-अलग रूपों में सुखी, दुःखी और महत्वपूर्ण बन सकते हैं। यह स्थिति लोगों को भ्रम में डाल देती है और वे सोचने लगते हैं कि **वास्तविक रूप में** सुखी, दुःखी और महत्वपूर्ण होने का क्या ढंग है। वे यह नहीं मानना चाहते कि मानवीय सुख-दुःख और उसके व्यक्तित्व की महत्ता **अनेकरूप** हो सकते हैं। सच यह है कि मानवीय जीवन के मूल्यों का ज्ञान उस सृजनशील कल्पना द्वारा ही हो सकता है जो उनके विविध रूपों को भीतर से पकड़ सकती है।

भिन्नों और विपरीतों की सहप्रामाणिकता का नियम

इस सन्दर्भ में प्रामाणिकता शब्द के दो अर्थ हैं : तर्क-मूलक संभावना और मूल्यात्मक ग्राह्यता। सहप्रामाणिकता के नियम को दो सम्बद्ध वक्तव्यों में प्रकट किया जा सकता है। पहला वक्तव्य इस प्रकार होगा : निर्धारक शक्तियों की एक ही स्थिति या सन्दर्भ में हम प्रामाणिक रूप में यह कल्पना कर सकते हैं कि एक व्यक्ति न केवल भिन्न (Different) अपितु विपरीत (Contrary) तरीकों से कार्य कर सकता है। मतलब यह कि मानवीय विद्याओं के अन्वेषक मानवीय व्यापारों का विवरण या व्याख्या देते समय भिन्न तथा विपरीत प्रेरणाओं पर निर्भर कर सकते हैं; अनागत के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ करते हुए भी उन्हें भिन्न तथा विपरीत संभावनाओं का विचार करना चाहिये। उक्त नियम का दूसरा कथन इस प्रकार होगा : एक ही परिस्थिति में सामान्य संवेदना तथा कल्पना-शक्ति वाले मनुष्यों के लिये यह सम्भव है कि वे भिन्न और विपरीत जीवन-प्रकारों या क्रियाओं को वांछनीय मान सकें। पहले वक्तव्य के आलोक में हम समझ सकते हैं कि विभिन्न पात्रों के भावी व्यवहार के सम्बन्ध में किसी उपन्यास का पाठक क्यों प्रायः अनिश्चय-मूलक उत्सुकता का अनुभव करता है; दूसरे से यह समझने में मदद मिलती है कि क्यों एक ही व्यक्ति कभी-कभी विभिन्न, यहाँ तक कि विपरीत, प्रवृत्तियों तथा आदर्शों द्वारा आकृष्ट होता है। उक्त दो वक्तव्यों में सम्बन्ध भी है : लोग प्रायः एक स्वीकृत मार्ग-सरणि से तब हटते हैं जब उनके मन में एकाएक भिन्न प्रवृत्ति या आदर्श प्रबल हो उठता है।

सहप्रामाणिकता का सिद्धान्त इस तथ्य की व्याख्या करता है कि क्यों लोग एक ही परिस्थिति अथवा मूल्य के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ करते हैं। मनुष्यों की प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में सही भविष्यवाणियाँ नहीं की जा सकतीं, यद्यपि घटित हो जाने के बाद वे प्रतिक्रियाएँ अन्वेषकों को बुद्धिगम्य जान पड़ती हैं। इसका मतलब यह

हुआ कि मनुष्य का मूल्यानुप्राणित व्यवहार मूलतः बुद्धि-संगत होता है। यदि ऐसा न हो तो नर-विज्ञान के पंडित उन लोगों के व्यवहार की व्याख्या न कर सकें जिनकी "संस्कृति" अन्वेषकों की अपनी 'संस्कृति" से नितान्त भिन्न है। इसलिये यह मानने का कोई बढ़िया हेतु नहीं है कि लोगों का मूल्यानुप्राणित व्यवहार किसी महत्वपूर्ण अर्थ में आत्मपरक होता है।[१५]

ज्ञान में सृजनात्मक तत्व

ऊपर हम कह चुके हैं कि मानवीय विद्याओं के सामान्य कथन परिचित अनुभव-तत्वों के विस्तार और पुनः संगठन द्वारा प्राप्त होते हैं। ये दोनों क्रियाएँ सृजनात्मक हैं। मानव-सम्बन्धी बोध का उपादान संभावनाओं की अवगति है, यह अवगति एक सृजनात्मक क्रिया है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि बोध-क्रिया की सृजनात्मकता केवल मानवीय विद्याओं की विशेषता, अर्थात् केवल मानवीय विद्याओं के क्षेत्र की चीज है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार (और यह परम्परा बड़ी महत्वपूर्ण तथा आदरणीय है) ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान। भारतीय तर्क-शास्त्र युक्ति या तर्क को प्रमाण, अर्थात् नये ज्ञान का उपकरण या स्रोत, नहीं मानता।[१६] किन्तु पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनुमान और तर्क में कोई भेद नहीं किया है। कुछ दिन पूर्व तक पश्चिमी विचारक भी प्रत्यक्ष और तर्कना या अनुमान को ही ज्ञान का स्रोत मानते थे। बेकन के समय से पश्चिम के तर्क शास्त्री निगमन अर्थात् रूपाकार-मूलक तर्क (Formal Reasoning) और आगमन अथवा विषय-मूलक अनुमान या तर्क (Material Reasoning) में अन्तर करने लगे हैं। भारतीय तर्क-शास्त्र भी आगमनात्मक तर्क को व्याप्ति की स्थापना के उपकरण के रूप में स्वीकार करता है। व्याप्ति का उदाहरण इस प्रकार होगा : जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है।

आलोचकों ने आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनों तर्क-पद्धतियों को सदोष घोषित किया है। उदाहरण के लिये जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि निगमन-विधि में अन्योन्याश्रय दोष होता है। वहाँ निष्कर्ष (सुकरात मरणशील है) तो पक्षवाक्य (सब मनुष्य मरणशील हैं) पर निर्भर करता ही है, स्वयं पक्षवाक्य भी निष्कर्ष पर

निर्भर करता है, क्योंकि यदि निष्कर्ष-वाक्य गलत हो, तो पक्षवाक्य भी सही नहीं हो सकता। इसी प्रकार आगमन-विधि (Induction) की भी आलोचना की गई है : वहाँ 'कुछ' उदाहरणों को देखकर 'सब' के बारे में सामान्य कथन किया जाता है, जिसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। आज के युग में विज्ञान-दर्शन (Philosophy of Science) के विचारकों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि वैज्ञानिक चिन्तन की पद्धति मूलतः निगमनात्मक, अथवा स्थापना-निगमन-मूलक (Hypothetical Deductive) होती है।[१७] हर हालत में हमारे सामने यह प्रश्न बना ही रहता है : क्या निगमन विधि हमें ऐसा ज्ञान दे सकती है जो पक्षवाक्यों में निहित नहीं है, और वस्तुतः नया है ? और क्या ऐसा नया ज्ञान प्रामाणिक हो सकता है ?

तर्क-मूलक भाववादियों का विचार है कि निगमन और विश्लेषण दोनों में हम कथनों या वक्तव्यों को दूसरे सामानार्थक कथनों में परिवर्तित करते हैं।[१८] इस मन्तव्य के अनुसार गणित नाम का शास्त्र समानार्थक कथनों और परिवर्तनों (Tautologous Assertions and Transformations) की बृहत् पद्धति मात्र है। तर्क मूलक भाववादियों का प्रस्ताव है कि दार्शनिक वक्तव्यों को भी इसी प्रकार की पद्धति का रूप धारण करना चाहिये।

तो क्या गणित-शास्त्र एक बृहत् पुनरुक्ति-पद्धति मात्र है ? फ्रांस के प्रसिद्ध गणितशास्त्री एच्० प्वांकरे ने इस समस्या को उठाया, और अन्त में उसका निषेधात्मक उत्तर दिया। उन्होंने बतलाया है कि गणित के अन्वेषणों में हम विशेष उदाहरणों से चलकर सामान्य सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं, इसलिये उस अन्वेषण-पद्धति को निगमनात्मक नहीं कह सकते। वे कहते हैं कि गणित की तर्क-पद्धति में एक सृजनात्मक तत्व होता है, इसलिये उसे अरस्तू के "सिलाजिज़्म" में निहित निगमन-विधि से भिन्न समझना चाहिए। उनके विचार में गणितात्मक आगमन (Mathematical Induction) मूल रूप में आवृत्ति-मूलक प्रमाण या उपपत्ति (Proof by Recurrence) होता है। उनके मत में :

भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाला आगमन सदैव अनिश्चित होता है, क्योंकि वह इस विश्वास पर आधारित होता है कि विश्व में एक सामान्य व्यवस्था है, एक ऐसी व्यवस्था जो हमसे बाहर की चीज है। इसके विपरीत गणितात्मक

आगमन अर्थात् पुनरावृत्ति-मूलक उपपत्ति हमारे लिए निश्चयात्मक या अनिवार्य सत्य होती है, क्योंकि उसका आधार हमारी ही बुद्धि की एक विशेषता रहती है।[२०]

प्रश्न है, गणितात्मक आगमन, अथवा आवृत्ति-मूलक उपपत्ति, की निश्चयात्मकता का क्या रहस्य है? एक जगह प्वांकरे ने प्रकट किया है मानो उक्त उपपत्ति में अनन्त "सिलाजिज़्म" या आनुमानिक वाक्य-समूह संक्षिप्त होकर संनिविष्ट हो जाते हैं।[२१] अन्यत्र उन्होंने संकेत किया है कि उपरोक्त उपपत्ति निगमन-विधि अथवा प्रयोग पर आधारित नहीं है, और एक प्रकार का अनुभव-निरपेक्ष संयोजक प्रतिभान (Apriori Synthetic Intuition) [२२] है। इस सम्बन्ध में उनकी अन्तिम सम्मति निम्न अवतरण में निहित जान पड़ती है :

ऐसा क्यों है कि यह मन्तव्य या उपपत्ति हमारे ऊपर इतने प्रबल रूप में आरोपित हो जाती है? इसका कारण यह है कि वह स्वयं हमारी बुद्धि की उस शक्ति की घोषणा करती है जिसके द्वारा वह सचेत भाव से एक क्रिया की असंख्य पुनरावृत्तियाँ कर सकती है, यदि वह क्रिया एक बार संभव हो जाय। हमारी बुद्धि या चेतना को अपनी शक्ति का साक्षात् आभास है; प्रयोग उसके उपयोग का अवसर मात्र बन जाता है, जिसके द्वारा वह उसकी अवगति प्राप्त करती है।[२३]

प्वांकरे द्वारा व्याख्यात गणित की आगमन-विधि बुद्धि की उस क्रिया का एक निदर्शन है जिसे हमने "परिचित ज्ञान का विस्तार" कहा है। एक ही व्यापार की पुनरावृत्ति भी एक तरीका है जिसके द्वारा परिचित अनुभव का विस्तार घटित होता है। परिचित ज्ञान के पुनरावृत्ति-मूलक विस्तार से ही हम "एक करोड़" जैसी बड़ी संख्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, यह ज्ञान विश्लेषण अथवा समानार्थक परिवर्तन (Tautologous Transformation) द्वारा प्राप्त नहीं होता।

निष्कर्ष यह है कि गणित के सामान्य सिद्धान्त उस ज्ञान-व्यापार के निदर्शन हैं जिसे हमने "परिचित अनुभव का सृजनात्मक विस्तार" कहा है। हम इस बात पर गौरव देना चाहते हैं कि इतिहास का ज्ञान भी इसी कोटि का होता है, वहाँ हम परिचित प्रेरणाओं (Motives) तथा कार्य-प्रणालियों के विस्तार और पुनः संगठन द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस वक्तव्य के स्पष्टीकरण की जरूरत है। हम एक नोपोलियन

अथवा गेटे के जीवन को, जो हमारे जीवन से इतना भिन्न और इतना समृद्ध है, न तो आगमन-विधि से जानते हैं, और न निगमन-विधि से। यह भी स्पष्ट है कि हम प्रत्यक्ष द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं करते। उस जीवन को समझने और पकड़ में लाने का एक ही तरीका है, अर्थात् परिचित अनुभव की संभावनाओं के सृजनात्मक विस्तार और पुनः संगठन का तरीका।

उन सब स्थलों में जहाँ निगमन-विधि हमें ऐसा नया ज्ञान देती है जो पक्षवाक्यों में निहित नहीं है, और जहाँ आगमनात्मक चिन्तन में हम 'कुछ' से 'सब' की ओर संक्रमण करते हैं, समझना चाहिए कि हमारी बोध-शक्ति सृजनात्मक ढंग से व्यापृत हुई है। सच यह है कि सब प्रकार के संगठित ज्ञान में सृजनात्मक तत्व का प्रवेश रहता है। वैज्ञानिकों की स्थापनाएँ, और कवियों तथा क्रान्तिकारियों की प्रतीतियाँ और आदर्श, लगातार हमारे साक्षात् अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं।

मनुष्य की सृजनशीलता अपने को विज्ञान और दर्शन द्वारा निर्मित प्रत्ययों या धारणाओं में, और उन कल्पना-मूलक स्थापनाओं में जो उन प्रत्ययों को नये रूपों में ग्रथित करती हैं, प्रकट करती हैं। उदाहरण के लिये, जैसा कि ह्यूम ने बतलाया था, कार्य-कारण की धारणा उन तत्वों का अतिक्रमण करती है जो केवल अनुभव द्वारा दिये हुए होते हैं; उस धारणा में अनुभूत तत्वों से अधिक चीजों का समावेश रहता है। विज्ञान और दर्शन की महत्वपूर्ण धारणाएँ (Concepts) अनुभूत वस्तुओं के सामान्य गुणों के प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त नहीं होतीं। उनका उद्भव उस प्रयत्न में होता है जिसके द्वारा हम किसी अनुभव-क्षेत्र की रचना (Structure) को रूपायित करते हैं।

"फीडो" नामक संवाद ग्रंथ में प्लेटो द्वारा चित्रित सुकरात ने एक विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है; वह सिद्धान्त यह है कि हमारा समस्त ज्ञान स्मृति होती है। उदाहरण के लिये सुकरात कहते हैं कि अनुभव द्वारा हम कभी पूर्ण समानता (Perfect Equality) को नहीं जान सकते, क्योंकि ऐसी दो चीजों का अनुभव असंभव है जो शत-प्रतिशत समान परिमाण की हों। हम कितनी भी होशियारी से दो बराबर रेखाएँ खींचें, वे कभी भी शत-प्रतिशत बराबर नहीं होंगी। इसलिये सुकरात कहते हैं कि पूर्णतया समान परिमाण की धारणा या प्रत्यय हमें किसी पिछले जन्म में प्राप्त हुआ होगा, जिसकी हमें अब याद आती है। किन्तु इस विचित्र सिद्धान्त के बदले

हम इस संभावना को क्यों न स्वीकार कर लें कि हमारी बुद्धि में यह शक्ति है कि अपूर्ण समानता के अनुभव के आधार पर पूर्ण समानता की कल्पना कर ले ? इस शक्ति के द्वारा ही हम मौजूदा सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था से श्रेष्ठतर व्यवस्थाओं की कल्पनाएँ कर सकते हैं।

मानवीय बुद्धि की सृजनशील शक्तियों के अद्भुत निदर्शन उन तरीकों में देखने को मिलते हैं जिनसे वैज्ञानिक लोग, नये अन्वेषण के लियें, अथवा किसी स्वीकृत सिद्धान्त के परीक्षण के लिये, नये प्रयोगों का आविष्कार करते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं है कि जटिल विचार-पद्धतियों का निर्माण सृजनशीलता की अपेक्षा रखता है। श्री रिग्नानो ने प्रथम कोटि की सृजनशीलता का एक बढ़िया उदाहरण दिया है। वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि धातु की सलाखें गर्मी के प्रभाव से लम्बाई में बढ़ जाती हैं, वे यह भी जानते हैं कि एक छोटे पेण्डुलम (Pendulum) की अपेक्षा बड़ा पेण्डुलम ज्यादा धीरे इधर-उधर गतिमान होता है। किन्तु इन दो ज्ञान-खंडों में इस बात का कोई संकेत नहीं है कि एक पैण्डुलम को ठंडे से एक गरम कमरे में ले जाया जाय। 'इस ले जाने की क्रिया से एक नयी घटना का जन्म हुआ जिसका श्रेय मेरी बुद्धि को है, और जिसके घटित होने के बाद मैं मन से यह जान सका कि जो पेन्डुलम अब गर्म कमरे में ज्यादा धीरे हिल रहा है, वही ठंडे कमरे में ज्यादा तेजी से हिल रहा था।'[२४]

एक विचार-पद्धति के निर्माण में मानव मस्तिष्क जिस सृजनात्मक निपुणता का परिचय देता है उसके निदर्शन सुलभ ही हैं। स्पिनोजा, हीगल, सांख्य और वेदान्त की पद्धतियाँ व्याख्यात्मक प्रत्ययों के संगठन का उत्कृष्ट उदाहरण ह। वे तर्क-मूलक भाववादी जो निगमन और विश्लेषण में नूतनता, तथा संयोजक ज्ञान में अवश्यंभावित्ता की संभावना से इनकार करते हैं, उन सृजनशील मानसिक तत्वों को नहीं देख पाते जो ज्ञान-क्रिया में निहित रहते हैं।

मानवीय सृजनशीलता की अभिव्यक्तियां : संस्कृति और सभ्यता

मानव-निर्मित परिवेश की प्रायः प्रत्येक ऐसी चीज जो मानव-जीवन के लिये महत्वपूर्ण है, मानवीय सृजनशीलता में उद्भूत हुई है, और उसी का आधार लेकर लगातार बनी रहती है। यह सृजनशीलता बाह्य वास्तविकता तथा आन्तरिक जीवन दोनों की अपेक्षा में व्यापृत होती है। पहली दशा में उसका लक्ष्य उपयोगिता होता है,

और दूसरी में मनुष्य के आन्तरिक जीवन का प्रसार और समृद्धि। उपयोगिता के धरातल पर क्रियाशील होती हुई मानवीय सृजनशीलता, औद्योगिक वस्तु-क्रम (Technological Order) को उत्पन्न करती है, जो सभ्यता का एक आवश्यक अंग है; मानवीय जीवन की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती संभावनाओं का अन्वेषण करती हुई वह संस्कृति की सृष्टि करती है, जिसकी अभिव्यक्ति कला तथा चिन्तन की कृतियों में होती है। मनुष्य का संस्थाबद्ध जीवन वह बिन्दु है जहाँ आकर उपयोगी और निरुपयोगी जीवन-क्रम मिलते हैं। वैज्ञानिक अन्वेषण की क्रिया जहाँ तक निरुपयोगी होती है, वहाँ तक उसका स्थान जीवन के सांस्कृतिक क्रम में है।

संस्कृति का अर्थ है सृजनात्मक अनुचिन्तन, उसका निर्माण उन क्रियाओं द्वारा होता है जिनके द्वारा मनुष्य यथार्थ की सार्थक किन्तु निरुपयोगी छवियों की सम्बद्ध चेतना प्राप्त करता है। संस्कृति की दूसरी परिभाषा इस प्रकार होगी। वह उन क्रियाओं का समुदाय है जिनके द्वारा मनुष्य के आत्मिक (मानसिक) जीवन में विस्तार और समृद्धि आती है। मनुष्य का आत्मिक जीवन प्रायः अपने को प्रतीकों में रूपायित करता है। अपने ज्यादा कर्मशील रूपों में सांस्कृतिक क्रिया अपने को आत्मिक या आन्तरिक जीवन के ऐसे सार्थक रूपों की सृष्टि में व्यक्त करती है जिन्हें दूसरे लोग कल्पना द्वारा ग्रहण कर सकें। सामान्य रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति मानव जाति के सर्वग्राह्य आत्मिक जीवन-रूपों की सृष्टि और उनका उपभोग है। एक उपलब्धि के रूप में मानवीय संस्कृति क्रमशः वर्द्धमान (Cumulative) और ऐतिहासिक होती है। सांस्कृतिक प्रगति की दो दिशाएँ होती हैं: एक ओर वह मनुष्य के आन्तरिक या आत्मिक जीवन-रूपों का विस्तार है, तो दूसरी ओर उसके बोध और संवेदनाओं का उत्तरोत्तर परिष्कार।

विज्ञान और दर्शन

विज्ञान और दर्शन दोनों सांस्कृतिक क्रियाएँ हैं। विज्ञान में अस्तित्ववान तथ्य-क्रम का अनुचिन्तन किया जाता है और उन नियमों का अन्वेषण जो घटनाओं के गोचर तथा अगोचर होने, और उनके रूपात्मक परिवर्तनों की, व्याख्या करते हैं। इसके विपरीत दर्शन का कार्य मनुष्य की उन क्रियाओं का अनुचिन्तन करना है जिन्हें वह स्वयं अपने में महत्वपूर्ण मानता है, और जो उसके जीवन को संस्कृत बनाती हैं। जीवन

की वे प्रक्रियाएँ जिन्हें हम स्वयं में मूल्यवान मानते हैं, और जिनकी कामना हम स्वयं उन्हीं के लिए करते हैं, हमारे जीवन के चरम मूल्यों का निर्माण करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दर्शन मूल्यों का अध्ययन करने वाली सामान्य विद्या है, अथवा वह चरम मूल्यों का विज्ञान है। दर्शन का प्रमुख कार्य या प्रयोजन उन मानदंडों का अन्वेषण है जिनके द्वारा हम विभिन्न सांस्कृतिक क्रियाओं की प्रामाणिकता और महत्व आँक सकें।

दर्शन विभिन्न कोटियों की सांस्कृतिक अनुभूति का विश्लेषण और व्याख्या भी करता है, किन्तु इन क्रियाओं का चरम प्रयोजन यही है कि उन अनुभूतियों या व्यापारों का मूल्यांकन हो हसके। दर्शन के तीन मुख्य विभाग तर्क-शास्त्र, आचार-विज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र हैं, किन्तु इनमें दर्शन की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। दार्शनिक क्रिया का सर्वोच्च रूप मोक्ष-धर्म (Religion) के दार्शनिक विवेचन में होता है, जिसका कार्य मनुष्य द्वारा प्राप्य उच्चतम अनुभूति का निरूपण है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि दर्शन मानवीय जीवन और अनुभूति के गुणात्मक विकास का उपकरण है।

कतिपय जर्मन विचारकों ने, जैसे रिकर्ट, विन्डेल-बैण्ड, डिल्थे और स्प्रैंगर ने, प्राकृतिक (Natural) और सांस्कृतिक (Cultural) विद्याओं में अन्तर किया है। उनके अनुसार जहाँ प्राकृतिक विद्याओं का लक्ष्य व्याख्या है, वहाँ सांस्कृतिक विद्याओं का ध्येय समझना (Understanding) है; प्रथम कोटि की विद्याएँ 'सामान्य' का अध्ययन करती हैं, और दूसरी कोटि की 'विशेष' का।[२५] हम इस प्रभेद को कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार करते हैं। जहाँ एक ओर हमने, विषय-वस्तु और अन्वेषण-पद्धति दोनों के आधार पर, मानवीय विद्याओं तथा भौतिक विज्ञानों में भेद किया है, वहाँ दूसरी ओर मानवीय विद्याओं के दो उपविभाग किये हैं, अर्थात् मानवीय शास्त्र (Humanistic Sciences) जैसे अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि, और मानवीय अधीतियाँ (Humanities) जिनमें कलाओं तथा दर्शन, आध्यात्मिक चिन्तन या मोक्षधर्म आदि का समावेश है। हमारे विचार में सब प्रकार के विज्ञानों का, फिर चाहे वे भौतिक हों या मानवीय, सामान्य ध्येय अन्वेषित घटनाओं की कारण-मूलक व्याख्याएँ प्रस्तुत करना है। भौतिक विज्ञानों में ये व्याख्याएँ स्थापना-निगमन-मूलक (Hypothetical-Deductive) तथा मात्रा-

मूलक (Quantitative) होती है, जब कि मानवीय शास्त्रों में वे गुणात्मक तथा साक्षात्कार-मूलक या कलात्मक होती हैं। मानवीय शास्त्रों से भिन्न मानवीय अधीतियों का कार्य यह होता है कि वे विभिन्न कोटियों के सांस्कृतिक अनुभव की सृष्टि और मूल्यांकन करें। कला, नैतिकता तथा अध्यात्म के क्षेत्रों में आत्मिक जीवन-रूपों की सृष्टि होती हैं, दर्शन की विभिन्न शाखाओं जैसे नीति शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र और अध्यात्म-दर्शन (Philosophy of Religion) में उक्त रूपों का विश्लेषण और आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाता है। दर्शन का एक विभाग और है, अर्थात् तर्क-शास्त्र और ज्ञान-मीमांसा, जिनका काम मनुष्य की सब प्रकार की वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली का विश्लेषण और मूल्यांकन है।

दर्शन के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण कि वह मूल्यों अथवा मानव आत्मा की वरण-क्रियाओं (Spiritual Preferences) का अध्ययन है, भारत के वेदान्ती विचारकों की चिन्तन-प्रणाली में पुष्टि पाता है; बौद्ध तथा दूसरी कोटियों के अध्यात्मवादी दर्शन भी उसका समर्थन करते हैं। केवल न्याय-वैशेषिक और सांख्य ही, कुछ हद तक, उक्त दृष्टिकोण का अपवाद हैं। डा० मैत्र ने ठीक ही कहा है कि 'हमारी परम्परा है मूल्य-केन्द्रित होना, न कि अस्तित्व-केन्द्रित होना, जैसी कि पश्चिम की परम्परा है।'[२६]

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान श्री नार्थ्राप ने पूर्वी तथा पश्चिमी संस्कृतियों में एक दूसरे ढंग के भेद का निरूपण किया है। उनके विचार में पूर्व के विचारक अपना ध्यान विविक्त साक्षात्कार-मूलक अनुभव-राशि (Differentiated Aesthetic Continuum) पर केन्द्रित करते हैं, जब कि पश्चिम के विचारक वस्तु-जगत् की रचना के सम्बन्ध में ऐसे कल्पना-प्रसूत व्याख्या-सूत्रों (Postulational Theories) का निर्माण करते हैं जिनसे अनेक निगमन हो सकें। वे कहते हैं : 'पूर्व मुख्यतः वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले पक्ष का अन्वेषण करता रहा है, और पश्चिम उनके बुद्धिग्राह्य पक्ष का।'[२७] यह एक सर्व-विदित बात है कि पूर्व ने उस कोटि के वैज्ञानिक चिन्तन की सृष्टि नहीं की जो कि पश्चिम की विशेषता है। क्या इसका कारण यह था कि वे स्थापना-निगमन-मूलक चिन्तन (Hypothetical-Deductive Thinking) को पसन्द नहीं करते थे, अथवा उसकी योग्यता नहीं रखते थे? हमारी समझ में यह व्याख्या उचित नहीं होगी। नागार्जुन और धर्मकीर्ति, गौड़पाद और श्रीहर्ष, तथा कुमारिल और शंकर की कृतियाँ भी इस बात का प्रमाण है कि भारतीय विचारकों में न केवल निगम-

नात्मक तथा विशुद्ध युक्तिवादी (Dialectical) चिन्तन की क्षमता ही थी, बल्कि वे उसके प्रेमी भी थे। जहाँ तक यह प्रश्न है कि वे आधुनिक कोटि के वैज्ञानिक चिन्तन का विकास क्यों नहीं कर सके, हमें उन्हें उतना ही दोष देना या नहीं देना चाहिये जितना कि पुराने यूनानी और रोमन विचारकों को।

हमारे मत में श्री नार्थ्रोप ने पूर्व और पश्चिम की चिन्तन-शैलियों में जिस भेद को आभासित किया है उसकी दूसरी व्याख्या संभव है। पूर्वी संस्कृति सामान्य रूप में, और भारतीय दर्शन और संस्कृति विशेष रूप में, इसके लिये चिन्तित रहे हैं कि मानव व्यक्ति के दुःखों को कैसे दूर किया जाय, और उसे कैसे बदला जाय; वाह्य परिवेश को नियंत्रित तथा परिवर्तित करने की विशेष चिन्ता उन्होंने नहीं की। एशिया के, विशेषतः चीन और हिन्दुस्तान के, धर्मों (जैसे बौद्ध धर्म और ताउ सम्प्रदाय) की चिन्ता का प्रधान विषय मानव जीवन के दुःख का निराकरण रहा है। न्याय-सूत्रों तथा सांख्यकारिका के चिन्तन का आरम्भ इस वक्तव्य से होता है कि मोक्ष या दुःख-निवृत्ति ही प्रधान पुरुषार्थ है। एशिया के विचारक यह भी मानते रहे हैं कि व्यक्ति के सुख-दुःख के हेतु स्वयं उसके व्यक्तित्व में वर्तमान होते हैं। अतएव भारत के ऋषि-दार्शनिकों ने अपनी सारी शक्ति उन तत्वों के विश्लेषण और मूल्यांकन में लगा दी जो वैयक्तिक चेतना के स्वास्थ्य एवं सुख से सम्बन्धित हैं। चूँकि उन तत्वों को कल्पना-मूलक प्रतिभान अथवा भीतरी अन्तर्दृष्टि द्वारा ही पकड़ा जा सकता है, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि वे चिन्तक उन तथ्यों का अन्वेषण कर रहे हैं जिनका बोध साक्षात् अवगति से होता है, अर्थात् उस वस्तु का जिसे श्री नार्थ्रोप ने साक्षात्कार-मूलक अनुभवराशि कहा है। इससे इस स्थिति की भी व्याख्या हो जाती है कि क्यों भारतीय दार्शनिकों ने साक्षात्कार अथवा आत्मानुभूति पर इतना जोर दिया है। यहाँ एक बात और लक्षित करने की है : बाह्य गोचर अनुभूति (Sensible Continuum) या अनुभव-राशि के अन्वेषण में भारतीय विचारकों की उतनी अभिरुचि नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक की पदावली में प्रकट करें तो कहना होगा कि एशिया के दार्शनिक सामान्य रूप में और भारतीय दार्शनिक विशेष रूप में, इसमें अधिक दिलचस्पी लेते हैं कि व्यक्ति अथवा वैयक्तिक चेतना का सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक परिष्कार कैसे हो, उन्हें इसमें ज्यादा रुचि नहीं है कि मानव-जीवन की भौतिक परिस्थितियों में कैसे सुधार हो। अवश्य ही वे समाज-व्यवस्था में रुचि दिखलाते हैं, पर उस रुचि की प्रेरणा भी इस इच्छा में है कि व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रस्तुत

कर दी जायँ। हमारे यहाँ साधुता (Virtue) अथवा धर्म-मूलक व्यवहार पर भी गौरव दिया गया है, लेकिन उसका उद्देश्य भी यही माना गया है कि स्वार्थ-वृत्तियों के उन्मूलन तथा निम्न प्रवृत्तियों के शोधन द्वारा आत्म-शुद्धि हो जाय। इन दृष्टियों से कहा जा सकता है कि एशिया की संस्कृति में सामान्यतः, और भारतीय संस्कृति में विशेषतः ,आत्मिक या आध्यात्मिक मूल्यों को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है।

मोक्ष या आध्यात्मिकता का महत्व

आज के अधिकांश विचारकों, विशेषतः मानववादियों के, मन में धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्ति के प्रति सन्देह की भावना पायी जाती है। योरपीय पुनर्जागृति के समय से यह समझा जाता है कि मानववादी मनोवृत्ति मूलतः बुद्धिवादी तथा रहस्य-भावना की विरोधी होती है। यह भी समझा जाता कि वह मनोवृत्ति ऐहलौकिक और शरीर-परक अथवा इन्द्रिय-परक (Sensuous) होती है। भारतीय विचारक और राजनीतिज्ञ श्री मानवेन्द्र नाथ राय तथा अमरीकी लेखक श्री कारलिस लेमान्ट जैसे चिन्तक अपने मानववाद को प्रकृतिवादी (Naturalist) अथवा भौतिक-वादी वर्णित करना पसन्द करते हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि अध्यात्म या मोक्षधर्म जनता की अफीम या शराब हैं जो उनकी बौद्धिक चेतना को ढक लेती है। फ्रेज़र जैसे नर-विज्ञानियों के मत में धर्म या मोक्षधर्म सोचने तथा महसूस करने का एक ढंग है जिसका निकट भविष्य में तिरोभाव अनिवार्य है।

मोक्ष-धर्म अथवा अध्यात्म के ऊपर किये गये उक्त आरोपों तथा उससे सम्बन्धित भविष्यवाणियों के पीछे यह भावना छिपी हुई है कि मोक्षधर्म एवं तत्सम्बन्धी मनोवृत्ति कुछ ऐसी चीजें हैं जिनका मनुष्य की वास्तविक प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् जो मानव-प्रकृति के बाहर की चीज हैं। तर्क-मूलक भाववादियों ने तत्व-दर्शन-सम्बन्धी चिन्तन के बारे में ऐसा ही मत प्रकट किया है। इसके विपरीत हमारा विचार है कि जिस प्रकार दार्शनिक कोटि के (Metaphysical) चिन्तन का लोप सम्भव नहीं है, वैसे ही मोक्षधर्म अथवा आध्यात्मिक मनोवृत्ति का लोप भी शक्य नहीं।

श्री राधाकृष्णन् ने उचित ही लिखा है : 'मोक्षधर्म लोगों के लिए मादक द्रव्य का काम नहीं कर सकता, जब तक कि उनमें कुछ ऐसी असन्तुष्ट आकांक्षाएँ न हों जिनका सम्बन्ध भौतिक जगत से नहीं है।'[२८] किन्तु अभौतिक आकांक्षाओं का यह अर्थ नहीं

लेना चाहिए कि उनका विषय मानव जीवन से बाहर होता है। यह आश्चर्य की बात है कि विभिन्न कोटियों के मानववादी विचारक, मनुष्य की शक्तियों तथा उपलब्धियोंमें गर्व की भावना रखते हुए भी, उस आध्यात्मिक मनोवृत्ति की प्रकृति और सार्थकता का अन्वेषण नहीं करना चाहते जो सन्त-चरित्र जैसी उच्च वस्तु को उत्पन्न करती है। इस चरित्र का महत्व कला तथा चिन्तन की सृष्टियों से किसी प्रकार भी कम नहीं है।

मानव व्यक्तित्व के विकास के मात्रा-मूलक और गुणात्मक दोनो पक्ष होते हैं। प्रथमतः उस विकास का अर्थ है व्यक्ति की चेतना का उन असंख्य संवेदनाओं तथा बोध-दशाओं में प्रसरित होना जिन्हें ऐतिहासिक मानव-चेतना ने संचित कर रखा है। दूसरे, वह प्रगति अपने को उस बढ़ते हुए विवेक में प्रकट करती है जिसके द्वारा हम सांस्कृतिक अनुभव के उच्चतर तथा निम्नतर रूपों में भेद करना सीखते हैं और क्रमशः निम्नतर रूपों से विरत होकर उच्चतर रूपों के ग्रहण की ओर अग्रसर होते हैं। मूल्यों की गुणात्मक चेतना का सर्वोच्च रूप मोक्षधर्म या आध्यात्मिक मनोवृत्ति है। यह मनोवृत्ति अपने को मुख्यतः दो रूपों में व्यक्त करती है : साधारण लोग जिन छोटी चीजों की विशेष कामना करते हैं उनके प्रति वैराग्य भावना में, और उदारता तथा त्याग की असाधारण क्रियाओं में जो कि सन्त-प्रकृति की अपनी विशेषताएँ हैं। वस्तुतः एक व्यक्ति उसी हद तक उदार तथा पर-हित-कांक्षी हो सकता है जहाँ तक उसने सन्तों के विशिष्ट गुण, अपरिग्रह-मूलक उदासीनता, का आकलन किया है। किसी भी सांस्कृतिक व्यापार में लीन होने के लिये थोड़ी-बहुत उदासीनता एवं अपरिग्रह-वृत्ति अनिवार्य रूप से अपेक्षित होती है। जिस सीमा तक मनुष्य निम्न कोटि के मूल्यों के अन्वेषण से विरत होता है, वहीं तक वह अपने को उच्च सांस्कृतिक मूल्यों के प्रत्यक्षीकरण और उत्पादन के योग्य बनाता है। जिसे हम सन्त कहते हैं वह दुनिया की सीमित, अस्थायी उपलब्धियों के प्रति पूर्णतया उदासीन होता है (ऐसी उदासीनता कलाकार और विचारक प्रायः प्राप्त नहीं कर पाते) और उसकी कल्पना स्वच्छंदतापूर्वक एक ऐसे तत्व की कल्पना करती रहती है जो अनन्त, रहस्यमय मूल्यवत्ता का अधिष्ठान है। यह जरूरी नहीं है कि उस चरम तत्व अथवा अनुभूति के सम्बन्ध में सन्त की कोई हठपूर्ण धारणा हो। यह सम्भव है कि बुद्ध की भाँति वह उसके बारे में कोई अन्तिम दार्शनिक राय प्रकट करने से इनकार कर दे। जरूरी केवल इतनी चीज है कि उसे मानव-जीवन की उच्चतम संभावनाओं की उपलभ्यता में भावात्मक विश्वास या आस्था हो।

सारांश यह कि जहाँ तक मनुष्य मूल्यों की सृष्टि और खोज करता है, वहाँ तक उसकी प्रकृति की प्रमुख विशेषता सृजनशीलता है। इस प्रकृति की माँगों के अनुरूप जीवित रहते हुए ही वह परम तृप्ति का लाभ कर सकता है। मानव-प्रगति की दिशा उसकी सांस्कृतिक अथवा मूल्यानुप्राणित चेतना के सतत विस्तार और परिष्कार की ओर है। मानव व्यक्तित्व का विस्तार और परिष्कार ही वे लक्ष्य हैं जिनकी प्राप्ति के लिये, व्यक्तियों तथा राष्ट्रों दोनों के राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्न अनुष्ठित होने चाहिएँ। अपरिमित शक्ति एवं सम्पत्ति की उपलब्धि उनका प्रकृत ध्येय नहीं है।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. कार्ल यास्पर्स, मैन इन द मार्डन एज, (अंग्रेजी अनुवाद, जार्ज रटलेज एन्ड सन्स, लन्दन १९३३), पृ० ४३।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ७।२३।१

३. दे० टुएन्टिएथ सेन्चुरी सोशियालॉजी, संपादक जार्ज गुरविच और विलबर्ट मूर, (द फ़िलॉसिफ़िकल लायब्रेरी, न्यूयार्क १९४५), पृ० ९८।

४. दे० एडवर्ड वेस्टर मार्क, "एथीकल रिलेटिविटी" की प्रस्तावना, (कीगन पाल, लन्दन, १९३२)।

५. दे० टुएन्टिएथ सेन्चुरी सोशियालॉजी, ब्रिटिश सोशियालॉजी, पृ० ५७९।

६. एन्साइक्लोपीडिया आव द सोशल साइन्सेज़, भाग सात-आठ, पृ० ५४१।

७. दे० एफ० सी० एस० शिलर, ह्यूमैनिज्म, (मैकमिलन, लन्दन, दूसरा संस्करण, १९१२), प्रस्तावना पृ० २१।

८. वही, अध्याय १।

९. वही, पृ० ७१।

१०. दे० नीचे, अध्याय ७।

११. कारलिस लैमान्ट, ह्यूमैनिज्म एज़ ए फिलासफी, (वाट्स एन्ड को, लन्दन, तीसरा संस्करण, १९५२), पृ० ३०–३१।

१२. दे० जॉक मारितां, ट्रू ह्यूमैनिज्म, (ज्याफ़रे ब्लेस, लन्दन, तीसरा संस्करण १९४१), भूमिका।

१३. कारलिस लैमान्ट, वही, पृ० ३१।

१४. एथीकल रिलेटिविटी, पृ० ३।

१५. पाठक लक्षित करें, भिन्नों तथा विपरीतों की सहप्रामाणिकता, विरुद्धों की नहीं। जीवन में हमारे सामने 'करने' तथा 'न करने' के बीच विकल्प का प्रश्न नहीं उठता; 'यह करें' या 'वह करें' का प्रश्न ही प्रायः उठता है। द्वन्द्व की स्थिति प्रायः दो मूल्यों को लेकर उठ खड़ी होती है।

१६. तु० की० तर्को न प्रमाणसंगृहीतो, न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकः तत्वज्ञानाय कल्पते। न्याय भाष्य, १।१।१

१७. देखो नीचे, अध्याय २।

१८. तु० की० हैन्स राइशेनबाख, 'इस पर अति गौरव नहीं हो सकता कि निगमन स्वतंत्र निष्कर्ष उत्पन्न नहीं कर सकता।' (द राइज आफ साइन्टिफिक फिलासफी, बार्कले एन्ड लास एंजेलेस, १९५१), पृ० ५७।

१९. एच० प्वांकरे, साइंस ऐन्ड हाइपाथिसिस, (अं० अनु० वाल्टर स्काट पब्लिशिंग कम्पनी, लन्दन, १९०५), पृ० ३।

२०. वही, पृ० १३।

२१. वही, पृ० ९।

२२. वही, पृ० १२-१३।

२३. वही, पृ० १३।

२४. यूगेनिओ रिग्नानो, द साइकालाजी आव् रीजनिंग, (अं० अनु० कीगन पाल, लन्दन, १९२३), पृ० १९१, गौरव लेखक का।

२५. दे० गार्डनर मर्फी, ए हिस्टारिकल इन्ट्रोडक्शन टु साइकालजी, (कीगन पाल, १९३८), अध्याय २६।

२६. दे० कान्टेम्पोरेरी इन्डियन फ़िलासफ़ी, (म्योरहेड लाइब्रेरी आफ़ फ़िलासफी, दूसरा संस्करण, १९५२), पृ० ३८७।

२७. दे० एफ़० एस० सी० नार्थ्रोप, द मीटिंग आव् ईस्ट ऐन्ड वैस्ट, (मैकमिलन, लन्दन, १९४९), पृ० ३७५।

२८. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, रिलीजन ऐन्ड फिलासफी, (एलेन ऐन्ड अनविन, लन्दन, १९४७), पृ० २३।

———

अध्याय २

मूल्यों की वस्तुनिष्ठता : यथार्थ व अस्तित्व के क्रम

इस पुस्तक का उद्देश्य संस्कृति को एक मूल्य मानते हुए उसका निरूपण करना है। कोई धारणा अथवा वक्तव्य कब सन्तोषप्रद होता है ? सन्तोषप्रद होने की एक पहचान यह है कि एक वक्तव्य या धारणा उन सब सामान्य मनुष्यों द्वारा जो उसकी परीक्षा कर सकते हैं, ग्राह्य हो। मतलब यह है कि जिसे हम समुचित धारणा या वक्तव्य कहते हैं वह किसी-न-किसी प्रकार की प्रामाणिकता का दावा करता है। कुछ विचारकों, विशेषतः आत्मनिष्ठतावादियों तथा तर्क-मूलक भाववादियों ने, यह मानने से इनकार किया है कि मूल्यों के सम्बन्ध में दिये हुए कथन या वक्तव्य वस्तुगत रूप में प्रामाणिक होते हैं। संस्कृति का निरूपण करने से पहले यह ज़रूरी है कि हम इन विचारकों की मान्यताओं की परीक्षा करें।

समीक्षा या आलोचना दो प्रकार की होती है, तर्क-मूलक और ध्वंसात्मक तथा अनुभव-मूलक और रचनात्मक। पहली कोटि की आलोचना प्रायः किसी मंतव्य की आंतरिक विसंगतियों को दर्शित करके उसका खंडन कर देती है। उदाहरण के लिये जब हम किसी मन्तव्य से निष्कर्ष निकाल कर यह दिखा देते हैं कि वे निष्कर्ष अर्थहीन (Absurd) हैं, तो हम ध्वंसात्मक आलोचना करते होते हैं। इसके विपरीत रचनात्मक आलोचना किसी सिद्धान्त को जीवन और अनुभूति के तथ्यों की अपेक्षा में जाँचती है, और इस दृष्टि से उसमें संशोधन अथवा उसका परित्याग करती है कि उस अनुभूति की ज्यादा अच्छी जानकारी अथवा व्याख्या प्राप्त हो जाय। तर्क-मूलक आलोचना का उद्देश्य किसी सिद्धान्त को दूषित सिद्ध करना होता है, जब कि रचनात्मक आलोचना का अन्तिम लक्ष्य हमारे यथार्थ-सम्बन्धी पर्यवेक्षण को तीक्ष्ण एवं समृद्ध करना होता है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि प्रथम कोटि की आलोचना अयुक्त होती है। फिर भी हम मानते हैं कि गम्भीर कोटि की आलोचना को, प्रेरणा और निष्पत्ति

दोनों में, रचनात्मक होना चाहिए। सब प्रकार के संशयवादी विचारकों ने, जिनमें आत्मनिष्ठतावादियों तथा तर्क-मूलक भाववादियों का भी समावेश है, ध्वंसात्मक आलोचना का प्रचुर प्रयोग किया है। इस प्रकार की आलोचना को बहुत ज्यादा महत्व नहीं देना चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम संक्षेप में आत्मनिष्ठता-वादियों तथा तर्कमूलक भाववादियों के उन मन्तव्यों की परीक्षा करेंगे जो उन्होंने मूल्य-सम्बन्धी वक्तव्यों अथवा कथनों के बारे में प्रतिपादित किये हैं।

आत्मनिष्ठतावाद का खंडन

आत्मनिष्ठतावाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जिसके अनुसार मूल्य-सम्बन्धी कथन, जिनका विषय मानवीय कर्म अथवा कलाकृतियाँ होती हैं, हमें उन वस्तुओं के बारे में कुछ नहीं बतलाते। उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं कि एक काम बुरा है, अथवा एक कविता घटिया है, तब हम वास्तव में उस काम या कविता के बारे में कुछ नहीं कहते। हम उक्त कर्म या कविता में उपस्थित किसी गुण का संकेत नहीं करते; इसके विपरीत हम सिर्फ़ यह प्रकट करते हैं कि उस कर्म या कविता के सम्बन्ध में हमारे भीतर एक खास तरह की संवेदना या मनोभाव है। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे मूल्य-सम्बन्धी वक्तव्य वस्तुतः हमारी मनोदशाओं के बारे में होते हैं, न कि किन्हीं बाहरी चीजों के सम्बन्ध में। इस मान्यता के पक्ष में सबसे बड़ी युक्ति यह है कि, एक ही नैतिक अथवा सौन्दर्य-मूलक वस्तु के सम्बन्ध में, विभिन्न व्यक्ति तथा समूह अलग-अलग सम्मतियाँ प्रकट करते हैं।[1] यदि वे व्यक्ति तथा समूह अपने सामने उपस्थित किन्हीं वस्तुगत चीजों की ओर संकेत करते हों, तो उनमें इस प्रकार के मतभेद दिखाई न दें। विभिन्न अवसरों पर विभिन्न चीजों के महत्व के सम्बन्ध में लोगों में जो मतभेद होते हैं, वे यह सिद्ध करते हैं कि वे लोग वस्तुतः अपनी उन मनोदशाओं के बारे में बातचीत करते होते हैं जो तथाकथित नैतिक या अनैतिक एवं सुन्दर या असुन्दर वस्तुओं द्वारा उनके भीतर उत्पन्न की जाती है। और चूँकि विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों में ये संवेदनाएँ या मनोदशाएँ प्रायः अलग-अलग होती हैं, इसलिए उनके तथा-कथित नैतिक एवं सौन्दर्य-सम्बन्धी वक्तव्य भी एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। यही कारण है कि मनुष्यों के मूल्य-सम्बन्धी वक्तव्यों को वैज्ञानिक एकता में ग्रथित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार आत्मनिष्ठतावादी विचारक आचार-शास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र नाम की विद्याओं की सम्भावना से इनकार करते हैं।

आलोचकों ने दिखलाया है कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त कतिपय विरोधाभासों को जन्म देता है। प्रोफेसर जी० ई० मूर ने इंगित किया है कि नीतिशास्त्र अथवा आचार-शास्त्र के क्षेत्र में उक्त सिद्धान्त का एक विचित्र निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी कर्म की अच्छाई या बुराई के सम्बन्ध में किन्हीं भी दो व्यक्तियों में कभी मतभेद नहीं हो सकता।[२] कारण यह कि जब कोई व्यक्ति एक नैतिक निर्णय देता है, तो वह अपनी मनोदशाओं या संवेदनाओं के बारे में बात करता है, न कि निर्णीत होने वाले कर्म के बारे में। ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णय प्रायः ऐसे वाक्यों के समान हो जाता है जैसे कि 'मुझे चीनी अच्छी लगती है,' और 'मुझे चीनी अच्छी नहीं लगती'। इन दोनों वाक्यों में कोई विरोध नहीं है; इसी प्रकार नैतिक निर्णयों में भी विरोध नहीं होता। आत्मनिष्ठतावाद से दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ही कर्म नैतिक दृष्टि से अच्छा और बुरा दोनों हो सकता है। तीसरे, कोई भी नैतिक निर्णय गलत नहीं हो सकता 'जब तक कि निर्णायक अपनी संवेदनाओं अथवा मनोदशाओं के बारे में गलत सूचना न दें।'[३] चौथे, कोई भी दो नैतिक निर्णय एक ही अर्थ नहीं रखते। एक ही मनुष्य दो भिन्न अवसरों पर समान निर्णय नहीं दे सकता, क्योंकि प्रत्येक अवसर पर वह वास्तव में यही कहेगा कि इस समय मैं इस चीज को पसन्द या नापसन्द करता हूँ। सौन्दर्य-सम्बन्धी निर्णयों पर भी यही बातें लागू होंगी।

आत्मनिष्ठतावाद का एक चौंकानेवाला परिणाम यह है कि किसी व्यक्ति को किसी नैतिक कर्म की भलाई-बुराई के सम्बन्ध में, फिर चाहे वह कर्म किया जा चुका हो अथवा संकल्पित हो, सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि हमारे मन में कर्म-विशेष के सम्बन्ध में इस समय क्या भावना है, इस बारे में सन्देह की गुंजाइश नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त नैतिक द्वन्द्व की अनुभूति की व्याख्या नहीं कर सकता।

इस प्रकार उक्त सिद्धान्त अपने में विरोधग्रस्त है, और अनुभूत तथ्यों का भी विरोधी है। फलतः हम इस मन्तव्य को स्वीकार नहीं कर सकते कि हमारे नैतिक वक्तव्य या कथन संवेदनाओं अथवा संवेदनाओं के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। किन्तु इस अस्वीकृति का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि जब वे कथन किये जाते हैं तब संवेदनाओं का अभाव रहता है। हम मानते हैं कि ये संवेदनाएँ अकेली नहीं होतीं, वे सदैव विशिष्ट बाह्य परिस्थितियों पर संलग्न होती हैं।[४] प्रायः हमारे वक्तव्य उन परिस्थितियों का वर्णन करते हैं, जब कि स्वयं संवेदनाओं का प्रकाशन स्वर, चेहरे

के भाव, गतियों आदि के द्वारा किया जाता है। देखने की बात यह है कि उन लोगों की दृष्टि में जो नैतिक वक्तव्य देते हैं उन संवेदनाओं तथा उस परिस्थिति का सम्बन्ध स्वाभाविक अर्थात् वस्तुस्थिति द्वारा उत्पादित और बुद्धिगम्य होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे तर्क करनेवालों की दृष्टि में विभिन्न पक्षवाक्यों और उनके निष्कर्षों का सम्बन्ध वस्तुगत तथा बुद्धिगम्य होता है। अवश्य ही उक्त दो स्थितियों में कुछ भेद रहता है: प्रथम सम्बन्ध की वस्तु-परकता उतनी सार्वभौम नहीं होती जितनी कि दूसरे सम्बन्ध की। यही कारण है कि प्रथम कोटि के सम्बन्ध के बारे में आत्म-परक होने का सन्देह किया जाता है। फिर भी यह मानना होगा कि एक ही "संस्कृति" की परिधि में विभिन्न लोगों के नैतिक वक्तव्य इतने समान होते हैं कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त भी संदिग्ध हो जाता है। नैतिक पैमानों की सापेक्षता के बारे में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि ऐसे नैतिक निर्णयों का अभाव नहीं है जिनके बारे में सार्वभौम मतैक्य हो। यही बात सौन्दर्य-सम्बन्धी निर्णयों के बारे में कही जा सकती है।

आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त

हमारे मूल्यात्मक वक्तव्यों का व्यवस्थित, वस्तुपाती अध्ययन नहीं हो सकता, यह मान्यता एक दूसरे सम्प्रदाय की भी है, अर्थात् तर्क-मूलक भाववादियों की। उनका सिद्धान्त आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त (Emotive Theory of Values) कहलाता है। केवल नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में लिखते हुए ऐयर कहते हैं:

नैतिक वक्तव्यों की प्रामाणिकता का निर्णय करने के लिये किसी मानदण्ड को पाना असम्भव है...क्योंकि उनमें वस्तुपाती प्रामाणिकता होती ही नहीं। जब एक वाक्य कोई कथन ही नहीं करता, तो स्पष्ट ही उसके सम्बन्ध में यह पूछना कि वह सही है या गलत, कोई अर्थ नहीं रखता...वे वाक्य जो नैतिक निर्णय प्रकट करते हैं, कुछ भी नहीं कहते। वे विशुद्ध रूप में संवेदनाओं को प्रकट करते हैं, और इस प्रकार सच तथा झूठ की श्रेणी में नहीं आते।[५]

प्रोफेसर ऐयर ने आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त को आत्मनिष्ठतावाद से पृथक् किया है। वे कहते हैं: 'जहाँ आत्मनिष्ठतावादी यह कहता है कि नैतिक वक्तव्य कतिपय संवेदनाओं के अस्तित्व का कथन या घोषणा करते हैं, वहाँ हम मानते हैं कि नैतिक

वक्तव्य या तो संवेदनाओं को अभिव्यक्त करते हैं, अथवा संवेदनाओं को उकसाते हैं। इन दोनों रूपों में वे, आवश्यक रूप में, कोई कथन नहीं करते।'[६] उदाहरण के लिये एक दम्भी व्यक्ति एक ऐसे कार्य को बुरा कह सकता है जिसका अपराधी वह स्वयं है; उस कार्य को बुरा कहते समय उसके मन में तिरस्कार की वे भावनाएँ जिनका वह दिखावा करता है, मौजूद नहीं भी हो सकती हैं।

पूछा जा सकता है कि आत्मनिष्ठतावाद तथा तर्क-मूलक भाववाद के मन्तव्यों के इस भेद का क्या महत्व है? जब आत्मनिष्ठतावादी यह कहते हैं कि नैतिक कथन संवेदनाओं के अस्तित्व की उपस्थिति बतलाते हैं, तब वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि नैतिक कथनों में किसी-न-किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता होती हैं, उक्त वक्तव्य का मतलब यही होता है कि वे कथन कतिपय मानसिक तथ्यों का वर्णन करते हैं और इस प्रकार अनुभवमूलक वक्तव्य (Empirical Statements) होते हैं। किन्तु तर्क-मूलक भाववादी नैतिक कथनों में इतनी वस्तुनिष्ठता मानने को तैयार नहीं हैं।

तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार नैतिक वक्तव्य या तो (क) इन्द्रिय-ग्राह्य तथ्यों के कथन होते हैं; अथवा (ख) संवेदनाएँ उकसाने वाले होते हैं; या फिर (ग) खास ढंगों से कर्म करने के लियें आदेश-रूप होते हैं। हमारे विचार में नैतिक वक्तव्यों का यह तीनो प्रकार का परिणमन उचित या न्याय्य नहीं है। उदाहरण के लियें श्री ऐयर का विचार है कि निम्न दो वाक्य समानार्थक हैं: 'तुमने वह रुपया चुराया', और 'तुमने वह रुपया चुराकर बुरा काम किया।' हम ऐयर के इस मत से सहमत नहीं। कल्पना कीजिए कि एक आतंकवादी नेता, जो रुपया चुराने को स्वयं में बुरा काम नहीं मानता, उक्त वाक्य अपने अनुयायियों से कहता है। उसकी दृष्टि में रुपया चुराना बुरी बात तभी होगी जब वह रुपया किसी गरीब व्यक्ति, किसान या मजदूर, का हो। दूसरी स्थिति में, जब चुराया हुआ रुपया किसी अमीर आदमी का हो, दूसरे वाक्य का वही अर्थ नहीं होगा जो कि पहले का। सच यह है कि जब मैं एक व्यक्ति से कहता हूँ कि उसने किसी चीज को चुरा कर बुरा काम किया, तो मैं केवल इस भौतिक तथ्य का संकेत नहीं कर रहा हूँ कि उसने एक वस्तु को स्थानान्तरित कर दिया; मैं इस तथ्य के मूल्यात्मक पहलू का भी संकेत करता हूँ, अर्थात् उस पहलू का जिसके कारण वह तथ्य किसी निरपराध व्यक्ति की पीड़ा का कारण हो जाता है। यह समझना गलत होगा कि उक्त मूल्यात्मक पहलू चोरी के कर्म में वैसे ही संलग्न रहता है जैसे कि पत्तियों में हरियाली। इसके विपरीत एक कर्म में, उस पीड़ा के अनुपात में जो दूसरों

को पहुँचाई गई है अथवा जिसे पहुँचाने का इरादा किया गया है, न्यूनाधिक बुराई आ जाती है; बुराई का अनुपात इस विचार से भी न्यूनाधिक हो जाता है कि पीड़ा पाने वाला कहाँ तक उसके योग्य था। उदाहरण के लिये चोरी हो जाने से कष्ट पानेवाला व्यक्ति यदि स्वयं एक डाकू या बदमाश है, तो हम उसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखलाना चाहते, और उसके अपराधी पर ज्यादा रोष नहीं करते, बशर्ते कि अपराध करते समय उस अपराधी के मन में यह भावना रही हो कि मैं एक दुष्ट व्यक्ति को कष्ट पहुँचा रहा हूँ। हम आगे देखेंगे कि सब वस्तुओं के समस्त गुण आपेक्षिक होते हैं; कर्मो तथा मनुष्यों की नैतिक विशेषताएँ इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं हैं। जब हम विभिन्न कर्मों तथा मनुष्यों के सम्बन्ध में नैतिक निर्णय देते हैं, तो हम स्वाभावतः यह कामना करते हैं कि दूसरे लोग उन कर्मों तथा मनुष्यों को उन्हीं सन्दर्भों में देखें जिनमें वे हमारे द्वारा देखे जा रहे हैं।

ऐसा कम होता है कि किसी कर्म अथवा मनुष्य के सम्बन्ध में नैतिक निर्णय देते समय हम एक छोटा-सा वक्तव्य दे कर सन्तुष्ट हो जायँ। प्रायः हम यह कोशिश करते हैं कि अपने निर्णय या वक्तव्य को प्रमाणित कर दें। हमारी कोशिश यह होती है कि दूसरे लोग उस पूरे सन्दर्भ को देख लें जिसने उस निर्णय को जन्म दिया है। तर्क-मूलक भाववाद उन सब प्रक्रियाओं की चिन्ता करता नहीं दीखता जिनके द्वारा, किसी नैतिक विवाद में, लोग एक दूसरे द्वारा अपना मत मनवाने की कोशिश करते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि किसी नैतिक कथन के अर्थ का निश्चय करना उतनी सरल बात नहीं है। यह कहना कि ऐसे वक्तव्य का उद्देश्य कतिपय संवेदनाओं को उकसाना होता है, स्थिति को सरल करना है। इतिहास-लेखक अक्सर ऐसे पुरुषों के कर्मों पर नैतिक निर्णय देते हैं जिनके विरुद्ध घृणा तथा क्रोध दोनों की भावनाएँ एकदम व्यर्थ होती हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि इतिहास-लेखक अपने पाठकों में नैतिक भावनाएँ जगाना चाहते हैं, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि वे ऐसे तथ्यों को उपस्थित करते हैं जिनके द्वारा नैतिक भलाई-बुराई देखी जा सके।

विचाराधीन मन्तव्य के विरुद्ध हमारा सबसे बड़ा अभियोग यह है कि वह सभ्य मनुष्य के इतिहास के अनुरूप नहीं है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार हमें यह मानना चाहिए कि बुद्ध और कनफ़्यूशियस से लेकर कान्ट और गांधी तक समस्त दार्शनिक एवं नैतिक शिक्षक तथा अरस्तू से लेकर टॉल्स्टाय तथा क्रोचे तक समस्त सौन्दर्य-शास्त्री

एक ऐसे कार्य में लगे रहे हैं जहाँ सफलता की संभावना है ही नहीं, और वे सब शिक्षक जो अपने शिष्यों में यह क्षमता उत्पन्न करना चाहते हैं कि वे (उदाहरण के लिये) अच्छी-बुरी कलाकृतियों में भेद कर सकें, न केवल शिष्यों को बल्कि अपने को भी धोखा देते हैं, क्योंकि उन क्षेत्रों में अच्छाई-बुराई के निर्णय वस्तुतः न सही होते हैं, न गलत। इस प्रकार के समस्त निर्णय मूलतः आवेगात्मक होते हैं, जिनकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती; वे सभी समान रूप में सही या गलत होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि तर्कमूलक भाववाद का सिद्धान्त योरप की उस समस्त उदारतावादी विचार-परम्परा (Liberal Tradition) का निषेधक है जिसके अनुसार मानवीय व्यवहार तथा संस्थाओं की प्रामाणिकता को मनुष्यों की बौद्धिक स्वीकृति द्वारा जांचा जा सकता है।[७] उक्त मन्तव्य के विरुद्ध दूसरा बड़ा आक्षेप यह है कि सभ्य मनुष्य बहुत काल तक उसे स्वीकार करके नहीं चल सकते। विवेकी मनुष्यों को यह विश्वास दिलाना असंभव है कि वस्तुगत दृष्टि से समस्त कलाकृतियाँ समान रूप में अच्छी या बुरी हैं, और समस्त कर्म समान रूप में शुभ या अशुभ हैं। मनुष्य द्वारा किये गये मूल्यांकन या मूल्यात्मक निर्णय न तो खामखयाली ही होते हैं, और न केवल शौक की चीज; वास्तव में वे मानव प्रकृति की अनिवार्य आवश्यकता हैं। यदि ऐसा न हो तो इस अजीब स्थिति की क्या व्याख्या होगी कि बर्ट्रान्ड रसेल और आई० ए० रिचर्ड्स जैसे विचारक, जिनका तर्क-मूलक भाववाद की ओर झुकाव है, नैतिक, राजनैतिक एवं कलात्मक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर निश्चित पक्ष लेते हुए पाये जाते हैं?

यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त विचारणाएँ आत्मनिष्ठतावाद तथा तर्कमूलक भाववाद का पूर्ण खण्डन प्रस्तुत नहीं करतीं। बात यह है कि उक्त दोनों मन्तव्य सन्देहवाद के रूप हैं, और सन्देहवाद का पूर्णतया खण्डन नहीं किया जा सकता। किन्तु सन्देहवादी दृष्टि पलायनवादी एवं निषेधात्मक होती है, और उसे उस किसी भी भावात्मक प्रयत्न से घटिया मानना चाहिए जो किसी अनुभव-क्षेत्र का व्याख्यात्मक चित्र खड़ा करने के लियें किया जाता है। बौद्धिक हलचल तथा नैतिक अशान्ति के हरेक युग में सन्देहवाद एक नये रूप में अपना सिर उठाता है, और अपनी पुष्टि में नये तर्क देता है; इस प्रकार के प्रत्येक युग को इस दुर्द्धर्ष शत्रु का सामना करने के लिये नये रचनात्मक अस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए।

इस मनोवृत्ति के साथ हम अब वस्तुनिष्ठता के स्वरूप को निरूपित करने की कोशिश करेंगे। उसके बाद हम यह देखेंगे कि कहाँ तक मूल्यों को वस्तुनिष्ठ चीज

माना सकता है। हम उन कारणों को समझने की कोशिश भी करेंगे जिनसे मूल्यों की प्रतीति तथा तत्सम्बन्धी निर्णयों के क्षेत्र में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। हमारा यह विश्वास है कि उन कारणों की जानकारी जो किसी विषय पर लोगों में मतभेद उत्पन्न करते हैं, मतभेदों को हटाने में सहायक होती है। मतभेदों की उपस्थिति हमेशा इस बात का सबूत भी नहीं होती कि विभिन्न दृष्टियाँ वस्तुनिष्ठता से रहित हैं; कभी-कभी वस्तुस्थिति का परिवर्तित होनेवाला अथवा अनिश्चित रूप ही मत-भेदों का कारण हो जाता है। हमारे विचार में प्रकाश के स्वरूप तथा हाइज़नवर्ग के अनिर्धारण-सिद्धान्त (Principle of Indeterminacy) की उचित व्याख्या के सम्बन्ध में बड़े-बड़े वैज्ञानिकों में जो मतभेद है वह कुछ ऐसा ही है। इसी प्रकार वैज्ञानिकों में इस बात पर भी मतैक्य नहीं है कि गणितशास्त्र का स्वरूप क्या है, और प्राकृतिक नियमों की प्रकृति तथा प्रामाणिकता क्या है। हमारा अनुमान है कि मूल्यों के सम्बन्ध में प्रचलित मतभेद भी उक्त मतभेदों से अधिक आपत्तिजनक और कम बुद्धिगम्य नहीं हैं।

वस्तुनिष्ठता की परिभाषा

वर्तमान काल के मूल्य-सम्बन्धी अनुशीलन पर एक गहरे पक्षपात का प्रभाव देखा जा सकता है। इस पक्षपात के मूल में जॉन लॉक का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि गुणों के दो विभाग होते हैं, अर्थात् मूल गुण तथा गौण गुण। मूल गुण वे हैं जो स्वयं वस्तुओं में मौजूद होते हैं, वस्तुओं में गौण गुणों की प्रतीति द्रष्टा की विशेष बनावट या रचना के कारण होती है। बिना आँखों के रंगों की सत्ता नहीं होगी, और बिना कानों के ध्वनियों की; ऐसा ही दूसरे इन्द्रिय-ग्राह्य गुणों के बारे में समझना चाहिए। मूल गुण वस्तुनिष्ठ होते हैं, जबकि गौण गुण आत्मनिष्ठ माने जाने चाहिएँ। इससे वस्तु-निष्ठता की निम्न परिभाषा प्राप्त होती है : वस्तुनिष्ठ पदार्थ वह है जो अपनी सत्ता के लिये किसी चेतना-सम्पन्न प्राणी और उसके अनुभव पर निर्भर नहीं करता।

मूल तथा गौण गुणों का भेद विभिन्न विचारकों के हाथों में विभिन्न नाम-रूप धारण करके प्रकट होता है। उदाहरण के लिये श्री स्टेस ने आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ में निम्न प्रकार से भेद किया है :

किसी मूल्य को हम आत्मनिष्ठ कहेंगे यदि उसकी सत्ता, पूर्णतया अथवा अंशतः,

किन्हीं मानवीय इच्छाओं, संवेदनाओं, सम्मतियों, अथवा दूसरी मनोदशाओं पर निर्भर करती है। एक वस्तुनिष्ठ मूल्य इसके विपरीत होगा। वह एक ऐसा मूल्य होगा जो मनुष्य की किसी इच्छा, संवेदना अथवा दूसरी मनोदशा पर निर्भर नहीं करता।[८]

स्टेस से भी आगे बढ़कर श्री एफ० ए० हायक घोषित करते हैं कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों द्वारा अधीत होने वाले समस्त तथ्य आत्मनिष्ठ होते हैं। उनके मत में सामाजिक विज्ञान वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन नहीं करते; वे या तो मनुष्यों तथा वस्तुओं के सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं, अथवा मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों का। और जहाँ तक मानवी कर्मों का सम्बन्ध है, 'वस्तुएँ वह होती हैं जो कर्म करने वाले लोग उन्हें समझते हैं।'[९] वैसे लोगों की दृष्टि में वस्तुएँ किसी के लिये उपयुक्त अथवा किसी के लिये उद्दिष्ट होती हैं। हायक घोषणा करते हैं कि सामाजिक विज्ञानों के तथ्य मात्र सम्मतियाँ होते हैं, अर्थात् उन कर्म करनेवालों की सम्मतियाँ जिनके कर्मों का हम अध्ययन करते हैं।[१०] उनका यह भी प्रस्ताव है कि यदि हमें वस्तुनिष्ठ के विरोधी के रूप में आत्मनिष्ठ कहना उचित न लगे, तो हम उसके बदले आरोपित (Attributed) शब्द का प्रयोग कर सकते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है : यदि आत्मनिष्ठ वह है जो ज्ञाता की चेतना पर निर्भर करता है, तो क्या तर्क मूलक आक्षिप्त अभिप्राय (Implications) को भी आत्मनिष्ठ मानना चाहिए? यह स्पष्ट है कि आक्षिप्त अभिप्राय की सत्ता ज्ञाता की चेतना के लिये ही होती है। किन्तु यदि आक्षिप्त अभिप्रायों को आत्मनिष्ठ माना जाय, तो समस्त वैज्ञानिक तर्कना और समस्त विज्ञान आत्मनिष्ठ बन जायँगे।

जहाँ तक दर्शन का प्रश्न है, अब मूल गुणों तथा गौण गुणों का भेद अयुक्त माना जाता है। बहुत पूर्व बार्कले ने यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि तथाकथित मूल गुण जाननेवाली चेतनाओं के निरपेक्ष सिद्ध नहीं किये जा सकते, और इस प्रकार यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वे किसी रूप में गौण गुणों से भिन्न तथा अधिक वस्तुनिष्ठ होते हैं। रसेल ने लिखा है : "बार्कले के समय से गुणों से सम्बन्धित लॉक का द्वैत दार्शनिक दृष्टि से असमीचीन समझा जाता है।"[११] यह लक्षित करने की बात है कि सापेक्षवाद के बाद का भौतिकशास्त्र प्रायः बार्कले के मन्तव्य से सहमत है। उदाहरण के लिये श्री जे० डब्ल्यू० एन० सलीवन लिखते हैं :

यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि प्रकृति के गणित-मूलक गुण भी आत्मनिष्ठ न माने जायँ। युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि उपरोक्त गुण भी हमारे द्वारा प्रकृति में आरोपित होते हैं। हम अनिवार्य रूप से प्रतीयमान तथ्यों को गणित के ढाँचे में व्यवस्थित कर लेते हैं, क्योंकि हमारे मस्तिष्क की प्रकृति ऐसी ही है। कान्ट का यही मत था, और एडिंगटन का भी यही मत है ...श्री बर्ट्रान्ड रसेल बतलाते हैं कि उस किसी भी विश्व के चारों ओर, जिसमें अनेक वस्तुएँ हैं, गणित का जाल बुना जा सकता है।[१२]

एक दूसरे संदर्भ में श्री सलीवन ने कहा है कि बाह्य जगत् पर, वस्तुनिष्ठ रूप में, गणित-विज्ञान उसी प्रकार लागू होता है, जैसे कि, कुछ लेखकों के अनुसार, तर्क-शास्त्र लागू होता है।[१३]

ये अवतरण अनेक प्रथम श्रेणी के विचारकों की सम्मतियों से गौरवान्वित हैं, और अपनी बात स्पष्ट रूप में प्रकट करते हैं। सच यह है कि इस सापेक्षवाद के युग में यह कहना एक मामूली बात है कि 'निरपेक्ष लम्बाई, मात्रा, शक्ति, देश, काल, और गति का अस्तित्व नहीं है क्योंकि जब तक कोई वस्तु ऐसी न मिल जाय जो निरपेक्ष रूप में स्थिर है, तब तक हम किसी अणु का ठीक वेग नहीं जान सकते, और इसीलिये उसकी शक्ति, उसकी स्थितिशीलता (Inertia) और उसकी मात्रा का भी ठीक निश्चय नहीं कर सकते।'[१४] काडवेल के मत में सापेक्षवाद का सिद्धान्त हमारे यथार्थ-सम्बन्धी ज्ञान की सीमाओं का वर्णन इस प्रकार करता है कि वे सीमाएँ भौतिक तत्त्व की प्रकृति का, हमारी संबद्धता में, यथार्थ वर्णन बन जाती हैं।[१५] एडिंगटन ने मछुए का उदाहरण देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार मछुए के द्वारा दिए हुए मछलियों के वर्णन केवल उन मछलियों पर लागू होते हैं जिन्हें पकड़ा जा सकता है, वैसे ही विश्व से सम्बन्धित भौतिक शास्त्र का ज्ञान केवल उन्हीं वस्तुओं पर लागू हो सकता है जिन्हें हम अपनी इन्द्रियों तथा बुद्धि की पकड़ में ला सकते हैं। एडिंग्टन ने इस मन्तव्य को "चयनात्मक आत्मनिष्ठतावाद" (Selective Subjectivism) की संज्ञा दी है। रूपक का परित्याग करके उक्त मन्तव्य की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं : 'यदि हम निरीक्षण को भौतिक शास्त्र का आधार मानें, और इस बात पर जोर दें कि उस शास्त्र के वक्तव्य निरीक्षण द्वारा परीक्षणीय होने चाहिएँ तो हम भौतिक ज्ञान की एक चयन-मूलक कसौटी ग्रहण कर लेते हैं। यह चयन आत्मपाती होता है, क्योंकि वह हमारी इन्द्रियों तथा बुद्धि के उपकरणों पर, जिनके द्वारा हम प्रत्यक्ष-मूलक ज्ञान प्राप्त

करते हैं, निर्भर करता है। जिन्हें हम भौतिक शास्त्र के सामान्य कथन अथवा प्रकृति के कानून कहते हैं वे इसी प्रकार के आत्मपाती ढंग से चयन किए हुए बोध पर, अथवा उस विश्व पर जो उस बोध द्वारा वर्णित होता है, लागू होते हैं।'[१६] ब्रिजमैन का दृष्टि-कोण थोड़ा-सा भिन्न है। इन्द्रियों तथा बुद्धि के उपकरणों के बदले वे "प्रयोगात्मक क्रियाओं" का उल्लेख करते हैं, जिनकी अपेक्षा में हमारी धारणाओं की परिभाषा होनी चाहिए। उदाहरण के लियें हम किसी चीज़ की लम्बाई की नाप कतिपय क्रियाओं द्वारा करते हैं; लम्बाई क्या है, यह परिभाषा उन क्रियाओं की अपेक्षा से ही हो सकती है। वैसे लम्बाई की जो कोई भी परिभाषा दी जायगी वह सदोष होगी। इसका मतलब यह हुआ कि हमारा भौतिक शास्त्र का ज्ञान प्रयोग-मूलक क्रियाओं का सापेक्ष होता है। वह कहते हैं : 'हमारे अनुभव का वर्णन प्रत्ययों का या धारणाओं के माध्यम में होता है। क्योंकि हमारी धारणाएँ क्रियाओं द्वारा निर्मित होती हैं, इसलियें हमारा ज्ञान अनिवार्य रूप में उन क्रियाओं का सापेक्ष होता है जिनका हम चयन करते हैं।'[१७] ब्रिजमैन के इस मत की पुष्टि एडिंग्टन ने भी की है। वह कहते हैं, 'अब यह स्वीकृत प्रणाली बन गई है कि जब हम नयी भौतिक चीजों का समावेश करें तो यह मान लें कि वे चीजें उन माप-क्रियाओं (Measuring Operations) तथा गणित-क्रियाओं द्वारा परिभाषित होती हैं जिनका वे परिणाम हैं।'[१८]

एडिंग्टन ने यह भी उल्लेख किया है कि अणुओं अथवा भूततत्त्व के कुछ गुण हमारी प्रेक्षण-सरणि (Procedure of Observation) का परिणाम होते हैं, अर्थात् प्रेक्षण-विधि द्वारा पुद्‌गल तत्व या अणुओं पर आरोपित कर दिये जाते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि विज्ञान जिस जगत् का वर्णन करता है वह और भी ज्यादा आत्म-परक या आत्मनिष्ठ होता है।

ऊपर हमने "आत्मनिष्ठ" शब्द का प्रयोग किया, उसके बदले "सापेक्ष" शब्द भी रक्खा जा सकता है। जिस भौतिक जगत को हम जानते हैं वह, जहाँ तक हम उसे जानते हैं, हमारा सापेक्ष होता है। यदि हम उसे आत्मनिष्ठ कहें, तो आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ में कोई अन्तर नहीं रह जायगा, और विश्व की प्रत्येक वस्तु आत्म-परक बन जायगी। यदि इस अन्तर को कायम रखना है (और हमारा विश्वास है कि उसे कायम रहना चाहिए) तो हमें वस्तुनिष्ठता की ऐसी परिभाषा देनी चाहिए जिसमें उसकी निरपेक्षता पर गौरव न हो।

हमारे विचार में वस्तुनिष्ठता और सापेक्षता एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। हम मानते हैं कि वस्तुओं के समस्त गुण सापेक्ष होते हैं, और वे अपने को दूसरी चीजों की सम्बद्धता में ही प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिये गति सापेक्ष वस्तु है, वैसे ही हरापन और लालिमा भी है। लगभग साठ वर्ष पूर्व दार्शनिक ब्रेडले ने कहा था 'बिना भेद के गुण नाम की चीज की अवस्थिति असम्भव है, और भेद एक प्रकार का सम्बन्ध है।'[१९] निष्कर्ष यह कि 'बिना सम्बन्धों के गुणों को पाना असम्भव है।'[२०] हम यह भी नहीं मानते कि इस प्रकार की सापेक्षता यथार्थवाद के विरुद्ध अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद को पुष्ट करती है। यथार्थवाद यह मानता है कि ज्ञेय पदार्थ ज्ञाता की चेतना का निरपेक्ष होता है, जब कि अध्यात्मवाद के अनुसार ज्ञेय पदार्थ उस चेतना पर निर्भर करता है। हम मानते हैं कि ज्ञेय का ज्ञाता से सम्बन्ध उन अनेक सम्बन्धों में से एक है जो ज्ञेय पदार्थ तथा दूसरी वस्तुओं में होते हैं। इसलिये वस्तुनिष्ठता की परिभाषा ऐसी होनी चाहिये कि उसके भीतर सापेक्षता के लिये स्थान हो सके।

अपनी पुस्तक "भूततत्त्व का विश्लेषण" (Analysis of Matter) में श्री बर्ट्रण्ड रसेल ने वस्तुनिष्ठता की परिभाषा इस प्रकार की है : जब दो व्यक्ति साथ-साथ ऐसी प्रेक्षाएँ (Perceptions) पाते हैं जिन्हें वे एक ही वस्तु या समूह से सम्बन्धित समझते हैं, तब यदि एक के निष्कर्ष दूसरे से भिन्न हों, तो उनमें से एक अवश्य ही गलत निष्कर्ष निकाल रहा होगा, और इसलिये उसके प्रेक्षण में आत्म-निष्ठता का अंश होगा। प्रेक्षणों को वस्तुनिष्ठ हम तभी कह सकते हैं जब दोनों प्रेक्षणों के निष्कर्ष समान हों।[२१]

रसेल के अनुसार वस्तुनिष्ठ चीज वह है जिसका प्रेक्षण या अनुभव समान रूप में लोगों को होता है। किन्तु इस परिभाषा में निजी, आत्मनिरीक्षण से प्राप्त होने-वाले तथ्यों का समावेश नहीं होता। दाँत के दर्द के अनुभव को वस्तुनिष्ठ चीज मानना चाहिए, अथवा आत्मपाती (Subjective) ? स्पष्ट ही उक्त अनुभव भ्रान्ति (Illusion) अथवा मायिक प्रतीति या निरालम्बन प्रतीति (Hallucination) से भिन्न होता है, अन्यथा डॉक्टर लोग दवा देकर उसे ठीक करने की कोशिश न करें। यह भी कहा जा सकता है कि दंतपीड़ा अथवा सिरदर्द के कुछ भौतिक-शारीरिक सह-चरित परिवर्तन होते हैं जिन्हें, कम-से-कम सिद्धान्त में, सब लोग देख सकते हैं। लेकिन हमारा निवेदन है कि चिकित्साशास्त्र रोगों के भौतिक-शारीरिक लक्षणों को दूर करने के लिये औषधियाँ निर्मित करने की चिन्ता नहीं करता, यदि उसे यह विश्वास न

होता कि वे लक्षण या परिवर्तन अनुभूत पीड़ा द्वारा सहचरित हैं। यहाँ एक रोचक बात लक्षित करने की है : होमियोपैथ डाक्टर सिरदर्द आदि की दवाएँ केवल मात्र अपने रोगियों के मानसिक अनुभवों अथवा तत्सम्बन्धी वक्तव्यों के आधार पर देते हैं। निश्चय ही वे डाक्टर यह मानकर चलते हैं कि वैसे वक्तव्य विषयगत या वस्तुनिष्ठ रूप में विश्वसनीय है।

इसलिये हमारे विचार में वस्तुनिष्ठता की सही परिभाषा ऐसी होनी चाहिए कि उसकी परिधि में निजी अथवा आत्मनिरीक्षण के प्राप्त तथ्यों के लिये भी स्थान हो जाय। बाल्डविन के प्रसिद्ध "दर्शन और मनोविज्ञान का कोष" में वस्तुनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठता का निम्न विवरण पाया जाता है, जो अधिक उपयुक्त है :

जो जाना जाता है उसे उससे भिन्न करना चाहिए जो भ्रमवश मान या स्वीकार कर लिया जाता है, अर्थात् वह जिसमें हम धोखा खाते हुए विश्वास करते हैं। इस दृष्टि से वस्तु या वस्तुनिष्ठ यथार्थ का समानार्थक है। यह अर्थ...वस्तुनिष्ठ विशेषण के साथ अधिक प्रचलित है, जो उस चीज का संकेत करता है जो वस्तुतः किसी विषय-सामग्री में है, और उससे भिन्न है जो पक्षपात, भ्रम अथवा हेत्वाभास, अथवा द्रष्टा या निर्णायक की भूल के कारण वहाँ लाया गया है, अथवा दिखाई देता है; जो उसका विरोधी है जो केवल मन में है।[२२]

जो केवल मन में है वह भ्रमात्मक या कल्पित है, और उससे भिन्न है जो सचमुच देखा या महसूस किया जाता है। "वस्तुनिष्ठता और मूल्यसत्व" (Objectivity and Value) नामक अपने निबन्ध में श्री डोनाल्ड बालहूट ने, वस्तुनिष्ठता की परिभाषा देते हुए, उसका व्यावर्तक गुण अतिवैयक्तिक नियंत्रण-क्षमता (Over-personal Control) बतलाया है।[२३] मतलब यह कि वस्तुगत वह है जिस पर केवल एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि बहुत से लोगों का नियंत्रण हो सके। इस परिभाषा के अनुसार दाँत का दर्द वहाँ तक वस्तुनिष्ठ है जहाँ तक उस पर चिकित्सा-विज्ञान अथवा अनेक चिकित्सक नियंत्रण कर सकें। वस्तुनिष्ठ वह चीज होती है जिसका अस्तित्व किसी खास अहम्, ज्ञाता, अथवा व्यक्ति का अतिक्रमण करनेवाला होता है। श्री एस्० एलेक्जेन्डर के अनसार वस्तुगत उसे नहीं कहना चाहिए जो ज्ञातृ-चेतना का निरपेक्ष है, बल्कि उसे जो किसी व्यक्तिगत चेतना पर निर्भर नहीं होता और अनेक चेतनाओं की सामान्य सम्पत्ति होता है।[२४]

तो क्या दाँत के दर्द को वस्तुगत मानना चाहिए ? यह लक्षित करने की बात है कि एक व्यक्ति जिस तरह के दर्द का अनुभव करता है, ठीक वैसे दर्द का अनुभव कोई दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। यदि हम होमियोपैथी की बात छोड़ दें तो यह स्पष्ट है कि चिकित्साशास्त्र दर्द के उन सहचरित भौतिक परिवर्तनों का, जिन्हें सब देख सकते हैं, इलाज करता है। महसूस होनेवाले दर्द को बहुत से लोग नहीं देख सकते; उसे अनेक लोग न आँखों से देख सकते हैं, न मन से।

फिर भी महसूस होनेवाला दर्द, यदि वह भ्रमात्मक या कल्पित नहीं है, किसी-न-किसी अर्थ में यथार्थ और वस्तुगत होता है; लोग वैसा विश्वास भी करते हैं। कोई कारण नहीं कि वस्तुनिष्ठता की परिभाषा में उसे समावेशित करने का प्रयत्न न किया जाय।

वस्तुनिष्ठता और सामान्यरूपता

वस्तुस्थिति यह है कि हम उन सब चीजों को वस्तुगत मानते हैं जिनका अनुभव सामान्य (Normal) लोगों को संगत रूप में होता है। (यहाँ संगति से तात्पर्य यह है कि प्रत्याहरण और विश्लेषण के एक खास धरातल पर, अथवा कतिपय सम्बद्ध प्रयोजनों की अपेक्षा में, विभिन्न लोगों के अनुभव एक-दूसरे से समंजस हों।) उदाहरण के लिये हम एक व्यक्ति की दंतपीड़ा की वस्तुनिष्ठता में तब तक विश्वास करते हैं जब तक हमें यह सन्देह न हो कि वह व्यक्ति पागल या मिथ्यावादी है, जिसके कारण उसकी बात विश्वसनीय नहीं है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठता की धारणा का प्रेक्षक या प्रेक्षकों की सामान्यरूपता (Normality) से सम्बन्ध जुड़ जाता है। वस्तुनिष्ठता की यह धारणा प्रो० डिंगिल द्वारा दी हुई विज्ञान की परिभाषा में निहित है। वह परिभाषा इस प्रकार है: 'विज्ञान सब सामान्य मनुष्यों के, वास्तविक या संभव, अनुभव-तत्वों का उल्लेख, अभिवर्धन और बौद्धिक संग्रथन है।'[२५]

प्रश्न है, क्या सामान्यरूपता की धारणा की सही परिभाषा अथवा विश्लेषण सम्भव है ? हमें भय है कि इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। किन्तु यदि हम किसी धारणा की परिभाषा नहीं कर सकते, तो यह उस धारणा का दोष नहीं है। वस्तुतः इसमें सन्देह किया जा सकता है कि मनुष्य और उसके जीवन से सम्बन्धित किसी भी धारणा का समुचित लक्षण किया जा सकता है। इस समय हमारे

ध्यान में ऐसी धारणाएँ हैं जैसे प्रेम, घृणा, महत्वाकांक्षा, उन्नति आदि। गणित के पंडित संख्या की धारणा का प्रयोग बहुत पहले से करते थे, यद्यपि उसकी परिभाषा देने का प्रयत्न बहुत बाद में हुआ।

फिर भी हम मनुष्य-सम्बन्धी सामान्यरूपता की कुछ विशेषताओं का संकेत कर सकते हैं, और यह बता सकते हैं कि उसमें क्या चीजें समावेशित हैं और क्या नहीं। पहली बात यह है कि सामान्यरूपता का आंकड़ा-विज्ञान अथवा गणित के औसत से कोई सम्बन्ध नहीं है। बौद्धिक और आवेगात्मक दोनों क्षेत्रों में सामान्यरूपता अव-सामान्य अर्थात् सामान्य से नीचे (Subnormal) का निश्चित रूप में बहिष्कार करती है। किन्तु उसमें निश्चय ही अतिसामान्य (Super-normal) का समावेश है। सामान्य मनुष्य की धारणा में मानव-प्रकृति की उन समस्त सृजनात्मक संभावनाओं का समावेश है जो प्रतिभाशालियों में अभिव्यक्ति पाती हैं। इसलियें, मानवीय क्रिया के विशिष्ट क्षेत्रों में, एक विशेषज्ञ की सम्मति ही सामान्य अथवा स्वाभाविक और सही मानी जाती है; वह सम्मति ऐसी होती है कि लोग उसे लम्बे प्रशिक्षण (Training) द्वारा ही समझने योग्य बनते हैं। इस प्रकार विशेषज्ञों की देखरेख में प्रशिक्षण सामान्यरूपता के विकास में बाधक न होकर सहायक होता है। चूंकि विशेष ज्ञान अनेक प्रकार का होता है, और विशेषज्ञता के दर्जे होते हैं, इसलियें सामान्यरूपता को एक स्थिर चीज नहीं कह सकते। चूंकि सामान्यरूपता औसत से समीकृत नहीं हो सकती, इसलियें वह एक मात्रा-मूलक धारणा भी नहीं कही जा सकती।

प्रतिभा और सामान्यरूपता

प्रतिभा और सामान्यरूपता के सम्बन्ध की समस्या कुछ जटिल प्रश्नों को उत्थित करती है। प्रश्न है, कौन व्यक्ति सामान्य है, वह जो प्रतिभाशाली और क्रान्तिकारी है, अथवा वह जो औसत एवं रूढ़िवादी है? कई अन्वेषकों ने यह मत प्रकट किया है कि प्रतिभाशाली, विशेषतः कलाकार और साहित्यकार, कुछ अर्थों में असामान्य होता है। सुकरात का कुछ ऐसा ही मत था; वे प्रेरणा को एक असामान्य स्थिति मानते थे। शेक्सपियर ने एक स्थान पर कवि की तुलना पागल तथा प्रेमी से की है, जिसका मतलब है कि वे साहित्यिक प्रतिभा को असामान्यता का प्रतीक मानते हैं। मनोवैज्ञानिक ब्राउन कहते हैं: 'अनेक प्रतिभाशाली विक्षिप्त मस्तिष्क वाले हुए हैं, और प्रतिभा का विक्षिप्तता से निकट सम्बन्ध है।'[२६] किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि समस्त साहित्यिक प्रति-

भाएँ साधारण लोगों से समान रूप में दूर होती हैं। उदाहरण के लिये कालिदास और टॉल्स्टॉय की संवेदना जन-साधारण की संवेदना के अधिक निकट है, जब कि दास्ता-एव्स्की और नीत्शे की संवेदना उतनी निकट नहीं है।

उन लोगों ने जो प्रतिभाशाली को असामान्य मानते हैं, एक बात पर विचार नहीं किया है : वह यह कि कालान्तर में प्रतिभाशाली के विचार और मनोभाव क्यों प्रचलित हो जाते हैं, और औसत, इज्जतदार लोगों के विचार परित्यक्त क्यों हो जाते हैं ? ऐसा नहीं है कि प्रतिभाशाली एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, यह भी नहीं कि प्रतिभाशाली की सभी बातें स्वीकार कर ली जाती हैं। फिर भी यह ठीक है कि प्रतिभाशाली को हम याद रखते हैं और उसका विशेष आदर करते हैं; इससे सिद्ध होता है कि किसी न किसी रूप में मानव जाति उसे उपयोगी और महत्वपूर्ण पाती है।

वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ अधिकांश मनुष्य रूढ़िवादी होते हैं वहाँ मानव प्रकृति मूलतः प्रसरणशील एवं सृजनोन्मुख होती है। एक सीमा के भीतर, कतिपय नियमों के अनुसार, मानव-प्रकृति अपने जानने-महसूस करने की सम्भावनाओं में वृद्धि होने से आनन्द का अनुभव करती है। प्रतिभाशाली दो प्रकार मानवीय चेतना का विस्तार करता है : प्रथमतः वह उसकी बीज-रूप में वर्तमान शक्तियों का विकास करता है; और दूसरे, वह उन प्रतिबन्धों को विरोध द्वारा हटाने में सहायक होता है जो अस्वाभा-विक हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि अनेक क्रान्तिकारी प्रतिभाएँ सामान्य मानव-हृदय की ज्यादा अच्छी प्रतिनिधि होती हैं, उन रूढ़िवादी लोगों से जो परम्परा का पक्ष लेते हैं। प्रतिभाशाली असामान्य जान पड़ता है, इसका प्रमुख कारण उसकी प्रतीतियाँ और संवेदनाएँ नहीं होतीं; इसका कारण उसका साहसी तथा प्राणवान स्वभाव होता है जो सामाजिक सुरक्षा के मामूली नियमों की परवाह नहीं करता, और सब प्रकार के दम्भ का विरोध करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रायः उन्हीं को विशेषरूप में असामान्य तथा असंतुलित लगता है जो परम्परा के प्रतिबन्धों को भीरुतावश सहज ही स्वीकार कर लेते हैं, और जिनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ इतनी शक्तिपूर्ण नहीं होतीं कि वे परम्परागत अभ्यास की सीमाओं को तोड़ सकें।

'प्रतिभा' शॉपेनहावर के मत में, 'पूर्ण वस्तुनिष्ठता है', [२७] जिसका मतलब है कि वह सृजनात्मक ढंग से व्याप्त होने वाली सामान्यरूपता है। डा० रिचर्ड्स ने सामान्यरूपता को "स्टैण्डर्ड" अथवा आदर्श स्थिति से समीकृत किया है।[२८] यह

समीकरण स्वीकार किया जा सकता है, यदि "स्टैण्डर्ड" की व्याख्या किसी अभिजात उच्चता के अर्थ में न की जाय। वास्तव में कलाकार और विश्वसनीय समीक्षक दोनों में "स्टैण्डर्ड" या आदर्श प्रतिक्रिया एक खास अर्थ में निश्छल तथा आदिम या मौलिक प्रतिक्रिया होती है; वह प्रतिक्रिया किसी खास संस्कृति अथवा युग के सिद्धान्तों एवं पक्षपातों से प्रभावित नहीं होती। यह स्वीकार किया जा सकता है कि दुनिया का कोई कलाकार अब तक पूर्ण सामान्यरूपता के आदर्श को प्राप्त नहीं कर सका है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि किसी देश या जाति के श्रेष्ठतम कलाकार तथा कवि प्रायः वे होते हैं जो दूसरे देशों तथा सांस्कृतिक युगों में अधिक सरलता से समझे जाते हैं। कैसा भी कलाकार बनने की यह आवश्यक शर्त है कि कोई व्यक्ति अपनी मात्र वैयक्तिक विचित्रताओं अर्थात् विचित्र मनोवृत्तियों को छोड़कर चल सके; एक सार्वभौम कलाकार बनने के लियें यह जरूरी है कि वह अपने राष्ट्र तथा युग की विचित्रताओं को भी त्यक्त कर सके। यही दिशा है जिसमें मनुष्य के बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक जीवन का विकास होना चाहिये।

इस प्रकार से परिभाषित की हुई सामान्यरूपता (Normality) दो तत्वों से निरूपित होती है; प्रथमतः मनुष्यों की सामान्य वृत्तियों या प्रवृत्तियों से, और दूसरे उन प्रवृत्तियों से निर्धारित आवश्यकताओं तथा प्रेरणाओं के असंख्य संभव संस्थानों से जो भौतिक, औद्योगिक तथा नैतिक परिवेश की विभिन्न वस्तुओं पर संसक्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि सामान्यरूपता एक अनेक-रूप, गतिशील संतुलन की स्थिति है—मनुष्य और उसके परिवेश के बीच होनेवाले सम्बन्धों की एक पद्धति या समष्टि जिसमें बालक का प्रवेश शिक्षा द्वारा होता है। जिस दुनियाँ को हम जानते हैं वहाँ किसी बच्चे को सामान्य बनाने का तरीका यह नहीं है कि उसे प्राकृतिक अवस्था में रक्खा जाय, बल्कि यह कि उसे यथासम्भव व्यापक और अनेकात्मक शिक्षा दी जाय। भूगोल का अध्ययन, यात्राएँ, इतिहास और कल्पना-मूलक साहित्य का अनुशीलन तथा विभिन्न धार्मिक-दार्शनिक और नैतिक पद्धतियों का अध्ययन इत्यादि विधियों द्वारा व्यक्ति सामान्य मनुष्य के साधारण किन्तु महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पर पहुँच पाता है।

शिक्षा और सामान्यरूपता

सामान्यरूपता के विकास और शिक्षा में क्या सम्बन्ध है, इसे हम कुछ ज्यादा ध्यान से देखें। बच्चा अपनी विभिन्न इन्द्रियों की प्रतिक्रियाओं को स्वयं अपने तथा

दूसरे लोगों के सम्बन्ध में समन्वित करना सीखता है, किन्तु यह उसकी शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग नहीं है। इस प्रकार का समन्वय या संयोजन बच्चे स्वतः प्राप्त कर लेते हैं। विशेष रूप से मानवीय शिक्षा वह होती है जिसके द्वारा बालक अपने समाज के समृद्ध, कल्पना-मूलक जीवन और परम्परा में प्रवेश पाता है। बालक अपने समाज के धर्म, पुराणों, इतिहास आदि से सम्बन्धित देवी-देवताओं, संतों और पापियों, राजा-रानियों, राजकुमारों और राजकुमारियों आदि के बारे में सीखता है। वह अपने समाज के महत्वपूर्ण विधि-निषेधों से भी परिचय प्राप्त करता है। जैसे-जैसे बच्चा बढ़ कर तरुण बनता है, वैसे-वैसे उसका उन नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नों तथा समस्याओं से परिचय होता है जिनका पूर्ण हल नहीं हो पाया है, और जिन्हें हल करने का प्रयत्न उसके समाज तथा सम्पूर्ण ज्ञात मानव-जगत में हो रहा है। ये समस्याएँ दो प्रकार की होती हैं। कुछ का उद्‌गम नये तथ्यों तथा स्वीकृत सिद्धान्तों की विसंगति में होता है, और कुछ का उस विरोध में जो स्वीकृत आदर्शों तथा प्रचलित व्यवहारों के बीच, अथवा स्वयं आदर्शों के बीच ही, पाया जाता है। इन प्रश्नों तथा समस्याओं, विसंगतियों और विरोधों का आभास समाज के उन्हीं सदस्यों को हो सकता है जो उसकी कल्पनामूलक विरासत से परिचित हो चुके हैं। एक उदाहरण लीजिए : कार्य-कारण-सम्बन्ध की समस्या कितनी जटिल है, इसका पूरा आभास उसी पुरुष को हो सकता है जो विभिन्न विचारकों द्वारा दिये हुए उस समस्या से सम्बद्ध समाधानों, अथवा समाधान-प्रयत्नों, से न्यूनाधिक परिचित है। कला, दर्शन, गणित और भौतिक शास्त्र के सिद्धान्तों के महत्व को हृदयंगम करने के सम्बन्ध में भी ऊपर का वक्तव्य समान रूप में लागू है। मनुष्य के कल्पनामूलक जीवन का विकास एक अविच्छिन्न क्रिया है जो क्रमशः उच्चतर स्तरों पर जटिलतर रूप धारण करती रहती है। कोई भी व्यक्ति सास्कृतिक क्रिया के ज्यादा विकसित एवं प्रौढ़ रूपों को तब तक नहीं समझ और आँक सकता जब तक उसने प्रारम्भिक रूपों का परिचय न प्राप्त कर लिया हो। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति कल्पना-मूलक जीवन के प्रारम्भिक रूपों के बीच से गुज़रता हुआ उसके बाद के रूपों तक पहुँच पाता है।

इसलिये यदि एक साधारण मनुष्य दार्शनिक अथवा दूसरी कोटि की समस्याओं के महत्त्व एवं आकर्षण को ठीक से हृदयंगम न कर सके, तो यह नहीं समझना चाहिए कि वह समस्या असामान्य अथवा कृत्रिम है। उससे केवल यही सिद्ध हो सकता है कि विचाराधीन व्यक्ति ने वह कल्पनामूलक तैयारी नहीं की है जो समस्या को समझने

के लिए जरूरी है। कल्पना-मूलक विकास में पिछड़े हुए मनुष्य इसी प्रकार किसी मनोवैज्ञानिक या नैतिक द्वन्द्व अथवा बौद्धिक या विचारात्मक क्रान्ति का महत्व समझने में असमर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार से अधिकांश द्वन्द्वों, क्रान्तियों, विसंगतियों और विरोधों का सम्बन्ध प्रायः मनुष्य की कल्पना-मूलक सृष्टियों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों से होता है। हमारे मानसिक अथवा प्रतीकाधारित जीवन के अनेक महत्वपूर्ण तथ्य, जिन पर मानवीय विद्याओं में विचार होता है, प्रायः ऐसी ही सृष्टियाँ होते हैं; वे इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होते, यद्यपि उनके विभिन्न आन्तरिक सम्बन्ध, तर्कात्मक सम्बन्धों की भाँति, एक प्रकार के साक्षात् बोध का विषय होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के निम्न प्रभाव पड़ते हैं : (क) वह बालकों या मनुष्यों का समुदाय के कल्पना-मूलक जीवन में प्रवेश कराती हैं; और (ख) वह उनमें ऐसे आदर्शों तथा दृष्टियों को प्रतिष्ठित करती है जिन्हें समाज स्वीकार करता है। इस प्रकार शिक्षा सांस्कृतिक एकता तथा सहयोग का प्रसार करती है। शिक्षा का एक तीसरा परिणाम भी लक्षित होना चाहिए। वह एक जाति या समूह के सदस्यों को दूसरी जाति या समूह के सदस्यों से विभक्त कर देती है, विशेषतः मूल्यों तथा आदर्शों की प्रकृति के सम्बन्ध में। शिक्षा के इस तीसरे परिणाम या दुष्प्रभाव को बचाने का उपाय यह घोषित कर देना नहीं है कि सब प्रकार के मूल्य और आदर्श बुद्धि-विरोधी या तार्किक आधार-शून्य होते हैं। उसे दूर करने का उचित उपाय यही है कि वैज्ञानिक पद्धति से मूल्यों आदि के सम्बन्ध से चिंतन किया जाय और मूल्यांकन के सही पैमानों को खोजा जाय। यह एक रोचक बात है कि विभिन्न जातियों के सदस्य एक-दूसरे की उन कल्पना-मूलक सृष्टियों को ग्रहण करना मुश्किल नहीं पाते जिनका उनके विभिन्न सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षपातों से सम्बन्ध नहीं होता। यह भी लक्षित करने की बात है कि अपेक्षाकृत बड़े कवि, उपदेशक और दार्शनिक दूसरी जातियों तथा समाजों में ज्यादा आदर पा जाते हैं।

हम सामान्यरूपता की परिभाषा दे चुके। जिसे हम सामान्य नर या नारी कहते हैं, उसमें प्रायः मानव जाति को खास तरह से देखने तथा उसकी जरूरतें एवं प्रेरणाएँ महसूस करने की शक्तियाँ तो रहती ही हैं, साथ ही उसके मन की रचना भी विशेष प्रकार की होती है जिसके कारण उसमें तर्क करने, कल्पना करने और आवेगात्मक प्रतिक्रिया करने की विशिष्ट आदतें होती हैं। चूँकि सब सामान्य मनुष्यों में ये विशेषताएँ समान होती हैं, इसलिये वे एक-दूसरे के साथ तर्क कर पाते हैं, और हानि-लाभ के सर्व-

साधारण मौके पर समान संवेदनाएँ महसूस कर पाते हैं। निष्कर्ष यह कि उस चीज या सम्बन्ध को वस्तुनिष्ठ कहना चाहिए जिसे सब सामान्य मनुष्य देख सकें, भले ही उस देखने के लियें कुछ लोगों में लम्बी कल्पना-मूलक तैयारी अपेक्षित हो।

तत्वदर्शन-सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष

ऊपर के मन्तव्य के कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं, जिनका सम्बन्ध तत्वदर्शन के सिद्धान्तों से है। वस्तुनिष्ठता की जो धारणा हमने दी उसका यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा से निकट सम्बन्ध है, यद्यपि इस विषय में यथार्थवाद से हमारा थोड़ा मतभेद भी है। यथार्थवादी मानते हैं कि बिना विषय के कोई ज्ञान नहीं होता, उनके अनुसार तर्कमूलक सम्बन्धों, विरोधों तथा विसंगतियों का भी एक प्रकार का अस्तित्व या सद्भाव होता है। हमारे मत में सौन्दर्य तथा नैतिकता से सम्बन्ध रखनेवाले गुण भी, जो वस्तुओं और स्थितियों में पाये जाते हैं, किसी-न-किसी अर्थ में वस्तुनिष्ठ होते हैं। किन्तु यथार्थ-बादी यह मानने से इन्कार करते हैं कि वस्तुओं का स्वरूप निर्मित करने में सम्बन्धों का कोई हाथ होता है। विशेषतः वे यह मानते हैं कि जानने का सम्बन्ध, अर्थात् ज्ञाता और विषय का सम्बन्ध, ज्ञात विषय में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं करता। इसके विप-रीत हमारा मत है कि वस्तुओं के गुण दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा में ही अस्तित्ववान होते तथा जाने जाते हैं। उदाहरण के लिये तर्क-मूलक सम्बन्धों की सत्ता तभी सम्भव है जब उन्हें समझनेवाले ऐसे मनुष्य मौजूद हों जो कथनों का विधान करते और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझते हैं। इसी प्रकार प्रेम, घृणा ईर्ष्या आदि की स्थिति भी दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा में ही हो सकती है।

उक्त मन्तव्य के तत्वदर्शन के लियें अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष होंगे। इस मत के अनुसार उस किसी भी चीज को वस्तुनिष्ठ या वास्तविक मानना पड़ेगा जिसका बोध या अनुभव सामान्य मनुष्यों को होता है। हमारे अनुसार रूप, रंग आदि गौण गुण उतने ही वस्तुगत हैं जितने कि तथाकथित मूल गुण। इसी प्रकार सौन्दर्य, नैति-कता आदि से सम्बन्ध रखनेवाली विशेषताएँ भी, तर्क-मूलक विशेषताओं की भाँति, वस्तुनिष्ठ हैं।

उक्त मान्यता को एक खास पद्धति से प्रमाणित किया जा सकता है, इस पद्धति से कि उसकी विपरीत मान्यता विरोधग्रस्त निष्कर्षों को जन्म देती है। यदि एक बार

हम उन पदार्थों तथा गुणों की वस्तुनिष्ठता से इनकार कर दें जो सामान्य अनुभव का विषय हैं, तो यह समझ में नहीं आता कि हम कहाँ जाकर रुकें। वैज्ञानिकों तथा विज्ञान से प्रभावित दार्शनिकों ने शुरू में यह कहा कि रूप, रंग आदि गौण गुण अवास्तविक होते हैं, और केवल वे मूल गुण ही जिन्हें गणित की भाषा में अभिव्यक्ति दी जा सकती है, वास्तविक होते हैं; अंत में अब कहा जा रहा है कि स्वयं वस्तुएँ भी वास्तविक नहीं होतीं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार न केवल पत्तियों की हरियाली मिथ्या है, स्वयं पत्तियाँ भी किसी-न-किसी अर्थ में अवास्तविक या मिथ्या हैं। उदाहरण के लिए एडिंग्टन ने प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाली मेज और उस मेज में जिसे भौतिकशास्त्र यथार्थ रूप में प्रदर्शित करता है, अन्तर करते हुए कहा है :

'यह कहने की जरूरत नहीं कि आधुनिक भौतिकशास्त्र ने नाजुक परीक्षणों तथा कठोर तर्क के आधार पर मुझे यह विश्वास दिला दिया है कि हमारे लिये दूसरी, वैज्ञानिक मेज़ ही यथार्थ है, और वही "वहाँ" है भी—फिर चाहे "वहाँ" का कुछ भी अर्थ हो।'[१२] दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक मेज़ ही वस्तुनिष्ठ है, और परिचित मेज किसी-न किसी अर्थ में मिथ्या है। बर्ट्रण्ड रसेल भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उनके मत में 'भौतिकशास्त्र हमें यह विश्वास दिलाता है कि सूर्य वस्तुतः भास्वर या चमकीला नहीं है, उस अर्थ में जिस अर्थ में प्रायः वह शब्द समझा जाता है। सूर्य प्रकाश की किरणों का स्रोत है जिनका आँखों, स्नायुओं तथा मस्तिष्क पर खास तरह का प्रभाव पड़ता है; किन्तु जीवित प्राणियों के सम्पर्क के अभाव में प्रकाश की किरणें वह प्रभाव उत्पन्न नहीं करतीं, और तब किसी चीज़ को चमकदार कहना उचित नहीं रह जाता। यही विचारणाएँ "गर्म" तथा "गोल" शब्दों पर लागू हैं—यदि गोल को एक प्रेक्षणीय गुण माना जाय। इसके अलावा, यद्यपि सूर्य आपको अब दिखाई देता है, वह भौतिक पदार्थ जिसका अनुमान आप देखने से करते हैं आठ मिनट पहले अस्तित्ववान् था। यदि इस बीच में सूर्य गायब हो जाय तो भी आप ठीक वही देखते रहेंगे जो इस समय देख रहे हैं। इसलिये हम भौतिक सूर्य को उस चीज़ से समीकृत नहीं कर सकते जिसे हम देखते हैं।'[३०]

निष्कर्ष यह है कि प्रतीयमान सूर्य जिसे हम देखते हैं किसी-न-किसी अर्थ में "वहाँ" नहीं है; वह वास्तविक या वस्तुनिष्ठ नहीं है। रसेल का विश्वास है कि एक खगोलशास्त्री का वास्तविक सूर्य वह है जो किसी प्रकार दीखनेवाले सूर्य की आकृति का निर्धारण करता है, यद्यपि प्रथम सूर्य दूसरे से नितान्त भिन्न है। सम्भवतः एडिंग्टन

खगोल-शास्त्र के सूर्य को भी "भौतिकशास्त्र के छाया-जगत" (Shadow world of Physics) में निमग्न कर देंगे। खगोलशास्त्र के सूर्य में गोलाई का अभाव घोषित करते हुए रसेल के स्वर में कुछ संकोच-सा आ जाता है, किन्तु एडिंग्टन के वक्तव्य में वैसा कोई संकोच नहीं है।

यह कहकर कि जिस चीज का मैं वस्तुतः अनुभव करता हूँ वह मेरे मस्तिष्क में घटित होनेवाली कतिपय शारीरिक क्रियाएँ हैं, रसेल ने विश्लेषण को और भी जटिल बना दिया है। भौतिक शास्त्र की यथार्थ वस्तुओं से जो प्रभावों की कार्य-कारण-शृंखला शुरू होती है उसका अन्त मस्तिष्क की कतिपय क्रियाओं में होता है; उन क्रियाओं की चेतना को हम देखना, सुनना आदि कहते हैं। उदाहरण के लिये किसी शोरगुल को सुनने की क्रिया को लीजिए। इस प्रेक्षण या प्रेक्षा के पूर्ववर्ती अनेक व्यापार हैं जो शोर के स्रोतभूत पदार्थ से उत्थित होकर हवा के माध्यम से देश-काल में यात्रा करते हुए कानों तथा मतिस्ष्क तक पहुँचते हैं। जिसे हम शोर सुनने का अनुभव कहते हैं वह भौतिक कार्य-कारण-शृंखला की मतिस्ष्कवर्तिनी स्थिति का समकालीन होता है। कम-से-कम हमारे अनुसंधान यही दर्शित करते हैं। देश-काल का वह एकमात्र प्रदेश जिससे उक्त शोर का साक्षात् सम्बन्ध होता है, श्रोता के मस्तिष्क की वर्तमान दशा है; शोर के भौतिक स्रोत से उसका सम्बन्ध दूर का ही होता है। यही युक्ति दीखनेवाली चीजों पर भी लागू होती है।[३१] रसेल ने इस बात पर जोर दिया है कि 'देशकाल का एक, सिर्फ एक ही भाग है जिसका मेरे देखने से कार्य-कारण सम्बन्ध होता है, और यह भाग मेरा मस्तिष्क है, अर्थात् देखने के समय की उसकी दशा,।[३२] रसेल ने कहा है कि ये चीजें शिक्षित सहज बुद्धि को स्पष्ट सत्य जान पड़ेगी।[३३]

हमें खेद है कि हमने पाठकों को उक्त लम्बे उद्धरणों से तंग किया। यह करना आवश्यक था, उन्हें इस बात का आभास देने के लिये कि दैनिक अनुभवों की वस्तुओं की प्रकृति और यथार्थता के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ कैसे असमंजस की स्थिति में हैं। एडिंग्टन के अनुसार भौतिक शास्त्र का छाया-जगत् ही यथार्थ या वस्तुनिष्ठ है, और दुनियाँ की अवशिष्ट चीजें भ्रमात्मक या मिथ्या हैं। रसेल के अनुसार भौतिकशास्त्र द्वारा मानी जानेवाली वस्तुओं के अतिरिक्त यथार्थ चीजों की एक और दुनियाँ है, अर्थात् मस्तिष्क की स्नायविक प्रक्रियाओं का क्षेत्र। दैनिक वस्तुओं की दुनियाँ उक्त क्षेत्र, अथवा उक्त क्षेत्र और पूर्व दुनियाँ दोनों का, आभास मात्र है।

किन्तु रसेल महोदय एक बात भूल जाते हैं; जिसे हम मस्तिष्क कहते हैं वह, एक शरीर-विज्ञान के विद्यार्थी की दृष्टि में, दैनिक वस्तुओं की दुनियाँ का भाग है, और यदि उसे एक व्याख्यात्मक प्रत्यय (Theoretical Construct) माना जाय, तो उसका पद न्यूनाधिक वही है जो भौतिकशास्त्र के कल्पनामूलक पदार्थों (विद्युद्-णुओं आदि) का।

रसेल चिदचिद्भिन्नाद्वैत (Neutral Monism) के समर्थक हैं। वे मानते हैं कि विश्व के चरम तत्त्व को न चेतन कहा जा सकता है, न अचेतन। देखने की स्थिति में ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय अलग-अलग नहीं होते, बल्कि एक ही होते हैं। जिन प्रक्रियाओं (Processes) को हम एक दृष्टि से देखना कहते हैं, उन्हीं को दूसरी दृष्टि से दीखनेवाला पदार्थ भी कहते हैं। वास्तव में सूर्य और सूर्य का देखना दो चीजें न होकर एक ही चीज हैं। जिन्हें हम मानसिक तथा भौतिक प्रक्रियायें कहते हैं वे वास्तव में एक ही चिदचिद् भिन्न (Neutral) तत्त्व की प्रक्रियायें होती हैं।[३४]

ऊपर की विचारणाओं से निम्न विरोधाभास उत्थित होता है : तथा-कथित मेरा मस्तिष्क क, ख, ग, आदि के मस्तिष्कों की स्नायविक प्रक्रियाओं की शृंखला मात्र है, और उनके मस्तिष्क भी च, छ, ज आदि के मस्तिष्कों तथा मेरे मस्तिष्क की स्नायविक प्रक्रियाओं की शृंखलामात्र हैं।

रसेल का विशिष्ट मन्तव्य उक्त विरोधाभास को जन्म देता है। रसेल और एडिंग्टन के इस सामान्य सिद्धान्त में कि दैनिक अनुभव की वस्तुएँ यथार्थ नहीं है, एक दूसरा, उतना ही असुविधाजनक, विरोधाभास निहित है। वह ज्ञान जिसे हम भौतिक-शास्त्र कहते हैं, अन्तिम विश्लेषण में, दैनिक अनुभव का निष्कर्षभूत है; किन्तु यदि भौतिक-शास्त्र सही है, तो हमारा दैनिक अनुभव भ्रमात्मक है। यहाँ स्थिति ऐसी है कि निष्कर्ष अपने पक्षवाक्यों का विरोधी है!

यह विरोध अनेक बार देखा गया है, किन्तु कभी उसका समाधान हो सका है, इसमें सन्देह है। भौतिक शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान द्वारा दिये गये दैनिक अनुभव के विवरण में एक और विरोधाभास भी निहित है। मान लिया जाय कि दैनिक अनुभव के पदार्थों की सत्ता नहीं है, और सिर्फ भौतिक शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान द्वारा अधीत

होनेवाली चीजों या प्रक्रियाओं की ही सत्ता है। उस दशा में यह समझ में नहीं आता कि कैसे यह विचित्र संसार, जिसमें विभिन्न रंग-रूपों की असंख्य चीजें हैं—ऐसी सुन्दर चीजें जैसे चिड़ियाँ, फूल, और सरिताएँ; तथा ऐसी भयंकर वस्तुएँ जैसे सर्प, चीते और भालू—किस प्रकार कल्पना या तर्कना में उत्थित हो जाता है। क्या सचमुच ही हम मानवीय कल्पना और रचना-शक्तियों को इस सबका श्रेय दे सकते हैं?[३५] रसेल की भाँति यह कहना कि विभिन्न मस्तिष्कों की स्नायविक तथा अन्य प्रक्रियाएँ अपने को विभिन्न आश्चर्यजनक वस्तुओं, पुस्तकों आदि में ग्रथित कर लेती है, एक बड़ा अन्धविश्वास जान पड़ता है। और जब हम ऐसा कहते हैं तो हम उसी शिक्षित सहज बुद्धि की दुहाई दे सकते हैं जिसकी दुहाई स्वयं रसेल ने दी है, और ठीक ही दी है।

ऊपर के विरोधों और विरोधाभासों के मूल में दो प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं। पहली भ्रान्ति यह है कि लोग दार्शनिक मान्यताओं तथा विज्ञान की सैद्धान्तिक कल्पनाओं को भ्रम से तथ्य-रूप मान बैठते हैं; दूसरी भ्रान्ति का कारण यह न समझना है कि वैज्ञानिक व्याख्याओं का स्वरूप क्या होता है, और विज्ञान द्वारा प्रकल्पित पदार्थ किस अर्थ में यथार्थ होते हैं। इन दोनों भ्रान्तियों का हम क्रमशः उद्घाटन करेंगे।

पहली कोटि की भ्रान्ति के कुछ उदाहरण लीजिए। रसेल का चिदचिद्भिन्नाद्वैत (Neutral Monism) एक दार्शनिक सिद्धान्त है, जो हाल में कुछ प्रसिद्ध रहा है। किन्तु रसेल महोदय कुछ ऐसे बात करते हैं जैसे वह सिद्धान्त एक तथ्य हो, ऐसा तथ्य जो खगोलशास्त्री के सूर्य तथा प्रतीयमान सूर्य के तादात्म्य का खंडन करता है। इसका युक्तिगत निष्कर्ष, जो रसेल ने निकाला है, यह है कि पृथ्वी और आकाश के बीच दीखनेवाले समस्त पदार्थ, कुर्सियाँ और मेजें, ग्रह और नक्षत्र, सबके सब मस्तिष्क में घटित होनेवाली प्रक्रियाएँ मात्र हैं। यह बार्कले का सिद्धान्त है, जिस पर सर्वाहंवाद (Solipsism) का गहरा रंग है।

इसी प्रकार भौतिक तथा शारीरिक परिवर्तनों की वह श्रृंखला जिसका पर्यवसान शोर सुनने अथवा वस्तु को देखने में होता है, एक तथ्य न होकर बौद्धिक निर्मिति (Theoretical Construction) मात्र है। इस निर्मिति का प्रयोग अनुभव के तथ्यों का खंडन करने के लिये नहीं किया जा सकता।

अब हम भ्रान्ति के दूसरे स्रोत पर आते हैं। पूछा जा सकता है कि भौतिक-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि जिन व्याख्यात्मक पदार्थों (Theoretical Entities) की कल्पना करते हैं उनकी, दैनिक अनुभव के पदार्थों की अपेक्षा में, तात्विक स्थिति क्या है? क्या प्रथम श्रेणी के पदार्थ सचमुच ही दूसरी श्रेणी के पदार्थों का निराकरण कर सकते हैं? क्या खगोल-शास्त्र का सूर्य वस्तुतः दैनिक अनुभव के सूर्य का खंडन कर सकता है? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिये यह परीक्षा करना जरूरी है कि किस प्रकार भौतिक-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि के व्याख्यात्मक पदार्थों का उदय होता है, और उनका क्या कार्य तथा पद (Status) निश्चित किया जा सकता है।

विज्ञान का स्वरूप और विज्ञान-प्रकल्पित पदार्थों की तात्विक स्थिति

हम श्री हर्बर्ट डिंगिल द्वारा दी हुई विज्ञान की परिभाषा को उद्धृत कर चुके हैं। उनके अनुसार विज्ञान का सबसे प्रमुख काम निरीक्षित तथ्यों का बौद्धिक सम्बन्धन या संग्रथन (Correlation) है।[३६] ये तथ्य प्रायः प्रयोगों से प्राप्त किये जाते हैं जिनका रूप मापने योग्य मात्राओं के सहचार-सम्बन्धों (Correlations) से गठित या निर्मित होता है। विज्ञान की दो मुख्य क्रियाएँ हैं, माप और परिगणन। विज्ञान मात्राओं का माप करता है, ताकि 'उनके पारस्परिक सहचार-सम्बन्धों का अन्वेषण कर सके, और उनके सहपरिवर्तन के नियमों का निरूपण कर सके।[३७] प्रयोग-विधि द्वारा यह सम्भव होता है कि कतिपय तत्वों अर्थात् कारण-सत्वों को अपरिवर्तित रखा जाय, और दूसरे तत्वों को नियंत्रित ढंग से बदलते हुए उनके प्रभावों का ठीक अध्ययन कर लिया जाय। उदाहरण के लिये रॉबर्ट ब्वाइल नामक वैज्ञानिक ने यह पता लगाया कि जब तापक्रम आदि की शेष स्थितियाँ समान रहती हैं, तब किसी गैस के आयतन में उसके दबाव से विपरीत अनुपात में परिवर्तन होता है।

भौतिक शास्त्र में हम दो प्रकार के सामान्य कथन पाते हैं, प्रयोगात्मक नियम (Empirical Laws) और सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र या नियम। प्रयोगात्मक नियम प्राप्त करने के लिये दो चीजों के सम्बद्ध परिवर्तनों को गणित के समीकरण के रूप में प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिये ब्वाइल का नियम इस प्रकार

व्यक्त किया जाता है: द अ=स+क, जिसका अभिप्राय यह है कि किसी गैस के दबाव तथा आयतन की इकाइयों का गुणनफल कुछ सीमाओं के भीतर स्थिर रहता है।

[भौतिक-शास्त्र के नियम गणित के समीकरणों के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं। ये समीकरण प्रयोगों द्वारा निरीक्षित सहचार-सम्बन्धों (Correlations) को प्रकट करते हैं। यह समझना भूल होगी कि गणित के समीकरण निरीक्षित सहचार-सम्बन्धों को पूर्णतया सही अभिव्यक्ति देते हैं; वस्तुत: उन सम्बन्धों को गणित की भाषा में बाँधते समय वैज्ञानिक लोग उन्हें थोड़ा-बहुत परिवर्तित कर देते हैं। निरीक्षित सहचार-सम्बन्धों के आधार पर एक सामान्य समीकरण या नियम का निर्माण किया जाता है। केल्डिन कहते हैं : 'अनुभवात्मक नियम वस्तुतः निरीक्षित तथ्यों के आधार पर किया हुआ निर्माण होता है। वह दी हुई साक्षी के परे जाता है'।[३८] इस प्रकार अनुभवात्मक नियम के निरूपण में भी आगमन (Induction) की समस्या खड़ी हो जाती हैं। वहाँ देखे हुए कुछ उदाहरणों के आधार पर अनदेखे तथ्यों के बारे में सामान्य कथन किया जाता है। इस समस्या से बचने के लिये विटगैन्स्टीन तथा दूसरे तर्क-मूलक भाववादियों ने यह प्रस्ताव किया है कि प्राकृतिक नियम को "प्रोपोज़ीशनल फंक्शन" (Propositional Function) के रूप में लिखना चाहिए। चूँकि प्रकृति के नियम सामान्य कथन नहीं हो सकते, इसलिये वे "प्रोपोज़ीशनल फंक्शन" होते हैं।'[३९] उनके अनुसार प्रकृति का नियम एक, 'प्रोपोजीशनल फंक्शन" होता है जिससे, विवर्तमान मूल्यों (Variables) के विभिन्न मान रखकर, परीक्षणार्थ विशेष कथन प्राप्त किये जाते हैं।[४०]

एक दूसरी दिशा में भी प्रकृति का नियम वस्तुस्थिति का एकदम सही उल्लेख नहीं होता। सब प्रकार के माप (Measurements) न्यूनाधिक सही होते हैं, माप के सहीपन की सीमा होती है। दूसरे, प्रकृति में पाये जानेवाले सहचार-सम्बन्ध न्यूनाधिक बदलते रहते हैं। फलतः यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि बदलते हुए सम्बन्धों के आधार पर अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियम का निरूपण कैसे किया जाय।[४१] प्रकृति के एतावत्व (Exactness) या सहीपन के अभाव की नियम के एतातत्व से कैसे संगति बिठाई जाय? ऐसा जान पड़ता है कि गणित की भाषा में प्रकट किये हुए नियम प्राकृतिक तथ्यों का एकदम सही वर्णन प्रस्तुत नहीं करते; उनमें निबद्ध वर्णन दृष्ट तथ्यों से न्यूनाधिक निकट सामंजस्य रखता है। तथ्यों पर आरोपित

किये जानेवाले नियम उन वस्त्रों की भाँति होते हैं जो शरीर पर न्यूनाधिक ही "फ़िट" बैठते हैं। समीकरण में निबद्ध नियम के आधार पर हिसाब लगाकर हम सहचार का जो मान (Value) प्राप्त करते हैं उसमें तथा निरीक्षित मान में प्रायः कुछ अन्तर रह जाता है। इस अन्तर को वैज्ञानिक लोग भूल (Error) कहते हैं। नियम के अनुसार की हुई भविष्यवाणी और बाद के निरीक्षण में कभी परिपूर्ण संगति नहीं होती, न्यूनाधिक संगति ही होती है। नियम के आधार पर जो मान प्राप्त किये जाते हैं, वे ज्यों के त्यों निरीक्षण में नहीं मिलते। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्स प्लैंक कहते हैं: 'प्रत्येक माप अर्थपूर्ण बनता है उस सार्थकता से जो उसे सिद्धान्त (सूत्रित नियम) द्वारा प्राप्त होती है....सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीधे से सीधे मापों को बार-बार ठीक करना पड़ता है, ताकि उनका व्यावहारिक प्रयोग हो सके।'[४२] ऐसा मालूम होता है कि गणित की भाषा प्रकृति के मात्रामूलक तथ्यों पर न्यूनाधिक ही आरोपित की जा सकती है। इस निष्कर्ष का गणित की प्रकृति और उपयोगिता समझने के लिये विशेष महत्व है।]

अब हमें अगला कदम रखना चाहिए, और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि विज्ञान के सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्रों की उत्पत्ति कैसे होती है। वस्तुतः विज्ञान के उच्चतर सामान्य कथनों में परिकल्पित होनेवाले तत्वों के आधार पर ही यह कहा जाता है कि हमारे दैनिक अनुभव की चीजें यथार्थ नहीं है। हमने ऊपर ब्वाइल के नियम का उल्लेख किया। वैज्ञानिक चार्ल्स का नियम यह कहता है कि 'यदि किसी गैस का दबाव स्थिर रहे, तो उसका आयतन तापक्रम के अनुपात में बढ़ता है।' एक तीसरा नियम, ग्रैहम का नियम, बतलाता है कि 'समान स्थितियों में विभिन्न गैसों के व्यापयन (Diffusion) के वेगक्रमों (Rates) का उनके घनत्व-द्योतक अंकों के वर्गमूलों (Square Roots) से विपरीत अनुपात का सम्बन्ध होता है।'[४३]

सद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र का काम यह होता है कि वह प्रयोगात्मक नियमों का एकीकरण कर दे। उदाहरण के लिये गैसों से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त-सूत्र को गैसीय पदार्थों का एक ऐसा सैद्धान्तिक ढाँचा प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उपरोक्त प्रयोगात्मक नियम निगमन-विधि से प्राप्त किये जा सकते हैं। रसायन-शास्त्र के इतिहास से हम जानते हैं कि उपरोक्त नियमों के एकीकरण अथवा व्याख्या के लिये "काइनेटिक थियरी आफ गैसेज़" (Kinetic Theory of Gases) निरूपित की गई। यह सिद्धान्त बतलाता है कि गैसीय पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न द्वयणुकों

(Molecules) द्वारा निर्मित होते हैं, और वे द्व्यणुक लगातार सवेग इतस्ततः गतिमान रहते हैं।

यह कहने का क्या मतलब है कि सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र प्रयोगात्मक नियमों का एकीकरण करता है? एकीकरण की यह प्रक्रिया इस प्रकार है। वैज्ञानिक गैसों आदि की आन्तरिक रचना के सम्बन्ध में कुछ कल्पनाएँ करता है और उन कल्पनाओं को गणित के समीकरणों में आबद्ध कर देता है। यदि इन समीकरणों से निगमन-विधि (Deduction) द्वारा प्रयोगात्मक नियमों को प्राप्त किया जा सके, तो कहा जायगा कि वे प्रयोगात्मक नियम उस सिद्धान्त-सूत्र द्वारा एकीकृत और व्याख्यात हो गये। यदि सिद्धान्त-सूत्र से प्राप्त समीरकणों और प्रयोगात्मक निरीक्षण से प्राप्त समीकरणों में न्यूनाधिक सामंजस्य अथवा तादात्म्य हो, तो समझना चाहिए कि सिद्धान्त-सूत्र प्रयोगात्मक नियमों की व्याख्या करने में समर्थ है। यह मत श्री कैल्डिन ने प्रकट किया है।[४४]

श्री ज़ाक रुएफ कहते हैं: जिन कारणों से हम वस्तुओं की प्रकृति या स्वरूप का निर्माण करते हैं वे उन कथनों का समुदाय मात्र हैं जिन्हें हम तर्क करते समय पक्षवाक्य (Premises) बना लेते हैं और जिनका निष्कर्ष अनुभव के तथ्य होते हैं।[४५] अन्यत्र वे कहते हैं: 'चूँकि ये चीजें, उदाहरण के लिये द्व्यणुक, हमारी बुद्धि को इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं होते, इसलिये बुद्धि उनकी सृष्टि करती है; यह सृष्टि उन चीजों के वाचक शब्दों में अनेक धर्मों या विशेषताओं को एकत्रित कर देने से होती है। इस प्रकार के कारणों की सृष्टि सैद्धान्तिक भौतिक-शास्त्र का मूल कार्य है।'[४६]

सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्रों के सम्बन्ध में ऐसा ही मत प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन का बतलाया जाता है। श्री आइन्स्टाइन के जीवनीकार फिलिप फ्रैंक बतलाते हैं कि उक्त वैज्ञानिक के अनुसार 'आधारभूत सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र (Basic Theoretical Laws) वैज्ञानिक कल्पना की स्वच्छन्द सृष्टियाँ होते हैं।' वैज्ञानिक आविष्कर्ता होता है, उसका आविष्कार या सृष्टि-क्रिया अपने चिन्तन में दो सीमाओं के भीतर चलती है। एक सीमा प्रयोगात्मक अनुभव की होती है। व्याख्या-सूत्र से जो निष्कर्ष निकलें उन्हें अनुभव द्वारा पुष्टि मिलनी चाहिए। दूसरी सीमा का मूल तर्कशास्त्र और सौन्दर्य-संवेदना में होता है, उसकी माँग यह होती है कि व्याख्या-सूत्र संख्या में कम-से-कम होने चाहिएँ, और परस्पर संगत होने चाहिएँ। करीब-करीब यही मन्तव्य

तर्कमूलक भाववादियों का भी है। उनके मत में भी सामान्य या व्यापक व्याख्या-सूत्र वे वक्तव्य हैं जिनसे हमारे प्रयोगात्मक निरीक्षण निगमन द्वारा प्राप्त किये जा सकें।[४७]

अपने एक निबंध "रसेल की ज्ञान-मीमांसा" में आइन्स्टाइन ने इस मान्यता का खंडन किया है कि विज्ञान के नियम आगमन-विधि (Iuduction) द्वारा प्राप्त किये जा सकते ह; उन्होंने रसेल तथा तर्क-मूलक भाववादियों की इस बात को लेकर भर्त्सना की है कि वे तत्त्वमीमांसा के ढंग के चिन्तन (Metaphysical Thinking) से डरते हैं। आइन्स्टाइन के मत में विज्ञान के प्रत्यय ही नहीं, दैनिक जीवन की धारणायें भी हमारे चिन्तन की सृष्टियाँ होती हैं, जो प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकतीं। वे कहते हैं : 'वे प्रत्यय जो हमारे चिन्तन और हमारी भाषा-बद्ध अभिव्यक्ति में उदय होते हैं, तार्किक दृष्टि से देखने पर चिन्तन की स्वच्छन्द सृष्टियाँ प्रतीत होते हैं; उन्हें इन्द्रियों के अनुभव से प्राप्त नहीं किया जा सकता।'[४८] आइन्स्टाइन के मत में दार्शनिक ह्यूम ने दर्शन के क्षेत्र में एक खतरा पैदा कर दिया, क्योंकि उसकी समीक्षाओं ने दार्शनिक कोटि के चिन्तन का भय उत्पन्न कर दिया, जो आज के अनुभववादी विचारकों के लियें एक बीमारी बन गया है।[४९] इस प्रकार आइन्स्टाइन यह मानते हैं कि वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन में कोई मौलिक भेद नहीं है।

वैज्ञानिक चिन्तन का इतना विश्लेषण करने के बाद हम यह प्रश्न पूछेंगे कि विज्ञान द्वारा प्रकल्पित मूलपदार्थों की तात्विक स्थिति (Metaphysical Status) क्या है? कहाँ और किस अर्थ में हम उन्हें यथार्थ (तात्विक) या अस्तित्ववान् मान सकते हैं? क्या सचमुच वे अस्तित्ववान् होते हैं, और वस्तुनिष्ठ रूप में मौजूद होते हैं? क्या खगोलशास्त्री के सूर्य, और भौतिक शास्त्री के ऋणात्मक तथा धनात्मक विद्युद-णुओं (Electrons and Protons) की वास्तविक सत्ता है? और क्या हमें यह अधिकार है कि उक्त चीजों के नाम पर दैनिक अनुभव के पदार्थों को असत् या मिथ्या घोषित कर दें?

इस सम्बन्ध में हमें दो बातों का और विचार करना होगा, ताकि हम ऊपर के प्रश्नों का उत्तर दे सकें। प्रथमत: भौतिक शास्त्र का इतिहास बतलाता है कि भौतिक जगत के अन्तिम तत्वों के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्याख्यासूत्र लगातार बदलते अथवा संशोधित होते रहे हैं। जैसे-जैसे नये प्रयोगों द्वारा नये तथ्य मिलते हैं, वैसे-वैसे पुराने

सिद्धान्त-सूत्रों के बदले नये सूत्र निर्मित होते जाते हैं। उदाहरण के लिये जब रसायन-शास्त्रियों को यह मालूम हुआ कि विभिन्न तत्वों का संयोग मात्रा-मूलक अनुपातों में होता है, तो उन्होंने परमाणुवाद का प्रतिपादन किया। बाद में जब "रेडियो-ऐक्टि-विटी" (Radio-activity) से सम्बद्ध तथ्यों का पता चला तो उन्होंने परमाणुओं के स्थान पर विद्युदणुओं की कल्पना को प्रतिष्ठित कर दिया। इसी प्रकार आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद ने न्यूटन के देशकाल, गति और गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धी विचारों का स्थान ले लिया।

दूसरी लक्षित करने की बात यह है कि भौतिकशास्त्री प्रकल्पित पदार्थ जैसे परमाणु या विद्युदणु में केवल उन्हीं गणितात्मक गुणों का आरोप करता है जो निरीक्षित, अर्थात् प्रयोगों से प्राप्त तथ्यों की, व्याख्या के लिये अपेक्षित हैं। उदाहरण के लिये "इलेक्ट्रान" तथा "प्रोट्रान" में, जैसा कि प्रो० डिंगिल ने बतलाया है, केवल उन्हीं गुणों की अवस्थिति माननी चाहिए, और उन पर व्यवहार के उन्हीं नियमों का आरोप करना चाहिए, जो विभिन्न प्रेक्षणों (Observations) को सम्बद्ध करने के लिए आवश्यक और पर्याप्त हैं।[५०]

अब हम देख सकते हैं कि भौतिक शास्त्र के व्याख्या-सूत्र कहाँ तक वास्तविकता के यथार्थ रूप का उद्घाटन करते हैं श्री रुएफ़ लिखते हैं: 'इस दृष्टि से देखी हुई वास्तविकता का कोई तात्विक महत्व नहीं रहता। हमारे पास यह कहने का कोई आधार नहीं रहता कि भौतिक शास्त्र के सिद्धान्त जिन कारणों का उद्घाटन करते हैं वे वस्तुओं की असली प्रकृति हैं।'[५१] ब्रिजमैन कहते हैं: 'जब हम नये क्षेत्रों में जाकर प्रयोग करें तो हमें नये तथ्यों के लिए तैयार हो जाना चाहिये; भौतिकशास्त्री किन्हीं ऐसे अनुभव-निरपेक्ष सिद्धान्तों को नहीं मानता जो नये अनुभव की संभावनाओं को सीमित करने वाले हों।'[५२] अक्सर नया अनुभव पुराने सिद्धान्तों के संशोधन, और नये सिद्धान्तों के निरूपण, का कारण बन जाता है। श्री फिलिप फ्रैंक अलबर्ट आइ-न्स्टाइन के मंतव्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'उनके अनुसार अन्वेषक को यह अधिकार है कि वह, भौतिक विज्ञान की उन्नति के लिये, किन्हीं भी सिद्धान्त-सूत्रों की पद्धति की सृष्टि कर डाले, सिर्फ यह कि उस नियम-पद्धति को नये प्रेक्षणों से समंजस होना चाहिये।'[५३]

वस्तुतः जिन्हें हम भौतिक शास्त्र के सिद्धान्त कहते हैं वे, गणित की भाषा में, यथार्थ के स्वरूप की निर्मितियाँ होती हैं जिनका आधार उपलब्ध प्रयोगात्मक तथ्य

होते हैं। सापेक्षवाद के सिद्धान्त न यह स्पष्ट कर दिया है कि इन निर्मितियों का हमारे दैनिक अनुभव के अनुरूप होना बिल्कुल ही आवश्यक नहीं है; यदि गणित की सहायता प्राप्त हो तो वे अधिक से अधिक जटिल और असामान्य हो सकती हैं।

विज्ञान की निर्मितियाँ (Constructions) गणित की भाषा में प्रकट की जाती हैं, इससे वैज्ञानिक सिद्धान्तों की एक दूसरी सीमा का पता चलता है; उनके निरूपण का आधार अनुभव की केवल मात्रा-मूलक विशषताएँ होती हैं, ऐसी विशेषताएँ जो गणित की भाषा में प्रकट की जा सकें। **भौतिक शास्त्र के व्याख्यात्मक तत्वों की कल्पना हमारे अनुभव के कुछ खास चुने हुए पहलुओं के आधार पर की जाती है, इसलिये उन तत्वों से अनुभव की दूसरी विशेषताओं को निगमन द्वारा पाने की कोशिश व्यर्थ है।** अतएव उन तत्वों की प्रकृति हमारे अनुभव की उन दूसरी विशेषताओं का अभाव सिद्ध नहीं करती, ठीक वैसे ही जैसे किसी वर्णमाला द्वारा संकेतित ध्वनियाँ यह सिद्ध नहीं करतीं कि पशुओं तथा मनुष्यों द्वारा भी दूसरी ध्वनियाँ उत्पन्न नहीं की जातीं।

निष्कर्ष यह कि भौतिक शास्त्र का छाया-जगत वस्तुतः यथार्थ जगत नहीं होता। इसके विपरीत, वह जगत मानवीय कल्पना की सृष्टि होती है जिसका निर्माण गणित के प्रतीकों के माध्यम से अनुभव के चुने हुए पहलुओं के आधार पर होता है। एक जगह एडिंग्टन इस स्थिति का संकेत दे गये हैं : 'विज्ञान ऐसे विश्व का निर्माण करना चाहता है जो हमारे साधारण अनुभव-जगत का प्रतीक हो सके।'[५४] किन्तु सारे प्रतीक इस अर्थ में अमूर्त होते हैं कि वे वस्तुओं के दो-एक चुने हुए पहलुओं को ही व्यक्त करते हैं। किन्हीं भी प्रतीकों में ऐसी शक्ति नहीं होती कि वे अस्तित्ववान् विशेष को समग्र अभिव्यक्ति दे सकें।

अतएव, यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि "इलेक्ट्रान," "प्रोट्रान" आदि ठीक उन रूपों म अस्तित्ववान् होते हैं जिनमें हम उनकी कल्पना करते हैं। वस्तुतः विपरीत विश्वास के लिये ही हमें आधार मिलता है। इसका मतलब यह नहीं कि हम भौतिक शास्त्र के सिद्धान्तों को वास्तविक जगत की रचना का उद्घाटक नहीं मानते। हम केवल इसे अस्वीकार करते हैं कि वे सिद्धान्त या नियम यथार्थ का पूरा विवरण प्रस्तुत करते हैं, या कभी कर सकते हैं। चूँकि भौतिकशास्त्र की पद्धति प्रत्याहरण-मूलक है, इसलिये वह कभी भी यथार्थ के स्वरूप का पूर्ण विवरण नहीं दे

सकेगा। यही नहीं, हम कहेंगे कि भौतिक शास्त्र यथार्थ के उस एक पहलू का भी पूरा ब्योरा नहीं देता जिसे वह अध्ययन के लिये चुन लेता है।

इसलिये भौतिक शास्त्री को यह अधिकार नहीं कि वह अपने कल्पित तत्वों के दैनिक अनुभव की वस्तुओं से ज्यादा यथार्थ होने का दावा करे; वस्तुतः उसे यह दावा ही नहीं करना चाहिए कि वे तत्व किसी भी अर्थ में यथार्थ या वस्तुनिष्ठ होते हैं। कारण यह कि वस्तुओं के कोई भी गुण स्वयं उन वस्तुओं से अलग नहीं रह सकते। सम्भव है कि सूक्ष्म अणुओं की अवस्था में पहुँचने पर वस्तुओं के कुछ पूर्वगुण तिरोहित हो जाते हैं: हो सकता है कि परमाणुओं में दीखने वाली चीजों के सब गुण नहीं रहते। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनमें केवल वही गुण होते हैं जिनका अध्ययन भौतिकशास्त्रियों को सुविधाजनक लगता है।

अवयवीवादी मनोवैज्ञानिकों (Gestalt Psychologists) ने हमें बतलाया है कि किसी अवयवी (Whole) अथवा समष्टि में ऐसे गुण हो सकते हैं जो कि अवयवों में नहीं पाये जाते। सदियों पहले यही बात नैयायिकों ने भी कही थी। यदि यह सही है, तो यह आवश्यक नहीं कि अवयवों का अध्ययन अवयवी के सभी गुणों को उद्घाटित कर दे। उदाहरण के लिये इसकी सम्भावना कम है कि एक शव के रासायनिक विश्लेषण द्वारा हम मूल प्राणी के स्वरूप को ठीक से जान लें। जब भौतिक शास्त्री इस बात पर जोर देता है कि उसके विद्युदणु आदि ही यथार्थ हैं, और दैनिक अनुभव की वस्तुएँ यथार्थ नहीं हैं, तो वह उस रसायनशास्त्री की भाँति व्यवहार करता है जो यह कहे कि शव के रासायनिक उपादान ही यथार्थ हैं, और पहले का जीवित शरीर यथार्थ नहीं था।

संभावना यह है कि रसायन-शास्त्री मूल शरीर के व्यवहार के नियमों को बिल्कुल ही न समझ सके। उन नियमों को विधायक उपादानों के व्यवहारों के नियमों से पूर्णतया निष्कृष्ट नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये पानी के कुछ गुण, जैसे उसके उबलन का तापांक, आक्सीजन तथा हाइड्रोजन के गुणों के आधार पर नहीं जाना जा सकता। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कैलर (Kohler) पूछते हैं: 'जब भौतिकशास्त्री कहता है कि एक दीर्घ परिमाण वाला पदार्थ वस्तुतः अणुओं का समुदाय है, तो क्या यह समझना चाहिए कि अणु-सम्बन्धी भौतिकशास्त्र की शाखा की दृष्टि में, दीर्घ परिमाण वाली निर्दिष्ट वस्तुओं की सत्ता ही नहीं है? क्या दीर्घ वस्तुएँ अणुओं में घुल जाती हैं?'[५५] कैलर ने उचित ही संकेतित किया है कि 'दीर्घ पदार्थों तथा उनके अणु-रूप उपादानों दोनों

की ही कल्पनाएँ समुचित हैं, और भौतिक अनुभव की साक्षी पर आधारित हैं।'[५६] उदाहरण के लिये वे बतलाते हैं कि अपनी परमाणुमयी रचना से प्रभावित न होते हुए बड़े पदार्थ पानी में आर्किमिडीज़ के नियम के अनुसार तैरते हैं। उन्होंने ठीक ही यह विश्वास प्रकट किया है कि 'भविष्य के अन्वेषण हमारे इस कोटि के भौतिक ज्ञान को संभवतः कभी भी विशेष परिवर्तित नहीं करेंगे।'[५७]

वस्तुस्थिति यह है कि भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के प्रयोग-मूलक नियम, जैसे रासायनिक संयोग के नियम, उन शास्त्रों के उन व्यापक सिद्धान्तों से जिनका विषय भूततत्त्व के चरम उपादान हैं, ज्यादा स्थायी होते हैं। परमाणु, प्रकाश, गुरुत्वाकर्षण के सम्बन्ध में बदलते हुए सिद्धान्तों का इतिहास हमारे इस वक्तव्य की पुष्टि करता है। एक भौतिकशास्त्री जो हम से यह विश्वास करने को कहता है कि विभिन्न रंग और ध्वनियाँ तथा अन्वेषण के उपकरण सचमुच अस्तित्ववान् नहीं हैं, ठीक-ठीक नहीं जानता कि वह क्या कह रहा है। वह मुझ से यह विश्वास करने का अनुरोध करता है कि वास्तव में उसका और मेरा अस्तित्व नहीं है, कि सम्भवतः न वह बात कर रहा है, और न मैं उसकी आवाज़ सुन ही रहा हूँ; क्योंकि उसकी आवाज की सत्ता ही नहीं है। इस प्रकार का भौतिकशास्त्री मुझ से कहना चाहता है कि कुछ भी कहने की कोशिश एक भयंकर भ्रम है।

यथार्थ या अस्तित्व के विभिन्न क्रम

वस्तुस्थिति यह है कि दुनिया में अनेक प्रकार के यथार्थ अथवा अस्तित्ववान पदार्थों के अनेक व्यवहार अलग-अलग कोटियों के नियमों का पालन करते हैं। उदाहरण के लिये दीर्घ परिमाण वाली वस्तुओं के अनेक वर्ग हैं : रसायन शास्त्र के तत्त्व, तरह-तरह के यौगिक पदार्थ (Compounds); जीवधारी; ग्रहों की पद्धतियाँ; नक्षत्र; इत्यादि। इन चीजों के अस्तित्व का ज्ञान मुख्यतः अनुभव से होता है। तर्कना तथा निगमनात्मक निर्मिति से हमें ऐसे तत्व मिलते हैं जैसे "इलेक्ट्रान" "देश-काल-सातत्य" (Space-time Continuum) इत्यादि, किन्तु अन्त तक ये तत्व काल्पनिक बने रहते हैं, और हमारे लिए कभी उतने यथार्थ नहीं होते जितने कि दैनिक अनुभव के पदार्थ। इस अनुभव में अणु-वीक्षण तथा दूर-वीक्षण यंत्रों द्वारा प्राप्त होने वाली प्रतीतियों का भी समावेश है। सच यह है कि "इलेक्ट्रान' आदि में जो हमारा विश्वास होता है, उसका आधार भी वे प्रेक्षाएँ रहती हैं जो प्रयोगों के दौरान में प्राप्त होती हैं।

जो अनुभव रंगीन सतहों तथा चिन्हित माप आदि के यंत्रों का उद्‌घाटन करता है, वही वस्तुओं के सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा नैतिक पक्षों की भी विवृति करता है। इसलिए यह मानने का कोई कारण नहीं कि वस्तुओं तथा कर्मों के सौन्दर्य आदि गुण आत्मपरक हैं।

हमने कहा कि वस्तुनिष्ठ चीज वह है जिसका संगतिपूर्ण अनुभव सब सामान्य मनुष्यों को होता है। हम कुछ अनुभवों को भ्रान्त घोषित कर देते हैं, क्योंकि वे हमारे व्यवहार द्वारा परीक्षित कुछ अनुभवों के विरुद्ध पड़ते हैं। जब दो अनुभवों में विरोध होता है, तो स्थिति की व्याख्या अपेक्षित हो जाती है। व्याख्या द्वारा हम बतलाते हैं कि किन दशाओं में कोई अनुभव विश्वसनीय होता है और किन में हमें भ्रान्त प्रतीतियाँ होती हैं। अन्तिम विश्लेषण में किसी अनुभव की प्रामाणिकता अथवा भ्रमात्मकता की पहचान दो प्रकार की होती है: एक व्यावहारिक, अर्थात् आशाओं के फलीभूत होने के रूप, में और दूसरी सामूहिक या सामाजिक, जो सामान्य मनुष्यों की प्रतिक्रियाओं के सामंजस्य में प्रतिफलित होती है। कहीं-कहीं परीक्षा के ये दोनो प्रकार एक भी हो जाते हैं, और कहीं एक ही प्रकार की परीक्षा सम्भव होती है। उदाहरण के लिये आकाश नीला है, इस विश्वास का आधार मनुष्यों के तत्सम्बन्धी अनुभवों का सामंजस्य ही है। अंत में हमें सामान्य लोगों के अनुभवों के सामंजस्य पर ही निर्भर करना पड़ता है, क्योंकि किसी क्रिया की सफलता-असफलता का निश्चय भी सामान्य अनुभव द्वारा ही होता है। किन्तु व्यावहारिक परीक्षण के साथ एक सुविधा रहती है—उससे लोग जल्दी ही एकमत हो जाते हैं। कालिदास बड़ा कवि है कि नहीं, और देश के साथ गद्दारी अपराध है या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद प्रकट करने पर किसी को दंड नहीं मिलता, किन्तु उसी भाँति कोई यह नहीं कह सकता कि आग गर्म नहीं होती, अथवा परमाणु-बम संहारक अस्त्र नहीं है।

विज्ञान को लोगों ने सार्वभौम रूप में स्वीकार कर लिया है, इसका कारण यह है कि अपने मंतव्यों को मनवाने में विज्ञान व्यावहारिक अथवा उपयोगिता-मूलक पद्धति पर निर्भर करता है। कोई भी विज्ञान सामान्य मनुष्यों की अनुभव-मूलक सहमति की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु यह सहमति का सम्बन्ध प्रायः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक सीमित होता है। इस प्रत्यक्ष के भीतर अणुवीक्षण आदि के द्वारा देखने का भी समावेशहोता है।

विज्ञान ने, अनुभवों के गुणात्मक पहलुओं की उपेक्षा करते हुए, यह सम्भव पाया है कि मनुष्य के भौतिक जगत सम्बन्धी अनुभवों को संगठित या संबद्ध कर दे।

यह पाया गया है कि वस्तुओं के गुणात्मक पहलू मनुष्य के स्थूल कर्म-जगत को प्रभावित नहीं करते। इससे वे लोग जो स्थूल अर्थ में व्यावहारिक तथा कम संवेदनशील हैं, सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वस्तुओं की उपेक्षित गुणात्मक विशषताएँ यथार्थ नहीं हैं। इस तरीके से कुछ लोग जो अपने को वैज्ञानिक मनोवृत्ति वाला बतलाते हैं, इस विश्वास पर पहुँच गये कि प्रकृति के रंग, ध्वनियाँ तथा सौन्दर्य-मूलक विशेषताएँ किसी-न-किसी अर्थ में अयथार्थ या भ्रमात्मक हैं—अथवा, एक अनिर्दिष्ट अर्थ में, कम यथार्थ हैं।

विज्ञान की दृष्टि से कार्य का अर्थ होता है वस्तुओं की गति अथवा स्थानान्तरण, और विज्ञान केवल उन्हीं प्रयोजनों को समझ पाता है जिनका सम्बन्ध वस्तुओं की गति से होता है। विज्ञान के अनुसार व्यावहारिक सफलता का अर्थ है वस्तुओं में अभीष्ट गतियाँ उत्पन्न करना। एक दूसरे प्रकार का प्रयोजन जिसे विज्ञान समझ सकता है प्रेक्षणात्मक प्रतिक्रियाओं के पूर्वाभासित (Anticipate) करने से सम्बन्ध रखता है। विज्ञान केवल एक ही कोटि की संवेदनशीलता का महत्व समझता है, अर्थात् सही निरीक्षण से सम्बन्धित संवेदनशीलता।

दूसरी कोटि के प्रयोजन और सफलताएँ भी होती हैं, दूसरी कोटि के कर्म और संवेदनशीलता भी हो सकती है, इसे वैज्ञानक मनोवृत्ति वाले विचारक स्वीकार नहीं करना चाहते। कुछ ऐसे कर्म भी होते हैं जिनकी विशिष्टता गतियों में निहित नहीं होती, उदाहरण के लिये ऑपिरेशन करने वाले डाक्टर के छुरे की गति एक स्थिति में नैतिक और दूसरी में अनैतिक हो सकती है। इसी प्रकार कविता लिखने में अथवा एक सिद्धान्त का निर्माण करन में जो सफलता होती है, उसकी किसी इंजिन के संचालन की सफलता से कोई समानता नहीं होती। वैसे ही सौन्दर्य-सम्बन्धी संवेदनशीलता प्रेक्षणात्मक संवेदनशीलता से नितान्त भिन्न होती है।

विभिन्न कोटियों के प्रयोजन, और विभिन्न प्रकार की संवेदनशीलताएँ, सफलता तथा सामंजस्य के अलग-अलग प्रतिमानों से सम्बन्धित रहती हैं। ये विभिन्न प्रतिमान, जो विभिन्न क्षेत्रों में मानवीय व्यापारों का नियमन करते हैं, एक-दूसरे से सम्बद्ध एवं तुलनीय हों, यह जरूरी नहीं है। उदाहरण के लिये शतरंज के खेल अथवा मोटर चलाने में सफलता का संकेत करने वाले पैमाने उन पैमानों से नितान्त भिन्न होते हैं जो काव्य-रचना अथवा संगीत-सृष्टि में सफलता का संकेत करते हैं। सामान्य रूप में

यह कहा जा सकता है कि एक क्षेत्र से सम्बन्धित प्रतिमान या पैमाने प्रायः दूसरे क्षेत्र में लागू नहीं होते, और दूसरे क्षेत्र के पैमानों से निष्कृष्ट भी नहीं किये जा सकते।

जैसा कि हमने पहले कहा था, गुणों तथा वस्तुओं के अनेक क्रम या कोटियाँ होती हैं, केवल मात्राओं के क्षेत्र में भी ऐसी विविधता पाई जाती है। आधुनिक रसायन शास्त्र का कहना है कि विभिन्न तत्वों (Elements) की प्रधान विशेषताएँ उनकी परमाणु-संख्याएँ (Atomic Numbers अर्थात् वे अंक जो यह बतलाते हैं कि किसी परमाणु में केन्द्रीय "फ़ोटान" के चारों ओर कितने "इलेक्ट्रान" घूमते हैं) होती हैं। उदाहरण के लिये हाइड्रोजन की परमाणु-संख्या एक है, ऑक्सीजन की आठ, इत्यादि। यहाँ प्रश्न उठता है : क्या विभिन्न तत्वों की अनेक विशेषताएँ, यह मानते हुए भी कि कि वे विशेषताएँ उनकी क्रमिक परमाणु-संख्याओं का आवश्यक परिणाम या निष्कर्ष है, उनकी परमाणु-संख्याओं से कम यथार्थ होती हैं? क्या यह मानना चाहिए कि कोई कार्य अपने कारण या कारणों से कम तात्विक होता है? क्या सुकरात की मृत्यु उस हलाहल के प्याले से जो उस मृत्यु का कारण हुआ, कम यथार्थ है? मान भी लिया जाय कि कतिपय ध्वनियों की सांगीतिक विशेषताएँ आवश्यक रूप में कुछ वस्तुओं के कम्पनों (Vibrations) से सहचरित रहती हैं, किन्तु इससे क्या यह सिद्ध होता है कि वे विशेषताएँ भ्रमात्मक हैं? यह कथन कि "पोटेशियम स्यानाइड" कतिपय तत्वों का, जिनकी विशिष्ट परमाणु-संख्याएँ हैं, यौगिक है, इस तथ्य का विरोधी नहीं है कि वह एक भयंकर विष भी है, जिसका जीवित शरीरों पर घातक प्रभाव पड़ता है। जब वैज्ञानिक कहता कि दैनिक अनुभव के पदार्थ और उनके इन्द्रिय-ग्राह्य गुण अवास्तविक या मिथ्या हैं, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि वह क्या कहना चाहता है।

यथार्थ के बारे में वह कोई सिद्धान्त जो हमारे अनुभव-जगत को बुद्धिगम्य नहीं बनाता, उस हद तक असंतोषजनक होता है। भौतिकशास्त्र का छायाजगत, एक धारणा के रूप में, हमें उसी प्रकार स्वीकार्य नहीं है जैसे कि हीगल की रक्तहीन प्रत्यय-समष्टि, अथवा ब्रेडले का परब्रह्म। अनुभव-जगत में विभिन्न कोटियों के गुण पाये जाते हैं जो हम पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालते हैं। अनिवार्य रूप में हम उन विशेषताओं का महत्व उन मूल्यों की सम्बद्धता में आँकते हैं जिनका अन्वेषण हम अपने मानवीय स्वभाव की प्रेरणा से करते हैं।

मूल्यांकन-सम्बन्धी मतभेद

ऊपर हमने मूल्य-सम्बन्धी अनुभवों की वस्तुनिष्ठता का सामान्य रूप में मंडन किया। अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों के मूल्यांकनों में मतभेद क्यों होते हैं। यदि ये मतभेद बुद्धिगम्य कारणों पर आधारित हों, तो यह समझना कठिन न होगा कि उन्हें कैसे दूर किया जाय, अथवा, यदि वे दूर करने लायक न हों, तो उन्हें क्यों सहन किया जाय। कहावत है कि सबको समझने का अर्थ सब को क्षमा करना है। क्या इसका मतलब यह है कि मूल्यों के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति का दृष्टिकोण अपना सकता है? उस दशा में तो विभिन्न लोगों के बीच असली मतभेद रह ही नहीं जायेंगे। यह लक्षित करने की बात है कि लोगों के मतभेद केवल मूल्यांकन तक ही सीमित नहीं होते। जहाँ वस्तुपाती मूल्यांकन के सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया गया है, वहाँ वस्तुपाती ज्ञान के सम्बन्ध में भी संशय की स्थिति रही है। यूनान के प्रसिद्ध सन्देहवादी पिर्हो का एक शिष्य कहता है : 'यदि सारी चीज़ें हम सब के द्वारा एक ही तरह देखी जाती होतीं तो हम सबके वही आवेग होते और वही इच्छाएँ, जो कि होता नहीं।'[५८] यह भी कहा गया है कि व्यक्ति की विभिन्न इन्द्रियाँ वस्तु-गुणों के सम्बन्ध में अलग-अलग सूचनाएँ देती हैं। एक चीज एक इन्द्रिय को प्रिय लगती है, दूसरी को अप्रिय; दाँत का खोखला भाग आँख की अपेक्षा उँगली की नोक को ज्यादा बड़ा जान पड़ता है। रसेल का कथन है कि हमारी इन्द्रियाँ हमारे निजी एकान्त का मूल है, और 'हम अपनी निजी दुनियाँ को सामान्य दुनियाँ के जितना समान समझते हैं, उतनी समान वह नहीं होती।'[५९]

विभिन्न लोगों के प्रेक्षणों में अन्तर होते हैं, इसके बावजूद यह सम्भव हुआ कि उन प्रेक्षणों के आधार पर भौतिकशास्त्र की भव्य इमारत बन गयी। श्री मिचेल कहते हैं : 'जब तक बेकन और आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह दर्शित नहीं किया कि नियंत्रित और परीक्षित निरीक्षण ज्ञान की नींव और उसकी परीक्षा-विधि दोनों प्रस्तुत कर सकता है, तब तक यह कहा जाता रहा कि प्रत्यक्ष की अविश्वसनीयता अनुभववाद के लिये घातक थी।'[६०] मिचेल के अनुसार हमारे मूल्य-सम्बन्धी सहज अनुभव उसी प्रकार एक वस्तुपाती मूल्य-विज्ञान का आधार बन सकते हैं।

मूल्यांकन सम्बन्धी मतभेदों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। मूल्य दो प्रकार के होते हैं, आन्तरिक या साध्यात्मक, और साधनात्मक; मतभेदों का सम्बन्ध

उक्त दोनों कोटियों के मूल्यों से हो सकता है। यह कहने की जरूरत नहीं कि विभिन्न सन्दर्भों में एक ही मूल्य साध्यात्मक अथवा साधनात्मक हो सकता है। उदाहरण के लिये स्वास्थ्य को हम साध्यात्मक मूल्य भी कह सकते हैं, और साधनात्मक मूल्य भी। किन्तु सामान्य रूप में साध्यात्मक मूल्य जीवन या अनुभव की कोई दशा होती है, और साधनात्मक मूल्य उन वस्तुओं तथा स्थितियों में पाया जाता है जो उस दशा को उत्पन्न करती हैं।

जब श्री हायक कहते हैं कि सामाजिक विज्ञानों के तथ्य आत्मपाती होते हैं तो वे यह कहना चाहते हैं कि उन शास्त्रों में अधीत होने वाली वस्तुओं तथा स्थितियों का मूल्य मानवीय प्रयोजनों अथवा लक्ष्यों का सापेक्ष होता है। उदाहरण के लिये अर्थ-शास्त्र एक आत्मपाती विज्ञान है, क्योंकि 'किसी आर्थिक वस्तु या सामग्री जैसे भोजन, धन आदि को उन दृष्टियों की भाषा में ही परिभाषित किया जा सकता है जो लोग उनके बारे में रखते हैं। अर्थशास्त्र में हमें किसी सिक्के की गोलाई, धातु आदि से कोई सरोकार नहीं होता। रुपये की परिभाषा देने का अर्थ उसकी उपादानभूत धातु के बारे में कुछ कहना नहीं है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र लोहे या इस्पात, लकड़ी या तेल, गेहूँ या अंडों की आन्तरिक प्रकृति के बारे में कुछ नहीं कहता। मतलब यह कि अर्थ-शास्त्र उक्त वस्तुओं में निहित अर्थों या मूल्यों के बारे में बात करता है। किसी खास सामग्री का इतिहास देखने से यह जान पड़ेगा कि जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान बदलता है, वैसे-वैसे एक ही भौतिक चीज में निहित अर्थशास्त्रीय अभिप्राय भी बदल जाता है।'[६१]

श्री हायक के पक्षवाक्य सही हैं, किन्तु उनसे वे जो निष्कर्ष निकालते हैं वे भ्रामक और गलत भी हैं। वस्तुओं में कुछ गुण होते हैं जिनके कारण वे मानवीय जरूरतों को पूरा करती हैं, वे गुण उसी प्रकार मिथ्या नहीं होते जिस प्रकार कि मनुष्यों की जरूरतें। यदि भूख एक वस्तुनिष्ठ चीज है, तो उसे संतुष्ट करने वाला भोजन भी वस्तुनिष्ठ चीज समझी जानी चाहिए। आर्थिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में किसी भोजन का रुपये आदि के रूप में जो मूल्य होता है, वह भी वस्तुनिष्ठ होता है। किन्तु यदि हम इस बात पर जोर दें कि विभिन्न वस्तुओं के बारे में विभिन्न व्यक्तियों के अलग-अलग मत होते हैं, तो मूल्यों के सामान्य वर्णन और इसीलिये अर्थशास्त्र नाम के विज्ञान की संभावना नष्ट हो जायगी। अर्थशास्त्र नामक विज्ञान की सत्ता यह सिद्ध करती है कि व्यक्तियों के निजी पक्षपातों के बावजूद वस्तुओं का मूल्य होता है, अर्थात् वस्तुओं का मूल्य व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न रुचियों पर निर्भर नहीं करता। इसी प्रकार भोजन-

विज्ञान (Science of Dietics) यह सिद्ध करता है कि विभिन्न खाद्य पदार्थों का मूल्य वस्तुगत होता है।

वस्तुओं के साधनात्मक मूल्य उन प्रयोजनों के सापेक्ष होते हैं जिनकी वे पूर्ति करते हैं। यदि एक स्पष्ट और बुद्धिगम्य प्रयोजन मौजूद हो, तो साधनों के महत्व को बौद्धिक तरीकों से आँका जा सकता है। बौद्धिक अथवा बुद्धि पर आधारित जीवन उसे कहेंगे जिसमें निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये उचित साधनों का प्रयोग किया जाता है। जब लक्ष्य या प्रयोजन निश्चित हो, तो साधनों का चयन बुद्धि के हिसाब की चीज़ बन जाती है, न कि व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द की। यदि मुझे एक निश्चित अवधि में दिल्ली पहुँचना है, और मैं किराये पर एक निश्चित रकम से ज्यादा खर्च नहीं करना चाहता, तो मेरे यात्रा करने के प्रकार सीमित हो जाते हैं। सम्भवतः मैं वायुयान में इसलिये यात्रा नहीं कर सकता कि मेरे पास पैसे कम हैं और बैलगाड़ी में इसलिए नहीं कि मुझे एक खास अवधि में पहुँचना है।

मनुष्यों के साधनात्मक मूल्यों से सम्बन्ध रखने वाले मतभेद गम्भीर रूप धारण कर लेते हैं जब उनमें साध्यों के सम्बन्ध में मतभेद रहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मूल्यांकन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण मतभेद प्रायः विभिन्न लक्ष्यों या प्रयोजनों के महत्व से सम्बन्धित रहते हैं। इस प्रकार के मतभेद कैसे उत्पन्न होते हैं? उनका क्षेत्र कहाँ तक होता है? और कहाँ तक वे मतभेद दूर किये जा सकते हैं?

हमारे मत में आन्तरिक या साध्यात्मक मूल्य जीवन या सचेत अनुभव की वांछनीय स्थिति में निहित रहता है। प्रथम दृष्टि में यह जान पड़ता है कि इस विषय में मतभेद की गुंजाइश नहीं है। उदाहरण के लिये सौख्यवादियों का कहना है कि एक मात्र वांछनीय वस्तु सुख या सुखीअस्तित्व है। किन्तु थोड़ा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थिति इतनी सरल नहीं है। उदाहरण के लिये श्री जॉन स्टुअर्ट मिल के साथ कुछ लोग कह सकते हैं कि एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात का जीवन ज्यादा अच्छा है। मनुष्य विभिन्न सन्तुष्टियों को अलग-अलग महत्व देते हैं, जिसके कारण वे विभिन्न कर्मों और लक्ष्यों के अलग-अलग मूल्यांकन करने लगते हैं। इन तथ्यों का सीधा सम्बन्ध इस स्थिति से है कि मनुष्यों में अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं और वे उन प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि अलग-अलग सीमाओं तक करना चाहते हैं।

एक ज्यादा महत्व की बात लक्षित होनी चाहिए। मनुष्य एक कल्पनाशील प्राणी है जो अपने समस्त जीवन को योजनापूर्वक चलाना चाहता है, और केवल इस या उस वृत्ति को तत्काल सन्तुष्ट करके ही नहीं रुक जाता। एक ओर वह उस समस्त विश्व का, जिसमें वह रहता है, मानचित्र बनाना चाहता है, और दूसरी ओर वह अपने जीवन की उच्चतम कल्पनीय या आभासित संभावनाओं के आलोक में अपने जीवन का कार्यक्रम बना लेना चाहता है। और ऐसा करते हुए वह केवल एक व्यक्ति और एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से ही व्यवहार नहीं करता, अपितु एक दार्शनिक-आध्यात्मिक जीव के रूप में व्यापृत होता है। अपने समग्र जीवन की प्रगति का चित्र सामने रखते हुए——उस जीवन का जो व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी, जो इस लोक से भी सम्बन्धित है और परलोक से भी——मनुष्य जीवन के विभिन्न लक्ष्यों तथा संतोषों को या तो साध्य-साधनों के क्रम में अथवा उच्चतर एवं निम्नतर के तारतम्य में व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। वे मनुष्य जिन्होंने एक आदर्श जीवन की कल्पना करके उस तक ले जाने वाले मार्ग को प्रत्यक्ष कर लिया है, विभिन्न लक्ष्यों तथा जीवन-सारणियों का मूल्यांकन उस आदर्श की अपेक्षा में करते हैं।

मनुष्य केवल व्यक्तिगत जीवन के आदर्श रूप की ही कल्पना नहीं करता, वह आदर्श समाज-व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धों की कल्पनाएँ भी करता है; इन सम्बन्धों में नर-नारियों के तथा विभिन्न वर्गों के भी आपसी सम्बन्धों का समावेश रहता है। विश्व तथा समाज के सम्बन्ध में मनुष्यों की विभिन्न दार्शनिक दृष्टियाँ प्रायः उनके विभिन्न लक्ष्यों तथा मूल्यों से सम्बन्धित मनोभावों को भिन्न बना देती हैं।

मनुष्यों के बीच पैदा होने वाले मूल्य-सम्बन्धी मतभेदों के उक्त विवरण से हम कुछ ऐसे तरीकों का आभास पा सकते हैं जिनके द्वारा उन भेदों को कम किया जा सके, अथवा उनसे उत्पन्न होने वाली बुराइयों को घटाया जा सके। विभिन्न लोगों की दृष्टियाँ, विश्व-सम्बन्धी मान्यताओं, अथवा जीवन-दर्शनों में सामंजस्य स्थापित करने की ओर पहला कदम यह है कि उन लोगों को वैज्ञानिक ढंग से शिक्षित किया जाय। ऐसी शिक्षा ही ज्ञान और चरित्र के उन पैमानों की अवगति, और उनके प्रयोग में आत्म-विश्वास, पैदा कर सकती है जो सार्वभौम रूप से स्वीकार्य है। दूसरा कदम यह है कि लोगों को विभिन्न क्षेत्रों से समबद्ध भिन्न-भिन्न जातियों के विभिन्न आदर्शों से परिचित कराया जाय, और साथ ही यह समझाने का प्रयत्न किया जाय कि आदर्शों तथा जीवन-सरणियों की विविधता का मूल स्वयं मानव-प्रकृति में है। इसके पश्चात् उन्हें ऐसा

जीवन-दर्शन सोचने का प्रोत्साहन देना चाहिए जो दोनों बातों पर ध्यान रक्खे, एक ओर सामान्य मानव प्रकृति पर, और दूसरी ओर उसकी विविध अभिव्यक्तियों पर।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. नैतिकता सम्बन्धी मतभेदों के प्रामाणिक विवरण के लिये दे० ई० वेस्टर मार्क, एथीकल रिलेटिविटी, (कीगन पाल, १९३२), अध्याय ७।

२. दे० जी० ई० मूर, एथिक्स, (होम यूनिवर्सिटी लायब्रेरी, लन्दन, १९४५), पृ० १०१।

३. दे० ए० सी० यूइंग, द डेफिनिशन आफ़ गुड, (मैकमिलन कं० न्यूयार्क, १९४७), पृ० ५।

४. तु० की० डब्ल्यू० ई० हार्किंग, 'दिशा-हीन संवेदना उतनी ही असंभव है जितनी कि दिशाहीन क्रिया।' दे० द मीनिङ ऑव् गॉड इन ह्यूमैनएक्सपीरिएन्स, (न्यू हैविन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२८), पृ० ६६।

५. ए० जे० ऐयर, लैंग्वेज, ट्रुथ ऐन्ड लाजिक, (विक्टर गोलैंज़ लि०, लन्दन, दूसरा संस्करण, १९४८), पृ० १०८।

६. वही, पृ० १०९-१०।

७. दी एन्साइक्लोपीडिया आफ् द सोशल साइन्सेज़, (मैकमिलन, १९४८), भाग १, पृ० १०३।

८. दे० डब्ल्यू० टी० स्टेस, रिलीजन ऐन्ड द माडर्न माइन्ड, (मैकमिलन, लन्दन, १९४३), पृ० २६।

९. एफ़० ए० हायक, द काउन्टर रिवोल्यूशन ऑव् सायन्स, (फ्री प्रेस, ग्लेन्को, इलियानिस, १९५२), पृ० २५,२७।

१०. वही, पृ० २८।

११. बर्ट्रान्ड रसेल, हिस्टरी आव् वैस्टर्न फिलासफी, (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन लन्दन, १९४७), पृ० ६३०।

१२. लिमिटेशन्स आफ साइन्स, (पैलिकन संस्करण), पृ० १८८-८९।

१३. वही, पृ० २०१।

१४. सी० काडवेल, द क्राइसिस इन फ़िज़िक्स, (जान लेन द बाडले हैड, लन्दन, १९४९), पृ० ९।

१५. वही, पृ० ११।

१६. आर्थर एडिंग्टन, द फिलासफी आफ फ़िज़िकल सायन्स, (केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४९), पृ० १७।

१७. पी० डब्ल्यू ब्रिजमैन, द लाजिक आव् मार्डन फ़िज़िक्स, (मैकमिलन १९२७), पृ० २५।

१८. एडिंग्टन, वही, पृ० ७१।

१९. एफ्० एच० ब्रेडले, एपियरेन्स ऐन्ड रिएलिटी, (आक्सफोर्ड, दूसरा संस्करण, नवाँ मुद्रण, १९३०), पृ० २४।

२०. वही, पृ० २२।

२१. बर्ट्रान्ड रसेल'स डिक्शनरी आव् माइन्ड, मैटर, ऐन्ड मॉरल्स, (फिलॉसिफीकल लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९५२) में उद्धृत, पृ० १६५।

२२. दे० बाल्डविन'स डिक्शनरी आव् फ़िलासफी ऐन्ड साइकालॉजी, (न्यूयार्क, १९१८)।

२३. द जर्नल आफ फ़िलासफ़ी, मई ७, १९५५, पृ० २८५।

२४. वही, पृ० २९४ पर उद्धृत।

२५. दे० हर्बर्ट डिंगिल, सायन्स ऐन्ड ह्यूमैन एक्सपीरिएन्स, (विलियम्स ऐन्ड नार्गेट लि०, लन्दन, १९३१), पृ० १४।

२६. जे० एफ्० ब्राउन, द साइकोडायनेमिक्स आव् एबनार्मल बिहेवियर (मैक-ग्रा हिल बुक कंपनी, न्यूयार्क, १९४०), पृ० ४१०।

२७. विल ड्यूरेन्ट की द स्टोरी आफ फिलासफी, (गार्डेन सिटी पब्लिशिंग कम्पनी न्यूयार्क, १९५३), पृ० ३६३ पर उद्धृत। शॉपेनहावर आगे कहते हैं: 'प्रतिभा अपने हितों, इच्छाओं और लक्ष्यों को अलग छोड़ देने की शक्ति है, कुछ समय के लिये अपने व्यक्तित्व का परित्याग कर देने की शक्ति, ताकि मनुष्य शुद्ध ज्ञाता रह जाय, शुद्ध दृष्टि।' यहाँ हमें उन शर्तों की याद आती है जो श्री शंकराचार्य ने उन लोगों के लिये लगाई हैं जो ब्रह्म को जानना चाहते हैं। ऐसे लोगों को इहलोक और परलोक दोनों के सुखों की इच्छा छोड़ देनी चाहिए। वेदान्त में एक तटस्थ, शुद्ध द्रष्टा, शुद्ध साक्षी या साक्षि-चैतन्य की धारणा खास तौर से महत्वपूर्ण है।

२८. आई० ए० रिचर्ड्स, प्रिन्सिपिल्स आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (कीगन पाल, लन्दन, छठा मुद्रण, १९३८), पृ० १९४।

२९. दे० आर्थर एडिंग्टन, द नेचर आव द फिजीकल वर्ल्ड, (एवरीमैन १९४७), पृ० ८। इसी प्रकार श्री मैक्स प्लैंक ने तात्विक जगत को गोचर जगत से भिन्न किया

है। 'बाद में संकेतित जगत, जिसमें भौतिक शास्त्र के मापों आदि का समावेश है, यथार्थ जगत का प्रतीक या चिन्ह मात्र है, जिसकी व्याख्या भौतिक शास्त्री करते हैं।' दे० ह्वेयर इज़ सायंस गोइङ ? (जार्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, १९५३), पृ० ८४-८५।

३०. बर्ट्रान्ड रसेल, ह्यूमैन नालेज इट्स स्कोप ऐन्ड लिमिट्स, (जार्ज एलेन एन्ड अन्विन, लन्दन, १९४८), पृ० २१९।

३१. वही, पृ० २१९।

३२. वही, पृ० २२१।

३३. वही, पृ० २२०।

३४. वही, पृ ० २२०-२२१।

३५. विज्ञानवादियों की (जो कहते हैं कि बाह्य पदार्थ वस्तुतः मन में हैं) आलोचना करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं : 'एक ऐसे व्यक्ति को जिसने कभी बाहरपन का अनुभव नहीं किया, बाहरपन का भ्रम कैसे हो सकता है ? कभी किसी को ऐसा भ्रम नहीं होता कि विष्णुमित्र बांझ के पुत्र जैसा दीखता है ?' ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।२८ तात्पर्य यह कि मनुष्य की कल्पना अनुभव के तत्वों को पुनर्ग्रथित या पुनः संगठित ही कर सकती है, अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

३६. तु० की० साइन्स ऐन्ड ह्यूमैन एक्सपीरिएन्स, पृ० १६।

३७. ई० एफ० कैल्डिन, द पावर ऐन्ड लिमिट्स आफ सायन्स, (यूनिवर्सिटी आफ लीड्स, १९४९), पृ० १४।

३८. वही, पृ० १६।

३९. दे० जे० आर० वीनबर्ग, ऐन एग्ज़ामिनेशन आव् लॉजिकल पाज़िटिविज्म, (कीगन पाल, १९३६), पृ० १४४।

४०. वही, पृ० १४७।

४१. वही, पृ० १५१।

४२. मैक्स प्लैंक, ह्वेयर इज़ सायंस गोइंग ? पृ० ९२।

४३. ऐन ओरिएन्टेशन इन सायन्स, (मैक-ग्रा हिल बुक कंपनी, १९३८), पृ० १३४।

४४. ई० एफ० कैल्डिन, वही, पृ० २१-२२।

४५. जॉक रूएफ, फ्राम द फिजीकल टु द सोशल सायन्सेज, (लन्दन और आक्सफोर्ड, १९२९), पृ० ५९।

४६. वही, पृ० २३।

४७. फिलिप फ्रैंक, आइन्स्टाइन, हिज़ लाइफ ऐन्ड टाइम्स (जोनेथन केप, लन्दन, १९४८), पृ० २६१ (गौरव हमारा)।

४८. द फिलासफी आफ बर्ट्रान्ड रसेल, (द लायब्रेरी आव् लिविंग फिलासफर्स, इवैस्टन, इलियानिस, १९४६), पृ० २८७।

४९. वही, पृ० २८९।

५०. हर्बर्ट डिंगिल, वही, पृ० ४७।

५१. जे० रुएफ़, वही, पृ० ६३।

५२. द लाजिक आफ मार्डन फिजिक्स, पृ० २-३।

५३. आइन्स्टाइन, हिज लाइफ ऐन्ड टाइम्स, पृ० २६१।

५४. द नेचर आफ द फिजीकल वर्ल्ड, पृ० ९।

५५. डब्ल्यू० कैलर, द प्लेस आव वैल्यू इन ए वर्ल्ड आव फैक्ट्स, (लिवरलाइन पब्लिशिंग कारपोरेशन, न्यूयार्क), पृ० १७५।

५६. वही।

५७. वही, पृ० १७४।

५८. हिस्टरी आफ फ़िलासफी, लेखक अल्फ्रेड वेबर, आर० बी० पेरी द्वारा परिशिष्ट सहित, (चार्ल्स स्क्रिबनर'स सन्स, न्ययार्क, १९२५), पृ० ११६।

५९. ह्यमैन नालेज, इत्यादि, पृ० १९, १८।

६०. दे० वैल्यू : ए कोआपिरेटिव इन्क्वायरी, संपादक आर० लेप्ले, (कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, १९४९), पृ० १९७।

६१. द काउन्टर रिवोल्यूशन आव् सायन्स, पृ० ३१।

———

अध्याय ३

मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-पद्धति

जिसे हम मूल्यांकन कहते हैं वह मानव-व्यवहार नामक अधिक व्यापक वर्ग का अंग है; कहना चाहिए कि मूल्यांकन एक प्रकार का मानव-व्यवहार है। दूसरा विकल्प यह कथन हो सकता है कि मानव-व्यवहार तथा मूल्यांकन दोनों का विस्तार बराबर है, अर्थात् समस्त मानव-व्यवहार मूल्यांकन से अनुप्राणित रहता है। दोनों ही दशाओं में हमें मूल्यांकन के अध्ययन और मानव-व्यवहार के अध्ययन में गहरा सम्बन्ध मानना पड़ेगा। मतलब यह कि मूल्यों का अध्ययन या विज्ञान मानवीय विद्याओं का ही एक अंग है। इसलिये मूल्य-विज्ञान की अन्वेषण-पद्धति को विभिन्न मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-पद्धति से अलग करके नहीं समझा जा सकता।

यहाँ हम कुछ ज्यादा सही ढंग से मानवीय विद्याओं की प्रकृति और उनके क्षेत्र का संकेत करने की कोशिश करेंगे। सामान्य रूप में उन विद्याओं का विषय वे परिवर्तन होते हैं जिन्हें मनुष्य सचेत रूप में उत्पन्न करता और भोगता है। मानवीय विद्याएँ मुख्यतः मनुष्यों के उन कर्मों और कर्मों के प्रभावों का अध्ययन करती हैं जिनका स्वयं कर्म करने वालों तथा दूसरे मनुष्यों पर प्रभाव पड़ता है। किन्तु वे विद्याएँ कतिपय ऐसी मानवीय स्थितियों का भी विचार करती हैं जो, किसी मनुष्य या मानव-समूह के सचेत संकल्प का परिणाम न होते हुए भी, विभिन्न मनुष्यों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती हैं, और मनुष्यों के जीवन को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार की स्थितियों के कुछ उदाहरण हैं: मूल्य-वृद्धि या महँगाई, बेकारी इत्यादि। इस प्रकार मानवीय विद्याएँ वे विद्याएँ हैं जिनके अध्ययन का विषय सचेत मनुष्य के हस्तक्षेप से उत्पन्न क्रियाएँ, वस्तुएँ और स्थितियाँ होती हैं। भौतिक तथा जीव सम्बन्धी विज्ञानों जैसे रसायन-शास्त्र, रचना-शास्त्र (Anatomy), शरीर-शास्त्र

(Physiology) का समावेश मानवीय विद्याओं में नहीं होता, क्योंकि उनकी विषय-वस्तु मानवीय चेतना से सहचरित नहीं होती, यद्यपि उस विषय-वस्तु का मनुष्य के सुख दुःख से घना सम्बन्ध होता है।

हमारी उक्त परिभाषा के विरुद्ध एक आक्षेप किया जा सकता है, यह कि मनुष्य की कतिपय प्रेरणाएँ अचेतन भी होती हैं। हम जानते हैं कि फ़्रायड ने अचेतन अथवा अवचेतन की प्रेरणाओं पर विशेष गौरव दिया है। इसके उत्तर में हमें कहना है कि फ्रायड का अवचेतन अथवा अचेतन एक उत्सृष्ट प्रत्यय (Construct) है, वह किसी अनुभूत वास्तविकता का नाम नहीं है। दूसरे, अचेतन प्रेरणाओं द्वारा निर्धारित कर्म भी न्यूनाधिक सचेत धरातल पर ही अनुष्ठित होता है। फ्रायड के सिद्धान्तों के अनुसार भी तथा कथित अचेतन प्रेरणाएँ अन्ततः चेतन जीवन में ही उद्भूत होती है। वे सचेत अथवा अर्ध सचेत इच्छाओं के दमन द्वारा अस्तित्व में आती हैं, और उन्हें मनोविश्लेषण की विधि द्वारा पुनः चेतना के धरातल पर लाया जा सकता है।[1]

मानवीय विद्याओं में दो चीजों का समावेश है, अर्थात् सामाजिक-मनोवैज्ञानिक शास्त्रों का और कला तथा साहित्य, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र, तथा दर्शन और अध्यात्म का। यहाँ एक रोचक प्रश्न पूछा जा सकता है। सारी मानवीय विद्याओं की विषय-वस्तु एक ही है, अर्थात् मानव-जीवन के व्यवहार; फिर उपरोक्त अनेक विद्याओं की जरूरत क्यों पड़ती है? मानव-जीवन का अध्ययन करने के लिये केवल एक ही विज्ञान क्यों नहीं है? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर देने के लिये दो चीजें जरूरी हैं; एक, मानव-व्यवहार की नितान्त जटिल प्रकृति का उद्घाटन, और दूसरे, मानवीय विद्याओं की कतिपय विशेषताओं तथा सीमाओं का निर्देश।

मानवीय व्यवहार की जटिलता

मानवीय विद्याओं के प्रायः सभी अन्वेषकों ने यह स्वीकार किया है कि मनुष्य का व्यवहार एक जटिल वस्तु है। इस जटिलता का स्वरूप क्या है? उक्त जटिलता का मानव-शरीर की दीखने वाली गतियों से विशेष सम्बन्ध नहीं है; चिड़ियों, बरों आदि जन्तुओं की गतियाँ भी मानव-शरीर की गतियों से कम जटिल नहीं होतीं। यह समझा जाता है कि दूसरे जन्तुओं की अपेक्षा मनुष्य का हाथ ज्यादा सधा हुआ और क्षमता-सम्पन्न होता है, फिर भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि अपना घोंसला

बनाने में लगी हुई एक चिड़िया या बर्र की उड़ान का रेखा-चित्र उस चित्र से जो किसी मकान को बनाने वाले राज-मजदूरों की गतियों का खाका उपस्थित करेगा कम जटिल होगा। सच यह है कि जब हम मानव-व्यवहार की जटिलता की चर्चा करते हैं उस समय उसकी भौतिक गतियों के बारे में नहीं सोचते होते। उस समय हम उसकी मानसिक वृत्तियों तथा मनोभावों का ही विशेष विचार करते हैं। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं कि वे देखने से रहस्यमय जान पड़ते हैं, रहस्य के आवरण में छिपे हुए, किन्तु इस रहस्यमयता का उनकी भौतिक गतियों से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। वे रहस्यमय इसलिये लगते हैं कि हम उनके बौद्धिक, आवेगात्मक तथा नैतिक व्यक्तित्व को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। मानव-व्यवहार की जटिलता वस्तुतः मनुष्यों के विभिन्न स्वभावों, मनोभावों, विश्वासों तथा आदर्शों की जटिलता है। जटिलता का सबसे बड़ा अधिष्ठान मनुष्य की विविध-रूप चेतना है। फलतः हम मानव-व्यवहार की जटिलता को भीतर से ही समझ सकते हैं, सिर्फ बाहर से देखकर नहीं। मानव-जीवन तथा व्यवहार की जटिलता उन आत्मिक अर्थों की जटिलता है जो उसकी विभिन्न क्रियाओं में निहित रहते हैं।

प्रश्न है, इस जटिलता के स्रोत तथा उपादान क्या हैं?

श्री पार्सन्स और शिल्ज़ के अनुसार कर्म के विधायक तत्वों को तीन अन्योन्याश्रित तथा सम्बद्ध पद्धतियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन तीन पद्धतियों के नाम हैं: विभिन्न व्यक्ति या व्यक्तित्व, सामाजिक व्यवस्थाएँ और "सांस्कृतिक" व्यवस्थाएँ या पद्धतियाँ।[१] विभिन्न कर्ता जिन लक्ष्यों को पाना चाहते हैं, उनका स्वरूप इन तीनों पद्धतियों के अंशभूत उपादानों से निर्धारित होता है। हम उक्त योजना को थोड़ परिवर्तित रूप में ग्रहण करेंगे, और तीन शीर्षकों में उन तत्वों का वर्णन करेंगे, जो मानव-लक्ष्यों के निर्माण का निर्धारण करते हैं। ये तत्व तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं, व्यक्तिगत निर्धारक, परिवेशगत-सामाजिक निर्धारक और विचारात्मक निर्धारक। तीनों का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

(क) व्यक्तिगत निर्धारक : एक प्रकार से वे सब शक्तियाँ जो मनुष्यों के विभिन्न जीवन-लक्ष्यों का स्वरूप निर्धारित करती हैं, अथवा उनकी पसन्द-नापसन्द को प्रभावित करती हैं, स्वयं व्यक्ति के अन्दर मौजूद होती हैं। दूसरी सारी शक्तियाँ व्यक्तिगत चेतना मे प्रतिफलित होकर ही मनुष्य के कार्यों को प्रभावित करती हैं।

इस दृष्टि से मनुष्य द्वारा स्वीकृत होने वाले समस्त लक्ष्य व्यक्तिगत होते हैं। फिर भी हम उन लक्ष्यों को खास तौर से व्यक्तिगत कहेंगे जिनका जन्म व्यक्तिगत प्रेरणाओं में होता है। व्यक्ति के व्यवहार की मनोवैज्ञानिक निर्धारक आन्तरिक प्रेरणाएँ होती हैं। इन प्रेरणाओं को मनोवैज्ञानिक कहने से हमारा मतलब यह है कि उनका अध्ययन खास तौर से मनोविज्ञान में किया जाता है।

प्रेरणाओं (Motives) से भी ज्यादा मौलिक वे जरूरतें अथवा प्रवृत्तियाँ होती हैं जो एक जीवयोनि के समस्त सदस्यों में पाई जाती हैं। इन जरूरतों या प्रवृत्तियों को अनेक नाम दिये गये हैं, जैसे मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts), मानसिक-भौतिक वृत्तियाँ, आन्तरिक पसन्दें, प्रेरक उत्क्षेप-क्रियायें (Prepotent Reflexes), इत्यादि। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य की कतिपय जरूरतों अथवा प्रेरणाओं का मूल उसकी जैवी-भौतिक बनावट में होता है, उसकी दूसरी जरूरतों का मूल उसकी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रकृति में रहता है। एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक जरूरत का उदाहरण है—नवीन तथा विविध अनुभवों की जरूरत।[३] दूसरे उदाहरण होंगे—प्रेम, आदर, अपने कामों के प्रति दूसरों का स्वीकृतिभाव आदि की जरुरतें। यहाँ हमारा लक्ष्य यह वर्णन करना नहीं है कि कौन-सी जरूरतें मौलिक हैं, और कौन-सी मूल जरूरतों का परिणाम या कार्य। यहाँ हम सिर्फ इस बात का संकेत करना चाहते हैं कि मनुष्य अनेक तथा विविध आवश्यकताओं का अनुभव करता है।

मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, इसका मुख्य कारण उसकी असंतुष्ट जरूरतें होती हैं। किन्तु एक ऐसे परिवेश में जहाँ आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अनेक ढंग दिखाई पड़ते हैं, जरूरतें बदलकर इच्छाएँ बन जाती हैं, और निश्चित वस्तुओं पर संसक्त हो जाती हैं। वे इच्छाएँ जिन्हें मूल क्षुधाओं की प्रेरणा-शक्ति प्राप्त होती हैं, कर्म की विभिन्न प्रेरणाओं (Motives) को जन्म देती हैं। प्रेरणा की परिभाषा इस प्रकार होगी : प्रेरणा एक जटिल प्रवृत्ति है जिसके प्रभाव में हम कुछ चीजों की ओर ध्यान देते और उनकी कामना करते हैं, और फिर क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, ताकि हमारा विभिन्न लक्ष्यों से (अर्थात् लक्ष्यभूत वस्तुओं या स्थितियों से) अभीष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब विभिन्न इच्छाओं में द्वन्द्व या संघर्ष होता है, और जब विभिन्न इच्छित लक्ष्य एक-दूसरे के आश्रित अथवा विरोधी दिखाई देते हैं।

इन संघर्षों आदि का फल यह होता है कि व्यक्तियों के जीवन में क्रमशः कुछ लक्ष्य तथा महत्वाकांक्षाएँ प्रधान बन जाती हैं, और कुछ अप्रधान। यह देखा गया है कि अपने अभीष्ट मूल्यों, आदर्शों, तथा आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य अपनी बहुत-सी दूसरी इच्छाओं पर कठिन नियंत्रण अथवा उनका दमन कर डालते हैं।

यह सोचा जा सकता है कि उक्त कोटि के लक्ष्य तथा आकांक्षाएँ सम्बद्ध व्यक्ति की प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं को स्थिर रूप देने में सहायक होती होंगी। किन्तु यह अंशतः ही सही है। ऐसे बहादुर लोग थोड़े ही होते हैं जो लगातार असफलताओं तथा निराशाओं के बावजूद एक बड़े आदर्श के पीछे चलते रहते हैं। ज्यादातर लोग अपने जीवन में कभी एक आदर्श की ओर झुकते हैं, और कभी दूसरे आदर्श की ओर। उनके तरह-तरह के प्रयत्नों को जैसे-जैसे सफलता या असफलता मिलती है, वैसे-वैसे उनकी आकांक्षाओं का रूप तथा स्तर बदलता अथवा ऊँचा-नीचा होता जाता है।[४]

सचेत मानवीय व्यापार प्रायः किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये होता है, किन्तु यह बतलाना कठिन है कि सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य क्या है। हम में से अधिकांश के जीवन में, बहुत से मामलों में, लक्ष्य तथा साधन एक-दूसरे से प्रायः परिवर्तनीय होते हैं। व्यक्तियों तथा समूहों दोनों के जीवन में एक प्रकार की सफलता दूसरे प्रकार की सफलता को प्राप्त करने का साधन बन जाती है; धन से शक्ति तथा मान मिलता है, और शक्ति तथा मान से धन। धन तथा शक्ति अधिकांश लक्ष्यों को प्राप्त करने के सार्वभौम साधन हैं, इसीलिये अधिकांश लोग धन-सम्पत्ति तथा शक्ति की ओर दौड़ते हैं। नर-नारी कठिन परिश्रम करते हैं, विभिन्न क्षेत्रों में विशेष योग्यता प्राप्त करते हैं, प्रभावशाली लोगों की खुशामद करते हैं, ताकि उन्हें लाभकारी पद तथा नौकरियाँ मिल सकें। कोई मनुष्य किस रूप में धन तथा शक्ति को पाने का प्रयत्न करेगा यह दो चीजों पर निर्भर करता है—उसकी वर्तमान स्थिति पर और उसकी कल्पना-शक्ति, चतुराई तथा साधनों को जुटाने की योग्यता पर।

(ख) परिवेशगत तथा सामाजिक निर्धारक : मनुष्य के परिवेश में दो तरह की चीजें होती हैं, भौतिक वस्तुएँ तथा सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुएँ। भौतिक वस्तुओं में उन चीजों का भी समावेश है जो विभिन्न यन्त्रों द्वारा बनाई जाती हैं। परिवेश में तरह-तरह की चीजों की उपस्थिति यह सम्भव बनाती है कि मनुष्य अपनी जरूरतों को विभिन्न तरीकों से पूरा कर लें। दूसरा परिणाम यह होता है कि आराम तथा

सुख-भोग की वस्तुओं की नई जरूरतें पैदा हो जाती हैं। उदाहरण के लिये एक आधुनिक मनुष्य को जो मोटरकार तथा रेडियो की आवश्यकता महसूस होती है, उसका कारण उसके परिवेश में उन चीजों की उपस्थिति है। इसी प्रकार हमारा सामाजिक-यांत्रिक परिवेश हमारी वस्त्रों, मनोविनोद के साधनों, मकानों आदि की माँगों अथवा जरूरतों का स्वरूप निर्धारित करता है। हमारी जीवनचर्या पर समाज का सबसे ज्यादा प्रभाव निम्न रूप में पड़ता है : हमें एक खास पेशे तथा पद से बाँधकर समाज हमारे अन्दर एक खास तरह की कर्तव्य-भावना तथा आशाएँ उत्पन्न कर देता है। हमारे इन कर्तव्यों तथा आशाओं का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से होता है, जिनके सुपुर्द दूसरे सामाजिक काम होते हैं। श्री पार्सन्स और शिल्ज कहते हैं : 'जिसे हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं वह प्रायः व्यक्तियों के विभिन्न कर्तव्य-रूपों (Roles) तथा उनकी प्रत्याशाओं (Expectations) से निर्मित होती है। इन सबका उद्देश्य यह होता है कि समाज की कोई न कोई जरूरत पूरी हो जाय।'[१]

विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न कर्मों में लगाकर और उनके विभिन्न कर्तव्यों तथा अधिकारों का निर्देश करके समाज पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपने समस्त सदस्यों की जरूरतें पूरी करता है। इसके बावजूद सामाजिक जीवन में तरह-तरह के संघर्ष होते रहते हैं। एक ही युवती को चाहनेवाले अनेक प्रेमी हो सकते हैं, और एक ही पद या नौकरी के लिये बहुत से उम्मीदवार रह सकते हैं। समाज में वांछनीय वस्तुओं की विरलता रहती है, और कुछ पद तथा शक्तियाँ ऐसी होती हैं जो कुछ लोगों को ही मिल सकती हैं। फलतः सर्वत्र सब समाजों में व्यक्तियों तथा समूहों के बीच तरह-तरह के संघर्ष चला करते हैं। ये संघर्ष विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों की बुद्धि तथा परिश्रमशीलता, चतुराई तथा निपुणता, सहयोग करने तथा अनुशासन-पूर्वक रहने आदि गुणों की खरी परीक्षा कर लेते हैं। ऐसे समाजों में भी जहाँ आर्थिक संघर्ष नहीं पाये जाते, जैसे सोवियत संघ में, एक ही दल के भीतर शक्ति-सहचरित पदों के लिए संघर्ष चलता ही रहता है। इन संघर्षों का एक फल तो यह होता है कि ोग, नैतिक सिद्धान्तों को भूलकर, भले-बुरे साधनों का उपयोग करने लगते हैं, और दूसरा यह कि क्रमशः उनके जीवन के लक्ष्य तथा आदर्श, और अन्ततः उनके चरित्र, बदल जाते हैं।

इन संघर्षों को कम करने अथवा दूर करने की इच्छा से विचारक तथा सुधारक लोग या तो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में सुधार की माँग करते हैं, अथवा ऐसी नई

व्यवस्थाओं की मांग करते हैं जिनमें व्यक्तियों तथा समूहों के बीच ज्यादा सन्तोषप्रद आर्थिक-सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो सकें।

(ग) विचारात्मक निर्धारक : मानव-व्यवहार के विचारात्मक निर्धारक दो प्रकार के होते हैं : मूल्य-सम्बन्धी तथा अन्य विश्वासों एवं विचारों की वे पद्धतियाँ जो समाज की मौजूदा व्यवस्था के अनुकूल हैं, और वे जो उसके प्रतिकूल हैं। आज के समाज में विचारों तथा विश्वासों से सम्बन्धित मतभेद नियम-रूप हैं, न कि अपवाद-रूप। मतलब यह कि इस प्रकार के संघर्ष-मूलक विश्वास तथा विचार चारों ओर बिखरे हुए हैं। एक स्थिर समाज अपने सदस्यों में उन विचारों तथा मूल्यात्मक मनोभावों को उत्पन्न करता है, जो परम्परा से चले आ रहे हैं। इन परम्परागत मनोभावों की उपस्थिति व्यक्ति में मौजूदा आर्थिक तथा दूसरे सम्बन्धों के बारे में—उन सम्बन्धों के जो विभिन्न वर्णों, वर्गों तथा व्यक्तियों को न्यूनाधिक सम्पत्ति, शक्ति एवं सुविधाएँ प्रदान करते हैं—स्वीकृति की भावना उत्पन्न करती है। वे सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध भी लगाते हैं। उदाहरण के लिये हमारे समाज में वर्ण तथा जाति-सम्बन्धी नियम कुछ समूहों को कतिपय पेशों तथा समाजिक-धार्मिक उत्सवों से दूर रखते हैं। अधिकांश व्यक्ति तथा समूह जिन्हें विशेष शिक्षा-दीक्षा नहीं मिली, इस प्रकार के पुराने नियमों को तब तक मानते रहते हैं जब तक कि कुछ सुधारक तथा विद्रोही नेता उन्हें उन नियमों के विरुद्ध भड़काते नहीं। आज के अधिकांश जनतंत्रात्मक समाजों में व्यक्तियों तथा समूहों पर लगातार विरोधी विचार-पद्धतियों का प्रभाव पड़ता रहता है। व्यक्तिवाद की वृद्धि के कारण, जिसका मूल कारण जनतंत्रीय आदर्शों का प्रचार और शिक्षा का विशेष प्रसार है, आज लोग पुरानी चीजों की उतनी नकल नहीं करते और न परम्परा से उतना तादात्म्य ही महसूस करते हैं। फलतः परम्परा की शक्ति कम होती जाती हैं। दूसरे कारण भी उपस्थित हो गये हैं। मनुष्यों के वे धार्मिक-दार्शनिक विश्वास तथा मनोभाव जो उनमें परम्परागत सामाजिक तथा नैतिक पैमानों की स्वीकृति उत्पन्न करते थे, अब भौतिक-शास्त्र, जीव-विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानों के सिद्धान्तों के प्रचार से हिल गये हैं। इन सब कारणों से आधुनिक व्यक्ति के व्यवहार के विचारात्मक आधार बड़े अनिश्चित तथा रहस्यमय बन गये हैं। इसके प्रखर प्रमाण हमें जेम्स ज्वायस तथा ज्यां पाल सार्त्र जैसे लेखकों की कथा-कृतियों में मिलते हैं। किन्तु राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रति मनुष्यों के भाव अपेक्षाकृत अधिक

स्थिर होते हैं, उनके रूपों में उतनी विविधता भी नहीं पाई जाती। इसका मतलब यह है कि आधुनिक व्यक्ति के आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवहार को समझना उतना कठिन नहीं है, जितना कि उसके नैतिक-धार्मिक व्यवहार तथा आवेगात्मक जीवन को।

जैसा कि हमने पिछले अध्याय के अन्त में कहा था, कल्पनाशील मनुष्य अपने सम्मुख अपने सम्पूर्ण जीवन का चित्र खड़ा कर लेना चाहता है, ताकि वह अपने छोटे-मोटे प्रयत्नों तथा लक्ष्यों को एक उच्चतर अथवा चरम ध्येय से सम्बन्धित कर ले। प्राचीन काल में इस ध्येय के स्वरूप को लक्षित करना और उसे प्राप्त करने के उपायों को बतलाना दर्शन तथा धर्म का काम था। आज मनुष्य के धार्मिक विश्वास ध्वस्त-प्राय हो चुके हैं, और उसे दर्शन में भी विश्वास नहीं रह गया है, फलतः आज के मनुष्य के मन में जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में प्रायः कोई धारणा नहीं होती, और उसे यह विश्वास भी नहीं रह गया है कि वह इस प्रकार की धारणा बना सकता है। इसका परिणाम यह है कि आज का मनुष्य अपनी विभिन्न लक्ष्यों की खोजों को एक-दूसरी से सम्बन्धित नहीं कर पाता। विभिन्न मूल्यों के सम्बन्ध में भी उसके मनोभाव असम्बद्ध तथा दुर्ज्ञेय बन गये हैं।

हमने अब तक उन हेतुओं का निर्देश किया जो विभिन्न मनुष्यों द्वारा अन्वेषित विविध लक्ष्यों का स्वरूप निर्धारण करते हैं। हमने यह भी संकेत किया कि मनुष्य के अनेक लक्ष्य उसके उच्चतर चरम लक्ष्यों के साधन-रूप होते हैं। इसलिये लक्ष्यों और साधनों के बीच, जहाँ तक वे मानवीय कर्म को प्रभावित करते हैं, विभाजक रेखा खींचना कठिन होता है। फिर भी हम कुछ ऐसी चीजों का निर्देश करेंगे जो मनुष्यों के साधनों के चुनाव को प्रभावित करके उनके व्यवहार को जटिल बना देती हैं।

अपने अभिमत प्रयोजनों की पूर्ति के लिये मनुष्य जिन तरीकों का चुनाव करते हैं, उनका निर्धारण दो कोटियों की चीजों से होता है: एक तो कर्ताओं की बुद्धि तथा साधन-सम्पन्नता से, और दूसरे भलाई-बुराई सम्बन्धी उनकी नैतिक बुद्धि से। प्रथम तत्व का सम्बन्ध कर्ता-विशेष की सृजनशीलता अथवा सृजनात्मक कुशलता से रहता है। प्रायः व्यक्तियों तथा देशों के इतिहास में भी वे घटनाएँ जो हमारे लिये महत्वपूर्ण और रोचक होती हैं, सृजनात्मक क्रान्तदर्शिता तथा असाधारण निर्णयों से प्रवाहित

होती हैं। श्री हालैंड रोज़ ने लिखा है कि नेपोलियन की युद्ध सम्बन्धी सफलताओं का प्रमुख कारण 'वह आशु गति तथा साधन-सम्पन्नता थी जो उसके मित्रों तथा शत्रुओं दोनों को आश्चर्य में डाल देती थी', 'उसके संयोजनों की वह साहसिकता' जो दुश्मनों को आश्चर्यपूर्ण विस्मय में डाल देती थी।[६] जहाँ यह ठीक है कि मानव-व्यवहार परिवेश द्वारा उपस्थापित अनेक सम्भावनाओं के क्षेत्र में अनुष्ठित होता है, वहाँ इसमें सन्देह किया जा सकता है कि उस व्यवहार का कोई भी सिद्धान्त, फिर चाहे वह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक हो अथवा आर्थिक या समाज-शास्त्रीय, हमें यह क्षमता दे सकता है कि हम उस व्यवहार के सब सम्भाव्य मोड़ों तथा विवर्तनों को, जिन्हें मानवीय सृजनशीलता घटित कर सकती है, पूर्वाभासित कर लें। प्रसिद्ध लेखक मैकियावेली ने ड्यूक वेलेण्टिनो की कूटनीति से सम्बद्ध एक घटना का उल्लेख किया है। ड्यूक ने एक बार अपने बहुत से प्रतिपक्षी राजाओं को मीठे निमन्त्रण द्वारा इकट्ठा कर लिया, और फिर उन्हें भयंकर प्रवंचन द्वारा एक साथ मरवा डाला।[७] एकत्रित होने वाले बहुत से राजाओं में सिर्फ एक को उसका निमंत्रण खटका था, यद्यपि बाद में वह स्वयं वहाँ आकर सम्मिलित हो गया था।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि मनुष्य के कर्म मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों और मानवीय सृजनशीलत के बीच होनेवाली क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से निर्धारित होते हैं। मनुष्य की प्रेरणाएँ (Motives) मुख्यतः उसकी मनोवैज्ञानिक प्रकृति से निर्धारित होती हैं, किन्तु वे प्रेरणाएँ जिन लक्ष्यों को प्रस्तावित करती हैं उनके स्वरूप का निर्धारण मुख्यतः उन सामाजिक वास्तविकताओं तथा सांस्कृतिक मनोभावों द्वारा होता है जो किसी कर्त्ता का परिवेश बनाते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ लगातार एक-दूसरी से क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती हैं। उदाहरण के लिये व्यक्ति को जीवन में जो सफलताएँ तथा असफलताएँ मिलती हैं वे उसके लक्ष्यों के स्वरूप को बदलती रहती हैं; इसी प्रकार अपने सांस्कृतिक परिवेश से वह जिन मूल्यात्मक मनोभावों को ग्रहण करता है, वे उसकी प्रेरणाओं का रूप बदलते रहते हैं। मनुष्य का अध्ययन करनेवाली अनेक विद्याएँ उठ खड़ी हुई हैं इसका कारण या तो यह जानने की कोशिश है कि विभिन्न मानवीय प्रेरणाएँ किन जटिल ढंगों से व्यापृत होती है; अथवा यह जानने की अभिलाषा कि मनुष्य विभिन्न लक्ष्यों तथा मूल्यों की प्राप्ति के लिये किस-किस तरह प्रयत्न करता है।

मानवीय विद्याओं का सामान्य वर्गीकरण

मानवीय व्यवहार को दो विभिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है: एक या अनेक व्यक्तित्वों की अभिव्यक्ति के रूप में, अथवा ऐसे प्रयत्न या प्रयत्न-परम्परा के रूप में जिसका लक्ष्य यथार्थ को अभिलषित रूप में संगठित कर देना है। मानव-व्यवहार के अध्येताओं की रुचि या तो उन नर-नारियों में हो सकती है जिनका उन व्यवहारों के पीछे हाथ है, अथवा मानवीय घटनाओं एवं कर्मों की दिशा और उनके परिणामों में। प्रथम कोटि के अन्वेषक प्रायः यह जानने की विशेष चेष्टा करते हैं कि विभिन्न कार्य-कलापों के पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ काम कर रही थीं, और उन प्रेरणाओं तथा उनसे सम्बद्ध आवेगात्मक एवं मूल्यात्मक मनोभावों का उदय कैसे हुआ; ये अन्वेषक घटनाओं से सम्बद्ध नायकों तथा नायिकाओं में विशेष रुचि लेते हैं। दूसरे अन्वेषक सम्बद्ध कर्ताओं की उतनी चिन्ता न करते हुए यह देखने की कोशिश करते हैं कि विभिन्न घटनाओं तथा कार्यकलापों ने किस प्रकार के परिणाम उत्पन्न किये, और कहाँ क्या-क्या प्रभाव डाला। मानवीय क्रिया-कलापों के प्रति ये दो मनोभाव दो प्रकार की विद्याओं या शास्त्रों को जन्म देते हैं। एक छोर पर व्यक्तिगत जीवनी होती है, और दूसरे छोर पर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास। मनुष्य के जीवन-नाटक के ये दो भिन्न, वर्णनात्मक अध्ययन-प्रकार हैं। किन्तु व्यवहार में इतिहास नाम की चीज अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो जाती है, जैसे राजनैतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास, धार्मिक इतिहास इत्यादि। जीवनियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं, और वे जीवन की किसी एक अथवा अनेक प्रेरणाओं से सम्बद्ध अभिव्यक्तियों का अध्ययन करती हैं। केवल हमारे युग में यह कोशिश की गई है कि जीवनी के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के समस्त सार्थक जीवन का समावेश कर लिया जाय।

वर्गीकरण का दूसरा सिद्धान्त विभिन्न मानवीय विद्याओं की व्यापकता के विभिन्न दर्जों से प्राप्त होता है। जीवनी तथा इतिहास दोनों विशेषों (Particulars) का अध्ययन करते हैं, उन्हें विशेषों का अध्ययन करना भी चाहिए। मनोविज्ञान को हम जीवनी का सामान्य रूप कह सकते हैं। जीवनी के अध्ययन का विषय किसी एक व्यक्ति के जीवन मे व्यापृत होनेवाली प्रेरणाओं का विकास तथा उनकी अभिव्यक्तियाँ हैं। इसके विपरीत मनोविज्ञान का लक्ष्य उन सामान्य नियमों का अन्वेषण है जिनके अनुरूप समस्त व्यक्तियों की जीवन-प्रेरणाएँ विकसित

होती हैं। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से मनोविज्ञान की भिन्नता इसमें है कि उसकी वर्णानात्मक तथा व्याख्यात्मक धारणाएँ व्यक्ति-केन्द्रित होती हैं; वे परिवेशगत स्थितियों के प्रति संकेत कर सकती हैं, किन्तु गौण रूप में। घटनाओं के कारणों की खोज करते हुए मनोवैज्ञानिक चाहे कितनी दूर क्यों न चला जाय, किन्तु अन्त में उसे व्यक्ति के समीप लौटना पड़ता है। इस दृष्टि से तथा कथित समूह-विज्ञान (Crowd Psychology) **समूहगत अथवा भीड़ में स्थित व्यक्ति** का अध्ययन करता है, और सामाजिक मनोविज्ञान **समाजगत अथवा समाज में स्थित व्यक्ति** का।

इसी प्रकार हम सामाजिक विज्ञानों को इतिहास का समान्यीकृत रूप कह सकते हैं। उदाहरण के लिये अर्थशास्त्र उन तथ्यों का सामान्यीकृत अध्ययन है जिनसे आर्थिक इतिहास का निर्माण होता है। एक सामान्यीकृत विद्या के रूप में अर्थशास्त्र उन कानूनों का पता लगाना चाहता है जो मनुष्यों अथवा समाजों के आर्थिक व्यवहार का नियमन करते हैं। सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विज्ञानों द्वारा अर्धित होने वाले तथ्य कुछ दूर तक ही समाज के सदस्यों की सचेत क्रियाओं का परिणाम होते हैं। इसका मतलब यह है कि वे तथ्य या घटनाएँ दूसरी शक्तियों द्वारा भी निर्धारित होती हैं, यद्यपि उनकी महत्ता का अनुभव केवल सचेत व्यक्ति ही करते हैं। इस प्रकार के तथ्यों के उदाहरण अनेक हैं: योरपीय पुनर्जागृति, योरप का सुधार-आन्दोलन (Reformation), पूँजीवाद का उदय, फ़ांस की राज्य-क्रान्ति, मँहगाई की वृद्धि, आत्महत्या, अपराध-वृद्धि, बेकारी, इत्यादि। सामाजिक विज्ञान इन चीजों के उदय के कारणों का विश्लेषण करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, जैसा कि इतिहास करता है; वे ऐसे सामान्य नियमों की खोज करते हैं जो उन तथ्यों की व्याख्या कर सकें।

हमने कहा कि मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञान क्रमशः जीवनी तथा इतिहास के सामान्यीकृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। कुछ विद्याएँ अथवा अध्ययन ऐसे हैं जिन्हें जीवनी और इतिहास तथा उपरोक्त विज्ञानों के बीच रखा जा सकता है, जैसे किसी एक राष्ट्र अथवा समाज की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने का प्रयत्न। उदाहरण के लिये जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने हिन्दू-धर्म, कन्फ़्यूशियस के सम्प्रदाय तथा प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के अध्ययन प्रस्तुत किये हैं, इसी प्रकार निकोलाय डेनिलेव्स्की ने रूस और योरप के सम्बन्ध का अध्ययन किया है।

वर्गीकरण का तीसरा सिद्धान्त इस तथ्य से प्राप्त होता है कि वह जीवन-प्रवाह जो इतिहास का निर्माण करता है विविध तथा विचित्र है। अध्ययन के लिये हमें मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर अलग-अलग ध्यान देना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप अनेक मानवीय विद्याओं का उदय होता है। उदाहरण के लिये राजनीति-विज्ञान उन तथ्यों का अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध शक्ति के अन्वेषण तथा विभाजन से है, और अर्थशास्त्र उनका जिनका लगाव सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग से है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सामान्यतः विभिन्न मानवीय विद्याएँ या तो मनुष्य की विभिन्न महत्वपूर्ण प्रेरणाओं का विस्तृत अध्ययन करती हैं, या फिर उसकी उन क्रियाओं का जिनके द्वारा वह विभिन्न लक्ष्यों की उपलब्धि करता है। इस सिद्धान्त तथा पहले दो सिद्धान्तों को मिलाने से हमें मनोविज्ञान तथा समाज-विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ उपलब्ध हो जाती हैं।

उदाहरण के लिये नेतृत्व-विज्ञान (Psychology of Leadership) व्यक्तिगत दृष्टि से, प्रायः उन्हीं तथ्यों का अध्ययन करता है जिनका राजनीति-विज्ञान में दूसरी दृष्टि से अध्ययन होता है। ऐसा ही कुछ सम्बन्ध उद्योग-मनोविज्ञान (Industrial Psychology) तथा अर्थशास्त्र में और समाज-मनोविज्ञान (Social Psychology) तथा समाज-शास्त्र में पाया जाता है। प्रसिद्ध विचारक कार्ल मैनहाइम ने इंगित किया है कि प्रत्येक मानव-कर्म को मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय अथवा सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से देखा तथा अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है।[८] प्रत्येक कर्म जहाँ एक ओर व्यक्तिगत प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति होता है, वहाँ, सामाजिक अथवा समाज-सम्मत तरीकों से, एक लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न भी होता है।

वर्गीकरण के एक चौथे सिद्धान्त का भी उल्लेख किया जा सकता है। जीवन के प्रति हमारी अन्वेषण-वृत्ति (Approach) तथ्यमूलक तथा वैज्ञानिक भी हो सकती है, और मूल्यात्मक एवं कलात्मक भी। पहली वृत्ति विभिन्न मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक विज्ञानों की स्थापना का कारण होती है, दूसरी ऐसी क्रियाओं अथवा अध्ययनों को जन्म देती है जैसे विभिन्न कलाएँ और साहित्य, नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-विज्ञान, धर्म या अध्यात्म की विवेचना, और दर्शन। अध्ययन के इन प्रकारों को सामूहिक रूप में मानवीय अधीतियाँ (Humanities) कह सकते हैं। मानवीय जीवन से ग्रहण की हुई तथ्य-सामग्री के आधार पर ये अधीतियाँ तरह-तरह के आदर्शों

या मानदंडों का निर्माण करती हैं। ये मानदंड आवेगात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक, नैतिक-सौन्दर्यात्मक और अतिनैतिक, बौद्धिक, तथा तर्कमूलक, अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इन आदर्शों तथा मानों की कतिपय विशेषताओं को हम कला, दर्शन, नैतिकता तथा अध्यात्म से सम्बद्ध अध्यायों में लक्षित करेंगे। यहाँ हम मानवीय विद्याओं की कतिपय सामान्य तथा महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख तथा परीक्षा करेंगे।

मानवीय विद्याओं की सामान्य विशेषताएँ

मानवीय विद्याएँ अमूर्त (Abstract) **अथवा एकपक्षीय होती हैं।** मानवीय विद्याओं की यह एक सामान्य विशेषता है। इसका मतलब यह नहीं कि भौतिक विज्ञान अमूर्त अथवा एकपक्षीय नहीं होते, हमारा अभिप्राय यह है कि मानवीय विद्याओं की प्रत्याहरण-क्रिया विज्ञानों की उस क्रिया से भिन्न कोटि की होती है। भौतिक विज्ञानों में वस्तुओं के मात्रा-मूलक गुणों को पृथक् करके उनका अध्ययन किया जाता है, और उनके ऐसे दूसरे गुणों की, जिनका मात्रागत परिवर्तनों से सम्बन्ध नहीं होता, उपेक्षा कर दी जाती है। भौतिक विज्ञानों की दृष्टि में वस्तुओं के गुणात्मक परिवर्तन प्रातिभासिक (Epiphenomenal) होते हैं, जिनकी उपेक्षा की जा सकती है। इसके विपरीत मानवीय विद्याओं में मानव-व्यवहार के उन पहलुओं की उपेक्षा करनी पड़ जाती है जिन्हें वे विद्याएँ प्रातिभासिक नहीं मानतीं, और जिनकी अधीत पहलुओं से विच्छिन्नता नहीं होती।

मानवीय विद्याएँ मानव-व्यवहार को भौतिक गतियों का समूह मानकर नहीं चलतीं; उनकी अभिरुचि का विषय वे गतियाँ न होकर उनके निहित **अर्थ या मूल्य** होते हैं, अर्थात् वे अर्थ जिनकी कर्ताओं के प्रयोजनों की अपेक्षा में प्रासंगिकता होती है। वे विद्याएँ दूसरी कोटि के तथ्यों का (जैसे नैपोलियन के साथ होनेवाले युद्धों में रूस की शीत ऋतु का) अध्ययन भी कर सकती हैं, किन्तु सर्वत्र उनका दृष्टिकोण वही रहता है। दूसरे, वे विद्याएँ उन सभी अर्थों का अध्ययन नहीं करतीं, जो किसी व्यवहार-प्रणाली में निहित होते हैं, प्रत्येक विद्या केवल एक कोटि या वर्ग के अर्थों का ही अध्ययन करती है। इस प्रकार मानवीय अधीतियों तथा विज्ञानों में दो प्रकार का प्रत्याहरण रहता है, जो उन्हें भौतिक तथा जीव-सम्बन्धी विज्ञानों से पृथक् करता है। प्रथम कोटि के प्रत्याहरण (Abstraction) का मानवीय अधीतियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी परीक्षा हम आगे करेंगे।

विभिन्न कोटियों के अर्थों पर ध्यान रखने से मानवीय विद्याओं में किस प्रकार अमूर्तता आती है इसके निदर्शन में हम इतिहास तथा कथा-साहित्य के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

यह देखना कठिन नहीं है कि ऐतिहासिक अध्ययन विस्तृत प्रत्याहरण पर निर्भर करता है। इतिहास सब मनुष्यों के व्यापारों का अध्ययन नहीं करता, वह कुछ प्रधान व्यक्तियों के व्यापारों का ही अध्ययन करता है। किन्तु इतिहास महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के भी समस्त व्यापारों का अध्ययन नहीं करता। वह उनकी उन क्रियाओं का ही अध्ययन करता है जिन्होंने महत्वपूर्ण घटनाओं की दिशा को प्रभावित किया, अथवा जो उनके दिशा-निर्धारण में प्रासंगिक थीं। वस्तुतः इतिहास के अध्ययन का विषय यह देखना है कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व रखनेवाले कतिपय प्रयोजन किस प्रकार फलीभूत अथवा असफल हुए। इतिहास के अमूर्त रूप को दर्शित करने का एक दूसरा ढंग यह है कि हम उसके विषयभूत तथ्यों की प्रकृति का विचार करें। ये तथ्य अधिकांश तो प्राचीन लेखों, अभिलेखों अथवा पुस्तकों से मिलते हैं और कुछ प्राचीन हथियारों तथा अन्य उपकरणों, भवनों, चित्रों आदि के रूप में उपलब्ध होते हैं। ऐतिहासिक तथ्यों के संग्रह में दो प्रकार का चयन निहित रहता है: प्रथमतः हम उन लेखों आदि पर निर्भर करते हैं जिनमें अतीत घटनाओं का चयन-मूलक उल्लेख है—यह चयन मूल लेखकों द्वारा किया गया होता है; दूसरे, इतिहासकार विद्यमान लेखों आदि से **प्रामाणिकता, विश्वसनीयता** तथा **प्रासंगिकता** के आधार पर चयन करता है।

ऊपर के निष्कर्ष को एक दूसरी विचारणा से भी पुष्ट किया जा सकता है। कहा गया है कि इतिहास की कोई विषय-वस्तु नहीं होती। विषय-वस्तु पाने के लिये 'इतिहास' शब्द को अपने साथ कोई न कोई विशेषण लगाना पड़ता है।[१] उदाहरण के लिए हम राजनैतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास अथवा धार्मिक इतिहास की भी चर्चा करते हैं। मतलब यह कि किसी जनसमूह, देश अथवा युग का जीवन बड़ा जटिल होता है; एक समय में इतिहास उस जीवन के किसी एक पहलू का ही अध्ययन कर पाता है। जीवन के दूसरे पहलुओं के समझने के लिये किसी जाति, देश या युग के कला-साहित्य, दर्शन, दंडनीति आदि की छानबीन अपेक्षित हो सकती है।

इसलिये, यह कहना बहुत ज्यादा ठीक नहीं है कि जहाँ समाज-शास्त्र सामाजिक अस्तित्व के नियामक कानूनों का अध्ययन करता है, वहाँ इतिहासकार उस अस्तित्व

का मूर्त्त ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होता है।[१०] हमारा अनुमान है कि कोई भी इतिहास किसी जाति अथवा युग के **सम्पूर्ण** अस्तित्व या जीवन को पूर्णतया वर्णित तथा मूर्त्त नहीं कर सकता। इतिहासकार केवल यह कर सकता है कि वह एक जाति और उसके नेताओं के जीवन में घटित होने वाले कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनों अथवा परिवर्तन-शृंखलाओं का सम्बद्ध एवं प्रभावशाली वर्णन उपस्थित कर दे। इतिहासकार विचाराधीन जीवन में से किन घटनाओं का चयन करेगा और उनके किन पहलुओं पर गौरव देगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि उस जीवन के कौन-से प्रयोजन इस इतिहास-लेखक की दृष्टि में महत्वपूर्ण हैं।

निष्कर्ष यह कि इतिहास आवश्यक रूप में अमूर्त होता है। समझा जाता है कि कथा-साहित्य में विभिन्न पात्रों के जीवनों के पूर्ण चित्र दिये जाते हैं, पर ऐसी बात नहीं है। यह लक्षित करने की बात है कि जीवन के जिन पक्षों में उपन्यासकार का मन रमता है, उन पर प्रायः इतिहास-लेखक की दृष्टि नहीं जाती। इससे सिद्ध होता है कि जीवन की समृद्ध विविधता पूरी तरह न इतिहास के पृष्ठों में ही समा सकती है, न कथा-साहित्य में। उपन्यासकार श्री ई० एम० फार्स्टर के अनुसार जीवन के मुख्य तथ्य पाँच हैं: जन्म, भोजन, नींद, प्रेम और मृत्यु।[११] एक इतिहास-कार इन तथ्यों के बारे में कितना कम कहता है! शायद इनमें से वह मृत्यु का ही अधिक उल्लेख करता है। स्वयं उपन्यासकार भी उक्त तथ्यों के बारे में बहुत ज्यादा बात नहीं करता, जीवन के सम्बन्ध में लिखते हुए वह उनका उल्लेख वस्तुगत यथार्थ के अनुरूप नहीं करता। आप कल्पना कर सकते हैं कि यदि एक उपन्यासकार उस प्रत्येक भोजन के अवसर का जो उसके हरेक पात्र के जीवन में आता है, विस्तृत वर्णन करने लगे, तो वह अपने पाठकों को कितना उबा देगा। वस्तुतः, जैसा कि श्री फार्स्टर ने लिखा है,उपन्यास में भोजनका उद्देश्य पात्रोंके शरीर का पोषण नहीं होता; उसका उपयोग यह होता है कि अनेक लोगों को एक जगह इकट्ठा कर दिया जाय। उपन्यास में भोजन का सामाजिक प्रयोजन होता है।[१२] कथा-साहित्य में प्रत्याहरणसे काम लिया जाता है, इसका दूसरा निदर्शन यह है कि उपन्यास के अन्दर विभिन्न पात्र एक-दूसरे के प्रति जितने संवेदनशील होते हैं, वैसा असली जीवन में प्रायः नहीं होता।

जो उपन्यास के बारे में सही है वही न्यूनाधिक जीवनी के बारे में भी सत्य है। यदि जीवनीकार वर्णित जीवन की घटनाओं में से चयन न करे तो वह तथ्यों के बड़े-से-बड़े प्रेमी के धैर्य को थका देगा।

ऊपर की विचारणाओं से दूसरा यह निष्कर्ष निकलता है कि **मानवीय विद्याएँ आवश्यक रूप में मूल्यानुप्राणित** (Evaluative) **होती हैं**। जब जीवनीकार अथवा इतिहास लेखक उल्लेख के लिये कतिपय विवरणों का चयन करता है, और कुछ की उपेक्षा कर देता है, तो वह प्रच्छन्न रूप में घटनाओं की महत्ता के किसी पैमाने का प्रयोग कर डालता है। जर्मन वैज्ञानिक श्री श्रोडिन्जर ने लिखा है कि जो तथ्य विज्ञान के सामान्य कथनों का आधार होते हैं वे चयनात्मक होते हैं। हम असंख्य प्रयोगों को कर सकते हैं, किन्तु करते नहीं। कुछ प्रयोग बड़े महँगे पड़ते हैं, और कुछ में हमारी अभिरुचि नहीं होती।[१४] किन्तु मानवीय अध्ययन-क्षेत्रों में हम सिर्फ इसलिये कुछ अनुभवों की उपेक्षा कर देते हैं कि वे अरोचक हैं। इतिहासकार, अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री प्रायः उन तथ्यों की ओर ध्यान देते हैं जो सनसनीपूर्ण अथवा दूसरे किसी कारण से महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिये किसी इतिहासकार ने कभी इसका वर्णन नहीं किया कि अपने आदेश या हुक्मनामे लिखते समय अशोक अथवा अकबर किस प्रकार कलम पकड़ते और अपनी उँगलियों को संचालित करते थे, अथवा घोड़े पर चढ़ते हुए वे कैसे अपने पैर को उठाते थे।

हमने अब तक यह कहा कि मानवीय विद्याएँ आवश्यक रूप में मूल्यानुप्राणित होती हैं; अब हम कहना चाहते हैं कि उन्हे वैसा होना चाहिये, अर्थात् अपनी सामग्री के चयन में उन्हें मूल्य-दृष्टि से काम लेना चाहिये। इन विद्याओं का यह काम नहीं है कि किसी घटना के सम्पूर्ण कारणों अथवा परिणामों का अध्ययन करें, उन्हें विशिष्ट कारणों और विशिष्ट परिणामों का ही अध्ययन करना चाहिए। विश्व के समस्त विवेकशील विचारक तथा शिक्षक यही करते आये हैं। यदि आधुनिक मनोविज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानों को साम्प्रतिक वन्ध्यापन की स्थिति से मुक्त होना है, तो उन्हें भी वैसा ही करना पड़ेगा।

मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के क्षेत्र में प्रस्तुत कठिनाइयों का वर्णन करते हुए एक आधुनिक अमरीकी मानसशास्त्री ने लिखा है:

अमरीकी मनोविज्ञान ने सिद्धान्तों की बहुत कम सृष्टि की है, इस पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए...यदि वह अर्थात् अमरीकी मनोवैज्ञानिक एक वैज्ञानिक के रूप में अपनी ख्याति चाहता है, तो उसे विवश होकर अपने को अपेक्षाकृत ऐसे सरल तथ्यों के विश्लेषण तक सीमित रखना पड़ता है जिनमें विवर्तमान तत्व (Variables)

संख्या में कम, विविक्त, तथा कठोर प्रयोगात्मक नियंत्रण के योग्य हैं; किन्तु मानव-व्यवहार के ज्यादा महत्वपूर्ण पहलू ऐसे व्यवहार की श्रेणी में आयेंगे, इसकी सम्भावना कम है, क्योंकि वे प्रायः अनेक कारणों के परिणाम होते हैं और सहज पकड़ में आनेवाले नहीं होते। परिणाम यह है...कि अमरीका में मानव व्यवहार का अध्ययन दो विरोधी रूप धारण करता है, एक ओर अनुशासनहीन कोरा चिन्तन रहता है, और दूसरी ओर कठिन अनुशासित वन्ध्यापन।'[१५]

जहाँ कोई भी समझदार व्यक्ति अनुशासनहीन कोरे चिन्तन के पक्ष में नहीं होगा, वहाँ यह स्वीकार करना चाहिए कि मानव-व्यवहार के उन ऊँचे रूपों की उपेक्षा जिन्हें समझना ज्ञान और मानवीय कल्याण दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, किसी भी तरह उचित नहीं कही जा सकती। यदि मनोविज्ञान या दूसरे मानवीय शास्त्र लगातार मानव-व्यवहार के उच्चतर रूपों की अवहेलना करें, तो अवश्य ही वे वन्ध्या अथवा प्रभावशून्य हो जायेंगे, और जीवन-विवेक के प्रसार में कुछ भी योग नहीं दे सकेंगे। निष्कर्ष यह कि मानवीय विद्याओं को अनिवार्य रूप में मूल्य-दृष्टि से अनुप्राणित होकर महत्वपूर्ण अनुभव-क्षेत्रों का अध्ययन करना चाहिये।

मानवीय विद्याओं की तीसरी विशेषता यह है कि वे ऐतिहासिक होती हैं। इसका मतलब यह है कि वे जिस विषय-वस्तु का अध्ययन करती हैं वह मानवीय इतिहास की धारा में विद्यमान होती है। उसमें उन कर्मों तथा घटनाओं का समावेश होता है जो किन्हीं व्यक्तियों अथवा समूहों के जीवन-इतिहास का अंग रह चुकी हैं। यूकेन ने कहा है: 'समस्त मानव-कर्म इतिहास की चीज़ है। खान खोदनेवाले अथवा दूकानदार का कार्य इस वर्ष के इतिहास का भाग है, और इसलिये वह इतिहास की चीज है।'[१६]

हमें कुछ देर रुक कर ऊपर के वक्तव्य के अभिप्रायों को समझने की कोशिश करनी चाहिए। हम फिर यूकेन को उद्धृत करेंगे। वे कहते हैं: 'प्रकृति-जगत में केवल एक क्रम का अस्तित्व है, और रहा है, किन्तु आर्थिक अवस्थाओं की एक अपरिमित संख्या और अपरिमित बदलनेवाली विविधता है।'[१७] जो बात आर्थिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में सही है, वही राजनैतिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक व्यवस्थाओं पर लागू होती है। चूँकि मानवीय विद्यायें ऐतिहासिक होती हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् विभिन्न कोटियों की व्यवस्थाओं अथवा मानवीय व्यवहार की पद्धतियों का अध्ययन

करना पड़ता है। यह बात इतिहास के बारे में बड़ी स्पष्ट है। काल-क्रम से हम इतिहास को प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक युगों में विभाजित करते हैं, और देशक्रम से विभिन्न राष्ट्रों के इतिहासों में। किसी भी राष्ट्र के जीवन के किसी पहलू का इतिहास विभिन्न युगों में एकरस नहीं रहता, और किन्हीं भी दो राष्ट्रों का विकास-क्रम समान नहीं होता।

कहा गया है कि इतिहास में घटनाओं को सम्बद्ध रूप में उपस्थित कर देना ही उनकी व्याख्या करना है। विशेष रूप में ऐतिहासिक व्याख्या सदैव किसी विशेष की व्याख्या होती है। इसलिये इतिहास नामक विज्ञान का उद्देश्य यह नहीं है कि वह उन नियमों की खोज करे जिनके अनुसार इतिहास की प्रगति होती है। इस प्रकार के नियमों का अध्ययन करनेवाली शाखा को, सम्भवतः गलती से, इतिहास-दर्शन का नाम दिया गया है।

जैसा कि हमने पहले कहा मानवीय विद्याएँ अपनी सामग्री या तो जीवनी से या इतिहास से प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त करती हैं। सामाजिक विज्ञान इस सामग्री का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं; इसके विपरीत मानवीय अधीतियाँ (Humanities) अर्थात् कला-साहित्य, नीति-शास्त्र आदि उस सामग्री का उपयोग नवीन सृष्टि अथवा आदर्श-निर्धारण के लिये करते हैं। इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। जहाँ हम इतिहासकार का नाम प्रायः उस व्यक्ति को देते हैं जिसने एक या अधिक देशों के एक या अधिक युगों के सामान्य इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन किया है, वहाँ अर्थशास्त्री तथा वैसे दूसरे शब्दों के साथ उस प्रकार का कोई अनुषंग नहीं जगता। हम एक अर्थशास्त्री से यह आशा नहीं करते कि उसने किसी युग अथवा देश के आर्थिक इतिहास का अध्ययन किया होगा। दूसरे, एक अर्थशास्त्री, इतिहासकार से भिन्न और इतिहास के दार्शनिक के समान ढंग से, ऐसे कानूनों की खोज करता है जो इस या उस समाज पर नहीं बल्कि समस्त आर्थिक समाजों पर लागू होंगे, उन समाजों पर जो जीवित रह चुके हैं, और उन पर जो भविष्य में जीवित होंगे।

प्रश्न है, उस व्याख्या की प्रकृति में जो इतिहासकार द्वारा विशेष का अध्ययन करते हुए दी जाती है और उसमें जो किसी समाज-वैज्ञानिक (अर्थशास्त्री, नर-वैज्ञानिक, अथवा समाजशास्त्री) द्वारा दी जाती है, क्या अन्तर होता है? दूसरा प्रश्न है, मानवीय विद्याओं में प्रयुक्त की जानेवाली विभिन्न पद्धतियों और उनके

द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की परीक्षा कैसे की जाय ? आगे हम इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करेंगे।

मानवीय विद्याओं में व्याख्या : सामान्य विवेचन

जिसे हम व्याख्या कहते हैं वह एक मानवीय व्यापार है। प्रत्येक मानवीय व्यापार का कोई न कोई लक्ष्य होता है। व्याख्या का लक्ष्य किसी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में या तो जिज्ञासा का शमन है, अथवा उस विषय-वस्तु को समझ लेना। जो जिज्ञासा मनुष्य के द्वारा व्याख्या-सूत्र की खोज कराती है वह अवास्तविक तथा घटिया भी हो सकती है, और वास्तविक तथा गम्भीर भी। इसी प्रकार बुद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाली अवगति या समझ भी विभिन्न श्रेणियों की होती है। जिस व्यक्ति की जिज्ञासा शिक्षित और विकसित है वही उचित ढंग से प्रश्न कर सकता है; वही यह भी जान सकता है कि कहाँ पहुँच कर उसके प्रश्न को रुकना अथवा नहीं रुकना चाहिए।

जिज्ञासा के दो सामान्य रूप हैं, एक का सम्बन्ध वस्तुओं के अस्तित्व से और दूसरे का उनके मूल्य या महत्व से होता है। किसी भी घटना अथवा स्थिति के सम्बन्ध में हम दो मौलिक प्रश्न कर सकते हैं : एक यह कि वह कैसे अथवा क्यों अस्तित्व में में आयी, और दूसरे यह कि उसका हमारे जीवन-मूल्यों की अपेक्षा से क्या महत्व अथवा सार्थकता है ? यहाँ हम जोड़ना चाहेंगे कि अन्ततः हमारी जिज्ञासा के मूल में यही खोज रहती है कि कौन-सी वस्तुएँ कितनी अर्थपूर्ण अथवा महत्वशाली हैं। विभिन्न भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान उन चीजों का अध्ययन करते हैं जिनका हमारे मूल्यों से दूर का सम्बन्ध है, जब कि मानवीय अधीतियाँ उन वस्तुओं तथा अनुभवों से सम्बन्धित हैं जो हमारे मूल्यों से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। किन्तु इतिहास और समाज-विज्ञान जैसी विद्याओं की विषय-वस्तु इस अर्थ में मूल्यवान होती है कि वह हमारे जीवन को समृद्ध बनाती है। उनका अध्ययन करते हुए हम दूसरे नर-नारियों की जीवन-प्रक्रिया में साझेदार बन जाते हैं। जिसे हम वैज्ञानिक चिन्तन कहते हैं, अर्थात् भौतिक विज्ञानों का चिन्तन, उसका भी एक सौन्दर्य-मूलक पक्ष होता है, विशेषतः उस चिन्तन के उच्चतर-रूपों में। इसलिये अस्तित्व-सम्बन्धी जिज्ञासा तथा मूल्य-सम्बन्धी जिज्ञासा को एक-दूसरी से नितान्त पृथक् नहीं किया जा सकता, दोनों में मूल्यात्मकता के दर्जों तथा भिन्न कोटियों के गौरव का अन्तर ही रहता है।

दो प्रकार की जिज्ञासाओं से सम्बद्ध व्याख्याएँ भी दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् अस्तित्व-मूलक और आदर्श-सम्बन्धी अथवा वैज्ञानिक और दार्शनिक। अस्तित्व-मूलक अथवा वैज्ञानिक व्याख्या मूल रूप में कार्य-कारण सम्बन्ध का उद्घाटन करती हैं। इस व्याख्या में हम एक घटना को उसकी उन पूर्ववर्ती घटनाओं से सम्बन्धित करते हैं जो उसके घटित होने का कारण हुई। इसके विपरीत आदर्श मूलक व्याख्या किसी कर्म, स्थिति अथवा अनुभव का मूल्यांकन करती है। ऐसा या तो तुलना द्वारा किया जाता है, अथवा किसी आदर्श की अपेक्षा से। जिसे प्रयोजन-मूलक व्याख्या (Teleological Explanation) कहते हैं वह एक प्रकार की कार्य-कारण-मूलक व्याख्या ही होती है, क्योंकि तथा-कथित चरम हेतु (Final Cause) एक कल्पित लक्ष्य अथवा प्रयोजन के रूप में कर्ता के मन में विद्यमान रहते हुए उसके कर्म का निर्धारण करता है। इसी प्रकार तर्कमूलक व्याख्या अथवा तर्कशास्त्रीय व्याख्या (Logical Explanation) का अन्तर्भाव आदर्श-मूलक व्याख्या में किया जा सकता है। उस व्याख्या में हम किसी निष्कर्ष का मंडन उसके तार्किक आधार (Ground) की अपेक्षा में करते हैं।

अधुनातन समय में कुछ विचारकों ने कार्य-कारण की धारणा की लम्बी-चौड़ी समीक्षा की है और यह राय दी है कि एक व्याख्या-सिद्धान्त के रूप में उसका परित्याग कर देना चाहिए। बतलाया गया है कि भौतिक विज्ञान में कार्य-कारण सम्बन्ध की धारणा व्यर्थ हो चली है, और उसके स्थान पर सम्बद्ध परिवर्तन अथवा परिवर्तन-मूलक सहचार (Functional Correlation) की धारणा प्रतिष्ठित हो गई हैं। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता हैं कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में सम्बद्ध परिवर्तन का प्रत्यय कार्य-कारण-भाव की धारणा का स्थानापन्न बन सकता है। जैसा कि मैकाइवर ने दर्शित किया है, मानव-जीवन में परिवर्तन एक ही दिशा में होता है। परिवर्तन की दिशा बदलने की सम्भावना का अभाव कार्य-कारण-सम्बन्ध का आवश्यक तत्व है, जिसे गणित का कोई समीकरण (जो सम्बद्ध परिवर्तन को प्रकट करता है) अभिव्यक्ति नहीं दे सकता।[१८] मानवीय व्यापारों की व्याख्या कार्य-कारण की शरण लिये बिना नहीं हो सकती इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य स्वयं अपने को एक कारण अथवा कर्ता के रूप में देखता है और उसे अपने साथियों की कारणता तथा कर्तृत्व में विशेष अभिरुचि रहती है। अपने परिवेश की अपेक्षा से उसके कर्तृत्व की क्या सम्भावनाएँ हैं, इसमें भी उसे गहरी अभिरुचि होती है। जब

एक फौजी दस्ता अपने सेनानायक की आज्ञा से दुश्मन पर गोले बरसाना शुरू कर देता है, तो, स्थिति को समझने में, इस जानकारी से कोई फायदा नहीं होता कि वह गोलाबारी सेना-नायक द्वारा उच्चरित कतिपय ध्वनियों के उत्पादन अथवा ग्रहण से सहचरित थी। इसी प्रकार जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस की पुत्री से विवाह किया, तो उससे सहचरित हजारों घटनाएँ घटित हो रही होंगी, जैसे शहनाई तथा दूसरे बाजे बजना, तथा सैकड़ों नर-नारियों का इधर-उधर चलना-फिरना; किन्तु वे सहचरित घटनाएँ उस विवाह की सार्थकता समझने में तनिक भी सहायक नहीं हो सकती थीं।

इन विचारणाओं से हम उस व्याख्या के बारे में जो किसी मानवीय विद्या में ग्राह्य हो सकती है, एक दूसरे तत्व का परिज्ञान प्राप्त करते हैं। उस व्याख्या का लक्ष्य व्याख्येय घटना के किसी खास पहलू पर प्रकाश डालना होता है, न कि घटना की समग्रता पर। मानवीय विद्याएँ घटनाओं के जिन पहलुओं में अभिरुचि लेती हैं वे खास अर्थों में सार्थक या अर्थपूर्ण होते हैं। चन्द्रगुप्त के विवाह की घटना को समझने के लिये हम केवल उन्हीं कारणात्मक तत्वों का विचार करते हैं जो उस विवाह के विशेष प्रयोजन को बुद्धिगम्य बना सकें। सम्भवतः उस विवाह का कोई राजनैतिक कारण तथा महत्व था। यह भी सम्भव है कि विवाह के कारण विशुद्ध रूप में मनोवैज्ञानिक थे, यद्यपि राजा लोग केवल मनोवैज्ञानिक कारणों से विवाह कम ही करते हैं।

मैकाइवर ने अर्थपूर्ण ढंग से कहा है: 'किसी भी घटना के कारण का उचित अन्वेषण उस विशिष्ट भेद पर ध्यान जमाता है जो दो स्थितियों में पाया जाता है।'[१९] मतलब यह है कि परीक्षक को यह देखना चाहिए कि पूर्व स्थिति की अपेक्षा से बाद की स्थिति में कौन-सा खास अन्तर पैदा हो गया है जिसकी व्याख्या की अपेक्षा है। यहाँ हम जोड़ना चाहेंगे कि मानवीय स्थितियों में उत्पन्न होनेवाला भेद या अन्तर सदैव किसी अर्थ या मूल्य का अन्तर होता है। इस सन्दर्भ में अर्थ से मतलब किसी स्थिति या घटना के उस पहलू से है जो सम्बद्ध मनुष्यों के लिये साध्य रूप में अथवा साधन रूप में महत्वपूर्ण है। इसका यह मतलब नहीं कि एक ही स्थिति, घटना या कर्म में विभिन्न प्रेक्षकों के लिये एक साथ अनेक अर्थ निहित नहीं हो सकते। विभिन्न प्रेक्षक एक ही चीज को विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं, और उसे विभिन्न रूपों में अर्थवान पाते हैं। उदाहरण के लिये रूस के युद्ध में नैपोलियन की असफलता का रूस के लिये

एक अर्थ था और फ़्रांस के लिये दूसरा। फ्रांस की दृष्टि में नेपोलियन की असफलता के कारण एक प्रकार के थे, और रूस की दृष्टि में दूसरे प्रकार के। इसी प्रकार दोनो देशों की दृष्टियों से नेपोलियन के हमले के परिणाम भी भिन्न-भिन्न थे।

मानवीय विद्याओं में समस्त व्याख्याएँ अर्थपूर्ण तत्वों की भाषा में प्रकट की जाती हैं। इन तत्वों के अन्तर्गत जहाँ एक ओर कर्ताओं की प्रेरणाओं, योजनाओं तथा इरादों का समावेश होता है, वहाँ दूसरी ओर परिवेशगत उन भौतिक-सामाजिक शक्तियों का सन्निवेश रहता है जो उन योजनाओं आदि की सफलता में सहायक अथवा विघ्न रूप होती हैं। इस प्रकार ये व्याख्याएँ एक खास अर्थ में बुद्धिगम्य बन जाती हैं; अर्थात् कोई भी समझदार मनुष्य जो विभिन्न स्थितियों का महत्त्व साध्य-साधन रूप में हृदयंगम कर सकता है, उन्हें समझ सकता है।

व्याख्या-सम्बन्धी उक्त दृष्टि को ऐतिहासिक व्याख्या के उदाहरण से समझा जा सकता है। ऐतिहासिक व्याख्या सबसे सरल कोटि की व्याख्या है जो मानवीय विद्याओं में मिल सकती है। नीचे का उद्धरण श्री एच्० ए० एल्० फिशर द्वारा लिखित 'योरप का इतिहास' पुस्तक के नेपोलियन-सम्बन्धी अध्याय से लिया जा रहा है :

इँगलैंड को नीचा दिखाने की कोशिश में नेपोलियन ने योरपीय महाद्वीप का घेरा डालने के नये विचार की उद्भावना की। यह मानकर चलते हुए कि इँगलैंड व्यवसायियों का देश है, उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसा देश इससे अधिक कष्टप्रद चोट नहीं पा सकता था कि योरपीय महाद्वीप का प्रत्येक बाज़ार उसके माल के लिये बन्द कर दिया जाय। तदनुसार स्पेन को आज्ञा दी गई कि वह पुर्तगाल पर आक्रमण करे, और फ़्रेंच सेना का एक खंड नेपिल्स के राजा पर चढ़ दौड़ा, ताकि वे व्यापार की ऐसी नीति अपनायें जो फ़्रांस के अनुकूल हो। यह शुरू से ही स्पष्ट था कि केवल भूमध्यसागर के तटों का घेरा स्वयं में विशेष महत्वपूर्ण नहीं था। यह नीति अधूरे रूप में सफल नहीं हो सकती थी।...सार्वभौम घेरे की मृगतृष्णा से आकृष्ट हुए नेपोलियन को विवश होकर एक सार्वभौम साम्राज्य के लक्ष्य का अनुसरण करना पड़ा।[२०]

यह अवतरण स्पष्टतया उन तत्वों की ओर संकेत करता है जो मानवीय व्यापारों निर्धारण करते हैं। नेपोलियन के योरप का घेरा डालने की नीति जहाँ एक ओर

उसकी इँगलैंड को हराने की इच्छा से प्रेरित थी, वहाँ वह नेपोलियन की उस प्रतिभा से भी निर्धारित हुई जिसने घेरा डालने के विचार की उद्भावना की। बाद की घटनाएँ, जिनके कारण उसे सार्वभौम साम्राज्य की खोज करनी पड़ी, जहाँ एक ओर नेपोलियन के अध्यवसाय और लक्ष्य के प्रति स्थिर आसक्ति से निर्धारित हुईं वहाँ दूसरी ओर उस चीज से जिसे हम परिस्थिति का तर्क (Logic of the Situation) अथवा परिवेश की शक्ति कह सकते हैं।

घेरा शुरू करने के बाद की नेपोलियन द्वारा अनुष्ठित क्रियायें दो-तीन सरल कोटियों के अर्थों या प्रयोजनों की भाषा में समझी जा सकती है। दूसरी स्थितियों में अधिक जटिल अर्थ निहित हो सकते हैं, जिनकी व्याख्या के लिये ज्यादा जटिल तरीकों से आगे बढ़ना पड़ेगा। उदाहरण के लिये जिसे हम योरपीय पुनर्जागृति कहते हैं उसकी व्याख्या उन बहुसंख्यक कारणों के द्वारा करनी होगी जिन्होंने योरपीय जनता के समस्त मनोभावों तथा मूल्यों में एकाएक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया।

ऊपर के विश्लेषण की मदद से हम उन विभिन्न अन्वेषकों के अनेक झगड़ों का निपटारा कर सकते हैं जिन्होंने, सामाजिक विद्याओं के क्षेत्र में, विभिन्न अन्वेषण-वृत्तियों तथा विभिन्न कारणों की महत्ता पर जोर दिया है। उदाहरण के लिये जहाँ सामाजिक विज्ञानों को महत्व देनेवाले पंडितों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मानव-व्यवहार के निर्धारण में सामाजिक कारण ही प्रधान होते हैं, वहाँ मनोविज्ञान के हिमायतियों ने मनोवैज्ञानिक कारणों पर विशेष बल दिया है। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री दुरखाइम ने अपनी प्रसिद्ध "आत्महत्या" शीर्षक पुस्तक में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि विभिन्न देशों में की जानेवाली आत्महत्याओं की संख्या मनोवैज्ञानिक कारणों के आलोक में नहीं समझी जा सकती; वह संख्या विभिन्न देशों तथा समूहों की सामाजिक स्थितियों की अपेक्षा में ही समझी जा सकती है। दुरखाइम के निष्कर्षों के प्रति सन्देह प्रकट किया गया है। विशेषतः फ्रायड के अनुयायी उसके निष्कर्षों को स्वीकार नहीं करते। हमारा विचार है कि मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री क्रमशः कुछ विशिष्ट कार्यों अथवा परिणामों की व्याख्या ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं, और कुछ की कम अच्छी तरह। दुरखाइम के अन्वेषण का विषय मुख्यतः यह समस्या थी कि क्यों विभिन्न समाजों तथा समूहों के लोग न्यूनाधिक संख्या में आत्महत्या करते हैं। इस स्थिति की व्याख्या सामाजिक कारणों द्वारा ही हो सकती थी। इसके विपरीत मनोविज्ञान के सम्मुख दूसरा प्रश्न होगा :

एक ही सामाजिक परिस्थितियों में कुछ व्यक्ति आत्महत्या करते हैं और कुछ नहीं, इसका क्या कारण है? एक ही सामाजिक परिवेश में कुछ थोड़े लोग आत्महत्या करते हैं और अधिकांश लोग नहीं करते, इसका कारण वे मनोवैज्ञानिक तत्व ही हो सकते हैं जो कुछ व्यक्तियों को सामाजिक परिस्थिति के प्रति एक असामान्य रूप में प्रतिक्रिया करने को बाध्य करते हैं।

मानवीय व्यापारों के निर्धारण में केवल मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक शक्तियों का हाथ नहीं होता, वहाँ भौगोलिक शक्तियाँ भी काम करती हैं, और वे शक्तियाँ भी (जैसे शरीर की रचना तथा व्यापार आदि) जिनका अध्ययन भौतिक-शास्त्र और रसायन-शास्त्र, शरीर-रचना-शास्त्र तथा इन्द्रिय-विज्ञान में होता है। किन्तु इन सब कारणों द्वारा उत्पन्न कतिपय कार्य इतने सामान्य होते हैं कि वे घटनाओं तथा क्रियाओं के उन विशिष्ट पहलुओं को प्रभावित नहीं करते जिनका विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन होता है। उदाहरण के लिये नैपोलियन एक सफल सेनानायक न बन पाता यदि उसका शरीर शक्तिशाली न होता और उसके हृदय, जिगर, फेफड़े आदि ठीक काम न करते होते। किन्तु यह देखते हुए कि ये विशेषताएँ उसके हजारों सिपाहियों में पाई जा सकती थीं, उन्हें सेनानायक नेपोलियन के व्यावर्तक गुण घोषित नहीं किया जा सकता। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। जलवायु, भोजन आदि का विभिन्न देशों के लोगों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता होगा ; वे लोगों के रूप, रंग, लम्बाई, चौड़ाई, शारीरिक सहनशीलता आदि का निर्धारण करते होंगे; किन्तु उनकी कारणता द्वारा ऐसी विशिष्ट चीजों की व्याख्या नहीं की जा सकती जैसे विभिन्न देशवासियों के विभिन्न चिन्तन-प्रकार, दार्शनिक विश्वास, सामाजिक-राजनैतिक संस्थाएँ, इत्यादि। कई प्रसिद्ध विचारकों ने जैसे मान्टेस्क्यू कार्ल रिटर, एफ्० रेतजेल आदि ने,[२१] इस प्रकार की व्याख्याएँ देने की कोशिश की है, जो कि हास्यजनक बन गई हैं। मानवीय जगत में कार्य-कारण सम्बन्ध कैसे होता है और वहाँ आकड़ों से प्राप्त सहचार (Statistical Correlation) का क्या अर्थ होता है, इसे वे ठीक से नहीं समझ सके।

मात्रामूलक पद्धतियां तथा मानवीय विज्ञान

अब तक हमने यह दिखाने की कोशिश की कि मानवीय शास्त्रों में व्याख्या कार्य-कारण-मूलक होती है, और उसका सम्बन्ध घटनाओं तथा क्रियाओं में निहित विशिष्ट

पहलुओं अथवा अर्थों से रहता है, उन अर्थों से जिनके सम्बन्धों का अन्वेषण हो रहा है। किन्तु विज्ञानों के क्षेत्र में केवल विशेष घटनाओं की कारण-मूलक व्याख्या ही नहीं की जाती। इसके विपरीत विज्ञानों में इस बात की कोशिश होती है कि सामान्य नियमों पर पहुँचा जाय, जिनके द्वारा न केवल अतीत घटनाओं की व्याख्या हो सकेगी, बल्कि अनागत के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ भी की जा सकेंगी। अतएव, अब हमें निम्न प्रश्न पर विचार करना पड़ेगा : मानवीय विद्याओं में किस प्रकार के सामान्य कथन (Generalisations) प्राप्त किये जा सकते हैं, और वहाँ कहाँ तक अनागत के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ की जा सकती हैं ?

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि सामाजिक विज्ञान अपने विभिन्न क्षेत्रों में आगे आने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में ठीक भविष्यवाणियाँ नहीं कर पाते। इस दृष्टि से ये विज्ञान भौतिक विज्ञानों से बहुत पीछे हैं। सामाजिक विज्ञान हमें मानवीय परिवेश पर वैसा नियंत्रण भी नहीं देते जैसा भौतिक विज्ञान जड़ात्मक परिवेश पर देते हैं। इस दृष्टि से भौतिक विज्ञानों तथा सामाजिक विज्ञानों की उपलब्धियों में बड़ा अन्तर है। इस अन्तर के कारण कुछ विचारकों ने यह राय दी है कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में हमें उन्हीं अन्वेषण-पद्धतियों का प्रयोग करना चाहिए जिनका प्रयोग भौतिक विज्ञानों में होता है। श्रीमती बारबेरा वूटन ने लिखा है : 'मनुष्य की अपने भौतिक परिवेश को नियंत्रित करने की आश्चर्यजनक क्षमता में और उसकी अपने मामलों का प्रबन्ध करने की दयनीय अक्षमता में जो विषमता है, वह सर्वविदित है, और बड़ी कष्टप्रद है।'[२२] इस विषमता के संकेत की स्पष्ट शिक्षा यह है कि मानवीय विद्याओं को भौतिक विज्ञानों की अन्वेषण-पद्धतियों का अवलम्ब लेना चाहिये।

किन्तु भौतिक विज्ञानों की सफलता के कारण मानवीय विद्याओं को उनकी पद्धतियों का अनुसरण करना चाहिए, यह बात कुछ वैसी ही है जैसे, शेर की मजबूत शारीरिक गठन को देखते हुए, घोड़े को यह सलाह देना कि वह भी शेर का भोजन किया करे। जहाँ तक इस मान्यता का प्रश्न है कि मनुष्य के अपने जीवन को ठीक से व्यवस्थित न कर सकने का कारण मानवीय विद्याओं में गलत पद्धतियों का प्रयोग है, हम पूछेंगे : उक्त दोनों चीजों का यह कार्य-कारण-मूलक सम्बन्ध स्वयं किस पद्धति से अन्वेषित हुआ है ? मैं संकेत कर रहा हूँ कि उक्त मन्तव्य को उस वैज्ञानिक पद्धति से कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता जिसकी वह सिफारिश करता है। वैज्ञानिक पद्धति से इस मन्तव्य को सिद्ध करने के लिये उसके हिमायतियों को कई

काम करने पड़ेंगे। प्रथमतः उन्हें "मानवीय व्यापारों का योग्यतापूर्ण व्यवस्थापन" नाम की चीज़ का मात्रा-मूलक संकेतक, अथवा सही माप, प्राप्त करना पड़ेगा। दूसरे उन्हें यह दिखाना होगा कि विभिन्न देशों तथा जातियों के इतिहास में जब-जब आपेक्षिक समृद्धि या सम्पन्नता के युग आये हैं, तब-तब वहाँ मानवीय विद्याओं में मात्रा-मूलक पद्धतियों का प्रयोग होता रहा है। हमें मालूम नहीं कि उक्त मन्तव्य को मानने वालों ने कभी ऐसा दिखाने का प्रयत्न किया है। उक्त मान्यता की परीक्षा करने का एक और तरीका भी है; हम देखें कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में जो बड़ी-बड़ी कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं, विशेषतः वे कृतियाँ जिनका सम्बन्ध मानवीय जीवन के संचालन एवं व्यवस्थापन अर्थात् जीवन-विवेक से है, उनमें अन्वेषण की किन पद्धतियों का अवलम्ब लिया गया था। जहाँ तक हमें मालूम है इस धरती के बड़े-बड़े अमर विचारकों ने, बुद्ध और कन्फ़्यूशियस, प्लेटो और अरस्तू से लेकर लॉक, रूसो वाल्तेयर, गेटे और कान्ट, मार्क्स और गांधी तथा ह्वाइटहेड और रसेल तक—शिक्षक और विचारक जिन्होंने जीवन-विवेक की दिशा में अमर उपदेश दिये हैं—कभी उस प्रकार की मात्रा-मूलक विधियों का प्रयोग नहीं किया जो भौतिक विज्ञान में प्रचलित हैं। इसका प्रमाण उपस्थित करने के लिये जीवन-सम्बन्धी किसी भी प्राचीन अथवा नवीन महान् ग्रन्थ की ओर संकेत किया जा सकता है, जैसे प्लेटो की 'रिपब्लिक', बुद्ध के "संवाद" और रसेल की "स्वतंत्रता और संगठन" (Freedom and Organisation)।

हमें यह मानने में कोई एतराज नहीं कि भौतिक शास्त्रों ने भौतिक परिवेश पर बहुत अधिक नियंत्रण प्राप्त कर लिया है और यह कि मानवीय विद्याएँ मानवीय परिवेश पर वैसा नियंत्रण नहीं पा सकी हैं। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि मानवीय परिवेश पर अधिक नियंत्रण आवश्यक रूप में मनुष्य को अधिक सुखी बना सकेगा। मानवीय परिवेश पर नियंत्रण की अभिलाषा दो भिन्न प्रयोजनों से हो सकती है। एक दुष्ट प्रयोजन हो सकता है, लोगों को अपना वशवर्ती गुलाम बना लेना। दूसरा प्रयोजन हो सकता है, उन्हें स्वतंत्र तथा सुखी जीवन बिताने के योग्य बनाना। पहले प्रयोजन की पूर्ति के लिये यह ढंग अपनाया जा सकता है कि लोगों की कमजोरियों तथा दुष्ट प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया जाय, और उनसे फायदा उठाया जाय। किन्तु दूसरे प्रयोजन की पूर्ति के लिये समाज का ऐसा संगठन बनाना होगा जो विशेष प्रकार के चारित्रिक गुणों को प्रोत्साहन दे और इस प्रकार लोगों को कतिपय मूल्यों की उपलब्धि के योग्य बनाये। वस्तुस्थिति यह है कि अधिकांश लोग जो दूसरों

पर शक्ति चाहते हैं प्रायः उनकी भलाई तथा कल्याण की चिन्ता नहीं करते। वैज्ञानिक अन्वेषण-पद्धति क्या है, इसकी चिन्ता किये बिना ही ऐसे लोग सदा से यह जानते रहे हैं कि शक्ति की प्राप्ति तथा प्रयोग कैसे होना चाहिये। आज के युग में दैनिक प्रेस, रेडियो, आदि के रूप में प्रचार के उपकरण अधिक बढ़िया हो गये हैं, जिनके कारण आज के शक्तिकांक्षी लोग जनता के मन पर अपने पूर्वजों से ज्यादा अच्छा नियंत्रण कर सकते हैं। आज साइंस की शक्ति बहुत बढ़ गई है, और उसने शासकों के हाथ में नागरिकों के ऊपर नियंत्रण करने के असीम साधन इकट्ठे कर दिये हैं। इसलिये हमें कोई कारण नहीं दीखता कि आज हम यह सोचकर खिन्न हों कि मनुष्यों में मानवीय जीवन पर नियंत्रण करने की पर्याप्त क्षमता नहीं है। वस्तुतः आज तो हमें यह कामना करनी चाहिए कि मनुष्य की यह क्षमता और भी कम हो, ताकि अधिकांश लोग ज्यादा स्वतंत्रता से रह सकें। सच यह है कि सदा की भाँति आज भी मनुष्य को उतनी यह जानने की जरूरत नहीं कि मनुष्य कैसे व्यवहार करते हैं, जितनी कि यह जानने की कि उन्हें कैसे व्यवहार करना चाहिए। प्रथम कोटि का ज्ञान जहाँ कुछ लोगों को स्वतंत्र कर सकता है, वहाँ दूसरों को गुलाम भी बना सकता है; केवल दूसरी कोटि का ज्ञान ही शासकों और शासितों सबको समान रूप में स्वतन्त्र करने वाला है।

एक दूसरे पूर्वग्रह का निराकरण भी जरूरी है, जिसके बिना मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-पद्धति पर निष्पक्ष विचार नहीं हो सकता। कहा जाता है कि जहाँ भौतिक विद्याएँ लगातार उन्नति करती रही हैं, वहाँ मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में वैसी प्रगति दिखाई नहीं देती। हमारे विचार में यह अभियोग निराधार है; वह स्वयं उस 'दर्शन' के बारे में भी सही नहीं है जिसे आज अक्सर बुरा-भला कहा जाता है। मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में जो अविच्छिन्न प्रगति नहीं दीखती इसका प्रमुख हेतु यह है कि उनका विषय, अर्थात् मानव-जीवन, लगातार परिवर्तित, परिवर्धित और सृजनात्मक ढंग से विकसित होता रहता है। इसके विपरीत भौतिक विद्याओं का विषय प्रकृति है, जिसका रूप सदैव न्यूनाधिक वही रहता है। जैसे ही परिवेश की हालत बदलती है, मानव-जीवन नयी-नयी प्रतिक्रियाएँ करने लगता है, और उसके सम्बन्ध में लगाया हुआ पुराना हिसाब गलत होने लगता है। इस सम्बन्ध में हम एक रोचक घटना का उल्लेख करेंगे। ब्रिटिश समाजवादी सरकार ने यह कानून बनाया कि समस्त जनता की निःशुल्क चिकित्सा की जाय। इस पर किसी ने सम्बद्ध मंत्री,

श्री एन्यूरिन बीवन, से पूछा: 'क्या लोग इस सुविधा का दुरुपयोग नहीं करेंगे?' इसके उत्तर में उक्त मंत्री ने जो कहा वह उनके लिये उपयोगी हो सकता है जो मानवीय अन्वेषण-पद्धतियों का अध्ययन तथा निरूपण करना चाहते हैं। उन्होंने कहा: 'मानव-व्यवहार के अध्ययन की एक पूर्व शर्त यह है कि मनुष्यों को पहले व्यवहार करने दिया जाय।'[२२] कुछ सरल स्थितियों में मानवीय व्यवहार का पूर्वाभास हो सकता है; उस व्यवहार की विविध तथा जटिल सम्भावनाओं का पूरा आभास प्रायः उनके निष्पन्न हो जाने पर ही हो सकता है।

वस्तुतः मानवीय व्यवहार के समस्त सम्बद्ध विवरण या व्याख्याएँ कलात्मक सृष्टियों की भाँति होती हैं। आत्मसंगत तथा संतोषप्रद होते हुए भी वे प्रायः अपनी परिधि में किसी एक कोटि के व्यापार के भी सम्पूर्ण विवरण को समावेशित नहीं कर पातीं। यह भी एक कारण है कि ये विवरण तथा व्याख्याएँ मानव-जीवन के जिज्ञासुओं के लिये सदैव न्यूनाधिक रोचक बनी रहती हैं। इस दृष्टि से भौतिक विद्याएँ मानवीय विद्याओं से भिन्न तथा खराब स्थिति में होती हैं। उन विद्याओं में जिन धारणाओं तथा व्याख्याओं का प्रयोग किया जाता है, उनकी उपयोगिता व्यावहारिक होती है; ज्यों ही उनके बदले ज्यादा बढ़िया धारणाओं तथा व्याख्या-सूत्रों की सृष्टि हो जाती है, वे व्यर्थ हो जाती हैं। यही कारण है कि आज पढ़ने में प्लेटो की "रिपब्लिक" जितनी उत्तेजक और उत्प्रेरक जान पड़ती है, वैसी न्यूटन की "प्रिन्सिपिया" (Principia) नहीं।

मानवीय विद्याओं के सम्बन्ध में चिन्तन करने वाले परीक्षकों को गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्यों आज भी होमर की "इलियड", वाल्मीकि की "रामायण", अथवा कौटिल्य का "अर्थशास्त्र" और अरस्तू का "राजनीति-विज्ञान" (Politics) जैसी प्राचीन कृतियाँ रसमय तथा ज्ञानवर्धक जान पड़ती हैं। यही बात "भगवद्गीता", "ताउ ग्रन्थ" (Book of Tao) बाइबिल आदि पुस्तकों के सम्बन्ध में, जो आज भी हमें प्रेरणा देती है, कही जा सकती है। यदि हम प्राचीन लेखकों, कवियों, विचारकों तथा धर्मशिक्षकों के प्राचीन महाग्रन्थों को यह कहकर तिरस्कृत कर दें कि उनकी विषय-वस्तु वैज्ञानिक ढंग से परीक्षणीय नहीं है, तो समझ में नहीं आता कि विश्व-मानव की संस्कृति में से क्या बच रहेगा।

हमने उन पूर्वाग्रही तर्कों का निराकरण किया जो मात्रा-मूलक अन्वेषण-पद्धतियों

के प्रयोग के पक्ष में दिय जाते हैं; हमने मानवीय विद्याओं के महत्व के विरोधी कतिपय पक्षपातों का भी खंडन किया। इसका यह मतलब नहीं कि हम मात्रामूलक पद्धतियों के महत्व से अनभिज्ञ हैं, और उनके प्रयोग के विरुद्ध स्वयं कतिपय पूर्वग्रहों को पकड़ बैठे हैं। हमारा अनुरोध केवल इतना है कि जब हम मानवीय विद्याओं के लिये उचित अन्वेषण-पद्धतियों के प्रश्न से उलझें, तो हम दो चीजों का ध्यान रक्खें; एक उनकी विषयवस्तु की प्रकृति का, और दूसरे उनकी अब तक प्रयुक्त चिन्तन-सरणियों और लब्धियों का। फलतः हम मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-पद्धति के सम्बन्ध में तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करेंगे: (१) उनकी विषयवस्तु की प्रकृति; (२) उनकी व्याख्याओं तथा सामान्य-कथनों का स्वरूप; और (३) उनकी व्याख्याओं तथा सामान्य-कथनों की परीक्षा अथवा प्रामाणिकता की समस्या।

मानवीय विद्याओं की विषय-वस्तु

हम पहले ही कह चुके हैं कि मानवीय विद्याओं की विषय-वस्तु का निर्माण मनुष्य के ऐतिहासिक अनुभव से होता है। स्वयं जीवनी भी इस अनुभव का अंग है, क्योंकि व्यक्ति का इतिहास मानव-जाति के सामान्य इतिहास का ही एक विभाग या पहलू है। मानवीय विद्याओं में व्यक्ति के जिस इतिहास का महत्व होता है वह उस व्यक्ति के शरीर के व्यापक इतिहास का वह अंग होता है जिसका दूसरे सचेत मनुष्यों के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। श्री ड्यूई ने एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्य का सारा व्यवहार सामाजिक होता है, अर्थात् उसके समस्त व्यवहार में समाज के सब लोग साझेदार होते हैं। व्यक्ति का व्यवहार आवश्यक रूप में समुदाय के इतिहास का, और इस प्रकार मानव-जाति के इतिहास का, अंग होता है।

इतिहास के प्रवाह में से अन्वेषक लोग निम्न पद्धतियों से अपनी विषय-वस्तु प्राप्त करते हैं: प्राचीन अभिलेखों तथा अन्य ध्वंसावशेषों की परीक्षा करके; वर्तमान का निरीक्षण करके; विभिन्न घटनाओं की पुनरावृत्ति तथा उनके आपसी सम्बन्धों का आँकड़ों द्वारा अध्ययन करके। ये सब पद्धतियाँ चयन और प्रत्याहरण की क्रियाओं पर निर्भर हैं; इन क्रियाओं का आवश्यक रूप में अन्वेषक की रुचियों, प्रयोजनों तथा मूल्यों से सम्बन्ध होता है।

मानवीय विद्याओं में एक दूसरे प्रकार की विषय-वस्तु भी ग्राह्य होती है; इस

विषय-वस्तु को हम "काल्पनिक प्रयोग" (Imaginary Experiments) कहेंगे। सब प्रकार की तर्कना का आधार हमारी वह क्षमता होती है जिसके द्वारा हम विभिन्न कथनों अथवा वक्तव्यों के बीच आक्षेप-मूलक सम्बन्ध (Implicational Connections) देखते हैं। मानवीय व्यापारों के क्षेत्र में एक दूसरी कोटि के सम्बन्ध हमें एक घटना से दूसरी तक पहुँचने में मदद देते हैं, अर्थात् साध्य-साधन सम्बन्ध। ये सम्बन्ध तर्कशास्त्र के आक्षेप-मूलक सम्बन्धों से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये नेपोलियन की इंगलैंड को नीचा दिखाने की इच्छा और योरप के महाद्वीप का घेरा डालने में जो सम्बन्ध है, अथवा उसकी अपना शासक-वंश प्रतिष्ठित करने की महत्वाकांक्षा और आस्ट्रिया की राजकुमारी से विवाह करने में जो लगाव है, वह इस कोटि का नहीं जिसकी प्रासंगिकता अथवा आवश्यकता तर्कशास्त्र द्वारा सिद्ध की जा सके। उसे सिद्ध करने के लिये हमें साध्य-साधन-सम्बन्धी अपने सहज ज्ञान पर और तत्कालीन परिस्थितियों की जानकारी पर निर्भर करना पड़ेगा। तथाकथित काल्पनिक प्रयोग प्रायः ऐसे सम्बन्धों पर निर्भर करते हैं, और यह निर्णय करने के लिये कि विभिन्न योजनाओं एवं कार्य-क्रमों, तथा नीतियों एवं आदर्शों में, कौन अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है, हमें उपरोक्त सम्बन्धों पर निर्भर करना पड़ता है। इन वक्तव्यों के व्यावहारिक निदर्शन हम आगे देंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि क्योंकि मानवीय जीवन की स्थितियों तथा घटनाओं पर बड़े-बड़े प्रयोग नहीं किये जा सकते इसलिये यह उचित है कि हम कल्पना के द्वारा यह देखने की कोशिश करें कि दो समान स्थितियों में एक नये तत्व का समावेश करने, अथवा एकतत्व के हटा लेने से, क्या प्रभाव पड़ेगा।

यहाँ हम कुछ शब्द उन तथ्यों के बारे में कहेंगे जो अन्तःप्रेक्षण (Introspection) द्वारा प्राप्त होते हैं। दूसरे मनुष्यों की प्रेरणाओं (Motives) तथा उनके आपसी सम्बन्धों के बारे में हमारा ज्ञान प्रायः आत्म-निरीक्षण से प्राप्त होता है। सम्भवतः हम किसी दूसरे स्रोत से यह नहीं जान सकते कि प्रेम, घृणा, विस्मित अथवा क्रुद्ध होने का आन्तरिक अभिप्राय क्या होता है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि अन्तः-प्रेक्षण हमें उन सब संवेदनाओं तथा आवेगों, इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं तथा उनके विविध संगठनों की पूर्ण जानकारी दे सकता है जिन्होंने मानव-जाति को समय-समय पर कर्म की प्रेरणा दी है। यदि इस प्रकार की जानकारी सम्भव होती तो सम्भवत मानव जीवन के ज्ञान के लिये इतिहास का ज्ञान आवश्यक नहीं होता। अन्तःप्रेक्षण

की सीमाओं का निर्देश करने के लिये हम पाठकों के सामने दो बातें रक्खेंगे। प्रथमतः, हमारा मानसिक जीवन हमारे नर-नारियों आदि से भरे बाह्य जगत के बोध का समानान्तर होता है, और उस बोध के साथ ही अग्रसर होता है। बाह्य जगत के विस्तृत सम्पर्क के बिना समृद्ध आन्तरिक जीवन सम्भव नहीं है। किन्तु किसी भी व्यक्ति के जीवन में बाह्य सम्पर्कों की सम्भावनाएँ सीमित होती हैं, इसलिये कोई भी व्यक्ति यह आशा नहीं कर सकता कि केवल अपने जीवन में समस्त मानव जाति की अनुभव-सम्भावनाएँ निःशेष कर ले। दूसरे, विभिन्न लोगों की बुद्धियाँ, प्रवृत्तियाँ तथा स्वभाव अलग-अलग होते हैं; ये भिन्नताएँ समान परिवेश के सम्बन्ध में भी देखी जाती हैं भिन्न परिवेशों का तो कहना ही क्या। दूसरी ओर यह भी सही है कि मानव व्यक्ति, कल्पना द्वारा, दूसरे मनुष्यों की बोधात्मक तथा रागात्मक प्रतिक्रियाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है, बशर्ते कि वह उस दृष्टिकोण पर बिठा दिया जाय जहाँ वे दूसरे लोग हैं। कथा-साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन में हम इसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। मनुष्यों के बीच होने वाले आत्मिक अथवा आन्तरिक आदान-प्रदान में सर्वत्र यही प्रक्रिया रहती है। इस प्रक्रिया को हम मनोवैज्ञानिक संवेदना अथवा सहानुभूति कह सकते हैं। बीज-रूप में प्रत्येक मनुष्य में ऐसी शक्ति होती है कि वह अपने को प्रत्येक दूसरे मनुष्य की स्थिति में रख सके। इसका यह मतलब नहीं कि स्वयं अपने ऊपर छोड़ दिये जाने पर प्रत्येक मनुष्य दूसरे नर-नारियों का प्रत्येक पार्ट, भौतिक अथवा मानसिक रूप में भी, अदा कर सकता है। एक जीवनीकार अथवा इतिहासकार की सहायता से मैं किंचित् दुर्बल, काल्पनिक ढंग से एक नैपोलियन की मनःस्थिति में प्रवेश कर सकता हूँ, किन्तु स्वयं अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्तियों की सहायता से मैं उस स्थिति की सृष्टि नहीं कर सकता।

मानवीय विद्याओं में व्याख्या और सामान्य कथन

अब हम इस कठिन प्रश्न से उलझेंगे कि मानवीय विद्याओं में व्याख्या और सामान्य कथनों का क्या रूप होता है। किसी घटना की व्याख्या करने का अर्थ है यह दर्शित करना कि कैसे वह किसी कारण अथवा हेतु-समूह से निःसृत होती है। सामान्य कथन करने का अर्थ है दो घटनाओं अथवा घटना-समूहों में, अथवा दो घटना-रूपों में, आवश्यक सम्बन्ध की घोषणा करना। भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में प्रायः सभी सम्बन्ध न्यूनाधिक आवश्यक अथवा अनिवार्य होते हैं, और उन्हें गणित के सम्बद्ध-परिवर्तन-

मूलक समीकरणों (Functional Equations) द्वारा प्रकट किया जाता है। किसी प्राकृतिक घटना, जैसे तापक्रम के बढ़ने की, व्याख्या करने का अर्थ है यह दिखाना कि किस प्रकार वह परिवर्तन किसी दूसरे विवर्तमान तत्व (Variable) से सम्बद्ध परिवर्तन का लगाव रखता है। किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या में कार्य और कारण का सम्बन्ध बुद्धिगम्य तो होता है, किन्तु आवश्यक या अनिवार्य नहीं होता। यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसका प्रभाव मानवीय विद्याओं में किये जाने वाले सामान्य कथनों पर पड़ता है। उदाहरण के लिये नेपोलियन ने जो योरपीय महाद्वीप का घेरा डाला था, उस पर विचार कीजिए। इस घेरा डालने की घटना का एक निर्धारक हेतु नेपोलियन की यह इच्छा थी कि वह इंगलैंड को आर्थिक क्षति पहुँचाये, और इस प्रकार उसकी राजनैतिक शक्ति को कम करे, किन्तु इस प्रेरणा अथवा लक्ष्य के रहते हुए यह आवश्यक या अनिवार्य नहीं था कि नेपोलियन ठीक वैसा व्यवहार करे जैसा कि उसने किया। हो सकता था कि उसके मन में घेरा डालने का विचार उत्पन्न ही नहीं होता, और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये किसी दूसरे उपाय का सहारा लेता। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये एक व्यक्ति जिन उपायों का अवलम्बन लेता है, उनका निर्धारण केवल उस लक्ष्य के स्वरूप से अथवा परिस्थितियों के तर्क (Logic of Situation) से नहीं होता, उसका निर्धारण कर्ता की सूझ से भी होता है। हर हालत में यह सम्भव है कि लक्ष्य और परिस्थिति दोनों मिलकर एक से अधिक कार्य-सरणियों अथवा कर्म-प्रकारों को प्रेरित करें, और इस प्रकार "वही कारण, वही कार्य" अथवा "समान कारण, समान कार्य" के नियम में हस्तक्षेप करें। इसी प्रकार, व्यावहारिक दृष्टि से एक विशेष कार्य सदैव एक विशिष्ट कारण द्वारा उत्पन्न नहीं होता। उदाहरण के लिये नेपोलियन की एक सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने की कामना का कारण योरपीय महाद्वीप का सफल घेरा डालने की अभिलाषा से भिन्न भी हो सकता था।

अनेक कारणवाद (अर्थात् यह सिद्धान्त कि एक ही कार्य के तरह-तरह के कई कारण हो सकते हैं) के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जाती है कि उसकी युक्तिसंगतता इस पर आधारित है कि कार्य अथवा परिणाम को ज्यादा सामान्य रूप में ग्रहण कर लिया जाय, अर्थात् उसकी विशेषताओं का समुचित संकेत न किया जाय। उदाहरण के लिये मृत्यु का कारण विषपान भी हो सकता है और डूबना भी, किन्तु दोनों मृत्युएँ समान नहीं होतीं। इसीलिये मृत्यु के बाद परीक्षा करके डाक्टर यह बतला

पाते हैं कि उसका कारण क्या था। किन्तु इस आपत्ति का बल उस समय बहुत-कुछ कम हो जाता है जब हम इतिहास के व्यापक कार्यों अथवा परिणामों का विचार करते हैं।[२४] यह भी संभव नहीं है कि मानवीय घटनाओं की दुनियाँ में, और भौतिक जगत में भी, कार्यों तथा कारणों का पूर्ण विशेषीकृत वर्णन दिया जा सके। समस्त कार्य-कारण-सम्बन्ध उस समूचे घटनाक्रम में घटित होता है जिसमें प्रायः सम्पूर्ण विश्व का समावेश हो जाता है। विश्व के घटना-क्रम में से किसी भी कारण अथवा कार्य को हम पूर्णतया अलग नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में किसी कार्य का विशेषीकृत उल्लेख (Specification) अन्वेषक के प्रयोजन के अनुरूप ही किया जा सकता है, और कारणों का विशेषीकृत उल्लेख सम्बद्ध कार्यों की सापेक्षता में ही हो सकता है।

ऐतिहासिक व्याख्या के उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथमतः उस व्याख्या में कारणों से कार्यों की ओर संक्रमण, और कार्यों से कारणों का निगमन, बुद्धिगम्य होना चाहिये। दूसरे, यद्यपि ऐतिहासिक कारणों तथा कार्यों के पारस्परिक सम्बन्ध बुद्धिगम्य होते हैं अर्थात् उन सम्बन्धों को पूरी परिस्थिति में निहित प्रासंगिक अर्थों द्वारा समझा जा सकता है, फिर भी वे सम्बन्ध आवश्यक या अनिवार्य नहीं होते। उक्त दूसरे निष्कर्ष के स्पष्टीकरण की जरूरत है। हम इसे अस्वीकार नहीं करते कि **कभी-कभी** कार्य-कारण का लगाव अनिवार्य होता है; हमारा कहना है कि वह सम्बन्ध **सदैव** अनिवार्य नहीं होता। मानवीय व्यापारों तथा घटनाओं की श्रृंखलाओं में जो कड़ियाँ होती हैं उनमें मनुष्यों की पसन्द-नापसन्द, संकोच और हिचकिचाहट, तथा उनके कूट प्रयत्न, इनका भी समावेश होता है; विभिन्न परिस्थितियों में इनके बारे में सही भविष्यवाणियाँ करना सम्भव नहीं होता। इसलिये किसी देश-काल में उप-स्थित स्थिति-संस्थान के और उन परिणामों के बीच जो मानवीय कर्ताओं के हस्तक्षेप द्वारा उन संस्थानों से उत्पन्न किये जाते हैं, बनने वाला सम्बन्ध अनिवार्य न रहकर परिवर्तनीय बन जाता है। फलतः ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम के सम्बन्ध में कभी भी पूर्णतया सही भविष्यवाणियाँ नहीं की जा सकतीं।

भौतिक परिवेश की अपेक्षा से कार्य करते हुए मनुष्य नई चीजों तथा वस्तुओं के नये संस्थानों को उत्पन्न करते हैं, ये चीजें तथा संस्थान केवल प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न नहीं किये जा सकते। जहाँ तक ये सृष्टियाँ मनुष्य की सृजनात्मक प्रतिभा पर निर्भर करती हैं, वहाँ तक वे सफल भविष्यवाणियों का विषय नहीं हो सकतीं। हमारा विचार है कि इस समय ऐसा कोई व्यक्ति जीवित नहीं है जो ठीक-ठीक उन आविष्कारों

का पूर्वाभास ले सके जो (उदाहरण के लिये) तीन हजार ई० तक किये जा चुकेंगे। एक हजार, बल्कि सौ वर्ष, पूर्व भी यह किसी के लिये सम्भव नहीं था कि वह आज के मनुष्य के भौतिक तथा बौद्धिक आविष्कारों का ठीक-ठीक आभास कर ले। मनुष्य की सृजनशीलता स्वयं मनुष्य की ज्ञानशक्ति का अतिक्रमण करती है। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य की वर्तमान स्थिति, कुछ हद तक भी, उसके उन सृजनात्मक व्यापारों का परिणाम है जो उसने अपने भौतिक-सामाजिक परिवेश की अपेक्षा में अनुष्ठित किये, तो यह मानना पड़ेगा कि मानव जीवन के क्षेत्र में कार्य-कारण का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं होता। हम सहज ही यह कल्पना कर सकते हैं कि मनुष्य का विकास जिस ढंगसे हुआ है, उससे भिन्न होता। उदाहरण के लिये यह कल्पना सम्भव है कि योरप में विज्ञान का उदय वैसे ही नहीं होता जैसे कि चीन और हिन्दुस्तान में नहीं हुआ। यह अकेली चीज हमारी दुनिया के सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक इतिहास को बदल देती। प्रो० मैकाइवर ने लिखा है: 'यदि मराथान के युद्ध-क्षेत्र में फारस के लोग यूनानियों को हरा देते तो निश्चय ही सभ्य जगत का इतिहास एक दूसरी ही कहानी बन जाता।'[२५] जब तक कि आप हीगल के साथ यह विश्वास न करें कि यूनानियों की विजय एक दैवी योजना के अनुसार शुरू से ही निश्चित थी, और योरप में विज्ञान का उदय होना भी वैसे ही निश्चित था, तब तक आप निश्चयपूर्वक यह मन्तव्य ग्रहण नहीं कर सकते कि मानव जाति की इस समय जो स्थिति है, उससे भिन्न स्थिति हो ही नहीं सकती थी। और इस मन्तव्य को छोड़ने का अर्थ है इस मान्यता को छोड़ देना कि अतीत कारणों और उनके वर्तमान कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध है।

यहाँ एक रोचक प्रश्न उठाया जा सकता है: क्या मनुष्य की सृजनात्मक प्रतिभा स्वयं उसके चारों ओर व्यापृत होने वाली शक्तियों का परिणाम नहीं होती।? कहा जा सकता है कि यद्यपि मनुष्य एक परिस्थिति में अनेक संभावनाओं का साक्षात्कार करता है, फिर भी वह केवल उसी संभावना को यथार्थ बना पाता है जिसे वर्तमान परिस्थितियाँ वैसी सुविधा देती हैं। इसके उत्तर में हमें कहना है कि मनुष्य सदैव उसी रास्ते का अनुसरण नहीं करता जो सीधा अथवा बुद्धिसंगत है, अर्थात् जो सर्वाधिक परिस्थितियों के अनुकूल है। मनुष्य गलतियाँ भी करता है, और ऐसा अक्सर होता है कि वह प्राप्त अवसरों का उचित उपयोग नहीं कर पाता। जब तक यह न माना जाय कि मनुष्यों द्वारा की गई गलतियाँ उसी प्रकार अनिवार्य होती हैं जैसे कि उनके भाग्यशाली

निर्णय, तब तक यह नहीं कहा जा सकेगा कि कोई ऐतिहासिक स्थिति अतीत कारणों का आवश्यक परिणाम है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय जीवन-स्थितियों में आवश्यक या अनिवार्य सम्बन्ध होते ही नहीं। जहाँ तक मनुष्य को भौतिक परिवेश, अपनी भौतिक-जैवी प्रकृति, तथा मनोवैज्ञानिक-सामाजिक प्रकृति की भी, सीमाओं में काम करना पड़ता है, वहाँ तक उसके कार्य न्यूनाधिक निर्धारित होते हैं। रूस में नेपोलियन के पराजित होने का एक कारण यह भी था कि उसके पास रसद की कमी हो गई, और मनुष्य बिना भोजन के जीवित नहीं रह सकते। वह इंगलैंड को अपने अधीन नहीं कर सका, क्योंकि उस देश का समुद्रों पर अधिकार था, जहाँ नेपोलियन की प्रतिभा शक्तिहीन पड़ जाती थी। चूँकि मनुष्य की सृजनशील प्रतिभा वस्तुओं की प्रकृति द्वारा निर्मित सीमाओं के बीच काम करती है, इसलिये मानवीय व्यापारों की प्रगति न्यूनाधिक पूर्वाभासित की जा सकती है।

तो, मानवीय विद्याओं में किये जाने वाले सामान्य कथनों की निजी विशेषताएँ क्या होती हैं? इस सम्बन्ध में हमारी पहली मान्यता यह है कि वे **सामान्य कथन गुणात्मक होते हैं, मात्रामूलक नहीं**। एक सामान्य कथन दो या अधिक पदों के बीच सम्बन्ध बतलाता है। इस प्रकार का कथन मानवीय विद्याओं में समावेशित होने योग्य तभी बन सकता है जब उसमें उपस्थित कम-से-कम एक पद (Term) किसी ऐसी स्थिति या घटना का द्योतक हो जो मानवीय दृष्टि से अर्थवती है, अर्थात् जो मानव-चेतना द्वारा सहचरित है। इस प्रकार के अर्थों की मात्रा-मूलक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती,[२६] और उनसे सम्बन्धित सामान्य कथन भी मात्रा-मूलक नहीं हो पाते। सामाजिक विज्ञानों के किसी भी सामान्य कथन के उदाहरण से हमारे इस मन्तव्य की पुष्टि की जा सकती है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री दुरखाइम की राय थी कि समाज-शास्त्रीय अन्वेषण का प्रधान एवं श्रेष्ठ उपकरण सहचरित परिवर्तन (Concomitant Variation) की पद्धति है। उसने अपने "आत्महत्या" ग्रंथ में उक्त पद्धति का उपयोग किया। यह लक्षित करने की बात है कि विभिन्न प्रकार की आत्महत्याओं के कारणों के सम्बन्ध में वह जिन सामान्य कथनों पर पहुँचा, वे सब गुणात्मक थे। उदाहरण के लिये दुरखाइम का कहना है कि अहन्तामूलक आत्महत्या (Egoistic Suicide) का कारण व्यक्ति और समाज में सामं-

जस्य का अभाव होता है। यह सामान्य कथन तीन प्रकार के विपरीत सहचारों (Inverse Correlations) की व्याख्या-रूप था जो उन्होंने आत्महत्याओं की संख्या और (१) धार्मिक समाज, (२) पारिवारिक समाज, और (३) राजनैतिक समाज के साथ समन्वय या सामन्जस्य के दर्जों के बीच प्राप्त किये।[२७]

यह देखने की बात है कि विश्व में घटित होनेवाली कोई भी घटना हजारों दूसरी चीजों से सहचरित रहती है, और ऐसे विभिन्न घटना-समूहों के बीच, जिनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध के अभाव का निश्चय है, सहचार (Correlation) के विभिन्न दर्जे पाये जा सकते हैं। कोहेन और नागेल नामक तर्कशास्त्रियों ने लिखा है: 'यह दर्शित किया गया है कि ब्रिटिश जहाजी बेड़े पर किये जानेवाले खर्च और केलों की बढ़ती हुई खपत में बड़ा सहचार है, इसी प्रकार केन्सर की बीमारी और इंगलैंड में सेवों के आयात में सहचार-सम्बन्ध देखा गया है।' मतलब यह कि सहचार का संकेत देने वाली संख्या हमेशा अयुतसिद्धि सम्बन्ध (Invariable Connection) का पर्याप्त प्रमाण नहीं होती। कतिपय घटनाओं अथवा परिवर्तनों की तीव्रता के दर्जो एवं पौनः पुन्य के बीच सहचार कभी-कभी कार्य-कारण -सम्बन्ध की दृष्टि से निरर्थक भी होता है।[२८]

इससे यह निर्गत होता है कि दो परिवर्तनों के सहचार को तभी महत्व देना चाहिए जब उन परिवर्तनों के बीच कार्य-कारणभाव की सम्भावना हो। अन्वेषण की पहली और अन्तिम भूमिकाओं में भी सहचार-सम्बन्धों का महत्व तभी होता है जब वे बुद्धि-गम्य सम्बन्धों का संकेत करते हों। कम-से-कम मानवीय विद्याओं की यही स्थिति है। एक गणितज्ञ भौतिकशास्त्री अन्धभाव से सहचार-सम्बन्धों की श्रृंखला का अनुसरण कर सकता है, और उन्हें सम्बद्ध-परिवर्तन-मूलक (Functional) समीकरणों द्वारा प्रकट कर सकता है; किन्तु यह पद्धति सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में उपयोगी नहीं है।

अन्वेषण के प्रारम्भ में इस बात का धुंधला आभास रहता है कि किसी कार्य या परिमाण का सम्बन्ध किसी एक स्थिति या अनेक स्थितियों से है। बाद में विश्लेषण और निरसन (Elimination) की क्रियाओं द्वारा, अनेक स्थितियों में पाये जाने वाले परिणाम को, एक खास कारणतत्व से सम्बन्धित कर दिया जाता है। अहन्ता-मूलक आत्महत्या की व्याख्या में दुरखाइम ने जो पद्धति अपनाई, वह उक्त मन्तव्य का निदर्शन है।

यहाँ एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है, कोई भी सहचार-सम्बन्ध विशिष्ट परिस्थितियों में ही सही होता है। यदि परिस्थितियाँ अधिक बदल जायँ तो सहचार-सम्बन्ध की प्रकृति भी बदल जाती है। उदाहरण के लिए दुरखाइम ने यह लक्षित किया कि इंगलैंड के प्रोटेस्टेन्ट लोगों में आत्महत्याएँ उतनी संख्या में नहीं होती थीं, जितनी कि दूसरे देशों के प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों में। क्योंकि मानव-जीवन की स्थितियाँ विभिन्न देशों तथा युगों में बहुत-कुछ भिन्न होती हैं, इसलिये विभिन्न घटनाओं के सहचार सम्बन्ध एकरूप ही रहें, इसकी आशा नहीं की जा सकती। इसलिये इन क्षेत्रों में मात्रा-मूलक सम्बन्धों को बतानेवाले ऐसे कानूनों का पता नहीं लगाया जा सकता जो इतिहास के सब समाजों तथा युगों पर लागू हो सकें। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सोम्बार्ट तथा कुछ दूसरे विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि सामान्य अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त जैसी कोई वस्तु नहीं है, ऐसे सिद्धान्त जो किसी भी समय तथा स्थान के तथ्यों पर लागू हो सकें, इसके बदले आर्थिक पद्धतियों (Economic Systems) की एक अनिर्दिष्ट अनेकात्मक संख्या ही उपलब्ध है, और वे समष्टियाँ एक-दूसरे से भिन्न होती हैं।[२९]

इस अनिर्दिष्टता में यदि हम उस जटिलता को जोड़ दें जो एक ही कार्य के अनेक कारणों तथा एक ही कारण के अनेक कार्यों की स्थितियों से उत्थित होती है, तो मामला और भी दुरूह बन जायगा। उदाहरण के लिये दुरखाइम ने दर्शित किया है कि व्यक्ति की समाज से विच्छिन्नता का मूल धार्मिक, पारिवारिक अथवा राजनैतिक कैसे भी सामुदायिक जीवन में हो सकता है। यह भी स्पष्ट है कि विभिन्न कोटियों की विच्छिन्नता या असामंजस्य (Disintegration) का विभिन्न व्यक्तियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ेगा। दुरखाइम ने कुछ इस भाव से लिखा है जैसे सामुदायिक जीवन का सामंजस्य ही मुख्य हो और व्यक्तियों का अपना अपना चरित्र कोई महत्व न रखता हो। वह कहते हैं कि 'किसी समूह के सामंजस्य के उलटे अनुपात में आत्महत्याओं की संख्या होती है।[३०] दुरखाइम का यह कथन उनके मनोविज्ञान-विरोधी भाव को प्रकट करता है, और वस्तुस्थिति का पूरा वर्णन नहीं देता। व्यक्ति केवल समूह का अंग ही नहीं होता; एक व्यक्ति ऐसे समुदाय से भी विच्छिन्न महसूस कर सकता है जिसमें बहुत ज्यादा सामंजस्य है। उदाहरण के लिये एक प्रतिभाशाली व्यक्ति ऐसे लोगों के बीच अकेलापन महसूस कर सकता है जो परस्पर पूर्ण सामंजस्य महसूस करते हैं।

इसकी विपरीत बात भी स्पष्ट है, समुदाय की सामंजस्यहीनता का उसके

विभिन्न सदस्यों पर भिन्न-भिन्न कोटियों का प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उनमें से कुछ ही में आत्महत्या की प्रवृत्ति जगती है।

आत्महत्याओं की संख्या को गिना जा सकता है, किन्तु "किसी समुदाय का असामंजस्य" और "किसी व्यक्ति का असामंजस्य की स्थिति के प्रति संवेदनशील होना" जैसी व्यंजनाओं के लिये मात्रा मूलक अभिव्यक्ति देना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार "एक प्रिय बच्चे की मृत्यु माता-पिता के शोक का कारण होती है," जैसे सामान्य कथन में मृत्यु, शोक जैसी चीजों को मात्रा-मूलक पदों में नहीं बाँधा जा सकता।

निष्कर्ष यह कि मानवीय विद्याओं में सामान्य कथन गुणात्मक होते हैं। हमारा दूसरा मंतव्य यह है कि ये **सामान्य कथन घटनाओं तथा परिवर्तनों के बीच बुद्धिगम्य सम्बन्धों को प्रकट करते हैं।** हम ऊपर दिखा चुके हैं कि मानवीय घटनाओं के क्षेत्र में आँकड़ों पर कुछ सीमा तक ही निर्भर किया जा सकता है; फलतः वहाँ सामान्य कथन उक्त प्रकार के होने चाहिएँ। आँकड़ा-विज्ञान की सीमाएँ दर्शित करने के लिए हम यहाँ श्रीमती डोरीथी स्वेन के एक अध्ययन का हवाला देंगे। श्रीमती स्वेन ने "व्यावसायिक उत्थान-पतन" तथा "कतिपय महत्वपूर्ण सामाजिक घटनाओं" जैसे विवाह, मृत्यु-संख्या, शराबखोरी, अपराध, देशान्तरगमन, आदि के बीच निर्मित होनेवाले सम्बन्धों का अध्ययन किया।[३१] उन्होंने जिस प्रकार के सहचार-सम्बन्धों का पता लगाया,उनमें से दो का उल्लेख हम यहाँ करेंगे। उनका एक अन्वेषण यह था कि व्यवसाय की वृद्धि के साथ-साथ विवाहों की संख्या में वृद्धि हुई थी। दूसरा अन्वेषण यह था कि समृद्धि के समय में मौतों की संख्या में वृद्धि हुई।

पहले सहचार-सम्बन्ध को हम अपनी उस सामान्य जानकारी के आधार पर जो हमें युवक-युवतियों के बारे में है, समझ सकते हैं। व्यवसाय की उन्नति समृद्धि और सुरक्षा की स्थिति उत्पन्न करती है, जिसमें लोग विवाह द्वारा परिवार बनाकर रहने की ओर प्रेरित होते हैं। किन्तु दूसरा सहचार-सम्बन्ध हमें एकदम अविश्वसनीय जान पड़ता है। भला सम्पत्ति या समृद्धि के बढ़ने से मृत्यु-संख्या में क्यों वृद्धि होती है? इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'बढ़ी हुई समृद्धि के कारण लोग शराब ज्यादा पीने लगते हैं;' अथवा 'उद्योग-धंधों में माताओं को अधिक काम मिलने लगता है;' अथवा 'समृद्धि के समय में तरुण एवं स्वस्थ लोग अक्सर देशान्तर में चले जाते हैं।'

पाठकों से निवेदन है कि उक्त तथ्य तथा अन्वेषणों के सम्बन्ध में वे कई चीजों को

लक्षित करें। (क) भौतिक शास्त्रों के क्षेत्र में कभी भी कोई सहचार-सम्बन्ध उस प्रकार अविश्वसनीय अथवा विस्मयकारक नहीं प्रतीत होता, जैसा कि उक्त दूसरा सहचार-सम्बन्ध। (ख) उक्त सहचार-सम्बन्ध के विरोधाभासत्व को हटाने के लिये ऐसे व्याख्यात्मक तत्वों का सहारा लिया गया है जो हमारी सहज बुद्धि और सहज ज्ञान के अनुरूप है। (ग) उपरोक्त सहचार-सम्बन्ध बिल्कुल ही न पाया जाता यदि विचाराधीन प्रदेश के लोग शराब पीने के एकदम ही आदी न होते (धार्मिक कारणों से, अथवा शराबबंदी के कारण), अपनी स्त्रियों को काम पर न भेजते, और देशान्तर जाने की प्रवृत्ति वाले न होते। दूसरे शब्दों में यदि अन्वेषण का विषय ऐसे लोग होते जिनकी रहन-सहन के तरीके और सामाजिक प्रथाएँ भिन्न थीं तो उक्त सहचार-सम्बन्ध का रूप बदल जाता। निष्कर्ष यह कि विचाराधीन सहचार की प्रामाणिकता सार्वभौम न होकर स्थानीय है, और उसके आधार पर किसी ऐसे नियम या कानून का निरूपण नहीं किया जा सकता जिसकी प्रामाणिकता सार्वभौम हो, अर्थात् जो सर्वत्र लागू किया जा सके।

वस्तुतः हम उक्त सहचार-सम्बन्ध के आधार पर किसी सामान्य नियम का निरूपण नहीं कर सकते; इतना ही नहीं, उस सम्बन्ध की व्याख्या के लिये हमें मानव-व्यवहार के कतिपय ऐसे नियमों या कानूनों की जरूरत होती है जिनकी प्रामाणिकता का उक्त सहचार-सम्बन्ध से कोई लगाव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि मानवीय विद्याओं में आँकड़ों द्वारा प्राप्त सहचार-सम्बन्ध वह काम नहीं कर पाते जो कि प्रयोगात्मक, भौतिक शास्त्रों में अन्वेषित होने वाले सहचार-सम्बन्ध करते हैं।

मानवीय विद्याओं तथा भौतिक शास्त्रों की स्थितियों में एक दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर है, जिस पर हमें ध्यान देना चाहिये। भौतिक शास्त्रों में अनेक प्रयोगात्मक नियमों (Empirical Laws) की व्याख्या एक सामान्य सिद्धान्त द्वारा (जैसे कि यह सिद्धान्त कि वायव्य पदार्थ परमाणुओं से निर्मित हैं) कर दी जाती है। किन्तु व्यवसाय-दशाओं तथा विभिन्न सामाजिक घटनाओं के बीच अन्वेषित किये हुए विभिन्न सहचार-सम्बन्धों की, उनके आधार पर निर्मित किसी सामान्य सिद्धान्त द्वारा, व्याख्या नहीं हो सकती। इसके विपरीत उन सहचार-सम्बन्धों की अलग-अलग व्याख्या के लिये मानवीय व्यापारों की विभिन्न प्रेरणाओं का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

मनोविज्ञान और मानवीय विद्याएँ

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है : मानवीय विद्याएँ जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धों की स्थापना करती हैं वे, अन्तिम विश्लेषण में, क्या मानवीय प्रेरणाओं के बीच पाये जानेवाले मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध ही होते हैं ? क्या मानवीय विद्याओं द्वारा अन्वेषित होनेवाले नियम अन्ततः मनोविज्ञान के ही नियम, अथवा मनोविज्ञान के नियमों के निगमनात्मक निष्कर्ष, ही होते हैं ? श्री मॉरिस जिन्सवर्ग इन प्रश्नों का स्वीकारात्मक उत्तर देते जान पड़ते हैं। वे लिखते हैं : 'आँकड़ों से प्राप्त होने वाले सहचार-सम्बन्ध बुद्धिगम्य बन जाते हैं जब उनकी व्याख्या उन प्रेरणाओं की अपेक्षा में कर दी जाती हैं जिनका संकेत प्रचलित मनोविज्ञान में रहता है।'[३२] किन्तु जिन्सवर्ग इस सम्भावना को स्वीकार करते हैं कि कुछ नियम विशुद्ध रूप में समाजशास्त्रीय हों। वह यह सम्भावना भी मानते हैं कि प्राणिशास्त्र के कुछ नियम भी विभिन्न समाजों के विकास के अध्ययन में उपयोगी हो सकें।[३३] किन्तु प्रसिद्ध तर्कशास्त्री तथा विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अन्वेषकों के लिये यह नियम बनाया था कि 'उन्हें सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में कभी किसी ऐसे इतिहासाधारित सामान्य कथन को ग्रहण नहीं करना चाहिए जिसके लिये स्वयं मानव-प्रकृति में, अर्थात् मनोवैज्ञानिक, आधार न मिल जाय।'[३४]

अपनी इस सीख के अनुसार मिल ने विपरीत निगमनात्मक पद्धति (Inverse Deductive Method) का प्रतिपादन किया, जिसके द्वारा सामाजिक विज्ञानों के सामान्य कथनों की परीक्षा की जा सके। मिल के विचार में इतिहास हमें समाज के अनुभवाधारित नियम दे सकता है। समाजशास्त्र की समस्या यह है कि वह इन नियमों का निरूपण करे और उन्हें मानव-प्रकृति के चरम मनोवैज्ञानिक नियमों से सम्बद्ध कर दे। यह सम्बन्ध निगमन-मूलक होगा; अर्थात् यह दर्शित किया जाय कि मानव-प्रकृति के चरम नियमों के आलोक में इस प्रकार के अनुभव-मूलक नियम ही प्रत्याशित नियम है।[३५] समाजविज्ञान के नियमों का जो विवरण मिल ने दिया है वह यद्यपि हमें महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश देता है, फिर भी वह कई दृष्टियों से अपूर्ण और भ्रामक भी है। उदाहरण के लिये मिल ने इस बात की ठीक परीक्षा नहीं की कि मानव-प्रकृति के चरम नियमों पर कैसे पहुँचा जा सकता है। आज यह जानकर हमें बड़ा आश्चर्य होता है कि जान स्टुअर्ट मिल की दृष्टि में ये चरम नियम अनुषंग-नियम (Laws

of Association) थे, अर्थात् वे नियम जिनके अनुसार मनोदशाएँ एक-दूसरे के बाद उत्थित होती है। मिल जिस मनोविज्ञान से परिचित था वह मूलतः अन्तः-प्रेक्षण पर आधारित मनोविज्ञान था। उसकी आस्था थी कि निगमन-विधि के प्रयोग द्वारा मनोविज्ञान से उन नियमों को प्राप्त किया जा सकता है जो मनुष्य के चरित्र-निर्माण को अनुशासित करते हैं। इन नियमों के निरूपण के लिये जहाँ एक ओर यह जरूरी था कि उनका सम्बन्ध मानव-प्रकृति के चरम नियमों से जोड़ा जाय, वहाँ यह भी आवश्यक था कि कर्मशील मनुष्यों पर पड़ने वाले परिस्थितियों के प्रभाव का भी विचार किया जाय। इस सम्बन्ध में मिल ने दो महत्वपूर्ण तथ्यों की अवगति का सबूत दिया है: एक यह कि विभिन्न कर्ताओं की परिस्थितियाँ परस्पर बहुत भिन्न होती हैं, और दूसरा यह कि एक-सी परिस्थितियों में भी सब मनुष्य एक तरह महसूस नहीं करते, और न एक प्रकार की प्रतिक्रिया ही करते हैं।[३६]

किन्तु इन अन्तिम स्वीकृतियों का अर्थ इस सिद्धान्त को छोड़ देना है कि सामाजिक विज्ञानों के नियम अन्ततः मनोवैज्ञानिक आत्मबोध से प्राप्त किये जाते हैं। इस मन्तव्य की कमी यह है कि वह हमारी परिस्थितियों-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि के महत्व की अवहेलना करता है। मनुष्य का जटिल इतिहास केवल, और मुख्यतः भी, उसकी व्यक्तिगत मूल प्रकृति का परिणाम नहीं है। वह प्रायः दो चीजों से निर्धारित होता है: एक विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों के विरोधी प्रयोजनों के संघर्ष से, और दूसरे उन परिस्थितियों से जो विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों की योजनाओं एवं प्रयोजनों की पूर्ति में साधक या बाधक होती हैं। सामाजिक विज्ञानों में किये जाने वाले सामान्य कथनों की परीक्षा इन सभी चीजों से सम्बन्धित अन्तर्दृष्टि द्वारा होती है।

वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनो प्रकार के मानव-जीवन में साध्य और साधन प्रायः एक-दूसरे में मिले रहते हैं; अक्सर वे परस्पर परिवर्तनीय होते हैं। मनोविज्ञान से यह आशा की जाती है कि वह हमारी जरूरतों तथा उन लक्ष्यों की जिनके पीछे हम दौड़ते हैं, ठीक जानकारी दे; किन्तु हमारी जरूरतें और लक्ष्य दोनों परिवेश के प्रभाव से बदल जाते हैं। यह परिवेश भौतिक तथा यान्त्रिक तो है ही, उससे भी ज्यादा सामाजिक होता है। इस परिवेश में विभिन्न शक्तियाँ कैसे काम करती हैं, इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि हमें ऐतिहासिक अनुभव से ही प्राप्त हो सकती है। इन विचारणाओं के आलोक में मनोविज्ञान की मुख्यता के हामियों का उत्साह वैसे ही कम हो जाना चाहिए जैसे कि स्वायत्त समाज-विज्ञान के (अर्थात् इस मान्यता के

कि समाज-विज्ञान को मनोविज्ञान की अपेक्षा नहीं है, वह अपने में पूर्ण है) हिमायतियों का ।

यह समझना भूल होगी कि मनुष्य का ऐतिहासिक अनुभव उसकी वैयक्तिक प्रकृति के लिये बाहरी चीज होता है। वस्तुतः हम ऐतिहासिक अनुभूति को ग्रहण करते समय यह महसूस करते हैं कि वह स्वयं हमारी प्रकृति एवं व्यवहार की सम्भावनाओं का विस्तार मात्र है। विस्मय का प्रथम धक्का सह चुकने के बाद हम सिज़ेरी बॉर्जिया के अमानुषिक व्यवहार को भी मानवीय चरित की सम्भावनाओं के बाहर की चीज़ नहीं समझते। प्रश्न है: इतिहास और कथा-साहित्य में हम विभिन्न परिवेशों में स्थित नर-नारियों की संवेदनाओं तथा प्रतिक्रियाओं से जो तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं, उसका क्या रहस्य है ?

उसका रहस्य निम्न जान पड़ता है। मनुष्य एक लक्ष्यान्वेषी अथवा प्रयोजनवान प्राणी है; वह विश्व की असंख्य वास्तविकताओं को साध्यों और साधनों, मूल्यों और मूल्याभावों के रूप में ग्रहण करता है, ताकि वह उन्हें पाने अथवा दूर रखने की कोशिश कर सके। उसे विभिन्न साध्य तथा मूल्य सुपरिचित जान पड़ते हैं; इसलिये, उसकी दृष्टि में, वे साधन भी सुपरिचित बन जाते हैं जो उन साध्यों से अक्सर सहचरित होते हैं। मानव-प्रकृति के निसर्ग-सिद्ध साध्यों अथवा मूल्यों और अप्राकृतिक समाजिक तथा औद्योगिक या उद्योग-तांत्रिक साधनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा अनेक नये लक्ष्यों अथवा साध्यों का उदय हो जाता है, और क्रमशः वे साध्य भी सुपरिचित बन जाते हैं। सब देश-कालों के मनुष्य परिवेशगत भौतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक चीजों को भी उन्हीं मूल्यों अथवा अर्थों या प्रयोजनों की भाषा में अनूदित कर लेते हैं। ये मूल्य तथा प्रयोजन या अर्थ उस सार्वभौम वर्णमाला का निर्माण करते हैं जिसकी सहायता से मानवीय विद्याओं में किये जाने वाले सामान्य कथन लिखे जाते हैं।

यही कारण है कि हम इतिहास में एक नेपोलियन की, और टॉल्स्टाय के "युद्ध और शान्ति उपन्यास" में पीये नामक नायक की, क्रिया-प्रतिक्रियाओं से तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं। परिवेश के समस्त पदार्थ, भौतिक और सामाजिक, जहाँ तक वे विभिन्न व्यक्तियों की जीवन-स्थितियों में प्रवेश करते हैं, उन अर्थों तथा मूल्यों के वाहक होते हैं जो समस्त मानव जाति के लिये वही हैं। इसीलिये इतिहास अथवा कथा-साहित्य को समझने के लिये एक भौतिकशास्त्री अथवा रसायन शास्त्री का,

यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक का भी, विशेष बोध (Specialized Knowledge) निरर्थक होता है। यहाँ यह उल्लेख रोचक जान पड़ेगा कि 'काव्यालंकारसूत्र' के प्रसिद्ध लेखक वामन ने कविता में अपरिचित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग एक दोष माना है, क्योंकि वह रसानुभूति में व्याघात उपस्थित करता है।[३७]

मानवीय विद्याओं के वे सामान्य कथन जो बुद्धिगम्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं, केवल हमारे मनोवैज्ञानिक आत्मबोध की भाषा में ही नहीं लिखे जाने चाहिएँ; उन्हें उस अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा में प्रकट किया जाना चाहिए जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण साध्य-साधन पद्धति अथवा जीवन के समस्त मूल्यों एवं अर्थों से होता है। इस अन्तर्दृष्टि को हम शिक्षित सहज बुद्धि (Educated Common Sense) अथवा केवल सहज बुद्धि कह सकते हैं। नर-विज्ञान के प्रसिद्ध विचारक नाडेल ने इस अन्तर्दृष्टि या ज्ञान को "सामान्य व्यावहारिक ज्ञान" कहा है, अर्थात् वह ज्ञान जो 'इतना सुपरिचित है कि उसकी उपस्थिति को मानकर चला जा सकता है।'[३८]

मानवीय विद्याओं के सामान्य कथन जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धों की स्थापना करते हैं वे सार्वभौम होते हैं, इसीलिये उन कथनों की प्रामाणिकता भी सार्वभौम हो जाती है। इसका मतलब यह है कि वे सामान्य कथन सब समाजों के सब व्यक्तियों के लिये कल्पनात्मक प्रामाणिकता (Imaginative Validity) रखते हैं। ये विचारणाएँ हमें उक्त सामान्य कथनों के सम्बन्धों में एक तीसरा मंतव्य प्रतिपादित करने की प्रेरणा देती हैं। **मानवीय विद्याओं में जिन सामान्य कथनों का निरूपण होता है, उनका विषय मानव-व्यवहार की सम्भावनाएँ होती हैं, न कि उसकी यथार्थताएँ।** भौतिक शास्त्र द्वारा अन्वेषित नियम भौतिक जगत की वास्तविक रचना या गठन को उद्घाटित करते हैं, अथवा उसकी सम्भाव्य गठन को—इसे अनिर्णीत छोड़ा जा सकता है; किन्तु यह निश्चित है कि भौतिक शास्त्र का उद्देश्य विश्व की **यथार्थ** रचना का **वर्णन** करना है। इसी प्रकार इतिहास का लक्ष्य भी यही है कि व्यक्तियों तथा समाजों के असली जीवन का वर्णन प्रस्तुत करे, किन्तु इतिहास कभी ऐसा कर पाता है, इसमें सन्देह है। अन्त तक इतिहास ऐसी घटनाओं का आलेख बना रहता है जिनका घटित होना सम्भावना मात्र होता है, भले ही उस सम्भावना के ऊँचे-नीचे अनेक दर्जे हों।

इसीलिये कुछ लोगों का मत है कि मानवीय विद्याओं के सिद्धान्त तथा व्याख्या-सूत्र कतिपय ऐतिहासिक स्थितियों पर ही लागू होते हैं, उन स्थितियों के बाहर उनका

कोई अर्थ नहीं होता। वाल्टर यूकेन ने इस मत का विरोध किया है। अर्थशास्त्र के सामान्य कथनों के बारे में उन्होंने कुछ वैसा ही मत प्रकट किया है जैसा कि हमने ऊपर व्यक्त किया। अर्थशास्त्र नामक विज्ञान के वक्तव्य अर्थात् सामान्य कथन कुछ इस प्रकार के होते हैं: 'यदि परिपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति हो तो...' अथवा 'यदि एक देश में फसल बिगड़ जाय तो विभिन्न देशों की पारस्परिक अदायगी का संतुलन बदल जाता है...' इत्यादि।[३९] लायोनल राबिन्स ने भी अर्थशास्त्रीय विश्लेषण द्वारा प्राप्त होने वाले कथनों के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही मन्तव्य प्रकट किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र के विश्लेषण का प्रयोजन यह है कि 'विभिन्न कल्पित परिस्थितियों में लोग जिस प्रकार से पसंद-नापसंद करेंगे, उसके परिणामों का स्पष्टीकरण कर दिया जाय।'[४०]

ऊपर हमने कहा था कि मानवीय विद्याओं में जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धों की स्थापना की जाती है उनकी अभिव्यक्ति हमारे सहज बोध (Common Sense) की भाषा में होनी चाहिए। जान पड़ता है कि रॉबिन्स के अनुसार इस सहज बोध का कार्य कुछ दूसरा ही है। वह कहते हैं: 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त-वाक्य...कतिपय आवश्यक मान्यताओं (Postulates) से निगमन द्वारा प्राप्त होते हैं। इन मान्यताओं में प्रमुख वे हैं जो वस्तु-सामग्री की न्यूनता का यथार्थ जीवन में क्या प्रभाव पड़ता है, इसके बारे में कतिपय सर्वानुभूत तथ्यों का संकेत करती है।...उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये हमें नियंत्रित प्रयोगों की जरूरत नहीं होती, वे हमारे अनुभव में इतनी ओत-प्रोत होती है कि जैसे ही हम उन्हें शब्दों में कह देते हैं, वैसे ही उनकी प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती हैं।'[४१] इस प्रकार की मान्यताओं के कुछ उदाहरण ये हैं: मूल्य अपेक्षाकृत कम और ज्यादा महत्व के होते हैं,उत्पादन में अनेक उपादान या कारण-तत्व निहित हैं, भविष्य के सम्बन्ध में विभिन्न कोटियों तथा दर्जों के अनिश्चय रहते हैं, इत्यादि।'[४२]

ऊपर का मन्तव्य यह मानकर चलता प्रतीत होता है कि हमारा सहज बोध सूत्रित या निरूपित (Formulated) रूप में वर्तमान होता है, जिससे वे मान्यताएँ प्राप्त की जा सकती हैं जो अर्थशास्त्रीय नियमों के निगमन में पक्ष-वाक्यों (Premises) का काम दे सकें। किन्तु हमारे विचार में स्थिति ऐसी नहीं है। सहजबोध से निःसृत होने वाले तथ्य या सत्य न तो उन स्थापनाओं की भाँति होते हैं जिन्हें किसी भौतिक शास्त्री की सृजनात्मक प्रतिभा उत्सृष्ट करती है, और न कान्ट की प्रज्ञा (Under-

standing) की अनुभव-निरपेक्ष धारणाओं की तरह। उन तथ्यों या सत्यों का अर्थ-शास्त्र अथवा किसी दूसरे सामाजिक विज्ञान के सामान्य कथनों से वहस म्बन्ध भी नहीं होता जो निष्कृष्ट नियमों (Derivative Laws) का अधिक व्यापक मान्यताओं से होता है। इसके विपरीत हमारा विचार है कि सामाजिक विज्ञानों के नियम **हमारे दैनिक अनुभव-तत्वों के कल्पना-मूलक विस्तार एवं पुनः संगठन द्वारा प्राप्त होते हैं।** हमारा अनुभव साध्य-साधन-सम्बन्ध का जो ढाँचा हमें प्रदान करता है, उसे हम **इस प्रकार खींचकर बढ़ा लेते हैं कि उसके भीतर इतिहास अथवा आँकड़ों में निहित बृहत्तर अनुभव का समावेश हो सके।**

यदि रॉबिन्स का मत ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि एक इतिहासकार अथवा समाजशास्त्री के ज्ञान की अपेक्षा सहज बुद्धि का ज्ञान ज्यादा सामान्य अथवा व्यापक कोटि का होता है, और यह कि एक साधारण व्यक्ति साहित्य, इतिहास अथवा समाज-विज्ञान के अध्ययन से कोई खास नई चीज नहीं सीख सकता।

इसके विपरीत हमारा मन्तव्य इस प्रकार है: इतिहास में उल्लिखित कर्मों तथा घटनाओं और कथा-साहित्य में चित्रित पात्रों को समझने तथा सामाजिक विज्ञानों में उद्घाटित सामान्य प्रवृत्तियों को ग्रहण करने में पाठक तथा पाठिकाएँ अपनी कल्पनात्मक तादात्म्य की शक्ति से काम लेते हैं। इस शक्ति द्वारा वे अपने को उक्त घटनाओं, कर्मों, प्रवृत्तियों आदि में निहित जीवन-प्रक्रियाओं में क्षिप्त कर देते हैं, और इस प्रकार उनके आन्तरिक अभिप्राय को पकड़ लेते हैं। हमारे इस मन्तव्य से यह भी समझ में आ जाता है कि किस प्रकार कलाओं के सेवन तथा सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में हमारे आत्मिक सत्व में विस्तार और समृद्धि निष्पन्न होती है।

आलेखों आदि में दी हुई सामग्री को इतिहास में एक समंजस तथा अर्थपूर्ण समष्टि या संस्थान (Pattern) का रूप दिया जाता है। इतिहास का पाठक कल्पना द्वारा अपने को विशिष्ट परिस्थिति-संगठन में रख देता है, और उसके अभिप्राय को भीतर से जान लेता है। वह ऐसा किस प्रकार करता है? उत्तर है: परिस्थिति-समूह में निहित अर्थों की अपेक्षा में अपनी प्रेरणात्मक सम्भावनाओं (Motivational Possibilities) का सृजन-मूलक विस्तार करके। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में जानना एक सृजनात्मक क्रिया होती है, वह एक ऐसी क्रिया है जिसमें मनन के साथ-साथ अथवा मनन के द्वारा, व्यक्तित्व की अभिवृद्धि भी होती है। इसके

विपरीत गणित-शास्त्र तथा भौतिक विज्ञान में तर्कना या चिंतन प्रायः मनन-रूप (Contemplative) ही होता है, जब तक कि उसके साथ दार्शनिक जिज्ञासा का योग न हो। इतिहास से भिन्न सामाजिक विज्ञानों में ऐसे अमूर्त ढाँचों (Abstract Models) का निर्माण किया जाता है जो अन्वेषित अर्थों के बीच रहने वाले सम्बन्धों को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दे सकें।

मानवीय विद्याओं में किये जाने वाले सामान्य कथनों के बारे में हमारी चौथी मान्यता उनकी परीक्षा (Verification) से सम्बन्ध रखती है। हम मानते हैं कि **मानवीय विद्याओं में परीक्षा करने की प्रक्रिया किसी तथ्य-समूह को सम्बद्ध रूप में समझने की क्रिया की समानात्मक अथवा उससे अविच्छिन्न** (Continuous) **होती है।** यह प्रक्रिया कुछ वैसी ही होती है जैसी कि कला-सृष्टि की क्रिया, वह कल्पना-मूलक होती है। इस मान्यता का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि यदि किसी विद्या के सामान्य कथनों की कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षा नहीं की जा सकती, तो उसका समावेश मानवीय विद्याओं में नहीं किया जा सकेगा।

कहा गया है कि ऐतिहासिक लेखन में व्याख्या का अर्थ होता है सफल वर्णन। किसी ऐतिहासिक घटना का सम्बद्ध विवरण प्रस्तुत करना ही इतिहास-लेखन की कला है। कथा-साहित्य में एक दूसरी क्षमता की जरूरत होती है। वहाँ एक ओर विभिन्न घटनाओं तथा कर्मों का विवरण रहता है, और दूसरी ओर विभिन्न पात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियों का; कथाकार को इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। यहाँ एक प्रश्न उठता है : हम यह कैसे निर्णय कर पाते हैं कि किसी उपन्यास में एक पात्र ज्यादा यथार्थ बन सका है, और दूसरा कम ? प्रसिद्ध समीक्षक पर्सी ल्यूबक ने टॉल्स्टॉय के प्रख्यात उपन्यास "एना केरीनिना" को लक्ष्य करके कहा है कि उसमें लेखक ने सभी पात्रों का सफल चित्रण किया है, केवल एक को छोड़कर; यह एक पात्र एना का प्रेमी है।[४३] श्री ल्यूबक का मत उचित है, लेकिन हम यह कैसे जान पाते हैं कि उनकी सम्मति ठीक है ? किस प्रक्रिया से हम एक बड़े उपन्यासकार, बड़े समीक्षक, अथवा बड़े समाजशास्त्री और दार्शनिक को भी पहचान पाते हैं ? किसी विचारक अथवा उपन्यासकार की महत्ता की पहचान और यह आभास कि उपन्यासकार अपनी कृति को कितना यथार्थ बना सका है, मानवीय जगत् की चीजें हैं, जिन पर मानवीय विद्याओं के विश्लेषक चिन्तक को विचार करना चाहिए।

किसी उपन्यासकार की यथार्थ की पकड़ कितनी है, इसका निर्णय करने के लिये हम यह देखते हैं कि उसके द्वारा चित्रित जीवन से हम कहाँ तक तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। किसी विचारक की महत्ता को आँकने के लिये हम यह देखते हैं कि हमारे सामने किसी अनुभव-क्षेत्र का जो चित्र उसने प्रस्तुत किया है, वह कितना समंजस, स्पष्ट, तथा समृद्ध है। कलाकार का जैसा जीवन से सम्बन्ध होता है, वैसा ही सम्बन्ध समीक्षक का कलाकृतियों से होता है। कलाकार हमारे जीवन को हमारे लिये स्पष्ट कर देता है, वह हमारे जीवन को समृद्ध भी कर देता है; समीक्षक हमें उस जीवन की स्पष्टतर प्रतीति कराता है जो किसी कलाकृति में निबद्ध होता है।

अब हम उन सामान्य कथनों की प्रकृति का, जो मानवीय विद्याओं में पाए जाते हैं, विचार करेंगे। ये सामान्य कथन दो प्रकार के होते हैं, कल्पना-मूलक (Imaginative) और कल्पना-प्रसूत (Speculative)। प्रथम कोटि के सामान्य कथन जीवनानुभूति के कल्पना-मूलक विस्तार अथवा पुनर्गठन से प्राप्त होते हैं। मानवीय विद्याओं में उनका वही स्थान समझना चाहिये जो भौतिक विज्ञानों में प्रयोगात्मक सामान्य कथनों (Empirical Generalisations) का होता है। मानवीय विद्याओं के ये सामान्य कथन सीधे कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष से प्रमाणित होते हैं। वे आँकड़ों (Statistics) द्वारा संकेतित होते हैं, प्रमाणित नहीं। कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष में कल्पना-मूलक तादात्म्य भी निहित रहता है, विशेषतः आवेगात्मक अनुभव के क्षेत्र में, भले ही वह तादात्म्य सदैव पूर्ण न हो।

अब हम कल्पना-प्रसूत स्थापनाओं की चर्चा करेंगे। ये स्थापनाएँ भौतिक-शास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों (Physical Theories) की समकक्ष होती हैं। ऐसी स्थापनाओं के कुछ उदाहरण हैं: आगस्त कॉम्त का तीन सोपानों का नियम अर्थात् यह नियम कि मानव-चिंतन क्रमशः धार्मिक, दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक तीन भूमिकाओं में होकर बढ़ता है; हर्बर्ट स्पेंसर का विकास-सूत्र जो विश्व के विकास की व्याख्या करता है; कार्ल मार्क्स का इतिहास-दर्शन (Theory of History), इत्यादि। इतने व्यापक सिद्धान्तों की परीक्षा कल्पना-मूलक अन्तर्दृष्टि से नहीं हो सकती। अनुभव की अपेक्षा से भी उनकी परीक्षा सम्भव नहीं—इसका एक कारण यह भी है कि वे अतीत वास्तविकताओं से भी सम्बन्धित होते हैं, जिनका अनुभव नहीं हो सकता। ऐसे व्याख्या-सूत्रों के पक्ष में केवल एक ही बात होती है, यह कि वे एक बड़े अनुभव-क्षेत्र को, अथवा अनेक विशाल अनुभव-क्षेत्रों को, संगठित या व्यवस्थित कर

देते हैं। किन्तु यह विशेषता भौतिक-शास्त्र के व्याख्या-सूत्रों में भी पायी जाती है; साथ ही उन व्याख्या-सूत्रों में एक दूसरी विशेषता होती है, अर्थात् अनुभव की अपेक्षा से परीक्षणीय होने की विशेषता। यह विशेषता मानवीय विद्याओं के उपरोक्त कोटि के व्याख्या-सूत्रों में नहीं होती। इससे यह अनुगत होता है कि भौतिक-शास्त्रों के कल्पना-प्रसूत व्याख्या-सूत्र मानवीय विद्याओं के वैसे व्याख्या-सूत्रों से ज्यादा विश्वसनीय होते हैं। सच यह है कि जब मानवीय विद्याएँ उक्त कोटियों के व्यापक व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना करती हैं तब वे एक आपत्तिजनक अर्थ में तत्त्वमीमांसा-मूलक (Metaphysical) बन जाती हैं।

सार्वभौम संयोजक कथन या वक्तव्य

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट के अनुसार कथन (Judgments) दो प्रकार के होते हैं, संयोजक (Synthetic) और वियोजक (Analytic)। काण्ट के अनुसार वियोजक कथन वे हैं जिनमें वाक्य का विधेयांश उद्देश्यके बारे में कोई नई जानकारी नहीं देता, विधेय केवल उद्देश्य का विश्लेषण कर देता है। जिसे हम परिभाषा कहते हैं वह इसी प्रकार का कथन होता है। जैसे "तीन भुजाओं वाली, एक ही धरातल में स्थित आकृति को त्रिभुज कहते हैं"। इसके विपरीत संयोजक कथन वह है जिसमें विधेय (Predicate), उद्देश्य (Subject) के बारे में कुछ नयी बात बतलाता है, जैसे "श्याम आज कलकत्ते जायगा।" वियोजक कथन सार्वभौम तथा आवश्यक (Universal and Necessary) रूप में सत्य होते हैं। प्रश्न है—क्या ऐसे संयोजक कथन भी हो सकते हैं जो सार्वभौम तथा आवश्यकरूप में सत्य हों? तर्क-मूलक भाववादियों का विचार है कि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। नयी जानकारी देने वाला कोई भी कथन आवश्यक तथा सार्वभौम रूप में सत्य नहीं होता। इस प्रकरण में हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि मानवीय विद्याओं में सार्वभौम तथा आवश्यक संयोजक कथन सम्भव हैं या नहीं। हमारी मान्यता है कि मानवीय विद्याओं में वैसे कथन सम्भव हैं।

मानवीय विद्याओं में किये जाने वाले सामान्य कथन इस मान्यता पर आधारित होते हैं कि मानव-प्रकृति सर्वत्र एक है। इस मान्यता का एक निष्कर्ष यह है कि किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के व्यवहार की सम्भावनाओं का कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष और उपभोग दूसरे लोगों को हो सकता है। मानवीय विद्याओं के लिये यह मान्यता उतनी

ही जरूरी है जितनी कि भौतिक-शास्त्रों के लिये यह मान्यता कि प्रकृति-जगत् नियमित अथवा एकरूप है। भौतिकशास्त्रों में इसे प्रकृति की एकरूपता का सिद्धान्त (Principle of Uniformity of Nature) कहते हैं। कतिपय अस्तित्व-वादियों ने यह मत प्रकट किया है कि मानव-प्रकृति नाम की कोई स्थिर चीज नहीं है, कि मनुष्य की प्रकृति या सार-सत्ता (Essence) लगातार बदलती या निर्मित होती रहती है। हम भी मानते हैं कि किसी खास परिस्थिति-संगठन के बीच मनुष्य विभिन्न प्रतिक्रियाएँ कर सकता है। वह आवश्यक रूप में एक ही प्रतिक्रिया करने को बाध्य नहीं होता। यदि अस्तित्ववादी इतना ही कहें, तो हमें विरोध नहीं। किन्तु यदि वे यह नहीं मानते कि अपनी समस्त सृजनात्मक संभावनाओं के साथ मानव-प्रकृति विभिन्न व्यक्तियों में वही होती है, तो इतिहास लिखना और समझना दोनो असम्भव क्रियाएँ बन जायेंगी। उस दशा में इतिहासकार अतीत लोगों के जीवन को न स्वयं ही समझ सकेगा, न अपने ज्ञान को दूसरे तक पहुँचा ही सकेगा। यदि एक सामान्य मानव-प्रकृति नहीं हो, तो हम एक-दूसरे के तर्कों को भी न समझ सकें, और सामान्य सत्यों पर पहुँचना भी असम्भव हो जाय।[४४]

अब हम अपना पूर्व प्रश्न उठाते हैं: क्या मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में ऐसे सत्यों को प्राप्त किया जा सकता है जो निश्चयात्मक तथा सार्वभौम हों? दूसरे शब्दों में प्रश्न यह है: क्या हम मानवीय व्यवहार और मूल्यों के सम्बन्ध में ऐसे सत्यों पर पहुँच सकते हैं जो आवश्यक (निश्चयात्मक) और सार्वभौम (Necessary and Universal) हों? हमने ऊपर कहा कि तर्कमूलक भाववादी ऐसे सत्यों की सम्भावना से इन्कार करते हैं। दूसरे परीक्षकों का ख्याल है कि नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र जैसी आदर्शान्वेषी (Normative) विद्याओं में ऐसे कथन सम्भव नहीं हैं।

भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में इस मान्यता के कि निश्चयात्मक सार्वभौम सिद्धान्त सम्भव नहीं हैं, उत्थित होने का कारण वह विचारात्मक क्रान्ति थी जिसने परम्परागत भौतिक-शास्त्र के सिद्धान्तों का निराकरण कर दिया। हम पहले ही कह चुके हैं कि भौतिकशास्त्र के व्यापक सिद्धान्त कल्पना-प्रसूत होते हैं, और नये प्रयोगों के आलोक में बराबर बदलते रहते हैं। जिन्हें हम प्रयोगात्मक नियम (Empirical Laws) कहते हैं उनकी अभिव्यक्ति कभी पूर्णतया सही नहीं होती; बदले हुए व्यापक सिद्धान्तों के अनुरूप उन्हें प्रकट करने वाले समीकरण न्यूनाधिक बदल दिये जाते हैं। इससे यह अनुगत होता है कि भौतिक-शास्त्र के प्रयोग-मूलक नियम भी चरम नहीं होते।

निष्कर्ष यह कि भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में निश्चयात्मक एवं सार्वभौम सत्यों अथवा चरम सिद्धान्तों की उपलब्धि सम्भव नहीं।

अपनी पुस्तक "भाषा, सत्य, और तर्कशास्त्र" के दूसरे संस्करण में ऐयर ने, अपने प्रथम संस्करण के मत में संशोधन करते हुए, यह मत प्रकट किया है कि अनुभव पर आधारित कुछ कथन ऐसे हो सकते हैं जो निश्चयात्मक हों, और जिनकी पूर्ण परीक्षा की जा सके। ऐसे कथनों का विषय हमारे अकेले अनुभव होते हैं—जैसे, शकर मीठी है। दूसरे किसी प्रकार के कथन निश्चयात्मक नहीं हो सकते।[४५]

ऐयर के इस निराशा-व्यंजक मन्तव्य को स्वीकार करना हम आवश्यक नहीं समझते।[४६]

इस सम्बन्ध में एक बात याद रखनी चाहिए। बीसवीं सदी में चिन्तन के क्षेत्र में जो क्रान्ति हुई है उसका सम्बन्ध केवल भौतिक-शास्त्र की चिन्तन-प्रणाली से है। हमारे सहज बोध के क्षेत्र में ऐसी कोई क्रान्ति नहीं हुई है। आज भी अग्नि हमें गर्म लगती और जलाती है, और पानी हमारी प्यास बुझाता है। हमारे मानवीय व्यवहार के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कोई वैसी क्रान्ति नहीं हुई है। फ़्रायड के मनोविज्ञान ने भी मनुष्य-सम्बन्धी हमारे अतीत और वर्तमान बोध के बीच कोई खाई उत्पन्न नहीं की। यही कारण है कि हम आज भी कालिदास, शेक्सपियर आदि प्राचीन कवियों की रचनाओं में रस ले पाते हैं, और प्लेटो, अरस्तू, कौटिल्य आदि की कृतियों से उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं।

फिर क्यों लोग ज्ञान की सम्भावना को लेकर इतनी निराशा तथा सन्देहवाद को प्रकट करते हैं? भौतिकशास्त्र मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है, और भौतिक-शास्त्र में बौद्धिक संकट उपस्थित होने का अर्थ ज्ञान के सब क्षेत्रों में संकट होना नहीं है। भौतिक-शास्त्रीय बौद्धिक संकट के सम्बन्ध में हमारा मत इस प्रकार है। उस शास्त्र के समस्त सैद्धान्तिक चिंतन में, यहाँ तक कि उसके प्रयोग-मूलक सिद्धान्तों में भी, एक विशुद्ध कल्पना का अंश होता है। जहाँ-जहाँ यह अंश मौजूद होता है,वहाँ-वहाँ कुछ-न-कुछ अनिश्चय भी बना ही रहता है। भौतिक-शास्त्र अपने सिद्धान्तों के निरूपण में गणित की भाषा का उपयोग करता है, किन्तु, अन्तिम विश्लेषण में, गणित हमारे मस्तिष्क की उपज है; कोई कारण नहीं कि वह भौतिक विश्व की रचना को पूर्णतया

वर्णित करने के लिये सक्षम ही हो। यह ठीक है कि भौतिक जगत् की रचना को गणित के प्रतीकों में वर्णित करना अब तक सुविधा-जनक रहा है, फिर भी यह कहना कि विश्व की रचना या संगठन गणितात्मक है, उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना कि यह कहना कि वह संस्कृत अथवा अंग्रेजी भाषा के स्वर-संगठन अथवा व्याकरणात्मक रचना के अनुरूप है। जिस प्रकार कि ज्यामिति की कई पद्धतियाँ बनी हैं, ऐसे ही यह भी सम्भव था कि अंकशास्त्र और "कैलकुलस" की अनेक पद्धतियाँ बन जातीं।

सहज बुद्धि के न्यूनाधिक गुणात्मक धरातल पर हमारा अनुभव भौतिक-जगत् तथा मानव-जगत् दोनों के सम्बन्ध में आज भी निश्चयात्मक तथा सार्वभौम सत्य देता रहता है। उदाहरण के लिये हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि सामान्य मानव-शिशुओं के लिये दूध एक गुणकारी भोजन है, कि अग्नि गर्मी उत्पन्न करती है, कि एक प्रिय बच्चे की मृत्यु माता-पिता के शोक का कारण होती है, कि एक सुन्दर, संस्कृत और साध्वी पत्नी महत्वाकांक्षी, बुद्धिमान तथा सामाजिक पति के गर्व का कारण होती है। पांडित्य-प्रदर्शन के लिये कोई व्यक्ति उक्त सत्यों में सन्देह प्रकट कर सकता है; यह भी कहा जा सकता है कि वे कथन सुनिश्चित अर्थ वाले नहीं हैं, और इसलिये उनकी सही परीक्षा नहीं हो सकती। किन्तु किसी वक्तव्य की निश्चित अर्थवत्ता हमारे प्रयोजनों की सापेक्ष होती है, और गणित के हिसाब के बाहर कहीं भी शत-प्रतिशत निश्चित या सही वक्तव्य उपलब्ध नहीं हो सकते। केवल गणित के प्रतीकों में यह क्षमता है कि वे छोटे-से-छोटे अन्तर को कल्पनीय तथा प्रकाशन-योग्य बना देते हैं।

कहा गया है कि केवल वियोजक कथन ही निश्चयात्मक तथा सार्वभौम सत्य होते हैं। यह भी कहा जाता है कि तथाकथित वियोजक कथन अपनी सत्यता के लिये केवल प्रतीकों के सम्बन्ध पर निर्भर होते हैं, उनका प्रतीकों के अर्थ से, और इस प्रकार अनुभव से, विशेष सरोकार नहीं होता; अतएव वे अनुभव द्वारा प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं किये जा सकते। इस मन्तव्य के समर्थक यह भूल जाते हैं कि मानव मस्तिष्क की अपेक्षा में ही प्रतीकों के अर्थ और उन अर्थों के सम्बन्ध होते हैं। मानवीय बुद्धि की अपेक्षा से ही वे अर्थ और सम्बन्ध सार्थक तथा प्रामाणिक हो पाते हैं। अन्तिम विश्लेषण में सामान्य (Normal) मनुष्य की कल्पना ही यह प्रमाणित कर सकती है कि किन्हीं दो या अधिक अर्थों का सम्बन्ध स्थायी है, अथवा परिवर्तनीय। एक वियोजक कथन का उदाहरण लीजिये। यदि क ख को आक्षिप्त (Imply) करता है, और

ख ग को, तो क ग को आक्षिप्त करता है। कहा जाता है कि यह कथन वस्तुस्थिति के बारेमें कुछ नहीं कहता, केवल प्रतीकोंके बारेमें ही कुछ कहता है। किन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह कथन कि क ग को आक्षिप्त करता है, एक रूपक मात्र है, क्योंकि किसी प्रतीक अथवा अर्थ में ऐसी शक्ति नहीं होती कि वह किसी चीज़ को आक्षिप्त करे। जब हम कहते हैं कि क ग को आक्षिप्त करता है, तो उसका मतलब सिर्फ यह होता है कि यदि कोई व्यक्ति क नामक कथन को स्वीकार करता है तो उसे (अपनी तर्कात्मक प्रकृति द्वारा विवश होकर) ग को स्वीकार करना पड़ेगा। मतलब यह है कि उपरोक्त वियोजक कथन का वास्तविक विषय प्रतीक अथवा उनके अर्थ नहीं हैं; उसका असली विषय उन प्रतीकों तथा अर्थों से सम्बन्धित मानव-व्यवहार की विशेष सम्भावना है। दूसरा उदाहरण लीजिये, यदि क ख से बड़ा है, और ख ग से बड़ा है, तो क ग से बड़ा है। यह कथन एक सार्वभौम सत्य है क्योंकि वह एक ऐसे तथ्य को प्रकट करता है जिसका प्रमाण परिमाणों तथा मात्राओं से सम्बन्धित मनुष्य का अनुभव है, वह अनुभव जिसकी व्याख्या मानव-रुचियों तथा मानवीय प्रत्यक्ष-क्रिया की प्रकृति के अनुरूप होती है।

वास्तव में तथाकथित वियोजक कथन वियोजक नहीं बल्कि संयोजक होते हैं। वियोजक कथनों का विषय प्रायः प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त अमूर्त सम्बन्ध होते हैं। किन्तु सम्बन्ध उतने ही वस्तुनिष्ठ होते हैं जितनी कि वस्तुएँ, और यह सोचना भ्रामक है कि सम्बन्धों के बारे में किये हुए कथन या तो प्रतीकों के बारे में होते हैं अथवा विशुद्ध रूपाकारों (Forms) के बारे में। कारण यह है कि किसी वस्तु की ओर स्पष्ट या प्रच्छन्न संकेत किये बिना किसी भी रूपाकार अथवा सम्बन्धका कोई अर्थ नहीं होता।[४७]

वस्तुस्थिति यह है कि वस्तुओं के रूपाकार और सम्बन्ध, जिनका अन्वेषण हम करते हैं, मानवीय रुचियों तथा प्रयोजनों की अपेक्षा से ही सार्थक या अर्थपूर्ण बनते हैं। मनुष्य को प्रकृति में वे ही विशेषताएँ मिलती हैं, अथवा प्रकृति मनुष्य पर केवल उन्हीं विशेषताओं को प्रकट कर पाती है, जिनका मानवीय मस्तिष्क की रचना और मानवीय प्रयोजनों की अपेक्षा से कोई अर्थ होता है। मनुष्य को अपने प्रयोजनों तथा उन प्रयोजनों से सम्बन्धित गुणों एवं सम्बन्धों की प्रकृति का साक्षात् ज्ञान होता है, इसीलिये वह पहले से उन नियमों को निरूपित कर पाता है जिनके अनुसार भविष्य में उन गुणों तथा सम्बन्धों के बारे में वह तर्कना करेगा। जिन्हें हम वियोजक कथन

कहते हैं उनका विषय वस्तुतः उक्त गुणों तथा सम्बन्धों के अमूर्त ढाँचे होते हैं। तथा-कथित वियोजक कथनों की शक्ति तथा प्रामाणिकता का रहस्य इस परिस्थिति में निहित है कि उन ढाँचों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए मानव-मस्तिष्क निश्चित सीमाओं के भीतर व्यापृत होता है।

प्रश्न है, ऐसी दशा में निम्न दो कोटि के वाक्यों की निश्चयात्मकता में किस प्रकार का भेद माना जाय: समस्त अग्नि गर्मी उत्पन्न करती है, और यदि क ख को आक्षिप्त करता है, और ख ग को, तो क ग को आक्षिप्त करता है?

परम्परागत तर्कशास्त्र के अनुसार एक निश्चयात्मक प्रत्यय, धारणा अथवा कथन उसे कहते हैं जिसके विरोधी की, मानव-मस्तिष्क द्वारा, कल्पना असम्भव है; अथवा, लाइबनीज़ के शब्दों में, जिसके विरोधी में अन्तर्विरोध पाया जाता है। किन्तु "विरोधी की अकल्पनीयता" एक ऐसी विशेषता है जो मानवीय कल्पना-शक्ति की संभावनाओं की सापेक्ष है। हम कहेंगे कि **एक वक्तव्य निश्चयात्मक या अनिवार्य रूप में सत्य है, यदि वह मानवीय कल्पना के लिये एक मात्र सम्भव सम्बन्ध को प्रकट करता है।** जिन्हें हम निश्चयात्मक एवं अनिवार्य कथन कहते हैं वे मानवीय मस्तिष्क की कतिपय अपरिवर्तनीय तर्कना-सम्बन्धी आदतों का संकेत करते हैं। किन्तु मनुष्य की तर्कना-मूलक प्रकृति (Logical Nature) को उसकी सम्पूर्ण मानसिक प्रकृति से अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य जहाँ तर्कना-मूलक व्यवहार करता है, वहाँ नैतिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी व्यवहार भी करता है। वस्तुतः उसके सम्पूर्ण व्यवहार में जैसे उसकी तर्कना-मूलक प्रकृति प्रतिफलित रहती है, वैसे ही उसकी नैतिक और सौन्दर्य-मूलक प्रकृति भी। अनुभव के किसी भी क्षेत्र में मनुष्य उस चीज का साक्षात्कार कर सकता है जिसे हमने **सम्बन्धों की अकेली सम्भावना, अथवा एक मात्र संभव सम्बन्ध,** कहा है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विभिन्न अनुभव तथा व्यवहार के क्षेत्रों के अनुरूप, अनेक कोटियों के निश्चयात्मक एवं सार्वभौम कथन हो सकते हैं।

यह कथन कि "समस्त अग्नि गर्मी उत्पन्न करती है" वहाँ तक सत्य है जहाँ तक मनुष्य का अनुभव जाता है। किन्तु यह कल्पना की जा सकती है (जैसा कि तर्क-शास्त्री कहते हैं) कि ऐसी अग्नि भी हो जो गर्मी उत्पन्न न करे। अग्नि ठंडी भी हो सकती है। इस परिस्थिति का तर्कशास्त्र पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा।

किन्तु शेष दो कथनों की सत्यता से इनकार करने से तर्कशास्त्र पर भारी संकट आ जायगा।

हमारे मत में उक्त उदाहरणों में निम्न प्रकार का अन्तर है। पहले कथन का विषय अग्नि की प्रकृति है जिसे हम बाहर से जानते हैं; जब कि दूसरे वक्तव्यों का विषय मुख्यतः उस मानवीय मस्तिष्क की आदतें हैं जिसे हम भीतर से जानते हैं। अंततः तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों की निश्चयात्मकता का आधार यह विश्वास है कि हमारी अर्थात् मानव-मस्तिष्क की तर्क तथा कल्पना करने की आदतें ज्यों-की-त्यों बनी रहेंगी। इससे यह प्रकट है कि असंदिग्ध तथा निश्चयात्मक सत्य या कथन पा-सकने की दृष्टि से मानवीय विद्याएँ जिनमें तर्कशास्त्र का भी समावेश है भौतिक-शास्त्रों से अधिक सुविधा की स्थिति में है। किन्तु चूँकि अधिकांश परिस्थितियों में, एक ही लक्ष्य अथवा स्थिति की अपेक्षा में भी, मानव व्यवहार और प्रतिक्रिया की संभावनाएँ अनेक होती हैं इसलिये हम प्रायः **संबंधों की एक मात्र संभावना अथवा एक मात्र सम्भव सम्बन्ध** का कथन नहीं कर पाते। यही कारण है कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में अनिवार्य सम्बन्ध-कथन अथवा निश्चयात्मक कथन विरल होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस क्षेत्र में निश्चयात्मक संयोजक कथन (Synthetic Necessary Propositions) हो ही नहीं सकते। जैसा कि हमने कहा तर्कशास्त्र के तथाकथित नियम या कानून मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में ऐसे ही कथन होते हैं; वे यह बतलाते हैं कि किसी भी कल्पनीय अवसर पर मानवीय मस्तिष्क का व्यवहार एक खास तरह का होगा। यह मानने का कोई कारण नहीं कि इस प्रकार के सत्य मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र तथा अन्य मानवीय विद्याओं में प्राप्त नहीं हो सकते। तर्कशास्त्र से बाहर भी ऐसे कथन हो सकते हैं, इसके कुछ उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं।

क्या भौतिक प्रकृति के सम्बन्ध में हम कभी निश्चयात्मक संयोजक कथन कर सकते हैं? प्रसिद्ध भौतिक-शास्त्री एडिंग्टन ने इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक दिया है। वह कहते हैं 'अब इसे विज्ञान-दर्शन के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रकृति के नियम अनिवार्य नहीं ही होते।'[४९] एडिंग्टन के अनुसार प्रकृति के कुछ नियम ऐसे हैं जिनका मूल हमारी ज्ञान-शक्ति की प्रकृति में होता है। ऐसे नियमों के बारे में हम यह आशा कर सकते हैं कि वे अनिवार्य तथा सार्वभौम रूप में प्रकृति द्वारा पालन किये जायँगे।[५०] इसी प्रकार श्री ब्रिजमैन लिखते हैं: 'बाह्य

प्रकृति क्या है इसके सम्बन्ध में जैसे-जैसे हमें नया प्रयोगात्मक ज्ञान मिलेगा, वैसे-वैसे हमारे विचार सदा ही बदलते रहेंगे; किन्तु प्रकृति के प्रति मनोभाव का एक अंश है जो भविष्य में कभी नहीं बदलेगा, अर्थात् वह अंश जिसका ध्रुव आधार हमारे मस्तिष्कों की प्रकृति है।"[५१]

ये सम्मतियाँ उस मन्तव्य की, जो हमने निश्चयात्मक संयोजक कथनों के बारे में दिया है, उल्लेखनीय ढंग से पुष्टि करती हैं। इस प्रकार के समस्त कथन, जैसा कि हमने कहा, मानवीय बुद्धि के व्यवहार की उन संभावनाओं का उद्घाटन करते हैं जिन्हें मनुष्य कल्पनामूलक आत्मालोचन द्वारा जान सकता है।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. बर्ट्रण्ड रसेल कहते हैं: "अधिकांश अचेतन या अवचेतन में उन विचारों का समावेश है जो कभी बड़े आवेगात्मक और सचेत थे, और अब भीतर निमग्न हो गये हैं। इस निमग्न करने की क्रिया को सचेत भाव से किया जा सकता है...(द कांक्वेस्ट आव् हैपीनेस, द न्यू अमेरिकन लायब्रेरी संस्करण, १९५१, पृ० ४७)।

२. दे० टुवर्ड ए जेनरल थियरी आव् ऐक्शन, संपादक टैलकाट पार्सन्स और एडवर्ड ए० शिल्ज, (हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२), पृ० ४७।

३. दे० द साइन्स आफ़ मैन इन द वर्ल्ड क्राइसिस, संपादक रॉल्फ लिण्टन, (कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, सातवां मुद्रण, १९५२), प्रेजेन्ट वर्ल्ड कण्डिशन्स इन कल्चुरल पर्सपेक्टिव, पृ० २०४।

४. अनुभव और आत्म-विश्वास का परिवर्तन मनुष्य की इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं को कैसे एकदम बदल देता है इसका प्रसिद्ध उदाहरण नेपोलियन प्रथम का जीवन है। लड़कपन में उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि पेओली नामक स्थानीय नेता के नेतृत्व में क्षुद्र कारसीका द्वीप की आज़ादी के लिए लड़े; सम्राट बन जाने पर समस्त योरप भी उसकी महत्वाकांक्षाओं के लिए पर्याप्त न था! कौन विश्वास करेगा कि इस नितान्त महत्वाकांक्षी मनुष्य ने सन् १७९१ में एक निबन्ध लिखा था जिसमें महत्वाकांक्षा की मूर्खता और पाप के विरुद्ध उपदेश दिया था। (दे० हालैण्ड रोज, द लाइफ आव् नेपोलियन फर्स्ट, जी० बेल एन्ड सन्स, लि० १९१९, पृ० ३३)।

५. दे० पार्सन्स ऐन्ड शिल्ज, वही, पृ० ९२।

६. हालैन्ड रोज, वही, पृ० १३८, २१४।

७. दे० द प्रिन्स, (एवरीमैन, १९४५), पृ० २१३ और आगे।

८. दे० कार्ल मैनहाइम, एसेज़ आन सोशियालॉजी ऐन्ड साइकालॉजी, (रतलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन, १९५३), पृ० २४१।

९. दे० एन आउट लाइन आव् माडर्न नालेज, (विक्टर गोलैंज़, लन्दन १९३२), "द सायंस आव हिस्टरी" निबन्ध श्री एफ० जे० सी० हार्न शा का, पृ० ७७७।

१०. मैथड्स इन सोशल सायन्स, संपादक श्री एस० ए० राइस, (शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो, १९३१), विश्लेषण ३० श्री हैनरी पिरेन कृत, पृ० ४३५।

११. ई० एम० फार्स्टर, आसपेक्ट्स आव् द नावेल, (एडवर्ड आर्नल्ड ऐन्ड कं०, लन्दन, मुद्रण १९४४), पृ० ६७।

१२. वही, पृ० ७५।

१३. वही, पृ० ७७।

१४. इरविन श्रोडिंजर, सायंस ऐन्ड ह्यू मैन टैम्परामेन्ट, (जार्ज एलेन एन्ड अनविन, लन्दन, १९३५), पृ० ६९-७०।

१५. पर्सेप्शन : ऐन ऐप्रोच टु पर्सनेलिटी, संपादक आर० आर० ब्लेक और जी० वी० रैमसै, (द रोनाल्ड प्रेस कम्पनी, न्यूयार्क, १९५१), पृ० २०९।

१६. वाल्टर यूकेन, द फाउन्डेशन्स ऑव् इकोनामिक्स, (अं० अनु० विलियम हॉज एन्ड कं०, लन्दन, १९५०), पृ० ३५।

१७. वही, पृ० ४२।

१८. दे० मैकाइवर, सोशल काज़ेशन, (गिन एन्ड कं० बोस्टन, १९४२), पृ० ९। कार्यकारणवाद की आलोचना के लिये दे० बर्ट्रान्ड रसेल, मिस्टिसिज्म ऐन्ड लाजिक, अध्याय ९; मारिस कोहेन, रीजन ऐन्ड नेचर, (कीगन पाल, लन्दन, १९३१), पृ० २२४-२५। श्री एलियोटा कहते हैं : 'सम्बद्ध परिवर्तन के सूत्र (फंक्शनल फार्मूला) में किसी क्रिया या क्रमात्मक विकास की दिशोन्मुखता का समावेश नहीं हो सकता।' (दे० दी आइडिएलिस्टिक रिऐक्शन अगेंस्ट साइंस, मैकमिलन, १९१४, पृ० ६९) कार्यकारणवाद के समीक्षक अनुभव से नहीं, विज्ञानकी प्रतीक-पद्धतिसे संकेत लेते जान पड़ते हैं; यह चीज़ सदैव सहायता नहीं देती।

१९. सोशल काजेशन, पृ० १२३।

२०. ए हिस्टरी आव् योरप, (एडवर्ड आर्नल्ड ऐन्ड कं०, लन्दन, १९३७), पृ० ८३२-३३।

२१. संकेतित विचारकों के मन्तव्यों के सुविधाजनक ववतव्यों के लिये देखिए श्री पी० ए० सारोकिन, काण्टेम्पोरेरी सोशियालॉजीकल थियरीज़, (हार्पर एन्ड ब्रदर्स, लन्दन, १९२८), अध्याय ३।

२२. बारबेरा वूटन, टेस्टामेन्ट फ़ार सोशल सायन्स, (जार्ज एलेन ऐन्ड अनविन, लन्दन, १९५०), पृ० १। मात्रा-मूलक पद्धतियों के समाजशास्त्रीय प्रयोग के उदाहरणों के लिये देखिए, स्टुअर्ट सी० डॉड, डाइमेन्शन्स आफ सोसायटी (मैक मिलन, १९४०) और जी० ए० लुन्डबर्ग, फाउन्डेशन्स आफ सोसायटी (मैक मिलन, १९३९)।

२३. श्री ए० बीवन का लेख, हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली, जून ८, १९५२।

२४. यह ठीक है कि यदि नेपोलियन की सार्वभौम साम्राज्य की अभिलाषा का दूसरा कारण होता, तो वह विभिन्न विजित राज्यों पर दूसरी शर्तें लादता। फिर भी राजनीतिक प्रभुत्व का लक्ष्य वही रहता, और वह लक्ष्य काफी विशिष्ट (Specific) है।

२५. सोशल काजेशन, पृ० १७१।

२६. इस सम्बन्ध में श्री पी० ए० सारोकिन ने विस्तार से विचार किया है। दे० उनकी सोशियो-कल्चुरल काजेलिटी, स्पेस, टाइम (ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, डर्बन, नार्थ केरोलिया, १९४३)। उनके मत में प्रत्येक सांस्कृतिक पदार्थ में एक अर्थात्मक उपादान (मीनिङ्ग कॉम्पोनेण्ट) होता है जिसमें वज़न, आयतन, रंग, ध्वनि, रासायनिक रचना आदि भौतिक-रासायनिक गुण नहीं होते। अर्थ, वस्तुतः, अभौतिक, अदेश-कालगत होते हैं। दे० पृ० ३२, ४।

२७. जान स्टुअर्ट मिल, ऐन इण्ट्रोडक्शन टु लॉजिक ऐन्ड साइण्टिफ़िक मैथड, संपादक श्री अर्नस्ट नागेल, (हाफनर पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क, १९५०), पृ० ३१७।

२८. एमील दुरखाइम, स्यूसाइड, (अ० अनु० रतलेज एन्ड कीगन पाल लि० लन्दन, १९५२), पृ० २०८।

२९. श्री टैलकाट पार्सन्स द्वारा द स्ट्रक्चर आफ सोशल ऐक्शन, (द फ्री प्रेस, ग्लैंको, इलियानिस, १९४९), पृ० ४९५ पर उद्धृत।

३०. एमील दुरखाइम, वही, पृ० १५५, १००।

३१. दे० मैथड्स इन सोशल सायंस, विश्लेषण ४१, पृ० ५६७ तथा आगे।

३२. रीजन ऐन्ड अनरीज़न इन सोसायटी, लांगमैन्स ग्रीन एन्ड कं० लन्दन, १९४८, पृ० ३६।

३३. वही।

३४. मिल, वही, पृ० ३४६।

३५. वही, पृ० ३४७।

३६. वही, पृ० ३१८, ३१९।

३७. दे० काव्यालंकार सूत्र २।१।८।

३८. दे० एस्० एफ्० नाडेल, द फाउन्डेशन्स आफ् सोशल एन्थ्रापालॉजी, (कोहेन ऐन्ड वेस्ट लि०, लन्दन, १९५३), पृ० २८४, २७८।

३९. वाल्टर यूकेन, फाउन्डेशन्स आव् इकोनामिक्स, पृ० २३४।

४०. लायोनल राबिन्स, ऐन एसे आन द नेचर एन्ड सिग्नीफ़िकेन्स आव् इकोनामिक सायंस, (मैक मिलन, लन्दन, मुद्रण, १९४९), पृ० ८३ ।

४१. वही, पृ० ७८, ७९।

४२. वही, पृ० ८१।

४३. दे० पर्सी ल्यूबक, द क्राफ्ट आफ़ फ़िक्शन, (जोनेथन केप, लन्दन, मुद्रण १९२६) पृ० २४८-४९।

४४. तु० की० एफ्० ए० हायक : 'एक ऐसे मस्तिष्क की चर्चा करना जिसकी रचना हमारे मस्तिष्क से मूलतः भिन्न है, अथवा यह दावा करना कि हम मस्तिष्क की मूल बनावट के परिवर्तन देख सकते हैं, एक असंभव दावा करना ही नहीं, निरर्थक बात है।' द काउन्टर रिवोल्यूशन इन सायंस, पृ० ७७।

४५. ए० जे० ऐयर, वही पृ० १०।

४६. वही, पृ० १६।

४७. मारिस आर० कोहेन ने भी तर्क-मूलक भाववाद की स्थिति का खंडन किया है। दे० ए प्रीफेस टु लाजिक, (जार्ज रतलेज ऐन्ड सन्स लि०, लन्दन, १९४६), अध्याय ३।

४८. दे० द वाकेबुलरी आफ फ़िलासफी, विलियम फ्लेमिंग कृत, तृतीय संस्करण एच० केल्डर वुड कृत, (चैनेल ग्रिफिन एन्ड कं०, लन्दन, १८७६), पृ० ३३७।

४९. द फिलासफी आफ् फ़िज़ीकल सायंस, पृ० २०।

५०. वही।

५१. द लॉजिक आव् मॉडर्न फ़िज़िक्स, पृ० १।

अध्याय ४

संस्कृति और सभ्यता

इस अध्याय में हम संस्कृति के स्वरूप का विवेचन करेंगे जो कि हमारी पुस्तक का मुख्य विषय है। संस्कृति पर विचार करते हुए हमें सभ्यता के स्वरूप पर भी विचार करना पड़ेगा, क्योंकि ये दोनों धारणाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। संस्कृति और सभ्यता शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है; ये अर्थ इतने भिन्न और विविध हैं कि सुनकर बुद्धि विभ्रम में पड़ जाती है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में ये दोनो शब्द मानव-व्यक्ति अथवा मानव-समूहों की उपलब्धियों की ओर संकेत करते हैं। जब हम किसी व्यक्ति या समूह को सभ्य कहते हैं तब हमारा भाव प्रशंसा-मूलक होता है। हम यह प्रकट करते हैं कि उनकी जीवन-स्थितियाँ श्लाघ्य हैं। साधारण लोगों की इस धारणा के विरुद्ध विशेषज्ञ पुरुष सभ्यता और संस्कृति शब्दों द्वारा कुछ दूसरा ही अभिप्राय व्यंजित करते हैं। वे न तो इस बात पर सहमत हैं कि इन शब्दों का वाच्य पदार्थ क्या है, और न इस पर ही कि ये शब्द प्रशंसा-मूलक हैं। इन मतभेदों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जायँगे। प्रसिद्ध नर-विज्ञानी टाइलर के मत में सभ्यता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं।[1] इसके विपरीत ब्रानिसला मैलिनाउस्की का कहना है कि सभ्यता और संस्कृति शब्दों को पर्याय मानकर प्रयुक्त नहीं करना चाहिए, उनका प्रयोग भिन्न अर्थों में होना चाहिए। ऊँची संस्कृति के एक खास पहलू को सभ्यता कहते हैं।[2] इसके विपरीत श्री हुमायूँ कबीर के मत में संस्कृति सभ्यता की फलभूत है। उनका कथन है कि संस्कृति का जन्म तभी हुआ जब सभ्यता ने अस्तित्व की समस्या को हल कर दिया, अर्थात् जब सभ्यता ने मनुष्य को दैनिक जीवन की जरूरतों से मुक्ति दी।[3] इसी प्रकार मैकाइवर ने यांत्रिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था में अन्तर किया है। उनके अनुसार यांत्रिक व्यवस्था उपयोगिता का क्षेत्र है, और सांस्कृतिक व्यवस्था मौलिक मूल्यों का।[4] मैकाइवर का यह भी विचार है कि सभ्यता कई अर्थों

में संस्कृति की विरोधिनी है। टाइलर की भाँति हर्स्कोविट्स का विचार है कि सभ्यता और संस्कृति एक-दूसरे के पर्याय हैं। वह कहते हैं कि संस्कृति के लिये एक शब्द है 'परम्परा', और दूसरा 'सभ्यता'।[५] प्रसिद्ध इतिहासकार ट्वायनबी संस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नहीं करते, उन्होंने सभ्यता शब्द का ही प्रयोग किया है। किन्तु उनकी सभ्यता की धारणा मैकाइवर की धारणा से उलटी है। वह सभ्यता और यांत्रिक व्यवस्था में तो अन्तर करते ही हैं, यह भी कहते हैं यांत्रिक उन्नति न तो सांस्कृतिक उन्नति के लिये जरूरी है, और न उसकी सहकारी ही है। उनका विचार है कि कभी-कभी यांत्रिक उन्नति सभ्यता के अवरोध तथा अवनति से सहचरित रहती है। यांत्रिक प्रगति तथा सभ्यता की प्रगति में सहचार का अभाव है। इतिहास में ऐसा अक्सर हुआ है कि यांत्रिक प्रगति हो रही है, और सभ्यता की प्रगति या तो नहीं हो रही है, अथवा उसमें अवनति हो रही है।[६] अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि कई जगह कृषि-शिल्प की उन्नति सभ्यता की अवनति से सहचरित देखी गई है।[७] तो क्या ट्वाइनबी की सभ्यता वही वस्तु है जो कि मैकाइवर की संस्कृति? इसमें सन्देह दिखाई देता है, क्योंकि ट्वाइनबी के अनुसार सभ्यता की प्रगति 'चुनौती और उसका प्रत्युत्तर' के द्वारा होती है, जब कि यह चुनौती भौतिक परिवेश द्वारा दी जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि ट्वाइनबी की सभ्यता में उपयोगिता का पहलू भी निहित है, जब कि मैकाइवर ने स्पष्ट रूप में उपयोगिता को संस्कृति का अंग नहीं माना है।

ट्वाइनबी की भाँति ओस्वाल्ड स्पेंगलर संस्कृति तथा सभ्यता शब्दों की समुचित परिभाषाएँ नहीं दे सके हैं, लेकिन उनका विचार है कि सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता किसी संस्कृति की बाहरी, चरम, कृत्रिम अवस्था का नाम है। यदि संस्कृति जीवन है, तो सभ्यता मृत्यु; संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता कठोर स्थिरता। सभ्यताएँ नैसर्गिक धरती के स्थान पर आने वाले कृत्रिम, प्रस्तर-निर्मित नगर हैं जो 'डोरिक' तथा 'गोथिक' के आध्यात्मिक शैशव का अन्त संकेतित करते हैं। आदिम जंगल के जर्जर, बड़े दैत्य (महावृक्ष) की भाँति वे अपनी गलित शाखाएँ सैकड़ों, हजारों वर्षों तक फैलाती रहती हैं, जैसा कि चीन, भारतवर्ष और इसलामी देशों में दिखाई देता है।[८] मतलब यह है कि इन देशों की संस्कृतियाँ मर चुकी हैं, फिर भी वे अपने विकृत रूप में अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

सभ्यता तथा संस्कृति शब्दों के अर्थ और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में इस प्रकार के मतभेद इसके द्योतक हैं कि हम उनके सम्बन्ध में नितान्त भ्रांति की अवस्था में हैं। यह मतभेद खाली परिभाषा अथवा भाषा-प्रयोग से संबंधित नहीं है। सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में हमारी भ्रांति की जड़ें बहुत गहरी हैं। सच यह है कि हम यह नहीं जानते कि मनुष्य की विभिन्न उपलब्धियों का क्या रूप और क्या मतलब है। इस मति-विभ्रम को दूर करने के लिये सबसे पहले यह समझ लेना ज़रूरी है कि सभ्यता और संस्कृति शब्द वर्णनात्मक धारणाएँ नहीं हैं। हमें यह मान कर नहीं चलना चाहिए कि इन शब्दों की वाच्य अवस्थाएँ प्रत्यक्ष जगत में अस्तित्व रखती हैं। सभ्यता और संस्कृति शब्द किन्हीं दीखने वाली वास्तविकताओं की ओर संकेत नहीं करते। साधारण बोल-चाल तथा लेखन में भी इन शब्दों का खास तरह से प्रयोग होता है और वे हमारे मन में विशिष्ट अर्थ तथा ध्वनियाँ जगाते हैं। हमें अपने मन को इन अर्थों से मुक्त करना होगा। हमें यह समझना होगा कि सभ्यता और संस्कृति शब्द जटिल प्रत्यय (Constructs) हैं जिन्हें मानव-बुद्धि ने विशिष्ट अनुभव-क्षेत्र को बुद्धिगम्य बनाने के लिये उत्सृष्ट किया है। वस्तुतः ये धारणाएँ मानव-जीवन तथा व्यवहार को समझने के लिये बनाई गई हैं, न कि किन्हीं प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ग्राह्य चीजों के वर्णन के लिये। सच यह है कि प्रायः सभी विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाले शब्द इस प्रकार के जटिल उत्सृष्ट प्रत्यय होते हैं। विज्ञान बुद्धि द्वारा निर्मित धारणाओं का प्रयोग करता है और ये धारणाएँ तथ्य-जगत के सम्बन्धों का उद्घाटन करना चाहती हैं। ये सम्बन्ध सीधे बाहरी जगत में दिखाई नहीं देते। मानव-मस्तिष्क वस्तु-जगत में व्याप्त वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में कल्पनाएँ करता है और उन कल्पनाओं को नवीन पारिभाषिक शब्दों अथवा धारणाओं द्वारा अभिव्यक्ति देता है। इसलिये हमें आगे यह मानकर चलना होगा कि सभ्यता और संस्कृति पारिभाषिक शब्द हैं जिन्हें हम अपनी इच्छानुसार कोई भी अर्थ दे सकते हैं। विभिन्न धारणाओं को इस प्रकार नये अर्थों से मंडित करने का क्या अभिप्राय है? यह अभिप्राय एक ही हो सकता है, अर्थात् अनुभव-जगत को समझना या बुद्धिगम्य बनाना। किसी भी विज्ञान द्वारा प्रयुक्त धारणाओं तथा उन्हें दिये गए अर्थों की सार्थकता इसमें हैं कि वे धारणाएँ अनुभव-जगत के समझने में हमारी सहायक हों। कोई विज्ञान चाहे आदर्शान्वेषी हो अथवा तथ्यान्वेषी, उसका चरम प्रयोजन यही है कि वह हमारे अनुभव को बुद्धिगम्य बना दे। बुद्धिगम्यता की दृष्टि से यह बात विशेष महत्व की नहीं है कि एक विज्ञान तथ्यों को महत्व देता है और दूसरा मूल्यों को। वस्तुतः तथ्यान्वेषी (Positive) एवं

आदर्शान्वेषी (Normative) विज्ञानों का प्रभेद भी वहीं तक सार्थक है जहाँ तक वह अनुभव-जगत को समझने में सहायक होता है।

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य संस्कृति को एक मूल्य मानते हुए उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त करना है । इसका यह मतलब नहीं कि हम उन तथ्यों की उपेक्षा कर सकते हैं जिन्हें नर-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र सभ्यता एवं संस्कृति कह कर पुकारते हैं। हमारा विश्वास है कि स्वयं मनुष्य के जीवन और व्यवहार में मूल्यों की धारणा तथा मूल्यांकन का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। मूल्यांकन मानव-व्यवहार की एक सार्वभौम विशेषता है। मनुष्य का प्रत्येक अनुभव और प्रत्येक व्यवहार मूल्य-भावना से अनुप्राणित रहता है। सच पूछिए तो मनुष्य की कोरे तथ्यों में शायद ही कभी अभिरुचि होती है। जिन तथ्यों में उसकी रुचि होती है वे प्रायः अर्थों या मूल्यों के वाहक होते हैं। मनुष्य अनुभव-जगत के तथ्यों को 'साध्यों' तथा 'साधनों' के रूप में देखता एवं जानता है; वह विश्व के उन पहलुओं में अभिरुचि नहीं लेता जिनका उसके स्वार्थों अथवा प्रयोजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऊपर से देखने से जान पड़ता है कि विज्ञान जिन प्रश्नों से उलझता है उनका मनुष्य के प्रयोजनों से कोई लगाव नहीं होता। किन्तु गहरी छानबीन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान के प्रश्न, अंतिम विश्लेषण में, मानव-रुचियों से असम्बद्ध नहीं होते; और जिस-जिस चीज में मनुष्य की रुचि होती है वह-वह चीज उसके लिए मूल्यवान होती है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि संस्कृति का मूल्यात्मक अध्ययन, उसके तथ्यात्मक अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। तथ्य-मूलक अन्वेषण भी मूल्य-भावना से अनुप्राणित होता है और मूल्यों का अन्वेषण भी तथ्यों की अवगति पर निर्भर करता है। वस्तुतः मूल्यों का अनुसन्धान वहीं तक महत्वपूर्ण है जहाँ तक वह हमें जीवन के तथ्यों की अवगति देता है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम उन विभिन्न दृष्टियों का मूल्यांकन करेंगे जिनका उपयोग संस्कृति के अध्ययन में किया गया है।

नर-विज्ञानकृत संस्कृति की व्याख्या

संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण तथ्यमूलक अनुसन्धान नर-विज्ञान (Anthropology) नामक शास्त्र में हुआ है। नर-विज्ञान का लम्बा चौड़ा साहित्य है, और इधर उसके क्षेत्र में व्यवस्थित अन्वेषण होता रहा है। संस्कृति की सबसे पुरानी और

व्यापक परिभाषा टाइलर की है जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के प्रारम्भ में दी गई थी। टाइलर के अनुसार संस्कृति अथवा सभ्यता 'वह जटिल तत्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीतिरिवाजों तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।'[९] लिंटन नामक विद्वान ने संस्कृति को 'सामाजिक विरासत'[१०] कहा है; लॉवी के अनुसार संस्कृति 'समस्त सामाजिक परम्परा' है।[११] हर्सकोविट्स ने संस्कृति को मनुष्य का समस्त 'सीखा हुआ व्यवहार' कहकर वर्णित किया है; अर्थात् 'वे चीजें जो मनुष्यों के पास हैं, वे चीजें जो वे करते हैं, और वह सब जो वे सोचते हैं' संस्कृति है।[१२] मैलिनाउस्की के अनुसार संस्कृति सामाजिक विरासत है जिसमें 'परम्परा से पाया हुआ कलाकौशल, वस्तु-सामग्री, यांत्रिक क्रियाएँ, विचार, आदतें और मूल्य समावेशित हैं।'[१३] संस्कृति के ये वर्णन कल्पना को स्पर्श करते हैं, और उनका दार्शनिक महत्व भी है। वे हमारा ध्यान उन समस्त परिवर्तनों की ओर ले जाते हैं जो, पशु की भूमिका से उत्थित होने के बाद, मनुष्य ने उत्पन्न तथा अनुभव किये हैं। नर-विज्ञान की पुस्तकें हमारी दृष्टि उन असंख्य क्रियाओं की ओर ले जाती हैं जो कि मानवजाति अनुष्ठित करती पाई जाती हैं; यह नर-विज्ञान का महत्व है। उक्त विज्ञान की कमी यह है कि वह इन क्रियाओं के उल्लेख में किसी चयन की आवश्यकता महसूस नहीं करता। वह हमसे यह कहता प्रतीत होता है कि मनुष्य जो कुछ कर रहा है, जितना कुछ कर और सह रहा है, वह सब देखने लायक है, सभी अध्ययन करने लायक है, सभी में हमें रुचि लेनी चाहिये। मतलब यह कि मनुष्य का अध्ययन करने में हमें उसकी असंख्य क्रियाओं में से किसी चुनाव की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य की सारी क्रियाएँ समान रूप में महत्वपूर्ण हैं। नर-विज्ञान की यह अन्वेषण-विधि हमें हनुमान जी की याद दिलाती है जिन्होंने, अपने को अपेक्षित संजीवनी बूटी खोजने में असमर्थ पाकर, सारी पहाड़ी को उठाकर युद्धभूमि में पहुँचा दिया। मनुष्य के जीवन में क्या कितना महत्वपूर्ण है, इसकी खोज न करके नर-विज्ञान हमें यह आदेश देता है कि मानव-जीवन के प्रत्येक गति-लेश को हम अपने अध्ययन का विषय बना लें।

क्रेबर का कहना है कि नर-विज्ञान का उद्देश्य समस्त संस्कृति का अध्ययन करना है—सब युगों की संस्कृति, समस्त सामग्री, उसके सब विभाग और सब पहलू। उसका उद्देश्य है उन सामान्य नियमों की जानकारी प्राप्त करना जो यह बतलाते हैं कि मानव-संस्कृति कैसे व्यापृत होती है, विभिन्न स्थितियों में मनुष्य किस तरह से

व्यवहार करता है, और संस्कृति के इतिहास में बड़े-बड़े उथल-पुथल किस प्रकार होते हैं।[१४] नर-विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की भाँति अग्रसर होता है, और यह प्रयत्न करता है कि मानव-व्यवहार के विभिन्न तथ्यों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले कार्यों (Effects) का ठीक से विवरण प्रस्तुत करके उनके पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित कर दे। नर-विज्ञान को मनुष्य में इतनी रुचि नहीं है जितनी कि उन परिवर्तनों में जिन्हें, अपने सचेत रूप में, मनुष्य उत्पन्न तथा अनुभव करता है। हर्सकोविट्स ने यहाँ तक कहा है कि 'मनुष्य पर ध्यान दिये बिना भी संस्कृति का अध्ययन हो सकता है।'[१५] किन्तु व्यवहार में नर-विज्ञान आदिम समाजों में ज्यादा अभिरुचि लेता रहा है, यद्यपि ऊँचे समाज भी उसके दायरे के बाहर नहीं हैं। दूसरे, नर-विज्ञान ने इस बात में ज्यादा अभिरुचि ली है कि वह व्यक्तियों पर पड़ने वाले संस्कृतियों के प्रभाव को प्रदर्शित करे। व्यक्तियों का संस्कृतियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस प्रश्न में उसने अधिक अभिरुचि नहीं दिखलाई है। शुद्ध वैज्ञानिक "स्पिरिट" में नर-विज्ञान विभिन्न जनसमूहों के जीवन-प्रकारों का वर्णन करने में रुचि दिखलाता रहा है। उन जीवन-प्रकारों में कौन से कम या ज्यादा महत्वपूर्ण हैं, इस प्रश्न को वह अवैज्ञानिक समझता और मानता है।

मतलब यह कि नर-विज्ञान का पंडित मूल्यांकन के प्रश्न से कतराता है। नर-विज्ञान को 'रीति-रिवाजों का विज्ञान' अथवा 'मनुष्यों का विज्ञान वहाँ तक जहाँ तक वे समाज की सृष्टि हैं,' वर्णित करते हुए रूथ बेनिडिक्ट नाम की लेखिका ने यह घोषित किया है कि विज्ञान होने के नाते नर-विज्ञान एक समाज-व्यवस्था को दूसरी की तुलना में अच्छा या बुरा घोषित नहीं कर सकता।[१६]

रूथ बेनिडिक्ट ने, नर-विज्ञान की दृष्टि को समझाते हुए, एक दूसरे तत्व पर भी गौरव दिया है। उनका कथन है कि 'मुख्य बात यह है कि अनुभव और विश्वासों के क्षेत्र में परम्परा का प्रधान हाथ रहता है। व्यक्ति का जीवन-इतिहास प्रधान रूप में इस बात का इतिहास है कि वह किस तरह अपने को परम्परा से पाये हुए पैमानों तथा व्यवहार-रूपों के अनुकूल बनाता है।' अपनी पुष्टि में उन्होंने जान ड्यूई को उद्धृत किया है। ड्यूई ने कहा है कि व्यक्ति के व्यवहार में रीति-रिवाजों का प्रभाव उसी तरह प्रधान होता है, और स्वयं व्यक्ति द्वारा रीतिरिवाजों में लाया हुआ परिवर्तन वैसे ही नगण्य होता है, जैसे कि बोलचाल में मातृभाषा से पाये हुए शब्द प्रधान होते हैं और किसी बालक द्वारा कुटुम्ब की शब्दावली में दो-चार जोड़ दिये जाने वाले निराले शब्द या व्यंजनाएँ नगण्य होती हैं।[१७]

प्रश्न है, नर-विज्ञान की दृष्टि कहाँ तक उस क्षेत्र को समझने में सहायक है जिसका अन्वेषण करना उस शास्त्र का लक्ष्य है ? जब हम नर-विज्ञान की योग्यता का निर्णय एक शास्त्र के रूप में करेंगे तो हम मुख्यतया यही प्रश्न उठायेंगे कि वह विज्ञान हममें कहाँ तक वैज्ञानिक बोध उत्पन्न कर पाता है। क्या नर-विज्ञान अपनी वैज्ञानिक क्षमता को कम किये बिना मूल्यांकन से बच सकता है ? नर-विज्ञानी समाजों, सामाजिक व्यवहारों तथा प्रथाओं के लम्बे-चौड़े विवरण प्रस्तुत किया करते हैं। नर-विज्ञान पर लिखी हुई पोथियाँ प्रायः बड़े आकार की होती हैं। इसके बावजूद भी क्या नर-विज्ञान चयन तथा गौरव देने की क्रियाओं को बचा कर तथ्यों का संकलन कर सकता है ? किन्तु चयन तथा गौरव की क्रियाओं में मूल्यांकन निहित है। विशेषतः मानव-व्यवहार का अध्ययन करते समय उस व्यवहार के असंख्य रूपों तथा अभिव्यक्तियों में से चयन करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे, नर-विज्ञानी मनुष्य के रूढ़िमलक तथा बार-बार आवृत होने वाले व्यवहार पर इतना ज़ोर देते हैं कि वे उन तथ्यों का ध्यान करना भूल जाते हैं जो किसी समाज को अपनी गुणात्मक नवीनता से प्रभावित करते हैं। हमारे इस वक्तव्य की सत्यता का अनुमान करना कठिन न होगा यदि हम कुछ देर के लिये आदिम समाजों को छोड़कर उच्चतर सभ्य समाजों की गतिविधि का विचार करें। एक उदाहरण लीजिये। आइन्स्टाइन नामक वैज्ञानिक का जीवन असंख्य क्रियाओं या व्यवहारों से बना हुआ है जिनमें से अधिकांश रूढ़िमूलक हैं। उसकी वे क्रियाएँ, जिनके द्वारा उसने सापेक्षवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया, उपर्युक्त व्यवहार का एक नगण्य अंश हैं। क्या इसीलिये हमें यह कहना होगा कि स्वयं आइन्स्टाइन के जीवन, तथा दूसरे करोड़ों नर-नारियों के जीवन में, उसकी चिन्तनात्मक क्रियाएँ कोई खास महत्व नहीं रखतीं? आइन्स्टाइन के चिन्तन ने जो मानवता के बौद्धिक इतिहास पर लम्बा-चौड़ा प्रभाव डाला है क्या उसकी हम बिल्कुल ही उपेक्षा करेंगे ? और क्या यह उपेक्षा ही हमारे दृष्टिकोण को वैज्ञानिक बना देगी ? यह मानते हुए भी कि व्यक्ति के व्यवहार में रूढ़ि तथा रीतिरिवाजों का प्रभाव मुख्य होता है, यह नहीं कहा जा सकता कि रूढ़ि-मूलक व्यवहार उस प्रभाव के अनुपात में महत्वपूर्ण भी होता है, विशेषतः सभ्यता तथा संस्कृति की प्रगति एवं परिवर्तन के लिये।

हमारा अभिप्राय यह है कि सभ्यता तथा संस्कृति में जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें समझने के लिये हमें मूल्यांकन करते हुए चलना पड़ेगा। मूल्यांकन को बचाकर हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि सभ्यता के इतिहास में होने वाला कौन-सा परिवर्तन कितना

महत्वपूर्ण हैं। और जब तक हम विभिन्न परिवर्तनों के महत्व के सम्बन्ध में सहमत न हों, तब तक हम महत्वपूर्ण परिवर्तनों के कारणों का पता भी नहीं लगा सकते, जो कि विज्ञान का लक्ष्य है। इस प्रकार यह प्रश्न कि 'कौन-सी शक्तियाँ ऐतिहासिक परिवर्तन को प्रधानतया प्रभावित करती हैं?' इस दूसरे प्रश्न से असम्बन्धित नहीं है कि 'हम महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना या परिवर्तन, जिसके कारणों का अन्वेषण अपेक्षित है, किसे कहते हैं?' यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। इतिहास का दृष्टिकोण तथा इतिहास द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्न स्थिर नहीं रहे हैं, यद्यपि इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वे अब तक किसी सचेत भाव से ग्रहण किये हुए मूल्य-विज्ञान पर आधारित रहे हैं। उत्साही विचारक अक्सर इतिहास की दार्शनिक व्याख्याओं का निरूपण करने की कोशिश करते रहे हैं, लेकिन उन्होंने वैसा करने से पहले यह प्रश्न उठाने की जरूरत नहीं समझी कि महत्वपूर्ण इतिहास किसे कहते हैं। सच यह है कि इतिहास के व्याख्याता, इतिहासकार, और नर-विज्ञानी सब, अज्ञात भाव से, सामान्य बुद्धि द्वारा माने हुए मूल्यों को ग्रहण करके चलते रहे हैं और उन्होंने यह कोशिश कभी नहीं की कि सामान्य बुद्धि के मूल्यों-संबंधी पक्षपातों पर चिन्तनात्मक ढंग से विचार करें। हमारे अपने युग में इतिहास-लेखन अथवा इतिहास-शास्त्र पर प्रजातन्त्र तथा समाजवाद जैसी विचार-पद्धतियों का निश्चित प्रभाव पड़ा है। किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि इतिहास का मुख्य काम मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन है, तो यह प्रकट है कि संस्कृति और सभ्यता की धारणाओं का स्पष्टीकरण हुए बिना इतिहास अपना कार्य उचित रूप में नहीं कर सकता।

नर-विज्ञान की तरफ लौटते हुए हम यह लक्ष्य करते हैं कि जिस ढंग से यह विज्ञान अब तक अग्रसर होता रहा है, उससे वह कभी ऊँचे समाजों तथा संस्कृतियों का स्वरूपावगाहन कर सकेगा, इसमें सन्देह है। क्योंकि सभ्य समाजों की प्रगति को समझने के लिये मूल्यानुप्राणित धारणाओं का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है। चूँकि नर-विज्ञान मूल्यात्मक धारणाओं पर विश्वास नहीं रखता, इसलिये वह सभ्य समाजों की प्रगति पर पड़ने वाले व्यक्तियों के प्रभावों की ठीक से छान-बीन नहीं कर सकता; और चूँकि नर-विज्ञान रूढ़िमूलक व्यवहार पर विशेष गौरव देता है, इसलिये वह उन आविष्कारों तथा क्रान्तियों का ठीक से अध्ययन नहीं कर सकता जो कि समाजों तथा जातियों के इतिहास की गति बदल देती हैं। वस्तुतः मानव-व्यवहार का अध्ययन करते हुए मूल्यांकन को बचाकर चलना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि मनुष्य

पग-पग पर मूल्यांकन करते हुए व्यवहार करता है। मनुष्य के व्यवहार की रूपरेखा उन मूल्यों से निर्धारित होती है जिन्हें मानकर वह चलता है। उदाहरण के लिये हम यह कभी नहीं समझ सकेंगे कि आज की दुनिया में जनतंत्र तथा समाजवाद के विचार इतने प्रचलित एवं प्रसिद्ध क्यों हो गये, यदि हम यह देखने की कोशिश न करें कि किस तरह उन विचार-पद्धतियों ने मानव-जीवन को सुधारने में योग दिया है।

संस्कृति की वर्ग-मूलक व्याख्याएँ

अविकसित समाजों में संस्कृति और सभ्यता का भेद स्पष्ट नहीं होता, वहाँ मानव-जीवन के उपयोगी तथा निरुपयोगी पक्ष एक-दूसरे से मिले रहते हैं। आदिम समाजों में वर्ग-विभाजन भी नहीं हो पाता। किन्तु विकसित समाजों में वर्ग-भेद स्पष्ट होने लगते हैं। कार्ल मार्क्स तथा टी० एस० इलियट जैसे विचारकों का मत है कि संस्कृति का विशिष्ट वर्गों से घना सम्बन्ध होता है, अर्थात् अपने विकसित रूप में संस्कृति नामक तत्व विभिन्न वर्गों के जीवन के सम्बद्ध हो जाता है।

हमारे लिए टी० एस० इलियट द्वारा दिया गया संस्कृति का विवरण विशेष महत्व रखता है, क्योंकि टी० एस० इलिएट जिस संस्कृति का निरूपण करते हैं वह मूल्यात्मक है। अपनी पुस्तक Notes Toward a Definition of culture (संस्कृति की परिभाषा पर कुछ टिप्पणियाँ) में जो कि महत्वपूर्ण विचारों तथा संकेतों से भरी हैं, इलियट ने संस्कृति के बारे में मुख्यतः तीन बातें कही हैं :

प्रथमतः इलियट ने इस बात पर गौरव दिया है कि व्यक्ति की संस्कृति समूह या वर्ग की संस्कृति पर, तथा वर्ग की संस्कृति उस सम्पूर्ण समाज की संस्कृति पर, जिसका वह वर्ग अंग है, निर्भर करती है।[१८] दूसरे, इलियट ने संस्कृति के स्तरों की धारणा का निरूपण किया है जिसकी मदद से वर्ग-विशेष की संस्कृति पूरे समाज की संस्कृति से जुदा की जा सकती है। यह लक्षित करने की बात हैं कि इलियट ने व्यक्ति तथा वर्ग की संस्कृतियों में स्तरों का भेद नहीं माना हैं।

तीसरे, इलियट मानते हैं कि संस्कृति को संक्रान्त करने का प्रधान मार्ग कुटुम्ब अथवा कौटुम्बिक जीवन हैं। 'जब कुटुम्ब अपना कार्य करना बन्द कर देता है, जब वह संस्कृति-दान से विमुख हो जाता है, तब संस्कृति का अधःपतन होने लगता है।' किन्तु क्योंकि कुटुम्ब या परिवार समूह अथवा वर्ग की इकाई होती है, इसलिये इलियट

इस बात के बड़ा पक्षपाती हैं कि विभिन्न सामाजिक वर्गों को जीवित रक्खा जाय। यहाँ प्रश्न उठता है कि वर्ग तथा कुटुम्ब संस्कृति के विस्तार में क्या काम करते हैं? इलियट का विचार है कि कुटुम्ब मुख्य रूप में व्यक्ति को शिष्टाचार एवं रहन-सहन का तरीका सिखलाता है। यह चीज़ें संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग हैं और आवश्यक रूप में वर्ग-जीवन से संबद्ध हैं।[१९] संस्कृति के निर्माता शिष्ट लोग (Elite) समाज के निम्न स्तरों से भी आ सकते हैं। किन्तु फिर भी इलियट का विचार है कि ऐसे शिष्ट लोगों का वर्ग कायम रक्खा जाय जो सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र हों और जो कला तथा चिन्तन के क्षेत्रों में की जाने वाली सृष्टियों का उपभोग करें। वे शिष्ट लोग जो दूसरे वर्गों तथा सामाजिक स्तरों से आये हैं, अन्त में इस स्थायी शिष्ट वर्ग के अंग बन सकते हैं। लेकिन स्थायी शिष्ट वर्ग का अस्तित्व अनिवार्य रूप में अपेक्षित है। वर्ग का मुख्य काम यह है कि वह शिष्ट व्यवहार के रूपों तथा मानों की रक्षा करे। ऊँचे परिवारों और उनके सदस्यों का यह कर्तव्य है कि वे वर्ग की संस्कृति को सुरक्षित रखें, जब कि संस्कृति के निर्माताओं का यह कर्तव्य है कि वे उसे परिवर्तित करें। कुटुम्ब को और भी कुछ करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपने सदस्यों में अतीत के महापुरुषों के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करें और साथ ही आगे आने वाली पीढ़ियों के प्रति ममत्व की भावना तथा उनके कल्याण की चिन्ता जागृत करे।[२०]

ऊपर हमने इलियट के संस्कृति-सम्बन्धी विचारों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की। उन विचारों का सम्बन्ध मुख्यतः उन स्थितियों से है जिनमें संस्कृति फल-फूल सकती है तथा आगे आने वाली पीढ़ियों तक संक्रान्त की जा सकती है। जहाँ तक संस्कृति के स्वरूप का सम्बन्ध है, इलियट ने कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं दी है। एक जगह उन्होंने कहा कि संस्कृति विभिन्न क्रियाओं का योग मात्र नहीं है, बल्कि वह जीवन-यापन का एक प्रकार है। अन्यत्र वह कहते हैं: "हम कह सकते हैं कि संस्कृति वह है जो जीवन को जीने योग्य बनाती है।' इलियट ने यह भी कहा है कि संस्कृति का धर्म से गहरा सम्बन्ध होता है। इलियट ने जिन क्रियाओं या व्यापारों का संस्कृति के अन्तर्गत समावेश किया है उनकी सूची लम्बी-चौड़ी है। शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओं का सेवन, आदि के अतिरिक्त इलियट ने कहा है कि किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियाएँ जो उसे विशिष्ट बनाती हैं, उसकी संस्कृति का अंग हैं, जैसे कि घुड़दौड़ अथवा नावों की प्रतियोगिता, उसके खान-पान का प्रकार, उसका संगीत, आदि।

कोई भी व्यक्ति अथवा समाज सभ्यता के समस्त मूल्यों का उपभोग नहीं कर सकता, उन मूल्यों में परस्पर विरोध भी हो सकता है। इसलिये इलियट का कहना है कि कोई भी व्यक्ति अथवा समाज पूर्णतया सभ्य नहीं हो सकता और वह व्यक्ति जो संस्कृति की प्रगति में योग देता है, भले ही उसका योग बहुत महत्वपूर्ण हो, स्वयं पूर्णतया संस्कृत व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। यह ज़रूरी नहीं है कि कवि तथा विचारक जो संस्कृति को आगे बढ़ाता है स्वयं एक सुसंस्कृत व्यक्ति ही हो।

हमने कहा कि इलियट ने मुख्यतः संस्कृति को एक मूल्य के रूप में निरूपित किया है। इलियट की संस्कृति के मानों में विशेष अभिरुचि है। इस अभिरुचि के कारण ही उन्होंने यह प्रस्ताव किया है कि शिष्ट वर्ग को एक स्वतंत्र वर्ग के रूप में कायम रहना चाहिए। उनका विचार है कि पिछले वर्षों में उन वर्गों का जिनके जीवन में संस्कृति अपने उच्चतम रूप में प्रतिफलित रहती है, विघटन होता रहा है, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी देशों का यह युग सांस्कृतिक अधोगति का युग रहा है। और इस समय के सांस्कृतिक पैमाने पचास वर्ष पूर्व के पैमानों से निम्नतर या हीनतर हैं।

इलियट ने संस्कृति के पैमानों के लिए जो चिन्ता प्रकट की है, वह निःसन्देह श्लाघ्य है; किन्तु उन्होंने सांस्कृतिक व्यापारों की जो सूची दी है उसे पढ़कर मन में कुछ सन्देह उत्पन्न होता है, यह कि इन विभिन्न क्रियाओं का आपेक्षिक महत्व क्या है। उदाहरण के लिये इलियट हमें यह नहीं बतलाते कि दर्शन, कविता तथा घुड़दौड़ में किस व्यापार को कितना महत्व दिया जाय और क्यों। उन्होंने यह भी बताने की कोशिश नहीं की है कि संस्कृति के विभिन्न स्तरों को एक-दूसरे से कैसे अलग किया जाय। इस दिशा में इलियट ने जिस अकेले मानदण्ड की ओर संकेत किया है वह मानदण्ड है शिष्ट व्यवहार के नियम, अर्थात् तथा-कथित अभिजात वर्ग के जीवन-नियम। किन्तु इलियट ने कहीं उन सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण नहीं किया जिनके आधार पर शिष्टता के नियमों, घुड़दौड़, दर्शन, नैतिकता, धार्मिकता आदि के आपेक्षिक महत्व को हृदयंगम किया जा सके।

स्पेनी लेखक आर्टीगा वाइ० गैसेट इलियट के इस मन्तव्य से सहमत हैं कि संस्कृति विशिष्ट मानदण्डों पर आधारित है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृति के विभिन्न दर्जे प्रयुक्त मानों के न्यूनाधिक सहीपन से निर्धारित होते हैं। गैसेट सामान्य मनुष्य से डरते हैं, जो आराम से चलना चाहता है और अपने से कोई कड़ी माँग नहीं करता।

किन्तु गैसेट अभिजात-वर्ग तथा उसके शिष्ट व्यवहार के प्रशंसक नहीं हैं। उनका विचार है कि अभिजात-वर्ग का सदस्य आराम से रहने का अभ्यस्त होता है और उस प्रकार का प्राणवान् प्रयत्न नहीं करता जिससे व्यक्तित्व की उन्नति होती है। अभिजात-वर्ग का सदस्य विभिन्न खेलों तथा क्रीड़ाओं को जीवन का मुख्य व्यापार बना लेता है और शरीर की स्वच्छता तथा वेशभूषा पर विशेष ध्यान देता है। स्त्रियों से व्यवहार करते समय वह रोमान्स का अनुभव नहीं कर पाता।[२१] अभिजात-वर्ग पर टिप्पणी करते हुए जर्मन कवि गेटे ने लिखा था, 'यह सोचकर आश्चर्य होता है कि एक समृद्ध उच्चवर्गीय अंग्रेज़ का कितना समय द्वन्द्व युद्ध करने तथा महिलाओं को ले-भागने में व्यय हो जाता है।'[२२]

प्रतीत होता है कि गेटे मध्य वर्ग के प्रति ज्यादा सहानुभूति रखते थे। उन्होंने लिखा है कि 'योग्य व्यक्तित्व के विकास के लिये मध्यस्थिति ज्यादा अनुकूल पड़ती है; हम पाते हैं कि समस्त बड़े कलाकार और कवि मध्य वर्ग में हुए हैं।'[२३] गैसेट पूछते हैं कि आज वह कौन है जिसके हाथों में सामाजिक शक्ति है? कौन अपनी बुद्धि तथा मस्तिष्क के रूपों को युग के ऊपर आरोपित करता है? उनका उत्तर है कि 'निःसन्देह मध्यवर्ग का मनुष्य: इंजीनियर, डॉक्टर, पूँजी जुटानेवाला, शिक्षक इत्यादि।'[२४] गैसेट ने बौद्ध सद्गुण अप्रमाद या उद्योगशीलता को श्रेष्ठ पुरुषों का चिह्न माना है, और वह कहते हैं कि यह सद्गुण मध्यवर्ग के कुछ लोगों में अधिक विकसित रूप में दिखाई देता है।

किन्तु अप्रमाद या उद्योगशीलता नाम के गुण का विभिन्न दिशाओं में उपयोग किया जा सकता है। एक व्यवसायी व्यक्ति बड़ा परिश्रमी हो सकता है और अपने से उसी तरह कठिन माँगें कर सकता है जैसे कि एक कलाकार या कवि। इसलिये अप्रमाद अथवा उद्योगशीलता को हम सांस्कृतिक उपलब्धि का मानदण्ड नहीं मान सकते।

मार्क्सवादी सिद्धान्त

अब हम एक दूसरे सिद्धान्त की परीक्षा करेंगे जो संस्कृति को वर्ग की वस्तु मानता है। हमारा मतलब मार्क्सवाद से है। मार्क्स और ऐंगेल्स की कृतियों में संस्कृति शब्द का प्रयोग कम ही हुआ है। यह कहना भी कठिन है कि वे संस्कृति को एक वर्णनात्मक धारणा मानते हैं या मूल्यात्मक धारणा। मार्क्स को संस्कृति के पैमानों

की चिन्ता थी, ऐसी बात भी नहीं है, यद्यपि वह एक अर्थ में संस्कृति को प्रगति से सम्बन्धित करते हैं। मार्क्सवादी अनुभव-जगत को दो भागों में विभक्त करते हैं: एक भौतिक वस्तु-सम्बन्ध, और दूसरे चेतना, प्रत्यय या विचार। मार्क्सवाद बौद्धिक चेतना अथवा प्रत्ययों को वस्तु-सम्बन्धों पर आधारित बतलाता है। संस्कृति का सम्बन्ध सामाजिक चेतना से है और वह संस्कृति सामाजिक सत्ता पर निर्भर रहती है। सामाजिक सत्ता से मतलब है भौतिक सामाजिक सम्बन्ध। सामाजिक रूप में सम्पत्ति का उत्पादन करते हुए मनुष्यगण निश्चित सम्बन्धों से सम्बन्धित हो जाते हैं। ये सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं और विभिन्न व्यक्तियों के संकल्पों से निर्धारित नहीं होते। इन सम्बन्धों की समग्रता किसी समाज के आर्थिक ढाँचे को निर्मित करती है। यह आर्थिक ढाँचा असली आधार होता है जिस पर कानूनी तथा राजनैतिक ढाँचा खड़ा होता है और जिससे सामाजिक चेतना के रूप स्थिर होते हैं। भौतिक उत्पत्ति के प्रकार सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक जीवन-व्यापारों का निर्धारण करते हैं।[२५] संक्षेप में यही मार्क्स का सिद्धान्त है। मार्क्स की दूसरी मान्यता यह है कि हर युग में लोगों पर शासन करनेवाले विचार प्रायः शासकों के विचार होते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए सिडनी हुक कहते हैं कि 'समाज का वर्गों में विभाजन विभिन्न विचार-पद्धतियों को जन्म देता है: राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक। ये विचार-पद्धतियाँ वर्ग-सम्बन्धों को प्रकट करती हैं, और वे या तो शासकों की शक्ति को पुष्ट करने वाली होती हैं या उन्हें निराधार प्रदर्शित करने वाली। इस प्रकार विचार-पद्धतियों के बीच द्वन्द्व चलता रहता है। जिनके हाथों में उत्पत्ति के साधन होते हैं, उन्हीं के हाथों में प्रचार के साधन भी होते हैं जैसे चर्च, प्रेस, और स्कूल। फलतः किसी समय में जो विचार प्रचलित होते हैं वे मौजूदा व्यवस्था को आधार देनेवाले होते हैं।'[२६]

किसी विचार-पद्धति का मूल्यांकन करने का मार्क्सवादी तरीका ऐतिहासिक है। जब तक किसी संस्कृति को उत्पन्न करने वाला वर्ग स्वयं प्रगतिशील रहता है, तब तक उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील रहती है। जब वह प्रगतिशील नहीं रहता, तब उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील नहीं रहती, बल्कि मूल्यहीन हो जाती है। उदाहरण के लिये जब बूर्जुआ वर्ग ने सामन्ती व्यवस्था का विनाश किया उस समय वह प्रगतिशील और क्रान्तिकारी था। कारण यह कि उस समय बूर्जुआ वर्ग सम्पत्ति का अधिक और शीघ्रता से उत्पादन कर सकता था। इतिहास के जिस युग में सामन्ती व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी उस समय बूर्जुआ वर्ग की संस्कृति प्रगतिशील तथा महत्वपूर्ण दोनो थी। लेकिन

इस समय, उत्थित होते हुए मजदूर-वर्ग की अपेक्षा में, पूँजीवादी वर्ग और वह संस्कृति जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, प्रतिक्रियावादी एवं अप्रगतिशील बन गये हैं। इस समय पूँजीवादी समाज की दशा ऐसी नहीं कि वे अधिक से अधिक सम्पत्ति का उत्पादन कर सकें।[२७]

शासक-वर्ग जिन विचार-पद्धतियों को जन्म देता है वे उनके स्वार्थों को पुष्ट करने वाली होती हैं। ये विचार-पद्धतियाँ, अन्तिम विश्लेषण में, उन लोगों के बीच जो उत्पादन के साधनों पर अधिकार रखते हैं और उनके बीच जो उनके अधीन रहकर उत्पादन करते हैं, ऐसे सम्बन्धों की वकालत करती हैं जो शासक-वर्गों के लिये हितकर हैं। ये विचार-पद्धतियाँ मानवजाति के लिये तब तक उपयोगी होती हैं जब तक वे उन वर्ग-सम्बन्धों की बौद्धिक पुष्टि करती हैं जो अधिक उत्पादन के आधार हैं। जब वे सम्बन्ध अनुपयोगी हो जाते हैं, जब वे अधिक उत्पादन में बाधा बन जाते हैं, तब वे विचार-पद्धतियाँ भी, जो उन सम्बन्धों का मंडन करती थीं, पुरानी और अप्रगतिशील बन जाती हैं। जब पूँजीपतियों ने उत्पादन की ऐसी नई प्रक्रियाओं का आविष्कार किया जिन प्रक्रियाओं के साथ सम्पत्ति और वर्गों के नये सम्बन्ध जुड़े थे तब सामन्ती युग की विचार-पद्धति, उनके सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक तथा कानून-सम्बन्धी विचार पुराने पड़े गये, और वे प्रतिक्रियावादी भी दीखने लगे। अभिप्राय यह है कि समय-समय पर मानवजाति को पुरानी विचार-परम्परा से विच्छिन्न हो जाना चाहिए। इस प्रकार विच्छिन्न होकर ही मानवजाति उन्नति कर सकती हैं। इस प्रकार की विच्छिन्नता तब तक आवश्यक रहेगी जब तक समाजवादी समाज की स्थापना न हो जाय। इस प्रकार के समाज की स्थापना क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। ऐसी क्रान्ति अतीत से "सम्पूर्ण विचारात्मक विच्छिन्नता" उत्पन्न करेगी, क्योंकि वह मौजूदा साम्पत्तिक सम्बन्धों में "आमूल परिवर्तन" उपस्थित कर देगी।

इस प्रकार मार्क्सवाद अतीत के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा का अनुभव नहीं करता। मार्क्सवाद क्रान्तिवादी है। उसके विचार में परम्परा, इतिहास की यात्रा में, मूलतः निषेधात्मक पार्ट खेलती है। परम्परा उस परिवर्तन की गति को मन्द करती है जिसे हम प्रगति कहते हैं। परम्परा मुख्यतः नई विचार-पद्धति के उत्पन्न होने में बाधा डालती है। मरी हुई पीढ़ियों की परम्परा का बोझ-मार्क्स ने एक जगह लिखा है—एक भयावने स्वप्न की तरह नई पीढ़ी के मस्तिष्क पर पड़ा रहता है।[२८]

मार्क्सवाद के ये मन्तव्य कुछ ऐसी मान्यताओं पर निर्भर हैं जिन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रथमतः मार्क्सवाद यह मानता प्रतीत होता है कि मनुष्य केवल मात्र एक सामाजिक प्राणी है। दूसरे, मार्क्सवादी विचार-पद्धति के अनुसार, सामाजिक जीवन वर्ग-सम्बन्धों में, अथवा उन सम्बन्धों से निर्धारित व्यापारों में, निःशेष हो जाता है। पहली मान्यता के अनुरूप मार्क्सवाद यह मानने से इनकार करता है कि मानवीय जीवन की कोई निजी (प्राइवेट) भूमिका, अथवा कोई ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित भूमिका, भी होती है। दूसरी मान्यता को ग्रहण करके मार्क्सवाद यह कहता प्रतीत होता है कि विभिन्न वर्गों की रुचियाँ, विचार तथा दृष्टिकोण एकदम भिन्न होते हैं और मानव के वे वर्ग मानो विभिन्न जीव-योनियाँ बनाते हैं।

इनमें से कोई भी मान्यता समीचीन नहीं है। सामाजिक सम्बन्ध केवल वर्ग-मूलक ही नहीं होता। माता का अपने बच्चे से तथा प्रेमी का अपनी प्रेमिका से जो सम्बन्ध होता है, वह किसी भी प्रकार वर्ग का सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। यही बात मित्रों के आपसी सम्बन्ध पर लागू है। हमारी एक व्यक्ति से मैत्री हो सकती है, इसलिये नहीं कि मैं और वह एक ही वर्ग के हैं, अथवा हमारी सामान्य वर्ग-मूलक रुचियाँ हैं। मैं एक व्यक्ति को इसलिये भी पसन्द कर सकता हूँ कि वह अच्छी गप करता है, या एक अच्छा खिलाड़ी है, अथवा कविता का प्रेमी है, अथवा पहाड़ी यात्राओं में रुचि रखता है। यह भी लक्षित करने की बात है कि प्रेमी और मित्र, फिर वे चाहे किसी भी वर्ग के हों, अपनी भावना के विषय के सम्बन्ध में प्रायः एक से आवेगों तथा मनोभावों का अनुभव करते हैं। यही कारण है कि एक आधुनिक प्रेमी उन सारे आवेगों को ग्रहण कर सकता है जो कालिदास के 'मेघदूत' में यक्ष पर आरोपित किये गये हैं, अथवा "अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त की मानसिक प्रतिक्रियाओं में दिखलाये गये हैं। और यही कारण है कि हम सूरदास के बालकाव्य में आज भी रस ले सकते हैं। आश्चर्य की बात है कि वे पाठक जिनका राजकुमारों तथा राजकुमारियों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, कालिदास के उन चौदह श्लोकों में रस लेते पाये जाते हैं जिनमें कालिदास ने चारणों द्वारा अज को जगाने के लिये उसका विरुद-गान कराया है। वास्तविकता यह है कि, मानव-स्वभाव की मौलिक एकता के कारण, विभिन्न मनुष्य एक-दूसरे की संवेदनाओं तथा प्रतीतियों को ग्रहण कर सकते और उनका उपभोग कर सकते हैं।

अनुभूति के आयाम या सिम्तें

ऊपर हमने कहा कि मार्क्सवादी सामाजिक जीवन को एक संकीर्ण रूप में लेते हैं और उसे वर्ग-सम्बन्धों से समीकृत करते हैं जो उचित नहीं है। यहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि मानव-जीवन और अनुभूति केवल सामाजिक भूमिका में ही प्रसरित नहीं होते, वे उस भूमिका का अतिक्रमण करके दूसरी भूमिकाओं में भी विस्तार पाते हैं। मनुष्य केवल मात्र सामाजिक यथार्थ के प्रति ही प्रतिक्रिया नहीं करता। उसके जीवन में ऐसा अवसर भी आता है जब वह मानव के समग्र अस्तित्व पर और ब्रह्माण्ड के अस्तित्व पर भी विचार करता है, एवं उन दोनों के प्रति बौद्धिक तथा आवेगात्मक प्रतिक्रिया करता है। दार्शनिकों के बारे में कहा गया है कि वे देश-काल की समग्रता के दर्शक होते हैं। बुद्ध जी जैसे विचारक जो प्रश्न करते हैं, उनका सम्बन्ध किसी संकीर्ण सामाजिक जीवन से नहीं होता। वे प्रश्न अपनी परिधि में समग्र मानव-जीवन तथा समूचे ब्रह्माण्ड को ले लेते हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्य एक दार्शनिक प्राणी है और वह पूर्णता की कामना रखने वाला धार्मिक प्राणी भी है। वह समाज से कहीं अधिक व्यापक वस्तु-सत्ता के प्रति प्रतिक्रियाशील होता है।

यदि हम सामाजिक जीवन का अर्थ वह जीवन समझें जिसमें देना और लेना रहता है, अर्थात् पारस्परिक सेवा के विनिमय का जीवन, तो हमें जीवन की तथा अनुभूति की एक तीसरी सिम्त भी माननी पड़ेगी। इस सिम्त को हम प्रगीतात्मक सिम्त या भूमिका भी कह सकते हैं। इस भूमिका में मनुष्य विभिन्न वस्तुओं से रागात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक सम्बन्ध स्थापित करता है। जीवन तथा अनुभूति की यह भूमिका मुख्यतः गीत काव्य में अभिव्यक्ति पाती है, उस गीतात्मकता में जिसके प्रमुख प्रतिनिधि वर्ड्सवर्थ और शेली, कीट्स और रवीन्द्र, तथा विद्यापति और बिहारीलाल हैं।

इधर यह फैशन हो चला है कि कला, दर्शन आदि की सामाजिक व्याख्या की जाय और उन्हें विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं पर निर्भर प्रदर्शित किया जाय। कुछ लोगों का विचार है कि हमारा समस्त ज्ञान-विज्ञान विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था का सापेक्ष होता है। इस दृष्टिकोण को "ज्ञान की समाजशास्त्रीय व्याख्या" (Sociology of Knowledge) नाम दिया गया है। नाम नया है, किन्तु उसमें निहित सिद्धान्त पुराना है। वह सिद्धान्त मार्क्सवाद की यह मान्यता है कि सामाजिक चेतना सामाजिक सत्ता पर निर्भर करती है, और सामाजिक सत्ता सामाजिक चेतना की पूर्ववर्त्ती होती है।

यहाँ एक रोचक प्रश्न किया जा सकता है। वे कौन-सी सामाजिक स्थितियाँ हैं जिन्होंने इस विशिष्ट सिद्धान्त को जन्म दिया है? यदि यह सिद्धान्त आज के युग की कतिपय सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम हैं, तो क्या यह माना जाय कि उन परिस्थितियों के बदले जाने पर यह सिद्धान्त मान्य नहीं रहेगा? इसी प्रकार मार्क्सवाद की यह मान्यता कि प्रत्येक सिद्धान्त किसी वर्ग का सिद्धान्त होता है, प्रत्येक सत्य किसी वर्ग के लिये सत्य होता है, क्या स्वयं भी एक वर्ग का सत्य है? और क्या यह मान्यता कि सारी मान्यताएँ परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं, स्वयं किसी खास सामाजिक परिस्थिति पर निर्भर करती है? हम समझते हैं कि ऐसा मानना समुचित नहीं होगा। जब लेनिन ने कहा कि "वर्ग-संघर्ष पर आधारित समाज में निष्पक्ष समाज-विज्ञान की स्थिति सम्भव नहीं है", तब, निश्चित रूप में, वह यह नहीं कहना चाहता था कि उसकी यह मान्यता निष्पक्ष चिन्तन का फल न थी। यह भी समझ में नहीं आता कि लेनिन की यह मान्यता किस प्रकार एक या दूसरे वर्ग के लिये विशेष हितकर हो सकती है।

जिसे हम ज्ञान की सामाजिक व्याख्येयता का सिद्धान्त कहते हैं उसकी, और लेनिन की उक्त मान्यता की, सच्चाई इस स्वीकृति पर निर्भर है कि मनुष्य में अपने व्यापारों के सम्बन्ध में, कुछ हद तक, निष्पक्ष एवं तटस्थ द्रष्टा बनने की क्षमता है। यदि मनुष्य अपने को थोड़ी देर के लिये भी तटस्थ एवं निष्पक्ष नहीं बना सकता, यदि वह सामाजिक जीवन द्वारा आरोपित संघर्षों तथा सम्बन्धों से अपने को अलग नहीं कर सकता, तो वह समाज के संघर्षों की निष्पक्ष, वैज्ञानिक व्याख्या तथा अध्ययन भी नहीं कर सकता। प्रस्तुत लेखक का विचार है कि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा मनुष्य अपने को तात्कालिक परिवेश से अलग कर सकता है, और अपने को तटस्थ द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है, और इस प्रकार वह सामाजिक जीवन-नाटक का निष्पक्ष अध्ययन कर सकता है। यही नहीं, प्रयत्न करने पर मनुष्य संकीर्ण सामाजिक जीवन की परिधि से ऊपर उठकर समस्त ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप में चिन्तन तथा अध्ययन कर सकता है। इसी प्रकार वह संकीर्ण वर्ग-भावना के ऊपर उठकर समस्त मानवता के दृष्टिकोण को भी अपना सकता है।

यदि अब भी कोई इस बात पर अड़ा रहे कि मनुष्य का चिन्तन सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों द्वारा निर्धारित होता है तो उत्तर है: इस प्रकार निर्धारित होने वाला चिन्तन प्रायः वही होता है जिसका विषय समाज के मूल्य हैं। इसका मतलब यह हुआ कि दूसरी दिशाओं में चलने वाला चिन्तन सामाजिक स्थितियों से निर्धारित

नहीं होता। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण आधुनिक भौतिक-शास्त्र (Physical Science) में घटित हुई क्रान्ति है। निश्चय ही यह नहीं कहा जा सकता कि आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद तथा दूसरे वैसे मन्तव्यों का हमारे युग की सामाजिक-राजनैतिक उथल-पुथल से कोई गहरा लगाव है। एक और बात है। विचार-पद्धतियों पर केवल सामयिक परिस्थितियों का ही प्रभाव नहीं पड़ता, उनके ऊपर मानवता के सम्पूर्ण प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास का (और यह इतिहास कला, साहित्य, विज्ञान आदि सबका हो सकता है), प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये दान्ते तथा शेक्सपियर जैसे कलाकारों की कृतियाँ आज भी हमारे साहित्यिक मूल्यांकन के मानों को प्रभावित करती हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि बुद्ध, ईसा आदि की शिक्षाएँ हमारे नैतिक पैमानों को। इसी प्रकार आज के उपन्यासकार केवल समकालीन रुचियों तथा कृतियों से ही प्रभावित नहीं होते, उन पर फ़्लाबेर, बालज़क, टॉल्स्टॉय, दास्ताएव्स्की जैसे लेखकों का भी प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार आधुनिक दार्शनिक विचारक प्लेटो, अरस्तू, शंकर, नागार्जुन, कान्ट तथा ह्यूम जैसे विचारकों से अजस्र प्रेरणा लेते रहे हैं।

मानव की ऐतिहासिक प्रकृति : मानवीय संस्कृति की अविच्छिन्नता

संस्कृति का विवेचन करते हुए मार्क्सवाद, हमारे विचार में, तीन हेत्वाभासों, अथवा तिहरे सरलीकरण का, अपराधी बन जाता है। प्रथमतः वह यह स्वीकार करके चलता है कि वर्ग-भेद मनुष्यों की उस एकता को खंडित कर सकता है जिसका मूल उनकी सामान्य जैवी तथा मनोवैज्ञानिक प्रकृति में है। यह मान्यता उसी प्रकार गलत है जैसे कि उनकी दूसरी मान्यता जिसके अनुसार मनुष्यों की विचारात्मक प्रतिक्रिया केवल, अथवा मुख्यतः, सामाजिक यथार्थ के प्रति होती है। दूसरे, मार्क्सवाद इस बातसे इनकार करता प्रतीत होता है कि एक युगकी सांस्कृतिक चेतना तथा दूसरे युग की सांस्कृतिक चेतना में किसी प्रकार की अविच्छिन्नता होती है। इस सम्बन्ध में मार्क्सवाद एक ही लगाव की बात सोचता है, अर्थात् निषेध या विरोध की। मार्क्सवाद का विचार है कि एक युग के उत्पत्ति-साधन दूसरे युग के उत्पत्ति साधनों द्वारा, कम उन्नत युग के उत्पत्ति-साधन अधिक उन्नत युग के साधनों द्वारा, स्थानच्युत कर दिये जाते हैं, और उसी प्रकार अधिक उन्नत युग की विचार-पद्धतियाँ कम उन्नत युग की विचार-पद्धतियों की स्थानापन्न बन जाती हैं। कारण यह है कि विभिन्न युगों की विचार-

पद्धतियाँ क्रमशः उन वर्गों के स्वार्थों का मंडन करती हैं जो उत्पत्ति के साधनों के स्वामी होते हैं। मार्क्सवाद इसकी कोई सम्भावना नहीं देखता कि विरोधी वर्गों में किसी प्रकार का समझौता हो सकता है, और इसलिये वह यह सम्भावना भी नहीं देख पाता कि विरोधी विचार-पद्धतियों में किसी प्रकार का समन्वय या समझौता हो जाय। यही कारण है कि मार्क्सवादी लेखक क्रान्ति पर विशेष गौरव देते हैं और अतीत से नितान्त उग्र विचारात्मक विच्छिन्नता की बात करते हैं। हीगल ने समन्वय की धारणा दी थी जिसमें वाद तथा प्रतिवाद दोनों का सत्यांश सुरक्षित रहता है, किन्तु यह धारणा मार्क्सवादी व्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण पार्ट नहीं अदा करती।

मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति के तथा उस मानवीय व्यक्तित्व के बारे में जिसके द्वारा यह प्रगति घटित होती है, हमारा विचार मार्क्सवाद से नितान्त भिन्न है। हमारा विश्वास है कि मनुष्य, व्यक्ति तथा जाति दोनों की हैसियत से, एक ऐतिहासिक प्राणी है। प्राणवान वस्तु होने के नाते उसकी प्रकृति उन सब परिवर्तनों से निर्मित होती है जो उसके बीज-रस (Germ-Plasm) में समय-समय पर होते रहते हैं और जो सुरक्षित रह जाते हैं। एक चेतन-मनोमय सत्ता के रूप में मनुष्य अतीत की समस्त बौद्धिक क्रियाओं तथा आवेगात्मक प्रतीतियों को विरासत के रूप में ग्रहण करके सांस्कृतिक जटिलता को प्राप्त करता है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य में अपने "सांस्कृतिक" परिवेश का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान तथा सब प्रकार का रागात्मक आलोड़न-विलोड़न संक्रान्त होकर आ जाता है। यह संक्रमण विभिन्न प्रकार के प्रतीकों, शब्दों तथा दूसरे चिह्नों के माध्यम से निष्पन्न होता है। ये प्रतीक विभिन्न प्रकार की प्रतीतियों तथा धारणाओं के प्रतिनिधि रूप होते हैं। इन प्रतीकों के विविध एवं विभिन्न संस्थान या समुदाय मनुष्य के स्वप्नों तथा आदर्शों, उसके प्रश्नों एवं कल्पनाओं, उसकी धार्मिक तथा दार्शनिक पद्धतियों, एवं उसकी असंख्य चरित्र-सृष्टियों का स्वरूप निर्मित करते हैं। ये चरित्र-सृष्टियाँ हमें तरह-तरह के नायकों तथा नायिकाओं, शासकों एवं विजेताओं आदि के रूप में उपलब्ध होती हैं। जहाँ मनुष्य का वैज्ञानिक बोध उसे अपने परिवेश पर अधिकाधिक नियन्त्रण स्थापित करने में सहायक होता है, वहाँ इतिहासकारों के विवरण, दार्शनिक तथा नैतिक विचारकों के वाद-विवाद, एवं कलाकारों तथा कवियों की सृष्टियाँ उसके आध्यात्मिक अस्तित्व को समृद्धि प्रदान करते हैं। मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है, इसका अभिप्राय यह है कि, इतिहास के किसी भी युग में, उसके सांस्कृतिक अस्तित्व की समृद्धि तथा जटिलता केवल उसके सम-

कालीन बौद्धिक तथा आर्थिक परिवेश का परिणाम नहीं होती, अपितु वह उसके समस्त आध्यात्मिक अतीत का कार्य या परिणाम होती हैं। इससे यह अनुगत होता है कि उन दो व्यक्तियों में जो एक ही बौद्धिक-सामाजिक परिवेश में रह रहे हैं, जो न्यूनाधिक एक ही सी प्रथाओं तथा रूढ़ियों का अनुगमन करते हैं, वह ज्यादा संस्कृत व्यक्ति होगा जो जीवन के अन्य कार्यों को करते हुए, अतीत के बुद्ध जैसे विचारकों द्वारा उठाये प्रश्नों पर मनन करता तथा कालिदास जैसे कवियों की रचनाओं में आनन्द लेता है। हमें यह स्थापना स्वयंसिद्ध जैसी जान पड़ती है। हमारी समझ में नहीं आता कि किस प्रकार मार्क्सवाद के सिद्धान्त को मानते हुए हम इस सम्भावना को स्वीकार कर सकते हैं कि एक सामन्ती युग का कवि या दार्शनिक आज के मनुष्य की आध्यात्मिक संस्कृति को प्रभावित एवं परिवर्तित कर सकता है।

संस्कृति के मार्क्सवादी विवरण में एक दूसरी कमी यह है कि उसमें विभिन्न सांस्कृतिक रूपों की प्रामाणिकता अथवा सत्यता का विचार नहीं होता। ऐसा जान पड़ता है कि मार्क्स को इस बात की कोई चिन्ता नहीं है कि विभिन्न विचार तथा आदर्श, राजनैतिक, नैतिक तथा कानूनी मान्यताएँ, सही हैं या नहीं। वह मुख्यतः यही देखता है कि विभिन्न विचारों तथा विचार-पद्धतियों का विरोधी वर्गों के स्वार्थों पर क्या प्रभाव पड़ता है। हाल में काडवेल जैसे मार्क्सवादी लेखकों ने तथा-कथित बूर्जुआ संस्कृति के विभिन्न रूपों की अंधाधुन्ध आलोचना कर डाली है, इसलिये नहीं कि वे वस्तु-रूप अथवा यथार्थ को ठीक अभिव्यक्ति नहीं देते, बल्कि इसलिये कि उनका सम्बन्ध तथाकथित बूर्जुआ वर्ग से है। अपनी पुस्तक "स्टडीज़ इन ए डाईइंग कल्चर" में कहीं पर भी काडवेल यह नहीं देख पाता कि पश्चिमी योरप अथवा पूँजीवादी देशों के कला, दर्शन, नैतिक मान्यताओं, कानून, आदि में कोई भी ऐसी चीज है जिसे किसी प्रकार का महत्व दिया जा सके। उसकी दृष्टि में समसामयिक बूर्जुआ वर्ग के देशों की समस्त सांस्कृतिक प्रगति सर्वथा अर्थहीन है।

संस्कृति और सभ्यता का मूल्यात्मक विवेचन

जब हम संस्कृति को एक मूल्य मानकर चलें तो हमें नर-विज्ञान तथा वर्ग संस्कृति-वाद दोनों की अतिवादी स्थितियों को बचाकर चलना पड़ेगा। यदि संस्कृति एक मूल्यवान वस्तु है, तो उसे किसी एक अथवा दूसरे समाज के समस्त व्यवहारों से समीकृत नहीं किया जा सकता। साथ ही हम संस्कृति को किसी एक वर्ग के व्यवहार से

भी समीकृत नहीं कर सकते। किसी भी समाज अथवा वर्ग का सम्पूर्ण व्यवहार संस्कृति का मानदण्ड नहीं माना जा सकता। वस्तुतः संस्कृति का मूल्यात्मक विवेचन करने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले संस्कृति के स्वरूप एवं पैमानों की ठीक अवगति प्राप्त कर लें, जिससे संस्कृति के विभिन्न स्तरों को अलग किया जा सके। य पैमाने, ऐसे होने चाहिएँ कि वे हमें विभिन्न समाजों, वर्गों तथा व्यक्तियों की सांस्कृतिक उपलब्धियों के आँकने में सहायक हो सकें। इतिहास द्वारा हम अनेक समाजों, अनेक अभिजात वर्गों, तथा बहुत-से प्रतिभाशाली व्यक्तियों का परिचय पाते हैं। ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं है कि हम किन्हीं विशिष्ट समाजों, अभिजात वर्गों तथा व्यक्तियों को सांस्कृतिक श्रेष्ठता के मानदण्ड के रूप में स्वीकार कर लें। इस प्रकार का मानदण्ड या पैमाना उन सामान्य तत्वों के अन्वेषण से ही प्राप्त हो सकता है जो अपने को विभिन्न विशेषों में अभिव्यक्त करते हैं।

मैकाइवर ने एक स्थान में कहा है कि मनुष्य जो कुछ करता है उसे मुख्यतः दो व्यवस्थाओं या क्रमों में निक्षिप्त किया जा सकता है। एक वर्ग की क्रियाओं को वह सभ्यता कहता है और दूसरे वर्ग की क्रियाओं को संस्कृति।[२९] इस सम्बन्ध में हमें कहना है कि जहाँ मनुष्य मुख्यतः मूल्यों के उत्पादन के लिए व्यापृत होता है वहाँ वह कभी-कभी ऐसे काम भी कर डालता है जो मूल्यों के उत्पादक न होकर उनके विघातक होते हैं। मनुष्य ऐसी क्रियाएँ भी करता है जो निषेधात्मक मूल्यों को उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिये अनेक आक्रामक विजेताओं ने विजितों के मंदिर आदि कला-सृष्टियों का ध्वंस किया है, और हत्यारे चोर-डाकू अक्सर महत्वपूर्ण वस्तुओं तथा व्यक्तित्वों को नष्ट कर डालते हैं। इन स्पष्ट तथ्यों को स्वीकार किये बिना हम सभ्यता तथा संस्कृति की मूल्यात्मक छानबीन नहीं कर सकते।

मूल्य किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस दूसरे प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित है कि मनुष्य किन चीजों को मूल्यवान समझते है। अन्ततः मूल्यवान वस्तु वह है जिसकी मनुष्य कामना करता है। जान स्टुअर्ट मिल ने ठीक ही कहा था कि वांछनीय वह है जिसकी कामना की जाती है। ज्यादा उचित यह कहना है कि वांछनीय वस्तुएँ उन्हीं वस्तुओं के वर्ग में पाई जा सकती हैं जिनकी मनुष्य इच्छा करता है। वे सभी वस्तुएँ जिनकी हम कामना करते हैं भले ही मूल्यवान न हों, किन्तु वांछनीय या मूल्यवान वस्तुएँ प्रायः उन्हीं चीजों में मिलेंगी जिनकी विभिन्न मनुष्य इच्छा या अभिलाषा करते

हैं। सभ्यता तथा संस्कृति वे मूल्यवान अथवा वांछनीय वस्तुएँ हैं जिन्हें मनुष्य स्वयं उनके लिये कामना का विषय बनाता है।

सभ्यता को यदि हम चरम मूल्य न मानें तो भी कोई हर्ज नहीं है। चरम मूल्य से हमारा तात्पर्य उस मूल्य से है जिसकी कामना स्वयं उसी मूल्य के लिये की जाती है, किसी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नहीं। मनुष्य सज्ञान प्राणी होने के नाते मुख्यतः यह कामना करता है कि उसकी ज़रूरतें निर्विघ्न पूरी होती रहें। मनुष्य की कुछ ऐसी मौलिक क्षुधाएँ तथा जरूरतें हैं जिनके पूरा न होने से उसे अमिश्रित कष्ट होता है। दूसरे प्रकार की आकांक्षाएँ, जो मूल क्षुधाओं से सम्बन्धित नहीं हैं, उतनी कष्टकर नहीं होती। वैसी आकांक्षाएँ तथा इच्छाएँ अनिवार्य भी नहीं होतीं। उदाहरण के लिये यश की इच्छा एक अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत भोजन आदि की इच्छा एक अनिवार्य भूख या आवश्यकता के रूप में महसूस होती है और उसकी पूर्ति न होने से व्यक्ति को एकान्त कष्ट होता है: वह स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने में असमर्थ हो जाता है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य की सबसे पहली जरूरत यह है कि वह अपने को मौलिक क्षुधाओं तथा अपनी जैवी प्रकृति की आवश्यकताओं से मुक्त करे। सभ्यता वह उपकरण है जिसके द्वारा मनुष्य उन जीवन-स्थितियों की सृष्टि करता है जिनमें वह अपनी मूल ज़रूरतों को स्वतंत्रतापूर्वक पूरा कर सके। इस दृष्टि से मनुष्य और पशु में कुछ भेद होता है। पशु प्रायः भविष्य की चिन्ता नहीं करता, वह वर्तमान में जीवित रहता है, और वर्तमान की जरूरतों को पूरा करके सन्तुष्ट हो जाता है। इसके विपरीत मनुष्य भविष्य की भी चिन्ता करता है। दूसरे, मनुष्य की कुछ जरूरतें ऐसी हैं जो पशुओं में नहीं पाई जातीं, जैसे कि उसकी वस्त्रों तथा घर की आवश्यकता। **वे सब कला-कौशल के तंत्र और तरीके जिनके द्वारा मनुष्य अपनी मूल क्षुधाओं तथा जरूरतों को सरलता पूर्वक पूरा करता है,** सभ्यता कहलाती हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि सभ्यता द्वारा मनुष्य अपने परिवेश को इस प्रकार नियंत्रित तथा परिवर्तित करता है कि वह अधिकाधिक नर-नारियों के लिए स्वतंत्रता-पूर्वक रहने की स्थितियाँ प्रस्तुत कर सके।

जिसे हम कलाकौशल की प्रगति कहते हैं, उसके द्वारा मनुष्य एक प्रकार की स्वतंत्रता को प्राप्त करता है, अर्थात् मूल जरूरतों के दबाव से स्वतंत्रता। किन्तु कालान्तर में उसे दूसरी कोटि की स्वतंत्रता की कमी भी खलने लगती है। विभिन्न मनुष्यों की निसर्ग-सिद्ध योग्यताओं तथा शक्तियों में भिन्नता होती है। इसका फल यह होता

है कि, सभ्यता की प्रगति में, कुछ दिनों बाद मनुष्यों में सम्पत्ति आदि की विषमता के रूप में और उसके कारण पद, श्रेणी आदि के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि कुछ मनुष्य जो ऊँची स्थिति में पहुँच गये हैं, दूसरे मनष्यों को अपने लिये काम करने को मजबूर करने लगते हैं। समाज के कुछ सदस्य इस स्थिति में पहुँच जाते हैं कि वे दूसरों से परिश्रम कराके अपनी स्वतंत्रता तथा सुरक्षा की लम्बी सम्भावना की पुष्टि कर लें। इस प्रकार स्वामी और सेवक, जमींदार और किरायेदार, मालिक तथा नौकर का भेद उत्पन्न हो जाता है। मूल जरूरतों से स्वतंत्रता पाने के लिये एक व्यक्ति या वर्ग दूसरे व्यक्तियों तथा वर्गों से वैसी स्वतंत्रता छीन लेता है, तथा उन्हें अपनी इच्छाओं का अनुवर्ती बना लेता है। इस प्रकार एक दूसरी कोटि की परतन्त्रता का जन्म होता है, जो कि प्रथम कोटि की परतन्त्रता से कुछ ही कम अखरती है। सचेत तथा बुद्धिमान मनुष्य स्वभावतः अपने को इस प्रकार की परतन्त्रता से मुक्त करने की कोशिश करता है। इसका मतलब यह होता है कि दबाये तथा परतन्त्र किये हुए लोग अपने को कष्टप्रद शासन से मुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ एक ओर सभ्यता की प्रगति का अर्थ उन उद्योग-तंत्रों (Techniques) की उन्नति है जिनके द्वारा मनुष्य जीविका के साधनों को उत्पन्न करता है, वहाँ दूसरी ओर उस प्रगति का अर्थ है ऐसी सामाजिक व्यवस्था को उत्पन्न करना जिसमें कुछ व्यक्तियों का दूसरों पर अन्यायपूर्ण नियंत्रण न हो, और जिसमें अधिकाधिक लोगों को सोचने, बोलने और दूसरे काम करने की स्वतंत्रता हो। यह दूसरे प्रकार की स्वतंत्रता कानून की प्रतिष्ठा तथा अन्य आर्थिक-राजनैतिक एवं सामाजिक संस्थाओं के निर्माण द्वारा सम्भव होती है। इसलिये मानना चाहिए कि इस प्रकार की संस्थाएँ सभ्यता का एक आवश्यक अंग ह।

इन संस्थाओं की आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि मनुष्य सब जगह समूहों में रहते हैं, और वे न केवल पारस्परिक हित के लिये काम कर सकते हैं, बल्कि ऐसे भी व्यापृत हो सकते हैं कि वे एक-दूसरे के हितों को क्षत करें। यहाँ एक दूसरी चीज पर भी ध्यान देना चाहिए। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि वे ठीक से स्वयं अपनी मदद भी नहीं कर सकते, जब कि दूसरे व्यक्ति शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से इतने श्रेष्ठ होते हैं कि वे न केवल अपनी समस्याएँ हल कर सकते हैं, बल्कि दूसरों की भी समस्याएँ हल करने में सहायता दे सकते हैं। इन भेदों के कारण विषमताओं का जन्म होता है, और मानव-समूह क्रमशः ऊँची-नीची जातियों तथा वर्गों में

बँट जाता है। अधिकांश कानूनी तथा दूसरी संस्थाओं का उद्देश्य यह होता है कि वे विभिन्न वर्गों के अधिकारों और कर्तव्यों को निर्दिष्ट कर दें, जिससे उनके बीच अनावश्यक संघर्ष न हो। फलतः सभ्य समाजों में पायी जानेवाली कानून आदि संस्थाएँ दो काम करती हैं : एक, वे पद, श्रेणी आदि के भेदों को कानूनी रूप दे देती हैं; और दूसरे, वे विभिन्न कामों में लगे हुए मनुष्यों को सुरक्षा की भावना से अनुप्राणित करती हैं।

एक दूसरे प्रकार की स्वतंत्रता भी है जो कि सभ्य व्यवहार में प्रतिफलित होती है, अर्थात् प्रवृत्ति की दासता से मुक्ति या स्वतंत्रता। सभ्य व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता है। वे नियंत्रण उसके तथा समाज के दोनों के लिये हितकर होते हैं। कुछ सीमा तक इस प्रकार का नियंत्रण स्वयं समाज द्वारा आवश्यक बना दिया जाता है। किन्तु एक व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा से भी इस प्रकार के नियंत्रण का अभ्यास कर सकता है, ताकि वह अपने व्यक्तित्व को उच्चतर बना सके और ज्यादा ऊँची प्रगति कर सके।

प्रथम दो अर्थों में स्वतंत्रता एक ऐसी सामग्री है जो दूसरों को दी जा सकती है, और दूसरों द्वारा छीनी जा सकती है। वे भौतिक वस्तुएँ जिनके द्वारा हमारी जरूरतें पूरी होती हैं, एक व्यक्ति के अधिकार से दूसरे व्यक्ति के अधिकार में जा सकती हैं; यही नहीं, उन्हें अपनी इच्छा से भी एक व्यक्ति दूसरों को दे सकता है; वे दूसरों से खरीदी भी जा सकती हैं। जिसे हम सभ्य व्यवहार कहते हैं उसमें उक्त चीजों का लेन-देन बराबर चलता रहता है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य भौतिक सामग्री तथा शक्ति एवं पद की आकांक्षा करते हैं। लक्षित करने की बात यह है कि मनुष्यों में जो अपने को स्वतंत्र रखने की अभिलाषा होती है वह कभी-कभी दूसरों के बन्धन का कारण बन जाती है। मनुष्य परिश्रम से बचना चाहता है, इसलिये कुछ मनुष्य दूसरों से परिश्रम कराके अपने अस्तित्व की समस्या को हल कर लेना चाहते हैं। दूसरे, यह स्थिति कि कुछ लोग हमारे अधीन होकर काम कर रहे हैं, समाज में हमारे आदर बढ़ने का कारण बन जाती है। इस प्रकार दासता तथा स्वामित्व एवं सेवक तथा सेव्य के सम्बन्धों का उद्गम होता है। अतीत युगों में मालिक लोग न केवल सेवकों के परिश्रम का उपभोग करते रहे हैं, उनकी उन सेवकों की पत्नियों के शरीरों तक भी पहुँच रही है। जब

कुछ लोग कुछ दूसरों पर निर्भर करते हैं, तो इस प्रकार की अनरीतियाँ उत्पन्न हो ही जाती हैं। अभिप्राय यह है कि भौतिक सामग्री की अभिलाषा कुछ तो इसलिये की जाती है कि वह हमारी जरूरतों को पूरा करती हैं, और कुछ इसलिये भी कि उसके द्वारा हम दूसरों पर अधिकार प्राप्त करके उनके श्रम से लाभ उठा सकते हैं। धन या सम्पत्ति द्वारा दूसरों के परिश्रम को खरीदने की इस शक्ति को हम एक भिन्न ढंग से भी देख सकते हैं : वह शक्ति हमें दूसरों को जरूरतों से मुक्ति देने की क्षमता के रूप में भी दिखाई देती है। हम किसी के अधिकार या आदेश को दो भिन्न कारणों से स्वीकार कर सकते हैं : या तो इसलिये कि उस प्रकार का आज्ञा-पालन हमें अपनी जरूरतों से छुटकारा पाने में मदद करता है; और दूसरे इसलिये कि शक्तिशाली अधिकारियों में हमें हानि पहुँचाने की क्षमता रहती है। पहली दशा में हम अपनी सेवा तथा आदर स्वेच्छापूर्वक अर्पित करते हैं। किन्तु दूसरी दशा में हम मन में कष्ट मानते हुए ही ये चीजें दे पाते हैं। जैसा कि हीगल ने कहा था, धन तथा सम्पत्ति स्वतंत्रता अथवा मुक्ति का रूप हैं। धनी लोगों की प्रशंसा मुख्यतः इसलिये की जाती है कि वे दूसरों को कुछ हद तक वैसी स्वतंत्रता दे सकते हैं, अथवा उन्हें अपनी सम्पत्ति से प्राप्त होने-वाली स्वतंत्रता में साझी बना सकते हैं। इसलिये यह देखा जाता है कि जो धनी व्यक्ति कंजूस होता है उसकी कोई परवाह नहीं करता। लोग उस धनी के चारों ओर मँडराना पसन्द करते हैं जो अपनी सम्पत्ति में से दूसरों को हिस्सा देने को तैयार रहता है। आदिम समाजों पर लिखते हुए लैन्टमैन ने लिखा है: 'अन्वेषकों का कहना है कि सम्पत्ति स्वयं अधिकार एवं आदर प्राप्त कराने में समर्थ नहीं होती, ये चीजें उदारता तथा मेहमानदारी द्वारा प्राप्त होती हैं। वे व्यक्ति जो हमेशा अपने मित्रों को खिलाने-पिलाने अथवा उन्हें उपहार देने को तैयार रहते हैं, आसानी से प्रभावशाली पद पा जाते हैं। उत्सवों के अवसर पर जो जितना ही अधिक धन खर्च तथा वितरित करता है, उतना ही वह सामाजिक दृष्टि में ऊँचा होता जाता है। साथ ही कृपण व्यक्ति के लिए घृणा का भाव भी पाया जाता है।'[१०] वहीं पर यह बतलाया गया है कि अन्डमन टापू में व्यक्ति-विशेष का सामाजिक महत्व किसी सम्बन्ध पर निर्भर नहीं करता, बल्कि शिकार खेलने, मछली पकड़ने आदि की योग्यता पर निर्भर करता है और उदारता तथा मेहमानदारी की प्रसिद्धि पर भी। सम्पत्ति तथा उदारता के अतिरिक्त शारीरिक शक्ति, युद्ध करने की क्षमता तथा साहस भी वे गुण हैं जिन्हें आदिम निवासी प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं। ये दूसरे गुण उनके आश्रयभूत व्यक्ति को अपनी तथा दूसरों की जंगली पशुओं आदि से रक्षा करने के योग्य बनाते हैं। निष्कर्ष यह कि

आदिम मनुष्य अपने साथियों में उन गुणों की प्रशंसा करते हैं जो स्वयं उनकी स्वतंत्रता-प्राप्ति में मदद करते हैं, अर्थात् उन गुणों की जो उनकी जरूरतों को पूरा करते हैं और उनकी रक्षा का कारण होते हैं। सभ्यता की प्रगति के साथ उक्त गुणों की अभिव्यक्ति में अन्तर पड़ जाता है, किन्तु वे गुण सदैव ही आदर और प्रशंसा पाते रहते हैं।

जहाँ कबीले के बाहर की दासता का आरम्भ सम्भवतः एक कबीले की दूसरे कबीले द्वारा पराजय में हुआ, वहाँ कबीले में आन्तरिक दासता का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ। कुछ लोगों ने स्वेच्छा से अपनी स्वतंत्रता दूसरों के हाथ बेंच दी और उसके बदले में आवश्यक सामग्री को ले लिया। कभी-कभी मनुष्य अपना ऋण न चुका सकने के कारण अथवा अपराध के कारण भी उन्हें दास बना लिया गया। कुछ लोग अपने को तथा पत्नियों तथा बच्चों को ऋणदाता के पास एक खास कालाविधि के लिये गिरवी रख देते थे और इस प्रकार अपने को उसका दास बना देते थे।[३१] इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता कि मनुष्य की स्वतंत्रता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक संक्रान्त हो जाने वाली चीज है।

अपनी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण का अभाव भी स्वतंत्रता खोने का कारण होता है। यह युधिष्ठिर के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। धर्मराज युधिष्ठर ने अपने भाइयों और पत्नी की स्वतंत्रता को जुये में हार कर गंवा दिया। लैन्टमैंन ने लिखा है कि कुछ लोगों में जुये की प्रवृत्ति इतनी तीव्र होती है, विशेषतः अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में, कि लोग अपनी चल सम्पत्ति को हारने के बाद अपनी पत्नियों तथा बच्चों को भी दाँव पर रख देते हैं और इस प्रकार उन्हें अनेक वर्षों के लिये दास बना देते हैं।

हमारा निष्कर्ष इस प्रकार है। सभ्यता मानव-व्यापारों से उत्पन्न होने वाली उन चीजों का नाम है जो मनुष्य की सुरक्षा और स्वतंत्रता का कारण होती हैं। इस स्वतंत्रता का सम्बन्ध भौतिक तथा सामाजिक दोनों परिवेशों से हो सकता है। सभ्यता का निर्माण करके मनुष्य ने जीवित रहने की कठिन क्रिया को रोचक तथा रसपूर्ण बना लिया है, और उन जरूरतों को, जो उसके कष्ट का कारण थीं, आनन्द तथा रस का स्रोत बना डाला है।

सभ्यता से भिन्न सभ्य व्यवहार उसे कहना चाहिए जो सभ्य जीवन की जरूरतों के अनुरूप हैं। सभ्य व्यवहार का मुख्य तत्व है, दूसरों की स्वतंत्रता तथा सुरक्षा का ख्याल।

कलाकौशल, भौतिक सामग्री और संस्थाएँ जो सभ्यता का निर्माण करती हैं, इसलिये मूल्यवान हैं कि वे मनुष्य की स्वतंत्रता तथा सुरक्षा का कारण होती हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम सभ्यता को एक साधनात्मक मूल्य (Instrumental Value) कह सकते हैं जब कि स्वतंत्रता तथा सुरक्षा, हमारे विचार में, साध्यात्मक या चरम मूल्य (Ultimate Values) हैं। किन्तु साध्य तथा साधनों का यह अन्तर एक सापेक्ष वस्तु है। स्वतंत्रता, स्वास्थ्य की भाँति, जहाँ अपने में साध्य है, वहाँ वह दूसरे मूल्यों के उपभोग का साधन भी है।

संस्कृति का स्वरूप

अब हम संस्कृति के विषय पर आते हैं। हम कह सकते हैं कि सभ्यता मनुष्य की कतिपय क्रियाओं से उत्पन्न होने वाली चीजों का नाम है। इसके विपरीत संस्कृति मानवीय क्रियाओं का कोई कार्य नहीं है, मनुष्य की कुछ क्रियाएँ ही संस्कृति हैं। संस्कृति मनुष्य के उन व्यापारों तथा अभिव्यक्तियों का नाम है जिन्हें वह साध्य के रूप में महत्वपूर्ण मानता है। मानव-जीवन अपने को तरह-तरह की क्रियाओं में अभिव्यक्त करता है। संस्कृति मानवीय जीवन अथवा जीवन-क्रिया के उन क्षणों का समुदाय है जो स्वयं अपने में महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। कहा जा सकता है कि हमारा समस्त जीवन बाहर की वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करने में रूपाकार पाता है। जिसे हम सभ्य जीवन कहते हैं उसमें हमारा सम्बन्ध उन वस्तुओं से स्थापित होता है जो हमारे लिये उपयोगी हैं। इसके विपरीत सांस्कृतिक जीवन हम उसे कहेंगे जिसमें हमारा सम्बन्ध अनुपयोगी किन्तु अर्थपूर्ण वास्तविकताओं से स्थापित होता है। सचेत तथा कल्पनाशील प्राणी होने के नाते मनुष्य केवल उपयोगी वस्तुओं से ही सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, वह अपने को ऐसी अर्थपूर्ण चीजों से भी सम्बन्धित करता है जो सीधे उसके अस्तित्व की पशु-सुलभ जरूरतों को पूरा नहीं करतीं। दूसरे, मनुष्य केवल अपने चारों ओर के परिवेश को जानकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह अपनी चेतना तथा दृष्टि से सम्मुख फैले हुए समस्त ब्रह्माण्ड को समझ लेना और उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहता है। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य केवल उपयोगिता की परिधि में जीवित नहीं रहता। उसमें कुछ ऐसी रुचियाँ भी पाई जाती हैं जो उपयोगिता का अतिक्रमण करती हैं; वह बौद्धिक जिज्ञासा तथा सौन्दर्य की भूख से भी पीड़ित होता है, और इस प्रकार एक सांस्कृतिक प्राणी के रूप में जन्म लेता है।

यह मानना युक्ति-संगत जान पड़ता है कि संस्कृति का जन्म तब हुआ जब मनुष्य ने अपनी मौलिक जरूरतों से मुक्ति पाई, अर्थात् जब मनुष्य ने प्रकृति पर इतना नियंत्रण कर लिया कि वह उसकी आवश्यक जरूरतों को पूरा कर सके, और जब उसने भद्र समाज की स्थापना कर ली। इसका मतलब, जैसा कि हुमायूँ कबीर ने कहा है, यह होता है कि कुछ हद तक सभ्यता का निर्माण करके ही मनुष्य सांस्कृतिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है। इससे यह भी अनुगत होता है कि स्वतंत्रता तथा सुरक्षा साधन हैं, और सांस्कृतिक जीवन साध्य। किन्तु वास्तविकता यह है कि सभ्यता के निर्माण तथा सांस्कृतिक जीवन के उदय को इस प्रकार एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य प्रायः उपयोगी तथा निरुपयोगी क्रियाओं को साथ-साथ करता चलता है, उसकी उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाली तथा निरुपयोगी रुचियाँ एक-दूसरे से मिली रहती हैं। वह जिस समय खेतों में काम करता है, उसी समय गीत भी गाने लगता है; उपयोगी वस्तुओं को बनाते हुए वह यह कोशिश करता है कि वे वस्तुयें सुन्दर भी हों। आदिम मनुष्य ने जो अस्त्र तथा उपकरण बनाये हैं उन्हें देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके निर्माताओं में सौन्दर्य की भावना भी काम कर रही थी। आज भी जब मनुष्य भवनों का निर्माण करता है, तो जहाँ वह उपयोगिता का ध्यान रखता है, वहाँ वह अपनी सौन्दर्य-वृत्ति की माँगों को एकदम भूल ही नहीं जाता। इमारतों को उपयोगी बनाते हुए हम उन्हें सुन्दर बनाने का प्रयत्न भी करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य की उपयोगी क्रियाओं पर उसकी नैतिक तथा दार्शनिक आस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। निष्कर्ष यह कि वास्तविक जीवन में मनुष्य की उपयोगी तथा सांस्कृतिक क्रियाएँ एक-दूसरे में मिश्रित हो जाती हैं। अवश्य ही विचार करने की सुविधा के लिये उन्हें विविक्त या भिन्न करना पड़ता है, और करना चाहिए।

संस्कृति की परिभाषा करते समय हम उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रक्खेंगे। हमारी संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है : **संस्कृति उन समस्त क्रियाओं को कहते हैं कि जिनके द्वारा मनुष्य अपने को विश्व की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती छवियों से, फिर वे छवियाँ चाहें प्रत्यक्ष हों अथवा कल्पित, सम्बन्धित करता है।** प्रश्न है कि वह कौन-सी क्रिया है जो मनुष्य को इस प्रकार की छवियों से सम्बन्धित करती हैं? उत्तर है, वह क्रिया मुख्यतः जानने, चेतना अथवा बोध की क्रिया है। जानने की क्रिया सही भी हो सकती है और गलत भी, वह प्रामाणिक भी होती है और अप्रामाणिक

भी। बोध या ज्ञान की प्रामाणिक क्रिया वह है जिसे सारे मनुष्य ग्रहण तथा स्वीकार कर सकें। किसी वस्तु की उपयोगिता एक व्यक्तिगत चीज़ होती है। एक रोगी के लिये एक औषधि उपयोगी होती है, और दूसरे रोगी के लिये दूसरी। किन्तु जो वस्तु निरुपयोगी होते हुए अर्थवती या महत्वपूर्ण है, वह सब के लिये वैसी होती है। अतएव, हम संस्कृति की परिभाषा एक दूसरे ढंग से भी दे सकते हैं : **संस्कृति उस बोध या चेतना को कहते हैं जिसका सार्वभौम उपभोग या स्वीकार हो सकता है, और जिसका विषय वस्तुसत्ता के वे पहलू हैं जो निर्वैयक्तिक रूप में अर्थवान हैं।** यहाँ एक दूसरी चीज़ पर भी ध्यान देना चाहिए। मनुष्य में जो चेतना उत्पन्न होती है, उसकी दो विशेषताएँ हैं। प्रथमतः मनुष्य की चेतना या बोध चयनात्मक होता है। मनुष्य देखने तथा जानने योग्य वस्तु-रूप में से, अपनी रुचियों के अनुसार, चयन करता चलता है। दूसरे, मानवीय बोध या चेतना के तत्व सम्बद्ध रूप धारण करने की ओर अग्रसर रहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि मानवीय चेतना वस्तु-सत्ता को ज्यों-का-त्यों प्रतिफलित नहीं करती। सम्बद्ध रूप धारण करते हुए मानवीय चेतना सृजनशील बन जाती है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य की चेतना अथवा बोध-क्रिया आवश्यक रूप में सृजनात्मक होती है।

संस्कृति एक साध्यात्मक अथवा चरम मूल्य के रूप में

प्रश्न है, संस्कृति की धारणा का मूल्य-तत्व (Value) की सामान्य धारणा से क्या सम्बन्ध है? हमारा उत्तर इस प्रकार है। मूल्य दो प्रकार के होते हैं, एक चरम तथा दूसरे साधनात्मक। साधनात्मक मूल्यों की परिभाषा चरम मूल्यों की सापेक्षता में ही दी जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि मूल्य-विज्ञान का मूल प्रश्न यही है कि हम चरम मूल्य किसे कहेंगे।

चरम मूल्य या साध्य वह है जो स्वयं अपने लिये कामना का विषय होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि दुनिया की सारी वस्तुएँ आत्मा के लिये प्रिय होती हैं। अभिप्राय यह है कि जीवन का चरम मूल्य या साध्य स्वयं जीवन होता है। दुनिया की अशेष वस्तुएँ जीने या जीवन का उपभोग करने के लिये हैं, किन्तु स्वयं जीवन अथवा जीवनोपभोग अपने ही लिये हैं। फलतः जीवन का उपभोग तथा जीने की क्रिया स्वयं अपने में साध्य है। ऐसी ही कुछ बात हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी कही थी। किन्तु स्पेन्सर तथा हमारे मत में थोड़ा-सा अन्तर है। स्पेन्सर कहता है कि हमारी

क्रियाओं का चरम लक्ष्य जीवन-व्यापार को अग्रसर करना है। किन्तु हमारा मत है कि सब प्रकार का जीवन अथवा जीवन-व्यापार हमारा लक्ष्य नहीं होता, हमारा लक्ष्य वह जीवन होता है जो सन्तोषजनक अथवा सुखमय है। फलतः हम सन्तुष्ट एवं सुखी जीवन को ही अपने प्रयत्नों का लक्ष्य मान सकते हैं और उसी को जीवन का साध्य कह सकते हैं। इस विचारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि चरम मूल्य जीवन-व्यापारों के वे रूप हैं जो अपने में कामना करने योग्य दिखाई देते हैं। उन जीवन-रूपों के बारे में एक दूसरी बात भी कही जा सकती है। ये रूप आवश्यक रूप में सचेत होने चाहिएँ, क्योंकि अचेत जीवनावस्था का न तो हम अनुभव ही कर सकते हैं, और न उसकी कामना ही कर सकते हैं।

गौण रूप में वे वस्तुएँ तथा प्रतीतियाँ जो हमारे भीतर मूल्यवती सचेत दशाओं को उत्पन्न करती हैं, स्वयं मूल्यवान मानी जा सकती हैं। चरम अर्थ में हमारी सचेत जीवन-दशाएँ ही साध्य होती हैं, लेकिन गौण अर्थ में वे स्थितियाँ जो उन जीवन-दशाओं को उत्पन्न करती हैं, मूल्यवान कही जा सकती हैं। इस अर्थ में हम सूर्यास्त के दृश्य अथवा सुन्दर चेहरे को मूल्यों का वाहक कह सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम चरम मूल्यों की एक दूसरी परिभाषा देंगे। **चरम मूल्य उन वस्तुओं, स्थितियों तथा व्यापारों अथवा उनके उन विशिष्ट पहलुओं को कहते हैं, जो मनुष्य की सार्वभौम संवेदना को आवेगात्मक अर्थवत्ता लिये हुए दिखाई देते हैं।** जैसा कि हमने दूसरे अध्याय में कहा था, प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण सापेक्ष होता है। इसलिए यह कहने से कि वस्तुओं के सौन्दर्य आदि गुण मानव-संवेदना के सापेक्ष होते हैं, उन गुणों की यथार्थता पर कोई असर नहीं पड़ता। जिस प्रकार कि आक्सीजन गैस हाइड्रोजन के साथ ही जल को उत्पन्न कर सकती है, और जलने योग्य पदार्थ के साथ ही अपनी जलाने की विशेषता को अभिव्यक्ति दे सकती है, उसी प्रकार वे पदार्थ जिन में सौन्दर्य आदि मूल्य अनुस्यूत हैं, मानव-संवेदना के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए ही उन मूल्यों को प्रकट कर सकते हैं। दूसरी बात जो हमने कही वह यह है कि चरम मूल्य निरुपयोगी होते हैं। आक्सीज़न गैस मनुष्य के लिए बड़ी आवश्यक है, किन्तु वह एक उपयोगी वस्तु है, और इसलिये चरम मूल्यों की कोटि में नहीं आती। उपयोगी पदार्थ के प्रति जो प्रतिक्रिया होती है वह सार्वभौम नहीं, व्यक्तिगत होती है। इसके विपरीत चरम मूल्यों के प्रति समस्त मानवों की संवेदना समान रूप में प्रतिक्रिया करती है।

जिसे हम सांस्कृतिक चेतना कहते हैं वह उपरोक्त दोनों अर्थों में एक चरम मूल्य है। वह जिसकी चेतना होती है वह स्वयं अपने में मूल्यवान होता है और वह चेतना अपने आप में भी चरम मूल्य की वाहक होती है। जिस यथार्थ की चेतना मनुष्य प्राप्त करना चाहता है वह दो प्रकार का हैं : बाह्य यथार्थ जिसमें शुद्ध तथ्य तथा मूल्यों के वाहक तथ्य दोनो सम्मिलित हैं, और आन्तरिक यथार्थ, जिससे मतलब है हमारी आध्यात्मिक जीवन-सम्भावनाएँ। हमारा चैतन्य-सत्व असंख्य रूपों में गठित होता रहता है, उन रूपों की अवगति सांस्कृतिक चेतना का महत्वपूर्ण अंग है। सच यह है कि हमारे आत्मसत्व के ये रूप ही संस्कृति हैं, और उन रूपों के बारे में चर्चा भी संस्कृति का अंग है।

तो, संस्कृति उन क्रियाओं को कहते हैं जो हमें स्वयं अपने में मूल्यवान अथवा महत्वपूर्ण जान पड़ती हैं। एक क्रिया ऐसी हो सकती है जो विशुद्ध रूप में सांस्कृतिक क्रिया है, अर्थात् जिसमें उपयोगिता का पक्ष बिल्कुल नहीं है, जो न तो उपयोगिता के लिये अनुष्ठित ही की जाती है और न जिसका परिणाम ही उपयोगी होता है। दार्शनिक चिन्तन और कविता लिखने की क्रियाएँ इस अर्थ में सांस्कृतिक हैं। दूसरी क्रियाए ऐसी ही हो सकती हैं जो उपयोगी हैं, और साथ ही विशुद्ध सार्थकता की वाहक भी दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिये यदि कोई नेता चुनाव के अवसर पर बढ़िया व्याख्यान देता है तो वह व्याख्यान, एक दृष्टि से उपयोगी होते हुए भी, दूसरी दृष्टि से सांस्कृतिक क्रिया बन जाता है, क्योंकि वह लोगों को व्याख्यान-कला के कारण भी महत्वपूर्ण जान पड़ता है। संस्कृति का निर्माण करने वाली चेतना दो चीज़ों से निर्धारित होती है। एक ओर वह यथार्थ द्वारा निर्मित या निर्धारित होती है, और दूसरी ओर मानवीय रुचियों द्वारा। सांस्कृतिक चेतना की परिधि या प्रगति उस यथार्थ के अनुसन्धान द्वारा घटित होती है जिसमें मानव जाति की अभिरुचि है। मानवीय रुचियाँ, कहना चाहिए, वह आकार या ढाँचा प्रदान करती हैं जिसके भीतर यथार्थ को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सांस्कृतिक चेतना व्यक्ति और ब्रह्माण्ड के बीच पुल का काम करती है, उस चेतना में व्यक्ति की आंतरिकता तथा यथार्थ की वस्तु-निष्ठता का संगम होता है। चूँकि चेतना मूलतः वस्तु-चेतना होती है, इसलिये कहना चाहिए कि चेतना-सम्पन्न जीवन वह जीवन है जिसमें व्यक्ति यथार्थ से सचेत सम्बन्ध स्थापित करता है। व्यवित के सचेत जीवन की समृद्धि, इसीलिये, उस यथार्थ के विस्तार से घटित होती है जिससे उसने सचेत सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, और

सचेत जीवन की प्रभविष्णुता का माप वह संगठन तथा एकता होती है जो कि व्यक्ति अपने अनुभवों के बीच स्थापित कर पाता है। सांस्कृतिक चेतना की प्रामाणिकता की पहचान यह है कि उसे दूसरे मनुष्य ग्रहण या स्वीकार कर सकें।

मनुष्य की सांस्कृतिक क्रिया यथार्थ तथा मानव-अभिरुचि नाम के दो ध्रुवों के बीच संचरित होती रहती है। मनुष्य का अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ ज्ञान उसकी रुचियों तथा पक्षपातों से निर्धारित होता है, उसकी व्यक्तिगत रुचियों से नहीं, अपितु मानवजाति की आन्तरिक रुचियों तथा आवश्यकताओं से। इस प्रकार मानवीय बोध की सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता और उस बोध की एकान्त आत्मनिष्ठता में कोई विरोध नहीं है। न यही सम्भव है कि सांस्कृतिक चेतना दोनो में से एक ही ध्रुव पर टिकी रहे। मनुष्य के लिये यह सम्भव नहीं कि वह वस्तुगत परिवेश से, जो भौतिक और सामाजिक दोनो हो सकता है, विच्छिन्न होकर रहे, और न यही संभव है कि वस्तु-चेतना उस अर्थवत्ता से रहित हो जो कि उसे जीवन के लिये महत्वपूर्ण बनाती है। कोई चर्चा कितनी भी वैज्ञानिक तथा वस्तुनिष्ठ क्यों न हो, वह आत्मगत रुचियों द्वारा निर्धारित रहती है। भेद यही है कि प्रामाणिक बोध जिन रुचियों द्वारा निर्धारित होता है वे वैयक्तिक न होकर जातिगत अर्थात् मानवीय आन्तरिक रुचियों द्वारा निरूपित होती हैं।

यहाँ हम पाठकों का ध्यान एक जटिलता की ओर आकृष्ट करेंगे। मानवीय चेतना का विषय सदैव विद्यमान यथार्थ ही नहीं होता, वह संभावनाओं में उतनी ही रमती है जितनी कि विद्यमान वस्तुओं में। मनुष्य मूलतः एक योजनाएँ बनानेवाला प्राणी है। वह लगातार सामाजिक तथा भौतिक परिवेश को अपने प्रयोजनों तथा योजनाओं के अनकूल बनाने की चेष्टा करता रहता है। अपने परिवेश को इस प्रकार बदलने की यह क्षमता मनुष्य की उस शक्ति से सहचरित होती है जिसे प्रत्याहरण (Abstraction) कहते हैं। यह प्रत्याहरण की क्रिया प्रतीकों के प्रयोग द्वारा सहल हो जाती है। वस्तु की समग्रता मनुष्य के लिये महत्वपूर्ण नहीं होती, मनुष्य सदैव वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं में अभिरुचि लेता है। एक समय में अथवा विशिष्ट अवसर पर मनुष्य किसी वस्तु के एक पहलू में रुचि रखता है, तो दूसरे अवसर पर उसके दूसरे पहलू में। मनुष्य शब्द आदि प्रतीकों का प्रयोग वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं को संकेतित करने के लिये करता है। इसके उपरान्त वह उन प्रतीकों को एक-दूसरे से सम्बन्धित करके समष्टि के रूप में ढालने लगता है और फिर इस समष्टि से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार, अपनी सृजनात्मक बोध-क्रिया द्वारा, मनुष्य

यथार्थ के विविध प्रतीक-मूलक संस्थान (Symbolic Patterns) उत्पन्न करता रहता है। ये संस्थान मुख्यतः उसकी कल्पना में प्रकट होते हैं, और उनसे मनुष्य का सम्बन्ध भी कल्पना के धरातल पर घटित होता है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यथार्थ का अर्थ केवल भौतिक वस्तुएँ ही नहीं है। यथार्थ के भीतर नर-नारियों, यहाँ तक कि उन देवताओं तथा दैत्यों आदि का भी जिनके जीवन में हम अभिरुचि लेते हैं, समावेश है, और उन विभिन्न मनोभावों, आवेगों आदि का भी, जो हमारे ऊपर प्रभाव डालते हैं। कल्पना द्वारा गढ़े हुए कतिपय संस्थानों में से कुछ को मनुष्य यथार्थ भी बना लेता है। किन्तु यथार्थ रूप में उतारने से पहले ही मनुष्य अपनी कल्पना-सृष्टि के विविध रूपों के अपेक्षित मूल्यों का विवेचन कर लेता है, और यह भी निर्णय कर लेता है कि वे कहाँ तक यथार्थ रूप में उतारे जा सकते हैं। इन काल्पनिक संस्थानों की सृष्टि विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न नियमों के अनुसार घटित होती है। कला के क्षेत्र में वे नियम एक प्रकार के हैं, तो राजनैतिक व्यापारों तथा आर्थिक योजनाओं में अथवा भौतिक-विज्ञान के सैद्धान्तिक चिन्तन में, दूसरे प्रकार के। उन नियमों की न्यूनाधिक चेतना, कम या ज्यादा स्पष्ट रूप में, सारी मानव जाति में पाई जाती है। अपने को सम्भावनाओं की दुनियाँ में प्रतिष्ठित करती हुई मानव-चेतना, बाह्य तथा आन्तरिक जगत दोनों में, अपने अस्तित्व को प्रसरित करती है। कल्पना-मूलक क्रिया में चेतना बाह्य जगत् का अनुशीलन तो करती ही है, वह कुछ हद तक उसकी प्रतीकात्मक सृष्टि भी करती है। भौतिक शास्त्र बाह्य जगत् का प्रतिफलन ही नहीं करता वह वस्तुतः, अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा, उस जगत् का पुनर्निर्माण करता है। इस प्रकार मनुष्य के कल्पना-मूलक तथा प्रतीक-आधारित जीवन में बोध-क्रिया वस्तुतः सृजन-क्रिया बन जाती है।

मनुष्य की यह सृजन-क्रिया उसकी बुद्धि, उसकी यथार्थ की पकड़, और उसकी संस्कृति इन सब की मापक होती है। जिसे हम बुद्धि कहते हैं, वह वह शक्ति है जिसके द्वारा हम इन्द्रियग्राह्य अथवा प्रतीक-बद्ध यथार्थ को पकड़ते या नियंत्रित करते हैं। किन्तु कोई कलाकार या विचारक कला अथवा ज्ञान के क्षेत्र में तब तक बड़ी सृष्टियाँ नहीं कर सकता जब तक उसका यथार्थ सामग्री पर विस्तृत अधिकार न हो। महती बौद्धिक सृष्टि के लिये दो चीज़ें ज़रूरी हैं; एक यह कि परीक्षक का यथार्थ के विविध रूपों से विस्तृत परिचय हो, और दूसरे यह कि उसका मस्तिष्क यथार्थ से आकलित किये हुए तत्वों को एकता अथवा समष्टि में ढालने की विकसित क्षमता रखता हो।

संस्कृति की सार्थकता

यह कहने का क्या मतलब है कि सांस्कृतिक क्रियाएँ निरुपयोगी होती हैं ? क्या यह कथन, शिष्ट ढंग से, यही संकेतित नहीं करता कि संस्कृति एक व्यर्थ वस्तु है, शायद व्यक्ति तथा उसकी जीव-योनि की सुरक्षा की दृष्टि से ? सचमुच ही यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि संस्कृति का मानव-जाति के प्राण-धारण अथवा जीवन के लिये कोई महत्व होता है। किन्तु कला, दर्शन आदि क्रियाओं को निरुपयोगी कहने का अर्थ यह नहीं है कि उनका कोई महत्व नहीं है। वस्तुतः संस्कृति का अस्तित्व इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य केवल एक जीवन-सम्पन्न प्राणी ही नहीं है, मनुष्य उपयोगिता के वृत्त के बाहर जाना चाहता है, और जा भी पाता है। मनुष्य अपने को ऐसे यथार्थों से सम्बन्धित करना चाहता है जिनका उसके जीवन की जरूरतों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। वह केवल उसी परिवेश को नहीं समझना चाहता जो उसे चारों ओर घेरे हुए हैं, उसकी जिज्ञासा समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर लेती है। वस्तुतः मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपने को, सचेत रूप में, विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करके जीवित रहना चाहता है। एक ऐसे प्राणी के रूप में, जिसकी कुछ निश्चित जरूरतें हैं, मनुष्य सन्तुष्ट नहीं रह पाता, वह यह महसूस करना चाहता है कि वह समस्त ब्रह्माण्ड का नागरिक है। यह लक्ष्य करने की बात है कि दुनिया का कोई बड़ा धर्म अथवा दर्शन नहीं है जिसने मनुष्य की पशु-सुलभ जरूरतों को पूरा करने की अपेक्षा सत्य, सौन्दर्य आदि की खोज को अधिक महत्व नहीं दिया है। एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है। दुनियाँ के अभिजात वर्गों ने हमेशा शारीरिक श्रम को नीची दृष्टि से देखा है। देखा गया है कि आदिम समाजों में भी हाथ के कामों को नीची दृष्टि से देखा जाता है। लैन्टमैन ने लिखा है : 'क्यों जुलाहे का काम खराब समझा जाता है, इसकी कोई व्याख्या समझ में नहीं आती, सिवाय इसके कि हाथ से किया जानेवाला काम विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता।' वस्तुतः केवल उपयोगिता से सरोकार, केवल उन चीज़ों की चिन्ता करना जिन से हमारी जरूरतें पूरी होती हैं, उच्चतर कोटि के मनुष्यों के लिये उचित नहीं समझा जाता। उच्चतर कोटि के मनुष्य प्रायः सदैव ऐसे कामों में लगे रहते हैं जो उपयोगी न होते हुए उनके अस्तित्व को विस्तृत एवं समृद्ध बनाने वाले होते हैं। वे क्रियाएँ जिन्हें हम संस्कृति कहते हैं इसी कोटि की क्रियाएँ होती हैं।

सांस्कृतिक क्रियाएँ वे हैं जो हमें ऐसी यथार्थ एवं कल्पित वस्तुओं के अनुचिन्तन में संलग्न करती हैं जिनका हमारी वैयक्तिक जरूरतों से कोई सम्बन्ध अथवा उनके लिये कोई उपयोग नहीं है। सांस्कृतिक क्रिया हमारी चेतना का विस्तार करती है, इसलिये नहीं कि वह विस्तार उपयोगी चीज़ है, बल्कि इसलिये कि उससे हमारे अस्तित्व का प्रसार होता है। संस्कृति वस्तुतः हमारे अवकाश के क्षणों की सृष्टि है। वह हमारे मन तथा बुद्धि की उस दशा में उत्पन्न होती है जिसमें हम वैयक्तिक स्वार्थों से मुक्त होकर स्वतंत्र भाव से मूल्यों के जगत् में विचरण करते हैं। सांस्कृतिक क्रिया हमें उन वस्तुओं तथा मूल्यों में अभिरुचि लेने को आमंत्रित करती है जिनका जीवित रहने के व्यापार से सीधा सम्बन्ध नहीं है। मानवीय चेतना, विभिन्न इंद्रियों के माध्यम से, असंख्य संवेदनों को एकत्रित करती है। मानवीय बुद्धि इस संवेदन-समूह में, विभिन्न प्रतीतियों की राशि में, एक क्रम स्थापित करने का प्रयत्न करती है। एक ओर तो मनुष्य यथार्थ को उसकी समग्रता में जानने को बेचैन रहता है, दूसरी ओर वह उस यथार्थ को अपनी आन्तरिक माँगों के अनुरूप सम्बद्ध तथा संगठित करने को विवश होता है। विज्ञान की सिद्धान्त-सृष्टियाँ जहाँ एक ओर बाह्य यथार्थ को प्रतिफलित करने का दावा करती हैं, वहाँ दूसरी ओर वे मानवीय बुद्धि की माँगों के अनुकूल भी होती हैं। यही बात न्यूनाधिक दर्शन के सम्बन्ध में कही जा सकती है, यद्यपि तर्क-मूलक भाववाद ने हमें दर्शन के प्रति सशंक बना दिया है। विज्ञान में ज्ञान के प्राप्त करने की क्रिया सृजनात्मक भी होती है और बाह्य यथार्थ को प्रतिफलित करनेवाली भी। वैज्ञानिक बोध का संगठन जहाँ सृजन-क्रिया की अपेक्षा रखता है, वहाँ उसका फल या परिणाम बाह्य जगत् का प्रतिफलन होता है। किन्तु कला-साहित्य के क्षेत्र में स्थिति कुछ भिन्न है। **कला के क्षेत्र में एक नये अनुभवसंस्थान को प्रभावपूर्ण ढंग से कल्पना में प्रत्यक्ष करने का अर्थ वैसे संस्थान को उत्पन्न करके यथार्थ बना देना होता है।** साहित्य में हम कल्पना द्वारा नवीन मनोदशाओं की सृष्टि करते हैं। यह सृष्टि अपने से बाहर किसी चीज़ को प्रतिफलित नहीं करती, जैसा कि विचार-सृष्टि करती है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक सृष्टि की भाँति कला-सृष्टि का उद्देश्य भी किसी विषय का बोध प्राप्त करना है। किन्तु कला जिस वस्तु या यथार्थ का बोध खोजती है, वह यथार्थ स्वयं हमारा जीवन है, हमारा वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन। इसीलिए कला-सृष्टि का अपने युग तथा समाज से घना सम्बन्ध होता है। किन्तु कला तथा विज्ञान दोनों में एक समानता यह है कि दोनों को सामने फैले हुए अनुभव-जगत् से चयन करना पड़ता है, और आकलित तत्वों को नये रूपों में व्यवस्थित

कर देना पड़ता है। विज्ञान के द्वारा उत्पन्न किये हुए नये संस्थान वहीं तक प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण होते हैं जहाँ तक वे बाह्य जगत् के क्रम या व्यवस्था को प्रतिफलित करते हैं। इस दृष्टि से कला की स्थिति भिन्न है। कला-सृष्टि की सत्यता किसी बाह्य यथार्थ के प्रतिफलित करने में नहीं, उसकी सत्यता कल्पनामूलक होती है। यदि कोई कलाकृति वस्तुतः उपभुक्त आवेगात्मक अनुभूति को प्रकट करती है, तो हम उस अनुभूति को प्रामाणिक तथा यथार्थ कहेंगे। कलात्मक अनुभूति की सत्यता इसमें है कि हम उसे ग्रहण करके अपने चेतना-मूलक जीवन का अंग बना सकें। इस दृष्टि से कला सीधे हमारे आवेगात्मक जीवन को समृद्ध करती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या संस्कृति केवल कल्पना की चीज है? क्या उसका यथार्थ जीवन पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता? इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर करता है कि हम यथार्थ जीवन से क्या समझते हैं। हमने बार-बार यह बतलाने की कोशिश की है कि मनुष्य केवल उपयोगिता की परिधि में जीवित नहीं रहता, अपितु प्रयत्न करके अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहता है। लेकिन एक बात है। मनुष्य ब्रह्माण्ड के बारे में केवल प्रिय आस्थाओं एवं विश्वासों को ग्रहण करके नहीं चलना चाहता। इसके विपरीत वह यथार्थ के अप्रिय-से-अप्रिय रूपों को वस्तुगत रूप में जान लेना चाहता है। वस्तुतः मनुष्य को तब तक चैन नहीं पड़ता जब तक वह उन सारे तथ्यों को न जान ले जिनका उसके विश्वासों एवं आस्थाओं के लिये कोई अर्थ है। विश्व के यथार्थ के प्रति मनुष्य का मनोभाव बड़ा गम्भीर एवं वस्तुनिष्ठ रहता है। ब्रह्माण्ड के बारे में वह जिन कल्पना-मूलक सिद्धान्तों की रचना करता है उनकी सत्यता के लिये वह उतना ही चिन्तित रहता है जितना कि अपनी बड़ी-से-बड़ी व्यावहारिक जरूरतों के लिये। ब्रह्माण्ड का स्वरूप क्या है और उस ब्रह्माण्ड में स्वयं उसके जीवन की सम्भावनाएँ क्या हैं, इसके बारे में मनुष्य बड़े सतर्क भाव से अन्वेषण करता है। इस सतर्कता का कारण है। मनुष्य ब्रह्माण्ड के बारे में जो धारणा बनाता है वह उसकी अभिरुचियों का स्वरूप निर्धारित करती है और जीवन के विभिन्न मूल्यों के प्रति उसकी दृष्टि को गठित करती है। सम्पत्ति, शक्ति, सुख, देश-कल्याण, युद्ध, संधि, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि के बारे में मनुष्य जिस दृष्टिकोण को अपनाता है उसका निर्माण उस जीवन-दर्शन की छाया में होता है जो उसने विश्व की समग्रता पर चिन्तन करते हुए उपलब्ध किया है।

जिसे हम मनुष्य का व्यावहारिक जीवन कहते हैं वह निरन्तर उसके

सांस्कृतिक व्यक्तित्व से प्रभावित एवं गठित होता रहता है। वस्तुतः सांस्कृतिक जीवन में लगातार उपयोगी एवं निरुपयोगी तत्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। एक ही जरूरत कई तरह से पूरी की जा सकती है। संस्कृत व्यक्ति अपनी जरूरत को ऐसे ढंग से पूर्ण करता है कि उसकी पूर्ति के साथ किसी ऊँचे मूल्य का लाभ भी हो जाय; वह उसे मोहक, उदार अथवा साहसपूर्ण ढंग से पूरा करता है। एक संस्कृत व्यक्ति के जीवन में बहुत-सी उपयोगी क्रियाएँ एक ऐसे कार्यक्रम का अंग बन जाती हैं जिसका उद्देश्य कतिपय मूल्यों एवं आदर्शों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार संस्कृति जीवन के मामूली कार्यकलापों को एक नये सौन्दर्य से मंडित करती है। एक असभ्य जंगली मनुष्य के लिए नारी एक ऐसी चीज है जो उसकी विशिष्ट जैवी आवश्यकता को पूरा करती है, किन्तु एक संस्कृत प्रेमी की दृष्टि में, जिसका मस्तिष्क दर्जनों कवियों और दार्शनिकों के सम्पर्क में गठित हुआ है, वह नारी उन सब तत्वों की प्रतीक बन जाती है जो कि सुन्दर तथा शोभन हैं; उसकी दृष्टि में वह सम्पूर्ण माधुरी तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य की मूर्ति दिखाई देती है और सृष्टि के मधुर रहस्य-सी प्रतिभासित होती है। इसीलिये प्रेमी को लगता है कि अपनी प्रेमिका को प्राप्त करके उसका अस्तित्व परिपूर्ण सार्थकता को प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार संस्कृत व्यक्ति जीवन की तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं तथा क्रियाओं को ब्रह्माण्ड के सारे तथ्यों एवं मूल्यों की पृष्ठभूमि में देखता है। दूसरों को जो चीज़ तुच्छ एवं अपदार्थ जान पड़ती है, वह संस्कृत व्यक्ति को बहुत महत्वपूर्ण दिखाई दे सकती है; और दूसरों को जो चीज़ें बड़ी कीमती जान पड़ती हैं, वे उसे तुच्छ प्रतीत हो सकती हैं। सांस्कृतिक चेतना जीवन की करुणा तथा सौन्दर्य दोनों को बढ़े-चढ़े रूप में प्रदर्शित करती है।

किसी व्यक्ति की संस्कृति वह मूल्य-चेतना है जिसका निर्माण उसके सम्पूर्ण बोध के आलोक में होता है। सांस्कृतिक चेतना जितनी मूल्य-चेतना है उतनी ही तथ्य-चेतना भी है। वह चेतना यथार्थ तथा सम्भाव्य को अर्थवत् के रूप में ग्रहण करती है। मनुष्य लगातार जीवन की नई सम्भावनाओं का चित्र बनाता रहता है। यह सम्भाव्य चित्र ही वे मूल्य हैं जिनके लिये वह जीवित रहता है। जिन आदर्शों एवं मूल्यों को लेकर मनुष्य जीवित रहता है उनकी गरिमा और सौन्दर्य उस मनुष्य के सांस्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते हैं।

सोरेन कीर्केगार्ड ने एक स्थान पर उस सौन्दर्यवाद के प्रति घृणा का प्रदर्शन किया है जो काल्पनिक विभिन्न संभावनाओं के साथ क्रीड़ा करता है और अपने को, व्याव-

हारिक स्तर पर, विवाह, जीविका के साधन, आदि के सम्बन्ध में बाँध देना नहीं चाहता। कीर्केगार्ड के विचार में आज के युग का दुर्भाग्य यह नहीं है कि वह एकांगी है, बल्कि यह कि वह अमूर्त रूप में अनेकांगी है। एकांगिता बुरी चीज हो सकती है, लेकिन अमूर्त अनेकरूपता ज्यादा बुरी चीज है। कोई भी सशक्त व्यक्तित्व किसी-न-किसी अर्थ में एकांगी होता है; यह एकांगिता उसमें महत्व का प्रमाण होती है। वह यह प्रदर्शित करती है कि उस व्यक्ति में कठोर संकल्प-शक्ति है और वह निश्चित रूप में कोई एक चीज बन जाना चाहता है, न कि अनिश्चित रूप में अनेक चीजें।[३३]

ऊपर के उद्गार हमें उन आलोचनाओं की याद दिलाते हैं जो कि सुकरात के इस सिद्धान्त के विरुद्ध कि नैतिक श्रेष्ठता और ज्ञान एक ही चीज हैं, दी गई हैं। सुकरात के विरुद्ध कहा गया है कि व्यक्ति यह जानते हुए भी कि अच्छाई क्या है, बुराई की ओर जा सकता है; इसलिये नैतिक अच्छाई और ज्ञान एक नहीं है। सुकरात के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि जो ज्ञान सतर्क अन्वेषण एवं गम्भीर मनन द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह जीवन को अप्रभावित नहीं छोड़ता। यथार्थ के गम्भीर ज्ञान का हमारी आस्थाओं तथा विश्वासों पर प्रभाव पड़ना चाहिए और उसे हमारे जीवन पर निश्चित प्रभाव डालना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान हमें यह योग्यता देगा कि हम जीवन के मूल्यों को खास क्रमों में व्यवस्थित कर लें। इसीलिये यह कहा जाता है कि धर्म और दर्शन, जो कि हमारी मूल्य-भावना को प्रभावित करते हैं, संस्कृति का एक आवश्यक अंग हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आज का मनुष्य क्रमशः धर्म और दर्शन से वंचित हो गया है, जिसके फलस्वरूप वह कभी-कभी वैसा छिछला सौन्दर्यवादी बन जाता है जिसका कीर्केगार्ड ने उल्लेख किया है।

सार-रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति वस्तु-जगत् के उन पहलुओं की जीवंत एवं शक्तिपूर्ण चेतना है जो, उपयोगी न होते हुए भी, अर्थवान् होते हैं, लाभदायक न रहते हुए भी महत्व रखते हैं। इस प्रकार की चेतना से सम्पन्न होकर मनुष्य अपने को वस्तु-जगत् की परतन्त्रता के क्रम से मुक्त कर लेता है और उसका प्रवेश मूल्यों के जगत् में हो जाता है, जहाँ मुक्ति अथवा स्वतंत्रता का साम्राज्य है। इस जगत् में पहुँचकर मनुष्य उन चीजों से संपर्कित हो जाता है जिनका सम्बन्ध उसकी विशुद्ध आध्यात्मिक सत्ता से है। इस आत्मिक सत्ता की जरूरतें मनुष्य की उन जरूरतों से जिनका सम्बन्ध उसकी जीव-प्रकृति से है कम महत्वपूर्ण नहीं होतीं, बल्कि कभी कभी ज्यादा महत्वपूर्ण होती हैं। और आत्मिक जरूरतों की पूर्ति के लिये वस्तु-जगत् की

उतनी ही प्रामाणिक जानकारी अपेक्षित होती है जैसी कि जीव-प्रकृति की जरूरतों की पूर्ति के लिये। मतलब यह है कि आत्मिक क्षेत्र में प्रामाणिकता की माँग किसी भी प्रकार कम नहीं हो जाती। जिस प्रकार गन्दा पानी अथवा मृगमरीचिका का जल किसी को भला नहीं लगता, उसी प्रकार मिथ्या कला अथवा मिथ्या कविता भी संवेदनशील व्यक्ति को रुचिकर नहीं जान पड़ती। मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया का क्षेत्र और उसके मूल्यों का क्षेत्र उसी प्रकार निश्चित नियमों के अधीन है, जिस प्रकार देशकाल में फैला हुआ भौतिक जगत्। मानवीय सांस्कृतिक क्रियाओं की सृष्टि जहाँ तक प्रामाणिक होती है, वहाँ तक वैसे ही निर्वैयक्तिक होती है जैसे कि उसकी व्यावहारिक क्रियाओं की सृष्टि।

सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध

अब हम संस्कृति तथा सभ्यता के प्रभेद और उनके सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करेंगे। हमने मैकाइवर तथा हुमायूँ कबीर के इस मन्तव्य को प्रायः स्वीकार कर लिया है कि सभ्यता का सम्बन्ध उपयोगिता के क्षेत्र से है, और संस्कृति का मूल्यों के क्षेत्र से। यह भी कहा जा सकता है कि सभ्यता तथा संस्कृति उन उपलब्धियों एवं क्रियाओं से सम्बन्धित हैं जो क्रमशः मानव अस्तित्व की रक्षा तथा प्रसार करनेवाली हैं। मैकाइवर तथा हुमायूँ कबीर ने यह भी संकेतित किया है कि संस्कृति तथा सभ्यता में वही सम्बन्ध है जो साध्य तथा साधनों में होता है।

किन्तु सभ्यता तथा संस्कृति का सम्बन्ध इतना सीधा नहीं है, और उनके भेद को इस प्रकार निरूपित करना भी पर्याप्त नहीं। वस्तुतः संस्कृति और सभ्यता को एक-दूसरे से नितान्त जुदा नहीं किया जा सकता, ठीक वैसे ही जैसे कि साध्य तथा साधनों को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता। कल्पना की क्रिया के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ सौन्दर्य तथा उपयोगिता के पहलू एक-दूसरे से अनिवार्य रूप में मिश्रित हो जाते हैं।

सभ्यता तथा संस्कृति दोनों मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य या परिणाम हैं। जब यह क्रिया उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान होती है तब सभ्यता का जन्म होता है, और जब वह मूल्य-चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है, तब संस्कृति का उदय होता है। किन्तु वैज्ञानिक चिन्तन एवं सामाजिक और राजनैतिक

चिन्तन दोनो क्षेत्रों में उपयोगिता एवं मूल्य-चेतना के पहलू एक-दूसरे में मिल जाते हैं। जहाँ तक एक वैज्ञानिक सत्य की खोज करता है, वहाँ तक उसकी क्रिया सांस्कृतिक है; किन्तु जब एक आविष्कर्ता अथवा इंजीनियर के रूप में वह प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य की उपयोगिता के लिये नियंत्रित करना चाहता है, तब वह सभ्यता का निर्माता बन जाता है। सलिवन ने लिखा है कि 'विज्ञान का महत्व उसकी व्यावहारिक उपयोगिता में है और इसमें भी कि वह हमारी निरुपयोगी जिज्ञासा-वृत्ति को सन्तुष्ट करता हैं। उसे इसलिये भी महत्व दिया जाता है कि वह हमारी मननशील कल्पना के सम्मुख नितान्त आकर्षक, सुन्दर पदार्थ को उपस्थित करता है।'[१४] इसी प्रकार सामाजिक-राजनैतिक चिन्तन में उपयोगी तथा सुन्दर दोनों का समावेश हो सकता है। प्लेटो से लेकर आज तक विभिन्न विचारकों ने जो आदर्श समाज की रूपरेखा खींचने के प्रयत्न किये हैं वे केवल मनुष्य की उपयोगिता का ध्यान नहीं करते, बल्कि यह भी विचार करते हैं कि मनुष्य अपनी आत्मिक आकांक्षाओं को कैसे पूर्ण करे। प्लेटो के "रिपब्लिक" नामक ग्रंथ में जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं वे दो कारणों से संस्कृति का अंग समझी जानी चाहिएँ। प्रथमतः इन विचारणाओं के पीछे प्लेटो का कोई वैयक्तिक स्वार्थ या उद्देश्य नहीं था, उनका लक्ष्य मानव-समाज को समुन्नत बनाना था। दूसरे, वहाँ जिन मानवीय हितों के प्रश्न उठाये गये हैं वे उपयोगी अथवा व्यावहारिक से अधिक आध्यात्मिक हैं। जब प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की कल्पना की तो वह मुख्य रूप से यह नहीं सोच रहे थे कि मनुष्य की मौलिक जरूरतें कैसे पूरी की जा सकती हैं। वस्तुतः उनके चिन्तन का मुख्य विषय यह था कि किस प्रकार मनुष्यों के बीच, उन मनुष्यों के जिनकी जीवन-विधियाँ और स्वभाव अलग-अलग होते हैं, उचित सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं। सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन का वह पहलू जो मुख्यतः मानवीय सम्बन्धों के औचित्य एवं सौन्दर्य के बारे में सोचता है, एक सांस्कृतिक व्यापार कहा जा सकता है। इसी प्रकार एक सुधारक की यह चिन्ता कि दलितों तथा दुर्बलों का जीवन सुधर जाय, एक सांस्कृतिक चिन्ता है, क्योंकि उसके मूल्य में निर्वैयक्तिक नैतिक भावना तथा करुणा का भाव है। मानव-समाज के संगठन की वे योजनाएँ, जो अधिक सौन्दर्य एवं न्याय की स्थापना करना चाहती हैं, उन्हीं विचारकों द्वारा प्रस्तुत की जा सकती हैं जो सांस्कृतिक क्रियाओं में लगे हैं, और इस प्रकार के विचारक उन्हीं समाजों में उत्पन्न हो सकते हैं जो सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत हैं। इन विचारणाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक ऐसा समाज अथवा जाति जो सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत नहीं है, ऊँची कोटि की सभ्यता को भी जन्म नहीं दे सकती।

जब तक लोग संस्कृति के विशिष्ट धरातल तक नहीं पहुँच जायँ, तब तक वे प्रजातन्त्र तथा समाजवाद जैसे जटिल सामाजिक-राजनैतिक और आर्थिक संगठनों को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसी प्रकार वे लोग जो केवल ज्ञान के लिये वैज्ञानिक अन्वेषण नहीं करते, उच्च कोटि के उत्पादन-तंत्रों का आविष्कार करके कला-कौशल के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं कर सकते।

इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि **सभ्यता सांस्कृतिक क्रिया की ही आनुषंगिक उपज या परिणाम है।** मूल्यों के उस तटस्थ एवं निर्वैयक्तिक अनुसंधान के बिना, जिसे हम संस्कृति कहते हैं, न तो सभ्यता अस्तित्व में ही आ सकती है, और न वह अपना अस्तित्व बनाए ही रख सकती है। वे रूढ़ियाँ तथा प्रथाएँ, वे कानून तथा संस्थाएँ, जो सभ्य व्यवहार का आधार हैं, उस व्यवहार की जो मनुष्यों के बीच सहयोग एवं बन्धुत्व की भावना स्थापित करता है, मूलतः उस सृजन की प्रवृत्ति में उदित होती हैं जो मानव-सम्बन्धों के अधिक सुन्दर रूपों की परिकल्पना करती है।

हमारा यह मन्तव्य मार्क्सवाद से भिन्न है, और वह दो तरह से। प्रथमतः हम मार्क्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते कि सत्ता चेतना की पूर्ववर्तिनी होती है। यह सिद्धान्त सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्रों पर लागू नहीं है। हो सकता है कि तत्व-मीमांसा की दृष्टि से सत्ता-चेतना की पूर्ववर्ती थी। किन्तु जब हम मनुष्य द्वारा उत्पन्न परिवर्तनों की बात करते हैं तब हमें मानना पड़ता है कि चेतना निश्चित रूप में सत्ता की पूर्ववर्ती होती है। उदाहरण के लिये भाप का इंजिन तथा वायुयान पहले अपने आविष्कर्ताओं के मन में प्रत्ययों या कल्पनाओं के रूप में अस्तित्ववान् हुए होंगे; बाद में उन्हें भौतिक अस्तित्व में लाया गया। इसी प्रकार जनतंत्र तथा समाजवाद नाम के सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन पहले विचार-रूप में कतिपय क्रान्तिकारी चिन्तकों के मन में उदित हुए, उसके बाद ही उन्हें अस्तित्व में लाया जा सका। जहाँ यह कहना ठीक है कि यथार्थ के आधार पर ही मनुष्य की कल्पना सृजनात्मक ढंग से व्यापृत हो सकती है, वहाँ इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि वह कल्पना नूतनताओं की सृष्टि भी करती है। कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार नहीं करेगा कि वायुयान तथा रेडियो पहले से प्रकृति-जगत् में मौजूद थे और यह कि उनका आविष्कार वस्तुतः एक नई चेतना नहीं थी, बल्कि एक पहले से मौजूद वास्तविकता का प्रतिफलन मात्र थी।

मार्क्सवाद से हमारा मन्तव्य एक दूसरे प्रकार भी भिन्न है। अपने उपर्युक्त

मन्तव्य के विरुद्ध मार्क्सवाद ज्ञानमीमांसा में व्यवहारवाद का हामी है। मार्क्सवाद का कहना है कि चिन्तन को व्यवहार से अलग नहीं किया जा सकता। स्वयं इंद्रिय-ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया है, अर्थात् बाह्य परिवेश को बदलने का एक ढंग। सिडनी हुक ने लिखा है कि 'परिवेश के अनकूल बनने में जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है उसी से ज्ञान उत्पन्न होता है। जानने का अर्थ यह नहीं है कि एक पूर्वसिद्ध वास्तविकता का प्रतिफलन हो जाय अथवा उसका चित्र खड़ा हो जाय, जानना वस्तु-सत्ता पर क्रिया करने का एक ढंग है...जानने में हम वस्तु-सामग्री का केवल चिन्तन ही नहीं करते, बल्कि उसका व्यावहारिक उपयोग करते हैं।' यह मन्तव्य, जो कि अध्यात्मवादी ज्ञानमीमांसा का प्रभाव दिखलाता है, सही नहीं है, यदि व्यवहार का अर्थ दीखने वाली क्रिया माना जाय। इसके विपरीत यदि यह मन्तव्य सही है तो मार्क्सवाद की निम्नलिखित उक्ति निरर्थक हो जाती है: 'दार्शनिकों ने अब तक विभिन्न ढंगों से विश्व की व्याख्या ही की है, प्रश्न यह है कि उसे बदला किस तरह जाय।' मार्क्सवाद के विचाराधीन मन्तव्य के अनुसार तो व्याख्या को, जो जानने का एक रूप है, व्यवहार से अलग किया ही नहीं जा सकता, उस व्यवहार से जिसका मतलब परिवेश पर क्रिया करना होता है।

जिसे हम सांस्कृतिक क्रिया कहते हैं, जिसमें विज्ञान, दर्शन आदि का समावेश है, वह न तो एक पूर्वसिद्ध परिवेश का प्रतिफलन-रूप ही है, और न उस परिवेश को बदलने-रूप। उसका वास्तविक रूप कुछ दूसरा ही है। सांस्कृतिक क्रिया अथवा बोध-क्रिया में हम सामाजिक-भौतिक परिवेश की, मानवीय दृष्टि से सार्थक रूप में, कल्पना द्वारा पुनः सृष्टि करते हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सांस्कृतिक क्रिया का मानवीय मूल्य-चेतना से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि कल्पना की सृजन-क्रिया से।

मानव-समाज की समस्त उपलब्धियाँ सभ्यता तथा संस्कृति के अन्तर्गत आ जाती हैं। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना जिन मूल्यों की सृष्टि करती है उनमें कुछ सभ्यता के उच्चतर पहलुओं में प्रतिफलित एवं चरितार्थ हो जाते हैं, उन पहलुओं अथवा रूपों में जिन्हें संस्थाबद्ध व्यवहार कहते हैं। जिन्हें टी० एस० इलियट शिष्ट व्यवहार के रूप कहता है और जिन्हें वह तथा अन्य कुछ लेखक विशेष महत्व देते हैं, वे वस्तुतः सभ्य व्यवहार का अंग हैं; वे उन प्रथाओं तथा रूढ़ियों का अंग हैं जिनका पालन वांछनीय एवं आदृत व्यवहार समझा जाता है। शिष्ट व्यवहार के रूपों का उदय

मनुष्य की उस सौन्दर्य-चेतना में होता है जो वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के अधिक सन्तोषप्रद रूपों की कल्पना करती है। विवाह, धार्मिक उपासना, यज्ञों आदि के अवसर पर जो तरह-तरह के जटिल रीति-रिवाज तथा विधान अनुष्ठित किये जाते हैं, उनके बारे में जहाँ एक ओर यह धारणा रहती है कि वे सम्बद्ध व्यक्तियों का कल्याण करनेवाले हैं, वहाँ यह भी महसूस किया जाता है कि वे विशिष्ट अवसर को शानदार तथा सुन्दर बना देते हैं। शिष्ट व्यवहार के रूपों के मूल में भी सुन्दर की मूल चेतना रहती है, यद्यपि बाद में यह समझा जाने लगता है कि उनका अनुष्ठान सुरुचि तथा आदरणीयता का द्योतक होता है। जिसे हम अभिजात वर्ग कहते हैं, उसमें एक दूसरे प्रकार का व्यवहार भी पाया जाता है, वह व्यवहार जिसे वैवलेन नामक विचारक ने "प्रदर्शन के लिए फ़िज़ूलखर्ची" (Conspicuous Consumption) कहा है। वैवलेन का कहना है कि अभिजात वर्ग के अमीर लोग अनेक काम सिर्फ इसलिये करते हैं कि वे फ़िज़ूलखर्ची द्वारा लोगों पर अपनी महत्ता का सिक्का जमा सकें।

अपने आत्मिक तथा भौतिक दोनो पक्षों में सभ्यता को संस्कृति के उस अंश से समीकृत किया जा सकता है जो समस्त जनता की चीज़ बन गया है। अपने भौतिक तथा आत्मिक दोनों रूपों में सभ्यता को सांस्कृतिक चेतना का वह अंग माना जा सकता है जो अभ्यस्त व्यवहार (वैयक्तिक तथा सामाजिक आदतों एवं प्रथाओं) के रूप में परिणत हो चुका है। सभ्य व्यवहार के नियम या रूप, जिनमें शिष्टता के रूपों, प्रथाओं तथा व्यावहारिक रूढ़ियों सब का समावेश है, रूढ़िवादी शक्तियों की भाँति व्यापृत होते हैं और संस्कृति की प्रगति में बाधा डालते हैं। दर्शन और कला के क्षेत्रों में भी चिन्तन तथा आवेगात्मक प्रतिक्रिया के रूप प्रतीकों में बँध जाते हैं। इस प्रकार जब संस्कृति प्रवाहमयी तथा सृजनात्मक न रहकर लीक-बद्ध बन जाती है, तब उसे सभ्यता कहते हैं। इस महत्वपूर्ण अर्थ में यह कहा जा सकता है कि सभ्यता संस्कृति का अनिवार्य गन्तव्य या गति है, और वह संस्कृति की विरोधिनी है। मैकाइवर ने लक्ष्य किया है कि संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता ज्यादा आसानी से संक्रान्त की जा सकती है 'संस्कृति उन्हीं को प्रेषित की जा सकती है जो समानधर्मा हैं। जिसमें कलाकार की विशेष संवेदना नहीं है वह कला का रस नहीं ले सकता, और जिसकी श्रवण-शक्ति सांगीतिक क्षमता नहीं रखती, वह संगीत का आनन्द नहीं ले सकता।'[३५] संस्कृति के प्रेषण की दृष्टि से कुटुम्ब या परिवार का विशेष महत्त्व नहीं है, जैसा कि

इलियट का खयाल है। कुटुम्ब या परिवार अपने सदस्यों को सभ्य बना सकता है, लेकिन उनमें उच्च सांस्कृतिक रुचियाँ उत्पन्न नहीं कर सकता।

संस्कृति के स्तर : सांस्कृतिक महत्व के प्रतिमान

एक व्यक्ति वहाँ तक संस्कृत कहा जा सकता है जहाँ तक वह सचेत, निर्वैयक्तिक एवं सृजनात्मक ढंग से जीवन यापन करता है। प्रत्येक मनुष्य संस्कृत होता है, उस हदतक जहाँ तक वह पशु-सुलभ जीवन के ऊपर उठता है। संस्कृति की प्रौढ़ता अथवा उसके स्तर का निर्णय करने के लिये उन चीजों को देखना होगा जो उस व्यक्ति की चेतना, सृजनशीलता तथा निर्वैयक्तिकता के आयाम एवं दर्जो को निर्धारित करती हैं। पहली चीज जो सांस्कृतिक स्तर अथवा सांस्कृतिक श्रेष्ठता का निर्धारण करती है, साक्षी अथवा प्रामाणिकता की भावना है। संस्कृत होने का अर्थ यथार्थ से पलायन नहीं है। संस्कृत व्यक्ति में यथार्थ की भावना अधिक ठोस तथा गहरी होती है। किसी क्षण में हम जिस दुनिया का अनुभव करते हैं वह विशाल यथार्थ का अंग मात्र है। पूर्ण यथार्थ बड़ी लम्बी-चौड़ी चीज़ है, जिसकी चेतना वैज्ञानिक तथा दार्शनिक में रहती है। समझा जाता है कि कला के क्षेत्र में कल्पना ज्यादा मुक्त होती है, और वहाँ यथार्थ-दृष्टि का उतना महत्व नहीं होता। लेकिन ऐसी बात नहीं है। बड़े कलाकार की सृजन-क्रिया लगातार यथार्थ की प्रकृति से निर्धारित होती है, और उसकी यथार्थ-दृष्टि उसकी सृष्टि की प्रौढ़ता तथा प्रामाणिकता को प्रभावित करती है। यदि हम कथा-साहित्य के इतिहास पर ध्यान दें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। कथा कहने की कला का लगातार विकास हुआ है। यह विकास अधिकाधिक यथार्थवाद की ओर हुआ है। प्राचीन कथा-साहित्य में, जिसमें बाणभट्ट तथा दंडी जैसे बड़े लेखकों की "कादम्बरी" और "दशकुमार-चरित" जैसी महत्वपूर्ण कृतियों का समावेश है और "अलिफलैला" जैसे कम महत्व के ग्रंथों में, अलौकिक तत्व अर्थात् जादू-टोने आदि का स्वच्छन्द समावेश है। इन तत्वों द्वारा पुराने लेखक पाठकों में उत्सुकता तथा आश्चर्य की भावनाएँ जागृत रखते हैं। इसके विपरीत आधुनिक काल के उपन्यासों में, जैसे टॉल्स्टॉय की "अन्ना" अथवा दास्ताएव्स्की के "क्राइम एण्ड पनिशमेन्ट" में इस प्रकार उत्सुकता जगाने के लिये विशुद्ध रूप में यथार्थ जीवन के तत्वों का ही उपयोग किया जाता है। चूंकि जीवन की क्रियाएँ सृजनात्मक तथा परिवर्तनीय हैं, चूंकि जीवन किसी एक बँधे हुए ढर्रे पर नहीं चलता,

इसलिये आश्चर्य तथा उत्सुकता उत्पन्न करने के लिये यह जरूरी नहीं कि उस जीवन में कृत्रिम, बाहर से निर्धारित, वक्र मोड़ दिखाये जायँ। जीवन अपने में ही आश्चर्य-जनक नवीनताओं को उत्पन्न करता रहता है। इसलिये पूर्ण रूप में यथार्थवादी उपन्यासकार स्वयं जीवन के भीतर निहित अनेक तथा विविध यथार्थ-संभावनाओं का चित्रण कर सकता है। जिस प्रकार आज के उपन्यास में यथार्थ का विशेष आग्रह है, वैसे ही आधुनिक ऐतिहासिक अन्वेषणों तथा वैज्ञानिक शोधों में भी यथार्थ का आग्रह बढ़ा हुआ दिखाई देता है। हमारा युग केवल उसी सत्य को स्वीकार करके चलना चाहता है जिसकी परीक्षा की जा सके। वह उन सत्यों पर जिनकी परीक्षा सम्भव नहीं है, विचार भी नहीं करना चाहता। इस दृष्टि से वह दार्शनिक सम्प्रदाय जिसे तर्क-मूलक भाववाद कहते हैं, हमारी शताब्दी की सांस्कृतिक प्रौढ़ता का प्रमाण है। सांस्कृतिक चेतना यथार्थ के बीच प्रसरित होना चाहती है, यह यथार्थ से पलायन करके कल्पना में शरण लेना नहीं चाहती। वस्तुतः सांस्कृतिक क्रिया में जिस कल्पना का उपयोग होता है उसका लक्ष्य यथार्थ की वास्तविक रचना का उद्घाटन है, न कि यथार्थ को विकृत करना। कला तथा विज्ञान दोनों क्षेत्रों में बड़े लेखक तथा विचारक यथार्थ से पलायन नहीं करते, इसके विपरीत वे अधिकाधिक यथार्थ को ग्रहण करके चलते हैं। किन्तु यथार्थ की इस माँग का यह अर्थ नहीं है कि हम जीवन के उन क्षेत्रों से बचने का प्रयत्न करें जहाँ विज्ञान की गति नहीं है, और जहाँ गणित का हिसाब अथवा भौतिकशास्त्र की नापतौल सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति इस प्रकार विशुद्ध गुणात्मक यथार्थ से बचकर केवल उस यथार्थ को ग्रहण करना चाहते हैं जिसे भौतिक-शास्त्र द्वारा मात्रा-मूलक सूत्रों से समझा जा सकता है, वे अपने व्यक्तित्व के प्रसार और सांस्कृतिक उन्नति के द्वार स्वयं ही बन्द कर देते हैं। यथार्थ का आग्रह अच्छी चीज है, वैज्ञानिक 'स्पिरिट' भी श्लाघ्य है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम अपनी यथार्थ-दृष्टि को संकीर्ण कर लें, और जीवन के गुणात्मक अनुभवों की ओर से अपनी बुद्धि और मन के रास्ते बन्द कर लें।

सांस्कृतिक प्रौढ़ता में सबसे महत्वपूर्ण तत्व निर्वैयक्तिकता है। प्रथम दृष्टि में ऐसा जान पड़ता है कि निर्वैयक्तिकता एक अस्पष्ट एवं निरर्थक धारणा है। कैसे कोई व्यक्ति उस चीज़ में रुचि ले सकता है जो उसके व्यक्तित्व का अतिक्रमण करती है, अथवा उससे असंबंधित है? किन्तु निर्वैयक्तिक होने का अर्थ व्यक्तित्वशून्य होना नहीं है। वस्तुतः यह धारणा वैयक्तिक की विरोधिनी नहीं है, बल्कि उसकी विरोधिनी

है जो केवल व्यक्तिगत है। निर्वैयक्तिकता का अर्थ है सार्वभौमता। इस सार्वभौमता के दर्जे हो सकते हैं। सार्वभौमता से मतलब है उन चीजों में रुचि होना जो अपने व्यक्तित्व से बड़ी अथवा व्यापक हैं, जैसे जाति, राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानवता। ऐसा जान पड़ता है कि वे रुचियाँ जो केवल व्यक्तिगत होती हैं, सम्पत्ति अथवा दूसरी वस्तु-सामग्री से सम्बन्ध रखती हैं। जब हम एक सुन्दर मूर्ति अथवा चित्र की प्रशंसा करते हैं, तब एक सांस्कृतिक क्रिया करते होते हैं; उस प्रशंसा में दूसरे लोग साझी हो सकते हैं। किन्तु जब मैं उन चीज़ों के प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ तब मेरा कार्य एक निजी अथवा व्यक्तिगत कार्य बन जाता है। किसी रुचि अथवा स्वार्थ की सार्वभौमता मापने के लिए यह देखना चाहिए कि उसकी विशुद्ध व्यक्तिगत स्वार्थ से कितनी ज्यादा दूरी है, और वह सम्पूर्ण मानवजाति की रुचियों तथा हितों के कितनी निकट है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि सबेरे के अखबार में किसी उत्तर प्रदेश के नागरिक ने ये खबरें पढ़ी : "उत्तर प्रदेश के मंत्रिमंडल में संकट", "भारत और पाकिस्तान में कश्मीर को लेकर तनाव में वृद्धि," तथा "फारमूसा को लेकर विश्वयुद्ध की संभावना।" एक संस्कृत व्यक्ति होने के नाते उक्त नागरिक इन सभी खबरों में अभिरुचि लेगा। किन्तु, यदि वह एक ऐसा संस्कृत व्यक्ति है जिसकी रुचियाँ प्रौढ़ बन चुकी हैं, तो वह सबसे ज्यादा विचलित अन्तिम खबर से होगा। कारण यह है कि विश्व-युद्ध की तुलना में बाकी दो खबरें जो कि क्रमश: एक प्रान्त अथवा देश से सम्बन्ध रखती हैं, अपेक्षाकृत कम महत्व की हैं। एक संस्कृत व्यक्ति का अवधान उन खबरों पर अपेक्षाकृत कम केंद्रित होना चाहिए। पूर्णतया संस्कृत व्यक्ति वह है जो पूर्ण रूप से मानवजाति की रुचियों तथा मानवीय मूल्यों से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उनके लिये संघर्ष करता हुआ उनके संरक्षक का काम करता है।

सांस्कृतिक जीवन की सार्वभौमता की स्थापना मानवीय अनुभूति की सिम्तों अथवा आयामों की अपेक्षा से भी की जा सकती है। जो मनुष्य जितने अधिक विस्तृत क्षेत्र के प्रति प्रतिक्रिया करता है, वह उतना ही संस्कृत होता है। उसकी तुलना में जो विश्व की सामाजिक-राजनैतिक तथा आर्थिक वास्तविकता के प्रति जागरूक है, वह व्यक्ति जिसका जीवन केवल उसके अपने राग-विरागों, प्रेम-घृणा, हानि-लाभ आदि द्वारा निर्धारित रहता है, कम संस्कृत है। मार्क्सवादी आलोचकों का यह विचार ठीक है कि वे लेखक, उपन्यासकार और नाटककार, जिनके पात्र, अपने व्यापारों द्वारा, सामाजिक शक्तियों के प्रभाव को व्यंजित करते हैं, ज्यादा बड़े

लेखक होते हैं। उनकी रचनाओं में सामाजिक वास्तविकता का समावेश रहता है। किन्तु वह मनुष्य जिसने संस्कृति के उच्चतम धरातल को प्राप्त कर लिया है, केवल मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक भूमिका में ही जीवित नहीं रहता। वह समूचे ब्रह्माण्ड की अपेक्षा में जीवित रहता है, और उस ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप में सोचता तथा महसूस करता है। श्रेष्ठतम लेखकों की कृतियाँ, इसीलिये, मनुष्य के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक पहलुओं का चित्रण करके ही नहीं रह जातीं, वे मानव अनुभूति की धार्मिक-दार्शनिक सिम्तों का भी स्पर्श करती हैं।

संस्कृत व्यक्ति के विचार तथा आदर्श एक दूसरी चीज से भी संपृक्त या सम्बन्धित रहते हैं, अर्थात् उस अनुभूति तथा व्यवहार से जो मनुष्य के इतिहास में संचित हैं। संस्कृत व्यक्ति की चेतना केवल अपना देशगत या भौगोलिक विस्तार ही नहीं करती, वह कालिक विस्तार को भी अपनी परिधि में ले लेना चाहती है। वह उस समस्त अनुभूति को, उस समस्त बोध तथा रागात्मक क्रिया को, जो मानवजाति ने अपनी विचारात्मक तथा कलात्मक सृष्टियों में संचित रखी है, आत्मसात् कर लेना चाहती है। विश्व की अवगति से सम्बद्ध किसी भी अनुभव-संभावना को वह छोड़ना नहीं चाहती। मनुष्य की ऐतिहासिक अनुभूति का विषय मुख्यतः सामाजिक वास्तविकता है, किन्तु वह धार्मिक-दार्शनिक सिम्त को भी छूती है। इतिहास जहाँ एक ओर हमें उन शक्तियों से परिचित कराता है जो मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित करती हैं, वहाँ वह हमारे सामने मानवता के चरम गन्तव्य की समस्या भी प्रस्तुत करता है। विभिन्न परिवेशों तथा युगों में मनुष्य की उपलब्धियाँ क्या-क्या रही हैं, वह अपने व्यक्तित्व को कहाँ तक, किस ऊँचाई तक, उठा सका है, यह अवगति इतिहास पढ़ने से मिलती है। इसलिये हम उस किसी भी व्यक्ति को पूर्णतया संस्कृत नहीं कह सकते जिसमें ऐतिहासिक संवेदना विकसित नहीं हुई। यह संवेदना प्रौढ़ जीवन-दर्शन का आवश्यक अंग है।

हमने कहा कि निर्वैयक्तिकता सार्वभौमता का नाम है। निर्वैयक्तिकता का अर्थ यह भी है कि मनुष्य उन चीजों के प्रति, जो केवल व्यक्तिगत अथवा स्थानीय हैं, उदासीनता की भावना विकसित करे। जो व्यक्ति जितना ही अधिक संस्कृत होता है वह उन चीजों से, जिनका सम्बन्ध केवल उससे अथवा उसके स्वार्थों से है, उतना ही कम प्रभावित होता है। इसी प्रकार वह उन चीज़ों से विशेष प्रभावित नहीं होता जो एक छोटे दायरे से सम्बन्ध रखती हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति किसी छिछले अर्थ में

भावुक नहीं होता। किन्तु उदासीनता का अर्थ मानवीयता का अभाव नहीं है; उसका प्रधान चिह्न है, संतुलन और स्थिरता। इस प्रकार का व्यक्ति उन्हीं चीज़ों से अधिक प्रभावित होता है जिनका, गहरे अर्थ में, मानवीय, ऐतिहासिक अथवा विश्वजनीन महत्व है।

निर्वैयक्तिकता का सामान्यरूपता (Normality) से घना सम्बन्ध है। जो निर्वैयक्तिक है वही पूर्णतया सामान्य तथा स्वीकार्य है। जिस व्यक्ति पर एक खास वर्ग की आस्थाओं, रुचियों तथा भावनाओं का जितना ही अधिक प्रभाव होता है वह मनुष्य की सामान्य 'स्पिरिट' से उतना ही दूर रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि जो सामान्य है वह मौलिक या आदिम भी हो, यद्यपि यह ठीक है कि श्रेष्ठ कला एक खास अर्थ में हमारी मूल प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करती है। मनुष्य की सामान्यरूपता में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसकी समस्त सृजनात्मक समृद्धि का समावेश रहता है। आवश्यक यही है कि इस समृद्धि का विकास सामान्य मानवीयता के नियमों के अनुरूप हो। मनुष्य जब अपनी अन्तःप्रकृति के नियमों के विरुद्ध जाता है, तभी उसका चिन्तन और आवेग अप्रामाणिक बन जाता है। सामाजिक विज्ञानों तथा कलाओं की उन्नति इसमें है कि उनमें निबद्ध प्रतीतियाँ तथा आवेग क्रमशः मनुष्य की सामान्य अन्तःप्रकृति के निकट या अनुरूप होते जायँ।

सच्ची सामान्यरूपता का अर्थ है, पूर्ण सार्वभौमता। सामान्यरूपता वह योग्यता है जो हमें किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि मनुष्य मात्र के दृष्टिकोण से देखने योग्य बनाती है। इस सामान्यरूपता की गठन में दो तत्व रहते हैं: मनुष्यों की जैवी प्रकृति एवं भौतिक गठन की एकता, तथा उनकी वह शक्ति जिसके द्वारा वे अपने को एक-दूसरे की स्थिति में कल्पना द्वारा रख सकते हैं। अधिकांश मनुष्यों की कल्पना-शक्ति पूर्णतया विकसित नहीं हो पाती। कल्पना-शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन धीरे-धीरे हो रहा है, और वह प्रस्फुटन मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति में प्रतिफलित होता रहता है। बहुत थोड़े परीक्षक हैं जो मनुष्य की सामान्य अन्तःप्रकृति के दृष्टिकोण को पूर्णतया अपना पाते हैं, और वह भी कतिपय सीमित क्षेत्रों में। अधिकांश लोग अपने को एक या दूसरे वर्ग, जाति अथवा देश से समीकृत कर लेते हैं। संस्कृति की दृष्टि से किसी मनुष्य की सामान्यरूपता का मतलब है उसकी वह शक्ति जिसके द्वारा वह, कल्पना द्वारा, अपने को दूसरों की स्थिति में रखते हुए उनके विचारों तथा आवेगों को आत्मसात् कर लेता है। आगे हम देखेंगे कि मनुष्य का नैतिक

व्यवहार भी उसकी कल्पनात्मक तादात्म्य की क्षमता पर निर्भर करता है। यहाँ हमें यह लक्षित कर लेना चाहिए कि मनुष्य की सारी तर्कना-शक्ति तथा चिन्तन, और उसकी दूसरों को युक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता, इस पर निर्भर करती है कि विभिन्न सम्बद्ध मनुष्य अपने को सामान्य मानवीय प्रकृति के दृष्टिकोण पर पहुँचा सकें।

प्रतिभा और सांस्कृतिक प्रगति : विद्रोह के अन्तर्नियम

सच्चे अर्थ में सांस्कृतिक क्रिया वह है जो किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र के लिये नहीं, अपितु समस्त मानव-जाति के लिये, नये क्षेत्रों की विजय करती है। निर्वैयक्तिक जीवन के प्रकार वे तरीके हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने तथा मानव-जाति के बीच तादात्म्य स्थापित करता है। ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के मुख्य प्रवाह से विच्छिन्न होकर व्यक्तित्व की छोटी-छोटी धारायें पुनः उस बड़े प्रवाह में लौटने का प्रयत्न कर रही हों।

जीवन की ये क्रियाएँ व्यक्ति के परम आनन्द का स्रोत होती हैं। मनुष्य निर्वैयक्तिक ढंग से जीवित रहना चाहता है। कवि ऐसी कविता लिखना चाहता है जो सर्वग्राह्य हो, दार्शनिक ऐसी युक्तियों की उद्भावना करना चाहता है जिन्हें सब स्वीकार कर सकें—इसलिये नहीं कि उसकी कुछ बाहरी अथवा सामाजिक जरूरतें हैं, जैसा कि फ्रायड के अनुयायियों का विचार है, बल्कि इसलिये कि यह उसकी अन्तःप्रकृति की माँग है। श्रेष्ठतम सांस्कृतिक सृष्टियाँ सामाजिक माँगों का परिणाम नहीं होतीं, वे अपनी उत्पत्ति के बाद सामाजिक माँग पैदा करती हैं। यह आश्चर्य की बात है कि कवि जिस समय अपनी रचना में लगा होता है, और जिस समय उसकी सृजनात्मक उत्तेजना सब से ऊँचे बिन्दु पर पहुँची हुई होती है, उस समय वह स्वयं यह निर्णय कर लेता है कि कोई उपमा या रूपक उसके मानवीय पाठकों को प्रिय लगेगी या नहीं। सृजन में लगा हुआ कलाकार इस भाँति व्यवहार करता है मानो कि सबसे ऊँचा निर्णायक, मानवीय अन्तःप्रकृति का श्रेष्ठतम प्रतिनिधि या प्रवक्ता, स्वयं उसी की अन्तरात्मा में पैठकर उसे उचित निर्देश दे रहा हो।[३६]

व्यक्ति सुखी तब होता है जब उसकी क्रियाएँ उस समाज के लिये, जिसका वह अंग है, ग्राह्य हों, और उसके कष्ट का सबसे बड़ा कारण उसके व्यक्तित्व की वे चीजें होती हैं जिन्हें समाज स्वीकार नहीं करना चाहता।

यहाँ एक जटिल प्रश्न उठ खड़ा होता है। यदि व्यक्ति अपने और समाज के सामंजस्य को इतना अधिक महत्त्व देता है तो कभी-कभी ऐसा क्यों हो जाता है कि वह समाज के विरुद्ध, समाज की मान्यताओं के प्रतिकूल, विद्रोह करने लगता है? और उस विद्रोह का क्या मतलब है जो प्रगति का कारण बन जाता है, अर्थात् जिसे बाद की पीढ़ियाँ प्रगतिशील विद्रोह कह कर वर्णित करती हैं? वे कौन से स्रोत हैं जहाँ से विद्रोह की भावना प्रेरणा तथा शक्ति ग्रहण करती है?

विद्रोह तथा क्रान्ति में कुछ अन्तर है, विद्रोही तथा क्रान्तकारी व्यक्ति कुछ भिन्न प्रकृतियों के होते हैं। विद्रोही उस व्यक्ति को कहते हैं जो समाज के अनुरूप नहीं चल सकता और जो अपने व्यापारों में समाज का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता। विद्रोही अपनी स्वतंत्रता चाहता है। इसके विपरीत क्रान्तिकारी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करके सन्तुष्ट नहीं हो जाता। क्रान्तिकारी चाहता है कि वह स्वयं समाज को परिवर्तित कर दे और उसे अभिलषित रूप में ढाल दे। क्रान्तिकारी एक ज्यादा कर्मठ विद्रोही होता है। विद्रोही की भाँति वह अपने भिन्न मार्ग के लिये पश्चाताप नहीं करता, इतना ही नहीं; उसका यह मनोभाव होता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा ज्यादा विवेक है, और यह कि उसकी सम्प्रतीति (Vision) दूसरों से श्रेष्ठ है। वह चाहता है कि उसके विवेक और उसकी दृष्टि से समाज लाभान्वित हो। विद्रोही की तुलना में क्रान्तिकारी अधिक वस्तुगत होता है, उसका लक्ष्य होता है उन शक्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेना जो समाज का नियंत्रण करतीं और समाज की गति को निर्धारित करती हैं।

विद्रोहियों में भी दो वर्ग के व्यक्ति पाये जाते हैं, एक वे जो प्रच्छन्न रूप में सामाजिक हैं, और दूसरे जो मूलतः असामाजिक हैं। असामाजिक विद्रोही वे हैं जो निषेधात्मक रूप में समाज की व्यवस्था का विरोध करते हैं, जैसे कि चोर-डाकू तथा अन्य अपराधी। प्रच्छन्न रूप में सामाजिक विद्रोही वे हैं जो समाज के अन्यायपूर्ण एवं अवांछनीय प्रतिबन्धों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। इस प्रकार का विद्रोही दूसरों में सहानुभूति और कभी-कभी प्रशंसा भी जगाता है, यद्यपि विद्रोह का झंडा खड़ा करते समय वह प्रायः अकेला होता है। जब ऐसे व्यक्ति को बहुत-से सहानुभूति देनेवाले मिल जाते हैं, तो उसका विद्रोह क्रमशः ज्यादा सक्रिय रूप धारण कर लेता है। बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्रों में ऐसा व्यक्ति विद्रोही हो सकता है जिसने विद्रोह की प्रेरणा कहीं बाहर से पाई है। ऐसे व्यक्ति द्वारा किया हुआ समाज का विरोध तब तक प्रभावशील नहीं

हो सकता जब तक शिक्षा द्वारा, अथवा मौजूदा मानवीय सम्बन्धों के परिवर्तन द्वारा, स्वयं अपने समाज में विद्रोही को सहानुभूति देनेवाले न मिल जायँ।

विद्रोही का लक्ष्य होता है अस्वाभाविक अथवा अन्यायपूर्ण प्रतिबन्धों को हटाना, जब कि क्रान्ति का लक्ष्य रहता है विभिन्न मनुष्यों के लिये उपलब्ध अवसरों तथा साधनों का पुनर्वितरण। क्रान्ति की आवश्यकता तब होती है जब कि नये ज्ञान तथा नये परिवेश के सन्दर्भ में लोगों को यह महसूस होता है कि उनकी जीवन-स्थितियों में सुधार हो सकता है, और वे लोग जो अब तक आराम तथा सुख के साधनों पर अधिकार किये हुए थे, उस सुधार की राह में विघ्न डालने लगते हैं। मौजूदा स्थिति के समर्थक लोग, जो स्वयं आराम से रहते रहे हैं, यह मानकर चलते हैं कि पुरानी प्रथाओं का पालन करते रहना ही उचित व्यवहार है, और वे उन लोगों को जो अब तक इतने सौभाग्यशाली नहीं रहे हैं और नये परिवेश में अपने भीतर नई आशायें जगाते हैं, अपेक्षित परिवर्तनों की माँग से रोकते हैं। जो स्वयं पुराने मूल्यों को मानते हुए तथा लीकों में चलते हुए सुख-पूर्वक जीवन-यापन करते रहे हैं, वे उन लोगों की आकांक्षाओं को सहानुभूति नहीं दे पाते जो अपने सम्मुख नवीन जीवन की सम्भावनाओं को देखते हुए सामाजिक-राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन की कामना तथा माँग करते हैं। ऐसी दशा में धीरे-धीरे परिवर्तनवादियों से सहानुभूति करनेवालों की संख्या बढ़ने लगती है। बात यह है कि जब मनुष्यों के सम्मुख श्रेष्ठतर व्यवस्था का चित्र आ जाता है तो वे स्वतः उसकी ओर आकृष्ट होने लगते हैं, और उसे यथार्थ रूप में उतारने के लिये प्रयत्न करने लगते हैं। जैसे ही कोई विचारक मौजूदा व्यवस्था से श्रेष्ठतर व्यवस्था की कल्पना उनके सम्मुख प्रस्तुत करता है, वैसे ही उन लोगों की पुरानी व्यवस्था पर से, फिर चाहे वह कितनी ही प्राचीन क्यों न हो, आस्था हटने लगती है, और इस प्रकार क्रमशः उस मौजूदा व्यवस्था को परित्यक्त हो जाना पड़ता है। मनुष्य में जो निर्वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ हैं वे उसे बाध्य करती हैं कि वह कल्पना द्वारा उपस्थापित नई व्यवस्था का हामी बन जाय। और इस नई व्यवस्था के हामियों में सिर्फ वे ही लोग नहीं प्रविष्ट हो जाते जो मौजूदा व्यवस्था में सुखी जीवन नहीं बिता पा रहे हैं, बल्कि वे भी जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत धन-सम्पत्ति तथा शक्ति पर अधिकार पाये हुए हैं। अक्सर यह देखा गया है कि किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता या तो ऊँचे वर्गों में से आते हैं, या फिर उन बुद्धिजीवियों के वर्ग से जो ऊँचे वर्गों से सम्बन्धित अथवा उनके निकट हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवजाति की अग्रगति दो विरोधी चीजों से निर्धारित होती है। प्रथमतः यह जरूरी है कि व्यक्ति अपने विचारों तथा भावनाओं दोनों में समाज के अनुरूप बने, और दूसरे, यह भी जरूरी है कि व्यक्ति उस समाज के विरुद्ध, जो किसी जर्जर रूढ़िवादी व्यवस्था को पकड़कर बैठा है, और नयी कल्पनाओं द्वारा उपस्थापित प्रगति की सम्भावनाओं का स्वागत नहीं करता, विद्रोह करे। जहाँ यह ठीक है कि मनुष्य मुख्यतः रूढ़ियों एवं प्रथाओं का अनुगमन करके जीवित रहते हैं, वहाँ यह भी सत्य है कि मनुष्य की उन्नति प्रायः रूढ़ियों के परित्याग तथा सृजनात्मक कल्पना के व्यायाम द्वारा घटित होती है। जिन्हें नर-विज्ञान के पंडित "संस्कृतियाँ" कहते हैं वे वास्तव में विभिन्न जीवन-प्रकार हैं जिन्हें विभिन्न समाजों या जातियों ने अपनी भिन्न ऐतिहासिक तथा भौतिक परिस्थितियों में विकसित किया है। अपने अतीत इतिहास के आलोक में देखे जाने पर विभिन्न "संस्कृतियाँ" उन समाजों की उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं। किन्तु जो संस्कृति इतिहास द्वारा उपस्थित की हुई नई सम्भावनाओं के अवसर का लाभ नहीं उठाती और सृजनात्मक ढंग से आत्म-विस्तार नहीं करती, वह अप्रगतिशील अथवा पश्चाद्गामिनी बन जाती है। सांस्कृतिक आत्म-विस्तार की नई सम्भावनाओं का संकेत करना प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों का विशिष्ट कार्य है।

विभिन्न प्रतिभाशाली जो काम करते हैं वह देश-काल तथा परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेता है; उसकी विभिन्नता का दूसरा कारण प्रतिभाशालियों की भिन्न प्रकृतियाँ या स्वभाव होते हैं। शान्ति के समय में वे प्रतिभाशाली व्यक्ति, जो मौजूदा व्यवस्था को स्वीकार करके चलते हैं, मुख्यतः दो काम करते हैं: प्रथमतः वे उन सिद्धान्तों तथा प्रक्रियाओं को स्पष्ट करते हैं जो उस व्यवस्था का आधार हैं। दूसरे, विचार तथा संवेदनाओं की उपलब्ध सामग्री के आधार पर, वे समृद्ध एवं सुखी जीवन की असंख्य सम्भावनाओं का निरूपण या उद्घाटन करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार की प्रतिभा "क्लासिक्स" को जन्म देती है जिनकी प्रमुख विशेषता सन्तुलन है। दर्शन में वह प्रायः एकत्ववादी अथवा अद्वैतवादी विचार-पद्धतियों को उत्पन्न करती है। ये विचार-पद्धतियाँ ईश्वरवादी, अध्यात्मवादी तथा भौतिकवादी भी हो सकती हैं। यदि उस शान्ति के समय में विभिन्न दिशाओं में नये अन्वेषण भी हो रहे हों, तो उन "क्लासिक्स" के रूप में 'रोमैन्टिक' उल्लास एवं उत्साह का पुट भी आ जाता है। वर्जिल तथा दान्ते, पार्मिनिडीज़ तथा स्पिनोज़ा पश्चिम में,

और वाल्कीकि, भास तथा बादरायण पूर्व में प्रथम कोटि की शान्तियुगीन प्रतिभाएँ हैं, जब कि कालिदास, शेक्सपियर तथा हीगल दूसरे वर्ग के प्रतिभाशाली लेखक हैं। संक्रमण, उथल-पुथल एवं संघर्ष-युगों में उत्पन्न होनेवाली प्रतिभाएँ दूसरी ही प्रकृति की होती हैं। उनमें तीक्ष्णता, तीव्रता तथा क्षुब्ध आवेग रहता है। उनमें से कुछ संशयालु तथा आलोचनाशील होते हैं, और कुछ नवीन सिद्धान्तों तथा आदर्शों की कल्पना करनेवाले। महाभारतकार, प्लेटो, रूसो और वालतेयर, दास्ताएव्स्की, इब्सन तथा बर्नार्ड शा इसी कोटि की प्रतिभाएँ हैं।

प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा साधारण नर-नारियों में अनेक भेद होते हैं। अधिकांश मनुष्य जीवन तथा जगत् के तथ्यों एवं मूल्यों पर सीधे दृष्टिपात नहीं करते, उनका देखना विभिन्न प्रतीकों तथा नारों अथवा स्वीकृत सिद्धान्तों से प्रभावित रहता है। इसके विपरीत प्रतभाशाली व्यक्ति प्रतीक-रूप में बँधी बौद्धिक धारणाओं से इतना प्रभावित नहीं होता। उसकी क्रान्तदर्शिनी दृष्टि स्वीकृत मान्यताओं तथा चिन्तन-प्रकारों को भेदकर सीधे यथार्थ से सम्पर्क स्थापित करती है। उसकी आवेगमयी प्रकृति वस्तु-सत्ता के सम्बन्ध में सुनी-सुनायी बातों को ग्रहण करके सन्तुष्ट नहीं हो जाती। प्रतिभाशाली तथा पंडित में मुख्य भेद यह है कि प्रथम में यथार्थ को सीधे सम्पर्क द्वारा जानने की कामना रहती है, जब कि पंडित व्यक्ति प्रायः यथार्थ को स्वीकृत मान्यताओं के माध्यम से देखता है। पंडित का मुख्य काम होता है, दूसरों द्वारा निर्मित धारणाओं तथा सिद्धान्तों की छानबीन करना। वह विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार करता है, और उनकी आन्तरिक संगति से पुलकित तथा उनके अन्तर्विरोधों से असन्तुष्ट होता है। प्रतिभाशाली में प्रतिपादित सिद्धान्तों के तर्क-मूलक संगठन को सराहने की क्षमता नहीं होती, ऐसी बात नहीं। किन्तु वह किसी सिद्धान्त से तब तक सन्तुष्ट नहीं होता जब तक कि वह सिद्धान्त उसके अपने अनुभूत यथार्थ की परिपूर्ण व्याख्या न करे। वह उस चातुर्य से उतना प्रभावित नहीं होता जो किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में दर्शित होता है, वह यह देखना चाहता है कि विचाराधीन सिद्धान्त कितने लम्बे-चौड़े यथार्थ की व्याख्या करने, उसे संबद्ध रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ है। कोई भी सिद्धान्त यथार्थ अथवा वास्तविकता के किसी अंश को सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करता है। यदि एक प्रतिभाशाली किसी प्राचीन, स्वीकृत सिद्धान्त को मान्यता नहीं दे पाता तो उसका कारण यह नहीं होता कि वह स्वयं अपनी मौलिकता को प्रमाणित करने के लिये अधीर है, बल्कि यह कि स्वीकृत सिद्धान्त उस यथार्थ

की ठीक व्याख्या नहीं करते जिसे प्रतिभाशाली ने स्वयं अपनी अनुभूति में प्रत्यक्ष किया है।

इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति उपेक्षित यथार्थ का प्रवक्ता होता है। यह यथार्थ बाह्य प्रतीतियाँ तथा सम्बन्ध हो सकते हैं; किन्तु अक्सर, विशेषतः सामाजिक-राजनैतिक मूल्यों के क्षेत्र में, उस यथार्थ का अस्तित्व आत्मगत तथा कल्पना-मूलक होता है। एक क्रान्तिकारी विचारक तीक्ष्ण ढंग से हमारा ध्यान आशाओं एवं उन मनोरथों की उस विफलता की ओर आकृष्ट करता है जो बचाई जा सकती थीं, और उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का संकेत करता है जो उन कष्टों तथा विफलताओं का मूल कारण है। दूसरा प्रतिभाशाली लेखक, कल्पना द्वारा नवीन अनुभव-समष्टियों की सृष्टि करके, हमारी प्रतीति तथा संवेदना का विस्तार करता है। अक्सर प्रतिभाशाली किसी परिचित पदार्थ अथवा स्थिति में एक नये, अतर्कित तत्व का संकेत करके हमें आनन्दपूर्ण अचरज में डाल देता है।

सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रतिभाशाली अवगति तथा संवेदना का तीव्र केन्द्र होता है और वह अधिक सूक्ष्म तथा समृद्ध जीवन-रूपों को अभिव्यक्ति देने-वाला होता है। प्रतिभाशाली पर प्रतीक-बद्ध मान्यताओं का उतना अधिक प्रभाव नहीं होता, और वह अपनी भावनाओं का उतना दमन नहीं करता। यही कारण है कि उसके लिए परम्परा को छोड़ देना अपेक्षाकृत सरल होता है। वस्तुतः प्रतिभा-शाली व्यक्ति, और विशेषतः कलाकार, मनुष्य की आदिम मूल प्रवृत्तियों के ज्यादा निकट होता है। वह आदिम मनुष्य की भाँति प्रारम्भिक विस्मय की भावना से वस्तुओं को देखता और उनके सम्बन्ध में महसूस करता है। किसी समाज की जीवन-शैली मुख्यतः दो तरह की होती है। प्रथमतः, भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियों के अनुरूप, उस समाज में लोग विभिन्न ढंगों से अपनी मूल जरूरतों को पूरा करते हैं। दूसरे, प्रत्येक समाज में कुछ धार्मिक-दार्शनिक मान्यताएँ तथा रूढ़ियाँ प्रचलित होती हैं, जिनमें से कुछ शासक लोगों के लिए लाभकारी होती हैं। विभिन्न समाज इन दोनों जीवन-प्रकारों की दृष्टि से भिन्न होते हैं, किन्तु उनका प्रमुख भेद मान्यताओं तथा रूढ़ियों से सम्बन्धित रहता है। अतीत के प्रायः प्रत्येक समाज में अधिकांश जनों की जीवन-स्थितियाँ कठिन रही हैं। उन स्थितियों के फलस्वरूप अधिकांश लोग काफी परिश्रम करके अपनी जरूरतें पूरी करते रहे हैं, जब कि थोड़े से मनुष्य अपेक्षाकृत आराम से रह सके हैं। स्वतंत्रता, आत्मसम्मान तथा गौरव की भावनाएँ,

कलात्मक एवं बौद्धिक व्यापारों के लिये अवकाश, सुन्दर नारियाँ तथा दूसरे सुख के साधन--ये चीजें प्रायः परिश्रम करनेवाले अधिकांश लोगों को कभी प्राप्त नहीं रहीं। दास, सेवक तथा शूद्र उनसे प्रायः वंचित रहे, और उन पर कुछ थोड़े से शक्तिशाली लोगों का एकाधिकार रहा। इस विभिन्नता को कानूनी रूप देने के लिये तरह-तरह के नियम, विधि-निषेध तथा रूढ़ियाँ बनाई गईं जिनकी भूलभुलैयों में मानव-कर्म के प्राकृतिक स्रोत दीखना बन्द हो जाते हैं। यहाँ यह भी कह देना जरूरी है कि कुछ नियम तथा विधि-निषेध स्वयं सामूहिक जीवन के लिये आवश्यक होते हैं, और व्यक्तियों द्वारा थोड़ा-बहुत आत्म-नियंत्रण स्वयं उनके लिए भी हितकर होता है।

कृत्रिम रूढ़ियों का मूल कुछ भी हो, प्रतिभाशालियों द्वारा अक्सर उनका उद्घाटन एवं विरोध होता है। बात यह है कि प्रतिभाशाली स्वभावतः रूढ़िवादी नहीं होता, और वह मानवीय क्रियाओं की तह में जाने का अभ्यस्त होता है। एक विद्वान् ने कहा है, 'कोई भी संस्कृति क्यों न हो, साहित्य के मूल विषय प्रायः वही रहते हैं... उन विषयों का मानव-प्रकृति के जैवी आधारों से सम्बन्ध रहता है, उनका मनोवैज्ञानिक मूल तत्वों तथा सामूहिक अनुभूति की जरूरतों से भी लगाव होता है। इसलिये विभिन्न संस्कृतियों के साहित्य बाहरवालों के लिये सार्थक प्रतीत होते हैं, जब कि वहाँ की सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा अन्य मूल्य उन बाहरवालों को अर्थहीन जान पड़ते हैं।'[३७] इसका मतलब यह नहीं कि विभिन्न समाजों की भिन्न रूढ़ियाँ तथा प्रथाएँ वहाँ के साहित्यों को प्रभावित नहीं करतीं, किन्तु प्रभावित करते हुए भी वे उस साहित्य में प्रधान तत्व नहीं होतीं। वह साहित्य जो सांस्कृतिक आवरणों अर्थात् प्रथाओं तथा रूढ़ियों में ज्यादा फँस जाता है, धीरे-धीरे अपनी शक्ति या प्राणवत्ता को को खो देता हैं, उसमें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिये यह जरूरी होता है कि बाद के लेखक उसे फिर घसीटकर मूल प्रवृत्तियों के निकट ले आएँ। साहित्य के इतिहास में उन लेखकों के व्यक्तित्व जिन्होंने अपने-अपने साहित्यों को पुनः मूल प्रवृत्तियों के निकट स्थापित किया है, काफी प्रमुख रहे हैं। उदाहरण के लिये हम रूसो, वर्ड्स्वर्थ, टॉलस्टाय, कार्लाइल, एमर्सन, नीत्शे, लारेन्स तथा जेम्सज्वाइस के नाम ले सकते हैं जिन्होंने क्रमशः प्रकृति, किसान, वीर पुरुष, यौनस्वच्छन्दता आदि पर गौरव दिया। विचारों के क्षेत्र में आलोचनात्मक विश्लेषण जो किसी धारणा को मूल यथार्थ से सम्बन्धित करता है, उसी प्रकार चिन्तन को नया जीवन प्रदान करता है।

इस दृष्टि से देखने पर जान पड़ेगा कि, विभिन्न रूढ़ियों तथा प्रथाओं द्वारा विभक्त

किये हुए समाजों को, प्रतिभाशाली व्यक्ति एकता-सूत्र में आबद्ध करने के उपकरण बन जाते हैं।

तो, विद्रोह के अन्तर्नियम अथवा नियम-सूत्र क्या हैं ? ये सूत्र या नियम अपने को मानवीय जीवन तथा प्रकृति की दो माँगों में अभिव्यक्त करते हैं। एक ओर मनुष्य स्वतंत्रता की माँग करता है, और दूसरी ओर वह अपने आत्म-विस्तार अथवा आत्म-प्रसार के लिए अवकाश चाहता है। पहली माँग मुख्यतः नैतिक है, और वह अपने को सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट करती है। यह माँग प्रायः तब उत्थित होती है जब उत्पादन-तंत्रों की प्रगति बदले हुए भौतिक परिवेश में नई सामाजिक व्यवस्था की कल्पना को जगाती है, अर्थात् ऐसी व्यवस्था के स्वप्न को जिसमें अधिकांश लोगों को अधिक सुख तथा स्वतंत्रता मिल सकेगी। दूसरी माँग, जिसका सम्बन्ध अस्तित्व के प्रसार से है, उतनी अधिक स्पष्ट नहीं हो पाती और अपेक्षाकृत कम लोगों में उत्पन्न होती है। यह माँग कला, विज्ञान तथा दर्शन में कुछ ज्यादा सूक्ष्म कोटि के विद्रोहों को जन्म देती है।

प्रत्येक दशा में मनुष्य की विद्रोहात्मक माँगों का सम्बन्ध उसकी सृजनशील प्रकृति से होता है। जैसे ही मनुष्य को जीवन की श्रेष्ठतर संभावनाएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं, उसके लिए मौजूदा स्थिति से सन्तुष्ट रहना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार जब नया बोध एक अनुभव-क्षेत्र को नये ढंग से व्यवस्थित करने की सम्भावनाओं का उद्घाटन करता है, तो पुरानी विचार-पद्धतियों की साख कम होने लगती है, और उन्हें मानकर चलते रहना कठिन हो जाता है। विशेषतः प्रतिभाशालियों की मानसिक गठन ऐसी होती है कि वे निरन्तर जीवन तथा अनुभूति के ज्यादा सन्तोषजनक संस्थानों की परिकल्पना करते रहते हैं, और जब एक बार ऐसे संस्थान की परिकल्पना कर ली जाती है, तो यह केवल समय की बात रह जाती है कि कब उस संस्थान को दूसरे लोग ग्रहण अथवा स्वीकार करेंगे।

मार्क्सवादियों का विचार है कि विचारात्मक विद्रोह आवश्यक रूप में सामाजिक व्यवस्थाओं में होनेवाले परिवर्तनों से सम्बन्धित रहते हैं। किन्तु यह मन्तव्य निरपवाद रूप में सत्य नहीं है। उदाहरण के लिये सापेक्षवाद ने चिन्तन के क्षेत्र में जिस क्रान्ति को उत्पन्न किया है उसका तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक उथल-पुथल से कोई खास सम्बन्ध नहीं था। यही बात उन क्रान्तिकारी विचारात्मक परिवर्तनों के सम्बन्ध

में कही जा सकती हैं जो डार्विन तथा फ्रायड के प्रभावों से घटित हुए। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, मनुष्य केवल मात्र एक राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीव नहीं है; उसके जीवन में कुछ ऐसी क्रान्तियाँ भी होती हैं जिनका उसके वर्ग तथा समाज के लिये आवश्यक रूप में महत्व नहीं होता। कभी-कभी एक व्यक्ति के जीवन में अकस्मात् धार्मिक काया-पलट (Conversion) हो जाता है, और वह व्यक्ति एकाएक एक दुष्ट तथा पापी आदमी से धर्मात्मा बन जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन का उसकी सामाजिक-राजनैतिक मान्यताओं पर भी प्रभाव पड़े, यह आवश्यक नहीं है। हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य के संस्थाबद्ध व्यवहार (Institutional Behaviour) तथा उसकी सांस्कृतिक क्रियाओं में कोई सम्बन्ध ही नहीं होता, फिर भी, हमारे विचार में, ये दोनों पक्ष इतने भिन्न होते हैं कि एक को दूसरे का कार्य कहना समुचित नहीं होगा। किसी व्यक्ति की दार्शनिक अथवा कला-सम्बन्धी मान्यताएँ उसके विशेष पेशे अर्थात् जीविका अर्जित करने के ढंग से सम्बन्धित नहीं होतीं, ठीक वैसे ही जैसे आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद का उसके यहूदी अथवा जर्मन होने से कोई खास सम्बन्ध नहीं है। हमारे विचार में मनुष्य की दार्शनिक मान्यताएँ उन परंपरागत तथा समकालीन विचार-पद्धतियों से जिनसे वह परिचित है—और उन पद्धतियों का सम्बन्ध दर्शन से ही नहीं, भौतिक विज्ञानों तथा मानवीय विद्याओं से भी हो सकता है—प्रभावित होती हैं, उसकी इस स्थिति से नहीं कि वह मध्य अथवा अभिजात वर्ग का सदस्य है और अपनी जीविका एक खास ढंग से कमाता है। मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त कि संस्कृति आर्थिक सम्बन्धों पर निर्भर करती है, उन दार्शनिक तथा सांस्कृतिक मतभेदों की व्याख्या नहीं कर सकता जो एक ही वर्ग अथवा जाति के समकालीन विचारकों में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये हमारे देश में बहुत दिनों तक एक-सी ही सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों में विभिन्न दर्शन-पद्धतियाँ, हिन्दुओं तथा बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदाय, साथ-साथ विकसित होते रहे।

वस्तुतः प्रतिभाशाली में देखने तथा महसूस करने की शक्तियाँ इतनी विकसित होती हैं, और उसकी अतीत ज्ञानराशि एवं संस्कृतियों को ग्रहण करने की क्षमता इतनी अधिक होती है, कि वह सम्भवतः अपने को एक वर्ग की चेतना की परिधि में सीमित नहीं रख सकता। अक्सर प्रतिभाशाली अपने ही वर्ग की जरूरतों तथा मूल्यों के प्रति विद्रोह करता है। इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि अधिकांश प्रतिभाशाली या तो मध्यवर्ग के अथवा अभिजात वर्ग के हुए हैं। इसीलिए अधिकांश क्रान्तिकारी

विचार-पद्धतियों का सृजन उन्हीं वर्गों के अध्ययन के लिए होता रहा है। स्वयं प्रजातंत्र तथा समाजवाद के अधिकांश प्रचारक, जिनमें मार्क्स और लेनिन को भी गिना जा सकता है, मध्य अथवा अभिजात वर्ग के थे। निष्कर्ष यह है कि संस्कृति जहाँ तक प्रतिभाशालियों द्वारा निर्मित होती है, वहाँ तक वह किसी वर्ग की वस्तु नहीं मानी जा सकती। इसका मतलब यह हुआ कि अपने उन रूपों में भी जिनमें वह सामाजिक-राजनैतिक संस्थाओं को प्रभावित करती है, सांस्कृतिक चेतना आर्थिक वर्ग-सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होती हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। हम पूछते हैं कि जब विद्रोही लेखक स्वयं अपने वर्ग की जरूरतों अथवा व्यवहारों के प्रति विद्रोह करता है तो उसका उन वर्गों से कैसा सम्बन्ध होता है? मार्क्सवादी कहते हैं कि कभी-कभी एक व्यक्ति अपने वर्ग का परिवर्तन कर लेता है, जिसका मतलब है कि विद्रोही विचारक नेता अपनी आत्मीयता दलित वर्ग से स्थापित कर लेता है। लेकिन हम पूछते हैं कि क्यों वे विचारक और नेता अपनी वफादारी एक वर्ग से हटाकर दूसरे को दे देते हैं? इसका एकमात्र सम्भव तथा समुचित उत्तर यह है कि वे विचारक तथा नेता न्याय की भावना से इतने प्रभावित होते हैं कि वे स्वयं अपने वर्ग के सदस्यों का विरोध करने लगते हैं। किन्तु इस विरोध का यह मतलब नहीं होता कि वे अपने को शोषितों तथा दलितों के वर्ग से एकीकृत कर लेते हैं। यदि ऐसा हो तो अब उन्हें शेष समस्त विश्व का दुश्मन बन जाना पड़े। विरोध का वास्तविक कारण यह होता है कि वे मौजूदा व्यवस्था तथा सम्बन्धों को अन्यायपूर्ण समझते हैं, और उस श्रेष्ठतर व्यवस्था को सहानुभूति देते हैं जो नई परिस्थितियों द्वारा संभव बना दी गई हैं। ईसा, गांधी तथा स्वयं मार्क्स जैसे शिक्षक तथा विचारक जो दलितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं, उसका कारण कोई संकीर्ण वर्ग की भावना नहीं होती; उसका कारण सिर्फ यही होता है कि उन शिक्षकों तथा विचारकों में यह इच्छा रहती है कि इस पृथ्वी पर ऐसी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्थाएँ रहें जिनमें अधिकाधिक नर-नारी सुख तथा स्वतंत्रता का जीवन व्यतीत कर सकें। ऐसे शिक्षकों तथा विचारकों को, संपूर्ण अर्थ में, समस्त मानवता का हित-चिन्तक कहना चाहिए, न कि किसी वर्ग का हितैषी। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं तथा महत्वाकांक्षाओं से ऊपर उठकर ये शिक्षक तथा विचारक ऐसे मूल्यों को प्रचारित करना चाहते हैं जो वस्तुतः सार्वभौम हैं। उदाहरण के लिये मार्क्स के "पूँजी" ग्रंथ में एक अध्याय है जिसका शीर्षक है, "काम-काजी दिन"। इस अध्याय में यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार उस समय के श्रमिक बहुत ज्यादा घंटों तक अपने मालिकों के लिये काम करते थे, जिससे वे बेहद

थक जाते थे। यह अध्याय सभी पाठकों के मन में श्रमिकों के प्रति सहानुभूति जगाता है। उन पाठकों में पूँजीपति भी हो सकते हैं। ऐसे शिक्षकों तथा विचारकों की भावी समाज-सम्बन्धी कल्पनाएँ ऐतिहासिक महत्व प्राप्त कर लेती हैं, यह उन श्रम तथा श्रमिकों से सम्बन्ध रखनेवाले कानूनों से सिद्ध है जो, पूँजीवादी देशों में भी, मार्क्सवाद के प्रचार के बाद बनाये गये। तब से अब तक इंगलैण्ड आदि देशों में बने हुए कानूनों द्वारा श्रमिकों की दशा क्रमशः सुधरती ही गई है। इसका यह मतलब नहीं कि मार्क्सवाद के प्रचार के बाद पूँजीवादी मालिक स्वार्थहीन बन गये, अथवा उन्होंने अनैतिक व्यवहार बन्द कर दिया; मतलब यह है कि उन मालिकों को क्रमशः सर्व-साधारण की बदली हुई नैतिक भावना के अनुरूप बन जाना पड़ा है, उस भावना के जो राज्य के विधानों में क्रमशः अभिव्यक्ति पा रही थी।

प्रश्न है, प्रतिभाशाली का अपने समय तथा लोगों से क्या सम्बन्ध होता है? हमारे विचार में यह सम्बन्ध पारस्परिक प्रभाव रूप होता है। प्रतिभाशाली अपने युग को वैसे ही प्रभावित करता है, जैसे कि युग स्वयं उसको। यदि यह माना जाय कि प्रतिभाशाली समाज की गति का निर्धारण नहीं करता, तो यह कहना होगा कि प्रतिभा एक व्यर्थ वस्तु है। और यदि यह कहा जाय कि युग का प्रतिभाशाली के व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो यह अनुगत होगा कि प्रतिभा का अपने युग से कोई खास सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु यह निश्चित है कि प्रतिभा पर उसके युग का प्रभाव पड़ता है। जिस समय प्रतिभाशाली का प्रशिक्षण चलता है, उस समय उसके देखने तथा चिन्तन करने की शक्तियाँ, उसकी नैतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी संवेदनाएँ, युग तथा समाज की रुचियों द्वारा निर्धारित होती हैं। युग तथा जाति की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा में प्रविष्ट होते हुए ही प्रतिभाशाली शिक्षित बनता है। यह ठीक है कि दूसरों की अपेक्षा प्रतिभाशाली अपने लोगों तथा दूसरी जातियों की भी सांस्कृतिक परम्पराओं को अधिक आत्मसात् कर पाता है, किन्तु जब वह उन परम्पराओं की व्याख्या करता है, तो उस पर अनिवार्य रूप में अपने युग की जरूरतों तथा मूल्यों का प्रभाव पड़ता है।

स्वयं प्रतिभाशाली अपने युग को दो चीजें देता है। प्रथमतः वह उन मूल्यों तथा प्रतीतियों को जो उसके समाज की चेतना में ग्रथित हैं, स्पष्ट अभिव्यक्ति देता है; दूसरे, अपनी सृजनात्मक शक्तियों का उपयोग करते हुए वह अपने युग की अनुभूतियों, संवेदनाओं तथा क्रियाओं के नये, अधिक सन्तोषप्रद संस्थानों का संकेत करता है। जो प्रतिभाशाली जितना ही अधिक बड़ा होता है वह अपने युग की अनुभूतियों का उतना ही

अधिक विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण कर पाता है, और उसके द्वारा किये हुए समन्वय, पुनर्गठन अथवा नवीन संस्थानों के निर्माण उतने ही अधिक विशाल तथा लोगों की जीवन-दिशा को परिवर्तित करनेवाले होते हैं।

प्रतिभाशाली एक तीसरी चीज भी समाज को देता है; उसकी यह देन नैतिक होती है। जिन्हें हम रूढ़ियाँ तथा प्रथाएँ कहते हैं वे अक्सर मानवजाति की अग्रगति में बाधक हो जाती हैं। रूढ़ियाँ आदर करने योग्य परम्परा समझी जाती हैं, उनकी मान्यता के मूल में अक्सर दम्भ तथा प्रवंचन रहता है। अधिकांश लोग पुरानी रूढ़ियों के दबाव से कष्ट सहते हुए भी उनका परित्याग करना कठिन पाते हैं। किन्तु प्रतिभाशाली में इतनी शक्ति और साहस होता है कि वह रूढ़ियों की जड़ पर आघात करे, और सामाजिक व्यवहार के पीछे छिपे हुए दम्भ को प्रकट कर दे। ऐसा करते हुए प्रतिभाशाली व्यक्ति अनिवार्य रूप में समाज के रोष तथा लोगों की शत्रुता का भाजन बन जाता है। किन्तु फिर भी अन्त में वह यह दिखाने में समर्थ होता है कि मौजूदा व्यवस्था खोखली अथवा अनुचित है। कारण यह है कि प्रतिभाशाली की प्रतीतियाँ, भावनाएँ तथा आदर्श मानवीय आत्मा के सामान्य रूप की सृजनात्मक जरूरतों के ज्यादा निकट होते हैं। इसीलिये लोग उन्हें क्रमशः ग्रहण कर लेते हैं।

सामान्य मानवात्मा की जरूरतों को सृजनात्मक कहने से हमारा क्या तात्पर्य है? इस व्यंजना का मतलब इस बात पर गौरव देना है कि मनुष्य की जरूरतें एक स्थिर तथा निर्दिष्ट मात्रा नहीं है। जैसे-जैसे मनुष्य के भौतिक परिवेश तथा उत्पादन-तंत्रों में परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे उसके जीवन की सम्भावनाएँ, और साथ ही उसकी जरूरतें, बदल जाती हैं। उदाहरण के लिये एक ऐसे समाज में जिसका काफी उद्योगीकरण हो चुका है, श्रमिकों की माँग ज्यादा ऊँची होती है बनिस्बत उस देश के जहाँ उद्योग-धंधे नहीं, अथवा अविकसित अवस्था में हैं। मनुष्य की एक ही कोटि की रुचियाँ भी देश तथा काल के अनुसार बदलती रहती हैं। तो क्या यह कहना चाहिए कि मनुष्य की ज़रूरतें एक प्रकार की ऐतिहासिक आवश्यकता बन जाती हैं, जिन्हें पूरा करने-कराने के लिए ऐतिहासिक शक्तियाँ प्रतिभाशाली का बरबस आह्वान करती हैं? क्या यह मानना चाहिये कि इतिहास की आन्तरिक जरूरतें अनिवार्य रूप में कतिपय परिवर्तनों को उत्पन्न करती हैं? उक्त प्रश्नों के उत्तर, हमारी समझ में, नकारात्मक होने चाहिएँ, यद्यपि मार्क्सवाद की धारणा हमसे विपरीत है। "ऐतिहासिक आवश्यकता" जैसी व्यंजनाएँ रूपकात्मक हैं, वे वैज्ञानिक अर्थों की समुचित वाहक

नहीं हो सकतीं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी भी युग में मनुष्यों के प्रयत्न ऐसे विविध क्षेत्रों में अनुष्ठित होते हैं जहाँ अनेक सम्भावनाएँ वर्तमान रहती हैं। मनुष्यों की विभिन्न आवश्यकताएँ, उनकी विभिन्न जरूरतों के वर्ग एक-दूसरे से साध्य-साधन रूप में सम्बन्धित रहते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में कुछ जरूरतें ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती हैं और कुछ कम; फलतः विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य अपनी जरूरतों को विभिन्न ढंगों से पूरा करता रहता है। इसलिये जब प्रतिभाशाली एक नई व्यवस्था का स्वप्न हमारे सामने रखता है तो यह नहीं समझना चाहिए कि वह इतिहास के आनेवाले रूप का आभास भी देता है। ऐसा मानने से उस स्वप्न या प्रतीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता का लोप हो जायगा, अर्थात् उस विशेषता का जिसका सम्बन्ध सृजनशील प्रतिभा से है। जहाँतक प्रतिभाशाली सृजनशील होता है वहाँ तक वह इतिहास द्वारा निर्धारित नहीं होता, और जहाँ तक इतिहास प्रतिभाशालियों की सृजनशीलता द्वारा प्रभावित होता है वहाँ तक यह मानना चाहिए कि उसकी प्रगति निश्चित नियमों द्वारा बँधी हुई नहीं है। यदि ऐतिहासिक आवश्यकताएँ महापुरुषों को बुला सकतीं, तो दुनिया के किसी राष्ट्र में कभी अवनति न होती, और सब देशों का इतिहास एक ही वेग से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहता। किन्तु विभिन्न देशों की प्रगतियों का इतिहास यह सिद्ध करता है कि ऐतिहासिक प्रगति एक अनिवार्य चीज़ नहीं है। जहाँ कुछ देशों ने कुछ शताब्दियों तक लगातार उन्नति की है, वहाँ दूसरे देश उन शताब्दियों में, अथवा अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक जीवन में, बहुत कम उन्नति करते पाये जाते हैं। एक दूसरी बात भी है। महापुरुषों के उत्पन्न होने का अर्थ यह नहीं है कि कोई देश उन्नति करेगा ही। यह भी हो सकता है कि एक देश के निवासी महापुरुषों के बताये हुए रास्ते पर न चलें, और इस प्रकार उन्नति न कर सकें।

इतिहास की प्रगति में प्रतिभाशाली व्यक्ति जो पार्ट खेलता है उसकी तुलना शतरंज के खेल के एक द्रष्टा से की जा सकती है। वह द्रष्टा समय-समय पर निपुण सुझाव दे सकता है। किन्तु जिस खिलाड़ी को वह सुझाव देता है उसके लिये यह अनिवार्य नहीं है कि वह उस सुझाव को मानकर चले। खिलाड़ी द्रष्टा के सुझाव को तभी मानेगा जब उसे यह विश्वास होगा कि वह सुझाव उपयोगी है, और यह भी कि उस सुझाव को ग्रहण करके वह आगे साहस के साथ उसका निर्वाह करता चला जायगा। सामाजिक तथा राजनैतिक विचारक जिन आदर्श व्यवस्थाओं की कल्पना करते हैं वे कुछ ऐसे ही सुझावों के समान होती हैं। किसी देश के निवासी उन व्यवस्थाओं को यथार्थ रूप में

उतारने के लिये अग्रसर होते हैं या नहीं, यह उन निवासियों की प्रकृति तथा साहस-शीलता पर उतना ही निर्भर करेगा जितना कि प्रकल्पित व्यवस्थाओं की योग्यता पर।

ऊपर की विचारणाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य तथ्य भी हैं जो इतिहास की दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक व्याख्याओं के दावेदारों के विरुद्ध पड़ते हैं। इतिहास के व्याख्याताओं ने यह दिखाने की कोशिश की है कि इतिहास की प्रगति अखंड नियमों के अनुसार होती हैं, लेकिन इतिहास की सब घटनाओं में वैसे नियम प्रतिफलित होते नहीं दीखते। जब हूणों ने योरप को आक्रांत किया और तैमूर लंग ने भारतवर्ष पर हमला किया, तो उनके द्वारा जो विनाश हुए उन्हें इतिहास की व्याख्या में कहाँ स्थान दिया जा सकता है? इसी प्रकार कहा जाता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में रोमन साम्राज्य में एक बीमारी ऐसे भयंकर रूप में फैल गई कि उसने रोमन साम्राज्य को ध्वस्तप्राय कर दिया और हेन वंश के चीनी राज्य को तो समाप्त ही कर दिया। हम पूछते हैं कि क्या ये घटनाएँ ऐतिहासिक नियमों के अनुसार घटित हुई? दुनिया में बहुत-से समाज हैं; उन ऐतिहासिक समाजों का विकास प्रायः भिन्न-भिन्न ढंग से हुआ है। समाजों के विकास की भिन्न दिशाएँ इस मन्तव्य का कि इतिहास की व्याख्या हो सकती है, खण्डन करती हैं। ट्वायनबी की गणना के अनुसार इस धरती पर लगभग छः सौ पचास ऐसे समाज हैं जो अभी तक सभ्यता की प्रारंभिक अवस्था में चले आते हैं, और जिन पर ऐतिहासिक विकास के किन्हीं नियमों को लागू नहीं किया जा सकता। दूसरे कुछ समाज हैं जिन्होंने कुछ दिनों तक उन्नति की, और बाद में उन्नति करना बन्द कर दिया, अथवा नष्ट हो गये। उक्त इतिहासकार के अनुसार केवल पाँच ऐसी जातियाँ या समाज हैं जो पिछले डेढ़ हजार वर्ष से लगातार अस्तित्ववान् रहे हैं। उन पाँच के नाम हैं: पश्चिमी (प्रोटेस्टेण्ट) ईसाई समाज, गतानुगतिक ईसाई समाज, इसलामी दुनिया, हिन्दू समाज तथा सुदूर पूर्व के समाज। किन्तु इन समाजों में से किन्हीं दो ने भी ऐतिहासिक विकास के एक ही क्रम का अनुगमन नहीं किया है। यदि हम अन्ध देशभक्ति के इस सिद्धान्त को न मान लें कि कुछ जातियाँ ईश्वर को विशेष प्रिय होती हैं, तो यह समझना मुश्किल हो जाता है कि विभिन्न देशों में विभिन्न जातियाँ इतिहास के बँधे हुए नियमों का अनुगमन करती हुई इस प्रकार एक-दूसरे से भिन्न कैसे बन गई, और उनकी उपलब्धियाँ इतनी भिन्न क्यों हैं।

इतिहास की व्याख्येयता की यह संक्षिप्त समीक्षा हमने इसलिये की है कि पाठक इस मान्यता को न स्वीकार कर लें कि मनुष्य आवश्यक रूप में उच्चतर भूमिकाओं की

ओर अग्रसर हो रहा है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य का एक निश्चित लक्ष्य है, अथवा मानव-जीवन का एक चरम उन्नत रूप है, जिसकी ओर विभिन्न जातियाँ या समाज अनवरत बढ़ते जा रहे हैं। हम मानते हैं कि इस प्रकार के किसी चरम लक्ष्य की कल्पना करना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

निष्कर्ष यह कि इतिहास किसी निश्चित, पूर्व-निर्धारित ढर्रें पर नहीं चला जा रहा है, और उसके आगे आनेवाले रूपों का पूर्ण अनुमान अभी नहीं किया जा सकता। यह निष्कर्ष एशिया आदि देशों के लोगों को, जो परम्परावादिता की लम्बी और गहरी नींद से हाल ही में जग रहे हैं, उत्साहवर्द्धक होना चाहिए; वह उस योरप के लोगों को भी, जिसके पतन की भविष्यवाणी डेनीलेप्स्की, स्पेंगलर श्यूबार्ट तथा वार्द्याएव जैसे विचारकों ने की है, अच्छा लगना चाहिए। वस्तुतः मनुष्य के लिखित इतिहास की अवधि और विस्तार इतना छोटा है कि उसके आधार पर हम जातियों तथा संस्कृतियों के भविष्य के सम्बन्ध में लम्बे-चौड़े सामान्य कथन नहीं कर सकते। इस सन्दर्भ में यह बात लक्षित करने की है कि क्रेबर नामक विद्वान् ने विभिन्न देशों तथा जातियों के अतीत इतिहास की परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला है कि एक ही जाति के इतिहास में सृजनात्मक अथवा सांस्कृतिक प्रगति के युगों की कई आवृत्तियाँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिये क्रेबर का विचार है कि हमारे देश के सांस्कृतिक इतिहास में कम से कम दो बार ऐसे युग आये जब संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में तेजी से प्रगति हुई। कुछ देशों में प्रगति के दो से अधिक युग भी आये हैं। निष्कर्ष यह कि स्पेंगलर जैसे विद्वानों का यह कहना कि एक संस्कृति पैदा होकर बढ़ती हुई अनिवार्य रूप में मृत हो जाती है, विश्वसनीय सत्य नहीं है।

एक प्रगतिशील व्यक्ति, समाज या जाति क्रमशः उस स्थिति की ओर अग्रसर होती है जो प्रतिभाशाली के जीवन में पायी जाती है। कुछ लोगों का विचार है कि जिन्हें हम प्रतिभाशाली कहते हैं वे प्रायः सनकी, असंतुलित तथा असामान्य होते हैं, कि वे भावुक तथा स्वप्नदर्शी होते हैं, जिनकी कल्पनाओं का यथार्थ से लगाव नहीं होता। उत्तर में निवेदन है कि यह वर्णन सब प्रकार के प्रतिभाशालियों पर लागू नहीं है। उदाहरण के लिये नेपोलियन जैसे सेनानी तथा बिस्मार्क जैसे राजनीतिज्ञ इस कोटि में नहीं आते। न यह वर्णन दुनिया के बड़े विचारकों तथा वैज्ञानिकों पर, जैसे न्यूटन तथा आइनस्टाइन, अरस्तू और डेकार्ट, लाइबनिज और कान्ट, वर्गसां, बर्ट्रान्ड रसेल आदि पर ही लागू होता है। सम्भवतः यह वर्णन कुछ हद तक कलाकारों तथा साहित्यिक

प्रतिभाओं के लिये, जिनकी प्रकृति बड़ी संवेदनशील होती है, सही समझा जा सकता है। पूछा जा सकता है कि इस प्रकार की प्रकृतियों अथवा पुरुषों को सांस्कृतिक प्रगति का आदर्श कैसे कथित किया जा सकता है ?

हमारा विश्वास है कि ऊपर की आपत्तियाँ गलतफहमी तथा भ्रांति पर आधारित हैं। जब हम कहते हैं कि प्रतिभाशाली मानवीय उन्नति का आदर्श होते हैं, तो हमारा मतलब यह नहीं है कि हमें उनकी कमजोरियों का अनुकरण करना चाहिए। हम उनका अनुकरण उन्हीं चीजों में करें जो उनके व्यक्तित्वों को शक्तिमान बनाती हैं। समस्त कलाकार तथा साहित्यिक असंतुलित प्रकृति के होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। रस्किन ने संकेतित किया है कि बड़े कलाकार अपनी रचनाओं में नितान्त वस्तुनिष्ठ एवं संतुलित होते हैं, और वे बाह्य वस्तुओं पर अपनी भावनाओं का आरोप नहीं करते फिरते। यह ठीक है कि कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति, जिनमें कलाकारों की भी गणना है, असंतुलित तथा अव्यावहारिक दिखाई पड़ते हैं। किन्तु इसका कारण यह है कि प्रतिभावान् व्यक्ति रूढ़ियों तथा परम्पराओं का उतना आदर नहीं करते, और जनमत की परवाह किये बिना, अपनी सच्ची भावनाओं को साहसपूर्ण ढंग से प्रकट करते हैं। हमारा विश्वास है कि इस प्रकार के साहस तथा सच्चाई का आकलन सांस्कृतिक प्रगति के लिये आवश्यक चीज है।

मनुष्य बिना किसी खतरे के प्रतिभाशालियों के कतिपय गुणों का अनुसरण कर सकते हैं, जैसे उनका सत्य के प्रति आग्रह, उनकी यह प्रवृत्ति कि वे यथार्थ के अधिकाधिक विस्तार से सम्पर्क स्थापित कर लें, उनकी नूतनताओं का सृजन करने की प्रवृत्ति, उनकी न्याय-भावना, और दलितों के प्रति ममता तथा करुणा का भाव। प्रतिभाशाली अपने छोटे, व्यक्तिगत हानि-लाभ की विशेष चिन्ता नहीं करता, वह प्रायः उस चीज में रुचि लेता है जिसका सार्वभौम एवं स्थायी महत्व है। इसका मतलब यह नहीं कि हमें अपने साधारण जीवन के दैनिक कर्तव्यों की अवहेलना करनी चाहिए। मतलब यह है कि हम अपने छोटे-छोटे कामों तथा कर्तव्यों को करते हुए भी केवल व्यक्तिगत हानि-लाभ का विचार न करें, बल्कि यह बात ध्यान में रखें कि हम उन कामों का अनुष्ठान समाज की रक्षा तथा हित के लिये कर रहे हैं।

इलियट ने कहा है कि वह व्यक्ति जो संस्कृति को आगे बढ़ाता है, आवश्यक रूप में सुसंस्कृत व्यक्ति नहीं होता, दो कारणों से। प्रथमतः ऐसा व्यक्ति एक संकीर्ण

क्षेत्र का विशेषज्ञ हो सकता है, और दूसरे, उस व्यक्ति में शिष्टता की कमी हो सकती है। इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि एक कलाकार भी तब तक अपने क्षेत्र में बहुत ऊँची उपलब्धियाँ नहीं कर सकता जब तक उसका ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों से अच्छा परिचय न हो। दुनिया के प्रायः सभी लेखक और कवि जैसे शेली और वर्ड्स्वर्थ, शेक्सपियर और दान्ते, कालिदास और तुलसीदास, बहुश्रुत एवं व्यापक रुचियों वाले हुए हैं। हो सकता है कि कतिपय संगीत-विशारदों तथा चित्रकारों में व्यापक रुचि एवं बौद्धिक श्रेष्ठता का अभाव रहा हो, क्योंकि इन कलाओं का विषय विशुद्ध रूप में इन्द्रिय-ग्राह्य होता है; किन्तु इस प्रकार की प्रतिभाओं का मनुष्यों के जीवन पर, शायद, उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि पिछली कोटि के लेखकों का, जिसका मतलब यह है कि उनकी सांस्कृतिक देन कवियों तथा लेखकों के समकक्ष नहीं होती। जहाँ तक इलियट की दूसरी विचारणा का सम्बन्ध है, जिसके कारण उन्होंने प्रतिभाशाली को असंस्कृत कहा है, हमारा कहना है कि किसी प्रतिभाशाली की संस्कृति तथा उसकी सांस्कृतिक देन का मूल्यांकन केवल उस जाति या समाज की दृष्टि से नहीं किया जा सकता जिसका वह सदस्य है; उसका मूल्यांकन समस्त मानव-जाति की दृष्टि से होना चाहिए। प्रतिभाशाली स्वभावतः अपने समाज की कृत्रिमताओं के विरुद्ध विद्रोह करता है। उसकी कामना होती है कि वह मनुष्यों को कृत्रिम व्यवहारों तथा शिष्टता के प्रकारों से मुक्त करके उन्हें अधिक स्वाभाविक ढंग से जीने तथा महसूस करने की प्रेरणा दे।

सारांश रूप में हमारा मन्तव्य इस प्रकार है। किसी व्यक्ति तथा समाज की प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि वह क्रमशः देखने तथा महसूस करने के उन ढंगों का अतिक्रमण करें जिनका सम्बन्ध विशिष्ट व्यक्ति अथवा समाज से है, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण मानवजाति के दृष्टिकोण को अपना ले। विभिन्न जातियाँ जिस हद तक प्रगति करती हैं, उस हद तक वे सार्वभौम मनुष्य के दृष्टिकोण की ओर अग्रसर होती हैं। इस प्रकार अग्रसर होती हुई जातियों का नेतृत्व प्रतिभाशाली व्यक्ति करते हैं। हम यह नहीं कह रहे हैं कि प्रतिभाशालियों के विचार तथा आवेग अपनी जाति अथवा समाज से एकदम असम्बंधित होते हैं। किन्तु हम यह कहना चाहते हैं कि प्रतिभाशाली लोग प्रायः विद्रोही होते हैं, और अपने व्यवहार में वे जिन-जिन चीजों में विद्रोह करते हैं, उन-उन चीजों में वे अपने समाजों को क्रमशः सार्वभौम मनुष्य के दृष्टिकोण की ओर ले जाते हैं। प्रतिभाशालियों की अधिकांश शक्ति उन विचारों तथा

रूढ़ियों के विरोध में खर्च हो जाती है जो एकदेशी अथवा संकीर्ण दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं।

हीगल और मार्क्स का यह मन्तव्य कि इतिहास को आगे बढ़ानेवाली शक्ति निषेध या विरोध है, कुछ ऐसे ही सत्य को प्रकट करता है। प्रतिभाशाली लोग जितने ज़ोरशोर से पुरानी मान्यताओं का विरोध करते हैं, उसकी तुलना में उनकी नये सत्यों की खोज अपेक्षाकृत कम महत्व की होती है। बाद की पीढ़ियाँ ही यह निश्चित कर सकती है कि उन्होंने सत्यों का जो रूप स्थिर किया, वह कहाँ तक ग्राह्य तथा उपयोगी है।

मार्क्सवाद के विरोध में हम यह मानते हैं कि संस्कृति एक मानवीय चीज है, केवल एक वर्ग की चीज़ नहीं। इसका मतलब यह हुआ कि विभिन्न मनुष्यों के सांस्कृतिक विभाग उनके वर्ग-विभाग के समरूप नहीं होते, यद्यपि यह ठीक है कि विभिन्न वर्गों के बालक समान अवसर न पाने के कारण विभिन्न कोटियों की संस्कृति तथा सभ्यता का विकास कर लेते हैं। शिक्षा आदि की सुविधाएँ प्राप्त होते ही वे वर्ग जो अब तक पिछड़े हुए थे, अपने शासक वर्गों की संस्कृति को स्वभावतः आत्मसात् कर सकते हैं। वस्तुतः एक वर्ग या देश की संस्कृति दूसरे देश तथा वर्ग की संस्कृति की विरोधिनी न होते हुए उसकी पूरक होती है। यदि संस्कृति का अर्थ कल्पना-मूलक सामान्य चेतना या बोध समझा जाय, तो कहना होगा कि विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ एक-दूसरे से सम्पर्कित होकर पारस्परिक समृद्धि का ही कारण होंगी। यही कारण है कि विभिन्न देशों के उपन्यास, जिनमें विभिन्न वर्गों तथा जातियों के जीवन-विवरण रहते हैं, लेखकों से भिन्न देशों तथा जातियों के सदस्यों द्वारा भी आन्दपूर्वक पढ़े जाते हैं।

विभिन्न समाजों तथा जातियों की उन्नति का अर्थ यह है कि वे क्रमशः उन सिद्धांतों, मान्यताओं तथा व्यवहारोंके बदले जो संकीर्ण परम्परासे प्राप्त हुए हैं,उन मन्तव्यों तथा आदर्शों को ग्रहण कर लें जिन्हें सारी मानवजाति स्वीकार कर सकती है। विभिन्न समाज तथा व्यक्ति अपने विचारों तथा व्यवहारों में दो प्रकार से परिवर्तन करते हैं, सृजनशील प्रतिभाओं के प्रभाव से, अथवा दूसरी जातियों तथा समाजों के सम्पर्क से। मनुष्य स्वभावतः सत्य को स्वीकार करना चाहता है, वह यह भी चाहता है कि उसका दूसरे मनुष्यों से अधिकाधिक तादात्म्य हो। एक ओर वह अपने विश्वासों तथा विचारों के लिये सार्वभौम प्रामाणिकता चाहता है, और दूसरी ओर वह अनियम तथा

खामखयालीपन को बचाकर चलना चाहता है। मनुष्य इस प्रकार की चिन्ता करता है, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि वह अपने अन्वेषण के तरीकों एवं अपनी आस्थाओं के आधारों की लगातार परीक्षा करता रहता है। मनुष्य की यह आलोचनात्मक प्रवृत्ति वह शक्ति है जो लगातार सब जातियों को एक-दूसरे के निकट लाती रही है, और उनमें सांस्कृतिक ऐक्य उत्पन्न करती रही है। धीरे-धीरे व्यक्ति अपने पक्षपातों तथा शंकाओं के ऊपर उठकर सामाजिक सत्यों को ग्रहण करता है, और धीरे-धीरे विभिन्न जातियाँ दलगत आदर्शों की सीमाओं से उठकर सम्पूर्ण मानवजाति के दृष्टिकोण को अपनाने की ओर अग्रसर होती हैं। जो बात विभिन्न जातियों अथवा समाजों के सम्बन्ध में सही है, वही विभिन्न वर्गों के भी। सांस्कृतिक क्रिया के क्षेत्र में मानवजाति की उन्नति का अर्थ यह होगा कि वह क्रमशः एकवर्गता की दशा की ओर तथा एक समाज की स्थिति की ओर, अग्रसर हो। इस वर्ग या समाज के सदस्य उन आदर्श कलाकारों तथा विचारकों के समरूप होंगे जिनकी सांस्कृतिक सृष्टियाँ संपूर्ण मानवजाति को आनन्द देती हैं।

हमारे इस मन्तव्य का कि प्रगतिशील जातियाँ तथा समाज प्रतिभाशाली की स्थिति की ओर बढ़ते हैं, ट्वाइनबी ने, सभ्यताओं की उत्पत्ति तथा प्रगति का विश्लेषण करते हुए, बढ़िया समर्थन किया है। सभ्यताओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनका कहना है कि:

'आदिम समाजों तथा सभ्य समाजों में एक और अन्तर उनकी अनुकरण-पद्धति की दिशा से सम्बन्धित होता है...आदिम समाजों में प्रायः पुरानी पीढ़ियों तथा मृत पूर्वजों का अनुकरण किया जाता है...जब कि उन समाजों में जो सभ्यता की ओर बढ़ रहे हैं, अनुकरण की क्रिया उन व्यक्तियों तथा नेताओं पर संसक्त रहती है जो सृजनशील हैं। ऐसे समाजों में, जैसा कि वाल्टर वेजहाट ने कहा है, रूढ़ि की जमी हुई तह खंडित हो जाती है, और समाज परिवर्तन तथा प्रगति के पथ पर गतिशील होने लगता है।'

उक्त लेखक के मत में सभ्यताओं का जन्म ही नहीं, उनकी प्रगति भी, सृजनशील व्यक्तित्वों के निर्देशों की स्वीकृति से होती है। हैनरी वर्गसां ने प्रतिपादित किया है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति, कम-से-कम नैतिक तथा धार्मिक शिक्षक, अपने वर्ग अथवा जाति के प्रवक्ता नहीं होते, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के प्रवक्ता होते हैं। उनके सम्बन्ध

में बर्गसां का कहना है : 'कुछ ऐसी प्रतिष्ठित आत्माएँ उत्पन्न हुई हैं जिन्होंने यह समझा कि उनका सम्बन्ध समस्त मानवात्माओं से है। अपने वर्ग की सीमित एकता के दायरे में न रहकर —उस दायरे के जो स्वयं प्रकृति ने स्थापित किया है—उन आत्माओं ने, अपने प्रेम के अतिरेक में, समस्त मानवता का आह्वान किया है।'[३८]

संशयवादियों तथा सापेक्षवादियों का यह कहना कि समस्त सत्य तथा आदर्श आपेक्षिक होते हैं, एक अत्युक्ति है। हमें दो प्रकार की सापेक्षता में भेद करना चाहिये, एक सत्य तथा आदर्श विशेष वर्ग के अनुभव तथा हितों का सापेक्ष होता है, जब कि दूसरे सत्यों तथा आदर्शों की सापेक्षता सम्पूर्ण मानवता की अनुभूति तथा जरूरतों से सम्बन्ध रखती है। कोई भी संशयवादी इस दूसरी कोटि की सापेक्षता का अतिक्रमण नहीं कर सकता, और कोई भी व्यक्ति ऐसे सत्य की उपलब्धि नहीं कर सकता जो अतिमानवीय है। जिन्हें हम तर्कशास्त्र के नियम कहते हैं, और जो सम्पूर्ण मानव-चिन्तन का आधार होते हैं, वे अन्तिम विश्लेषण में मानव-व्यवहार के नियम ही हैं। ये नियम प्रतीकों में अभिव्यक्ति पानेवाले सम्बन्धों को व्यवस्थित करने में प्रतिफलित होते हैं। यह उचित ही है कि उन नियमों को हम मानव-चिन्तन के सार्वभौम तथा प्रामाणिक नियम मानते हैं।

ऊपर की विचारणाओं का सारांश इस प्रकार है। संस्कृति की व्याख्या मूल्य-रूप में करते हुए उसे उन क्रियाओं का समुदाय मानना चाहिए जो हमारे अस्तित्व की रक्षा के लिये जरूरी न होते हुए हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध बनानेवाली हैं; मनुष्य के व्यक्तित्व की यह समृद्धि मुख्यत: उसके चेतना-मूलक विस्तार द्वारा घटित होती है, अर्थात् उन क्रियाओं द्वारा जिनसे मनुष्य यथार्थ की सार्वभौम रूप में अर्थवती छबियों से सम्बन्ध स्थापित करता है, और उनके प्रति उपयुक्त मनोभाव बनाता है। संस्कृति ही मानव-प्रगति का एकमात्र उपकरण है,और इस प्रगति का माप भी संस्कृति ही है। संस्कृति वह चीज़ है जिसे मनुष्य स्वयं उसके लिये उपलब्ध करना चाहता है। वास्तव में संस्कृति उच्च तथा समृद्ध जीवन का पर्याय है, उस जीवन का जो सृष्टि के प्राणियों में केवल मनुष्य को ही उपलब्ध हो सकता है, और जिसका सम्बन्ध मनुष्य की विशिष्ट शक्तियों तथा विशेषताओं से है। सांस्कृतिक जीवन तात्विक रूप में उच्च मानवीय जीवन होता है; वह जीवन ऐसा भी है जिसका सब मनुष्य उपभोग कर सकें। एक गहरे अर्थ में सांस्कृतिक जीवन मानवता का सामान्य या सामाजिक जीवन है। सांस्कृतिक जीवन ऐतिहासिक होता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि उस जीवन का

उपभोग तथा प्रसार, व्यक्ति तथा जाति दोनों में, एक जीवनव्यापी क्रिया होती है। व्यक्ति की एक जिन्दगी होती है जिसे वह अकेले जीता है और जिसका उसकी मृत्यु के साथ अन्त हो जाता है। इस जीवन की प्रक्रियाएँ प्राणि-शास्त्र तथा इन्द्रिय-विज्ञान का विषय हैं। इसके विपरीत उसके बोधात्मक तथा आवेगात्मक जीवन की कुछ ऐसी प्रतीतियाँ हैं जो दूसरी चेतनाओं के सम्पर्क द्वारा प्रज्ज्वलित होती हैं, और जिन्हें वह दूसरों में संक्रान्त कर देना चाहता है। इस प्रकार के जीवन-क्षणों को मनुष्य ने अपने साहित्य, इतिहास-ग्रंथों, जीवनियों तथा वैज्ञानिक और दार्शनिक चिंतन-पद्धतियों में अमर कर दिया है। इस प्रकार के जीवन-क्षणों में मनुष्य वास्तविकता के किसी अर्थवान् क्षेत्र के सम्मख उपस्थित होता है। वास्तविकता की ये अर्थवती छबियाँ प्रायः वे कल्पित सम्बन्ध होते हैं जिन्हें मनुष्य अपनी चेतना तथा वस्तु-जगत की किसी स्थिति के बीच, अथवा अपने तथा दूसरी चेतनाओं के बीच, स्थापित करता है। हमें याद रखना चाहिए कि जिसे मानव-व्यक्तित्व कहते हैं वह इसी प्रकार के सम्बन्धों द्वारा निर्मित चेतना-केन्द्र या चेतना-संस्थान होता है। संस्कृति उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा विभिन्न चेतना-केन्द्रों से सम्बन्धित सृजनात्मक जीवन के अर्थपूर्ण क्षण, जो अतीत और वर्तमान में फैले हुए हैं, प्रत्यक्ष एवं आत्मसात् किये जाते हैं। संस्कृति उस क्रिया-समूह का नाम है जिसके द्वारा विभिन्न व्यक्ति मानवजाति के सृजनात्मक जीवन में भाग लेते और उसे समृद्ध करते हैं।

कोई भी व्यक्ति, जाति या युग अपने अकेलेपन में मानवीय अस्तित्व की उन असंख्य सम्भावनाओं का साक्षात्कार नहीं कर सकता जो कि मानव चेतना तथा वास्तविकता के बीच स्थापित होने वाले असंख्य भौतिक तथा आध्यात्मिक, यथार्थ तथा कल्पित, सम्बन्धों द्वारा निरूपित होती है। प्रत्येक युग तथा जाति की कुछ अपनी समस्याएँ होती हैं, उसकी अपनी रुचियाँ होती हैं, और अपने विशिष्ट उपकरण होते हैं। इन कारणों से प्रत्येक युग और जाति वास्तविकता के विभिन्न अर्थवान रूपों का अन्वेषण तथा उद्घाटन करती है, और उनसे अपने ढंग से सम्बन्ध स्थापित करती है। इन सम्बन्ध-संस्थानों में से कुछ ऐसे होते हैं जो सम्पूर्ण मानवजाति के लिये प्रामाणिक जान पड़ते हैं, और उसके द्वारा स्वीकृत किये जा सकते हैं। ये सम्बन्ध भाषाबद्ध रूप में आगे आने वाली पीढ़ियों को प्राप्त होते हैं और परम्परा अथवा विरासत कहलाते हैं। जो सम्बन्ध-संस्थान

जितना ही अधिक सार्वभौम होता है, बाद की पीढ़ियाँ उसे उतना ही अधिक महत्व देती हैं। अपनी न्यूनाधिक सार्वभौमता के अनुपात से वे संस्थान एक जाति या समाज, अथवा अनेक समाजों, अथवा सम्पूर्ण मानवजाति के लिये महत्वपूर्ण धरोहर बन जाते हैं। इन विचारणाओं से हम "क्लासिक्स" की उचित परिभाषा पा सकते हैं। "क्लासिक" वह बोधगम्य अभिलेख है जो आज भी, यदि पूर्णतया नहीं तो अंशतः, उस जीवन-स्पन्दन को हमारे भीतर जगा सकता है जो उसकी प्रेरणा के मूल में था। कोई "क्लासिक" कितना सत्य है, तथा महत्वपूर्ण है, यह जानने के लिये देखना चाहिए कि वह देश तथा काल में कितने अधिक संस्कृत मनुष्यों को प्रभावित करता है।

क्लासिकी संस्कृति का सम्पर्क मनुष्यों को दो प्रकार से प्रभावित करता है। प्रथमतः वह उनमें जीवन तथा यथार्थ के उन रूपों अथवा पक्षों की सबल अनुभूति जगाता है जिनकी ओर आज उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इस प्रक्रिया द्वारा प्राचीन साहित्य सीधे हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध करता है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य की शिक्षा, हमारे व्यक्तित्व का प्रसार करती हुई, प्राचीन उपलब्धियों को सुरक्षित रखती है। दूसरे, उस शिक्षा द्वारा हम इस योग्य बन जाते हैं कि कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र तथा बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्रों में आगे चिन्तनात्मक प्रगति कर सकें। मानवजाति के इतिहास में होने वाली सांस्कृतिक प्रगति मुख्यतः प्रतीकात्मक लेखों अथवा ग्रंथों के रूप में ही सुरक्षित रहती है। मानव शरीर में होने वाले परिवर्तन मनुष्य की बीजावस्था (Germ-Plasm) को प्रभावित करके आगे आने वाली पीढ़ियों तक स्वतः पहुँच जाते हैं, किन्तु उसके आत्मिक परिवर्तन इस प्रकार स्वतः संक्रात नहीं होते। बलिष्ठ व्यक्ति का बच्चा शारीरिक दृष्टि से बलवान हो सकता है, किन्तु एक कलाकार तथा विचारक की संतति स्वयं ही कला-सृजन अथवा चिन्तन-शक्ति से सम्पन्न नहीं हो जाती। वस्तुतः मनुष्य की आत्मिक उपलब्धियाँ शिक्षा द्वारा ही आगे की पीढ़ियों को मिलती हैं; मनुष्य के आत्मिक विकास का उपकरण शिक्षा ही है। किन्तु हमारे आत्मिक विकास का लक्ष्य मुख्यतः जीवन का संरक्षण नहीं, अपितु उसकी समृद्धि और प्रसार है। अपनी दैनिक आवश्यकताओं से ऊपर उठते ही मनुष्य इस प्रकार की समृद्धि और प्रसार के लिये आकुल होने लगता है, जिसके फलस्वरूप उसके सांस्कृतिक विकास का सूत्रपात होता है। इस विकास का इतिहास ही मानव-इतिहास का महत्वपूर्ण पक्ष है।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. दे० ई० टाईलर, प्रिमिटिव कल्चर, भाग १ (जान मरे, लन्दन, चतुर्थ संस्करण, १९०३), पृ० १।

२. एन्साइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज़, भाग ४, पृ० ६२१।

३. हुमायूँ कबीर, आवर हैरिटेज, (द नेशनल इन्फार्मेशन ऐन्ड पब्लिकेशन्स लि०, बम्बई, दूसरा मुद्रण, १९४७), पृ० ६।

४. दे० मैकाइवर, सोशल काज़ेशन, अध्याय १०; और आर० एम० मैकाइवर और सी० आर० पेज, सोसायटी: ऐन इण्ट्रोडक्टरी एनेलिसिस, (मैकमिलन, १९४९), पृ० ४९८ तथा आगे।

५. एम्० जे० हर्सकोविट्स, मैन ऐन्ड हिज वर्क्स, (अल्फ्रेड ए० नाफ, १९४९), पृ० १७।

६. आर्नल्ड जे० ट्वाइनबी, ए स्टडी ऑव् हिस्टरी, डी० सी० सामरवेल कृत संक्षेप, (ज्याफरे कम्बरलेज, लन्दन, तीसरा मुद्रण १९४९), पृ० १९६।

७. वही, पृ० १९५।

८. श्री पी० ए० सारोकिन द्वारा "सोशल फिलासफीज़ आव् ऐन एज आफ क्राइसिस," (एडेम एन्ड चार्ल्स ब्लैक, लन्दन, १९५२), पृ० ७७-७८ पर उद्धृत।

९. टाइलर, वही, पृ० १।

१०. दे० ए० एल् क्रेबर, एन्थ्रापालॉजी, नया संस्करण, (जार्ज जी० हैरेप ऐन्ड कं० लि०, लन्दन, १९४८), पृ० २५२।

११. वही, पृ० २५२।

१२. हर्सकोविट्स, वही, पृ० ६२५।

१३. एन्साइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज, पृ० ६२१।

१४. क्रेबर, वही, पृ० ११।

१५. वही, पृ० १५।

१६. रूथ बेनिडिक्ट, पैटर्न्स आव कल्चर, (मैण्टर बुक्स, द न्यू अमेरिकन लायब्रेरी, १९४८), पृ० १।

१७. वही, पृ० २।

१८. टी० एस० इलियट, नोट्स टुवर्ड द डेफिनिशन आफ़ कल्चर, (फेबर और फेबर, लन्दन, १९४८), पृ० २१।

१९. वही पृ०, २२।

२०. वही, पृ० ४४।

२१. जे० आर्टीगा वाई० गैसेट, द रिवोल्ट आव् द मासेज़, (मैण्टर बुक्स, १९५१), पृ० ५२।

२२. कन्वरशेसन्स आव् गेटे विद एकरमान, (एवरीमैन, १९४६), पृ० ९०।

२३. वही, पृ० ८९।

२४. गैसेट, वही पृ० ७९।

२५. कार्ल मार्क्स, क्रिट्रीक आफ् पोलिटिकल इकानामी की प्रस्तावना।

२६. दे० एन्साइक्लोपीडिया आव् द सोशल सायन्सेज़, सिडनी हुक का निबन्ध, मैटीरिएलिज्म, पृ० २१७ पर उद्धृत।

२७. दे० द काम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो, (सिलेक्टेड वर्क्स आफ कार्ल मार्क्स, मास्को, १९४६), पृ० ११६।

२८. सिडनी हुक द्वारा उद्धृत, वही, पृ० २१७।

२९. मैकाइवर, सोसायटी, ऐन इन्ट्रोडक्टरी एनेलिसिस, (मैकमिलन, १९४९), पृ० ४९८।

३०. गुनार लिन्टमैन, दी ओरिजिन आफ दी इन्इक्वालिटी आव् द सोशल क्लासेज, (कीगन पाल, लन्दन, १९३८), पृ० ७०।

३१. वही, पृ० २३३।

३२. वही, पृ० ८६, ८८।

३३. दे० एच्० आई० ब्लैकहैम, सिक्स एग्ज़िस्टेंशिएलिस्ट थिंकर्स, (रतलेज एन्ड कीगन पाल लि०, लन्दन, १९५१), पृ० १२।

३४. लिमिटेशन्स आफ् सायन्स, भूमिका।

३५. मैकाइवर, सोसायटी, पृ० ५०१।

३६. इमर्सन कहते हैं: 'अपने विचार में विश्वास या आस्था रखना, यह विश्वास करना कि जो तुम्हारे निजी हृदय के लिये सत्य है वह सब मनुष्यों के लिये सत्य है—यही प्रतिभा है।' दे० आत्म-निर्भरता या "सेल्फ़ रिलाएन्स" पर निबन्ध।

३७. दे० एन्साइक्लोपीडिया ऑव् द सोशल सायन्सेज़, "लिट्रेचर" पर निबन्ध, पृ० ५२५।

३८. ट्वाइनकी द्वारा उद्धृत, दे० वही, पृ० २१२।

———

अध्याय ५

कला की प्रकृति

पिछले अध्याय में हमने संस्कृति के जिन तत्वों को विविक्त किया है उन सब के निदर्शन कला में बड़ी सरलता से मिल जाते हैं। यहाँ हम मुख्यतः साहित्य नामक कला का ही विवेचन करेंगे, जो कि कलात्मक वृत्ति की उच्चतम, कम-से-कम सब से समृद्ध, अभिव्यक्ति है। दूसरी कलाओं का उल्लेख विरल ही रहेगा।

जिसे हम जीवन कहते हैं वह बाह्य वास्तविकता तथा प्राणधारी के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का नाम है। सब प्रकार का जीवन एक परिवेश में फलता-फूलता है, और उससे ही जीवनी-शक्ति के उपादानों को ग्रहण करता है। सम्भवतः स्वप्न अथवा विक्षेप की अवस्था को छोड़कर मनुष्य लगातार बाह्य यथार्थ की सापेक्षता में जीता है। कोई क्रिया जितनी ही अर्थवती होती है उसका उतने ही अधिक जटिल यथार्थ से, फिर चाहे वह यथार्थ भीतरी हो अथवा बाहरी, आत्मगत हो या वस्तुगत, सम्बन्ध होता है। कला-सृष्टि तथा कला में रस लेने की क्रिया इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है।

हम यह कहना चाहते हैं कि कोई भी कला यथार्थ के प्रति संकेत से मुक्त नहीं होती। जिस कर्म या व्यापार का यथार्थ से सम्बन्ध नहीं है, उसे महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण व्यापार का लक्ष्य या तो यथार्थ का उद्घाटन होता है, अथवा यथार्थ का पुनः संगठन। जिसे हम कला कहते हैं उसमें इन दोनो व्यापारों का समावेश हो जाता है। कला यथार्थ का निर्माण भी करती है, और उसका उद्घाटन भी।

हमारी उपरोक्त स्थापना के सबसे बड़े विरोधी तर्क-मूलक भाववादी हैं, और वे साहित्यिक संप्रदाय भी जो उनके सिद्धान्त से प्रेरणा लेते हैं। वस्तुतः उक्त स्थापना

की सत्यता से इनकार आज के युग में प्रायः एक फैशन बन गया है और वह अस्वीकृति एक कट्टर मान्यता का रूप ले चुकी है। कहा जाता है कि कला प्रेषण है, किन्तु यह समझा जाता है कि कला के माध्यम से प्रेषित अनुभूति का कोई विषय नहीं होता। आज के साहित्य-मीमांसक इस विचित्र सिद्धान्त को मानते हैं कि कला अनुभूति का प्रेषण तो करती है, किन्तु वह किसी विषय-वस्तु या यथार्थ को उद्घाटित नहीं करती।

कला के सत्य तथा यथार्थोद्घाटन के सिद्धान्तों का हवाला देते हुए डॉ० रिचर्ड्स ने लिखा है कि 'उन सिद्धान्तों की सबसे बड़ी कठिनाई यह इंगित करना रहा है कि आखिर वे क्या चीजें हैं जिनका उद्घाटन कला में होता है।'[१] उनके अनुसार काव्यगत वाक्य मात्र भाषा के आवेगात्मक प्रयोग होते हैं, उनका काम वस्तु-सत्ता का संकेत करना नहीं होता। 'शब्दों का प्रयोग दो तरह से किया जा सकता है, वस्तुगत सत्ताओं के संकेत के लिए, अथवा उन मनोभावों तथा आवेगों के जागृत करने के लिए जो बाद में उठते हैं। शब्दों के अनेक क्रम या संस्थान, बीच में कोई वस्तु-संकेत दिये बिना, मनोभाव उकसाते हैं। वे सांगीतिक ध्वनि-समूहों की भाँति व्यापृत होते हैं। सामान्यतः वस्तु-सत्ताओं के संकेत मनोभावों के विकास के हेतु, या उन तक पहुँचने के सोपान, बन कर आते हैं; फिर भी वस्तु-सत्ताओं के संकेत नहीं, मनोभाव ही महत्व रखते हैं।'[२]

उक्त मत से यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु-सत्तायें स्वयं काव्यात्मक नहीं होतीं, जैसा कि मैथ्यू आर्नल्ड तथा वर्ड्सवर्थ, कालरिज आदि रोमान्टिक कवि, तथा उनके पहले के एडिसन जैसे लेखक, समझते तथा मानते थे।[३]

यहाँ कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं: काव्य में भाषा का प्रयोग भाव-दशाओं और आवेगों को उत्पन्न करने के लिए होता है, वस्तु-सत्ताओं का संकेत देने के लिए नहीं, इस वक्तव्य की सचाई की परीक्षा कैसे की जाय? हम निवेदन करें कि इस वक्तव्य की उस सिद्धान्त के अनुरूप परीक्षा नहीं की जा सकती जिसे तर्क-मूलक भाववादियों ने प्रतिपादित किया है। ज्यादा-से-ज्यादा उक्त वक्तव्य यह दावा कर सकता है कि वह कलात्मक तथा साहित्यिक सृष्टि में सन्निहित अभिप्रायों की सही व्याख्या देता है। किन्तु इस दृष्टि से उक्त वक्तव्य न तो सत्य ही जान पड़ता है, न समीचीन; क्योंकि वस्तु-सत्ताओं से नितान्त जुदा आवेगों और भाव-दशाओं की कल्पना नहीं की जा सकती। जब शेक्सपियर क्लिओपेट्रा के वर्णन में संलग्न होता है तो उसका उद्देश्य केवल यही नहीं होता कि वह पाठकों के मन में कतिपय आवेगों अथवा मनोभावों को जगा दे; उसका असली उद्देश्य होता है उन आवेगों अथवा मनोभावों को क्लियोपेट्रा के

व्यक्तित्व पर संसिक्त कर देना। हम समझते हैं कि कथा-साहित्य तथा दूसरे प्रबन्धरूप साहित्य में यह बात स्पष्ट रूप में प्रतिभासित रहती है। "एनाकेरीनिना" में टॉल्स्टॉय का उद्देश्य केवल, या प्राथमिक रूप से भी, किन्हीं कल्पित भाव-दशाओं को उत्पन्न करना नहीं है। वह वहाँ ऐसे व्यक्तित्वों या पात्रों को प्रस्तुत करना चाहते हैं जो अनुचिन्तन और मूल्यांकन के विषय बन सकें। वास्तव में टॉल्स्टॉय जैसे सफल यथार्थ-द्रष्टा लेखक अपने पात्रों की असंख्यों मुद्राएँ चित्रित करते जाते हैं। वे भंगिमाएँ किन भावनाओं या आवेगों को जागृत करेंगी, इसकी सचेत अवगति शायद उन्हें कभी नहीं होती। वस्तुतः भावनाओं तथा आवेगों का परिपूर्ण अंकन तब तक नहीं हो सकता जब तक उन्हें वास्तविक सत्ताओं से सम्बद्ध करके उपस्थित न किया जाय।

उक्त मान्यता की पुष्टि टी० एस० इलियट के सुपरिचित वस्तु-रूप-सम्बन्धी (Objective Correlative) के मन्तव्य से होती है। इस मन्तव्य का मतलब यही है कि तथाकथित मनोदशाओं अथवा भावदशाओं का शुद्ध, निरालम्बन रूप में प्रेषण संभव नहीं। यही बात भारतीय रसवाद को भी मान्य है, जिसके अनुसार इस परिपाक के लिये विभावों आदि का विधान आवश्यक है। श्री डी० जे० जेम्स का मत है कि 'काव्य का उद्देश्य कभी भी आवेग उत्पन्न करना नहीं होता, इसके विपरीत उसका उद्देश्य कल्पनात्मक प्रत्यय या स्थितियाँ प्रेषित करना ही होता है।'[४] हर्बर्ट रीड भी इसी से मिलता-जुलता विचार रखते हैं; उनके अनुसार 'कला रमणीय वस्तु-रूपों के सृजन का प्रयत्न होती है।'[५] लगभग ऐसी ही बात अरस्तू ने भी कही है, 'कवि का उद्देश्य जो घटित हुआ है उसका चित्रण करना नहीं, बल्कि ऐसी संभावनाओं को अभिव्यक्ति देना होता है जो घटित हो सकती है।'[६]

वस्तुतः काव्य के बारे में यह कहना कि वह शब्दों का आवेगात्मक प्रयोगमात्र है, वैसा ही है जैसा रसायनशास्त्र को शब्दों के रासायनिक प्रयोग तथा कूटनीति को शब्दों के कूट प्रयोग से समीकृत करना। यदि रिचर्ड्स का यह सिद्धान्त सही हो कि कविता में वस्तु सत्ता का किसी प्रकार का बोध, अथवा उसके प्रति कोई संकेत, नहीं होता तो कतिपय विचित्र निष्कर्ष अनुगत होंगे। एक निष्कर्ष यह होगा कि कवि या कलाकार को, वैसा होने के नाते, न आँखों की जरूरत है, न कानों की, क्योंकि न उसे प्राकृतिक जगत का निरीक्षण करना है, न मानव जगत का। उस दशा में अपने युग के असंख्य बौद्धिक, नैतिक तथा सामाजिक राजनैतिक प्रश्नों के प्रति उदासीन होते हुए भी एक कवि या लेखक महान बन सकेगा। साथ ही वह अपने युग के विभिन्न

संघर्षों तथा आस्थाओं को भी दूसरों तक नहीं पहुँचा सकेगा। यदि काव्य में वस्तु-सत्ताओं के संकेत नहीं रहते तो कवि को हम एक या दूसरे युग का प्रतिनिधि भी नहीं कह सकते। वस्तुतः डा० रिचर्ड्स का काव्य-सिद्धान्त समाजशास्त्रीय आलोचना के महत्व का एकदम ही निषेध कर देता है।

रिचर्ड्स का सिद्धान्त इस परिस्थिति की कोई भी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता कि विभिन्न युगों में विभिन्न कोटियों के काव्य क्यों लिखे जाते हैं, और पुरानी शैलियों की पुनरावृत्ति क्यों नहीं पसन्द की जाती। इसके उत्तर में एक संभावित तर्क यह हो सकता है कि विभिन्न युगों के अपने आवेग तथा मनोभाव होते हैं, जिन्हें उन युगों के कलाकारों द्वारा अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए। पर यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं है। यदि साहित्यगत आवेग तथा मनोभाव केवल आत्मगत चीजें हैं, और उनका वस्तु-सत्ताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो यह समझ में नहीं आता कि विभिन्न युगों में वे इतने अधिक बदल क्यों जाते हैं। अभी तक किसी ने गम्भीरतापूर्वक यह स्थापना नहीं रखी है कि शेक्सपियर से टॉल्स्टॉय और कालिदास से रवीन्द्र तक आते-आते मानव-प्रकृति में कोई बड़ा अन्तर पड़ गया। ऐसी दशा में यदि उक्त लेखकों की कृतियाँ एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होती हैं तो उसका कारण यही हो सकता है कि उनमें निबद्ध मानव-प्रकृति अपने को नितान्त भिन्न परिस्थितियों में प्रकट कर रही है। यदि कला का उद्देश्य केवल आत्मगत आवेगों तथा मनोभावों को प्रकट करना ही होता तो विभिन्न कलाकारों की कृतियाँ, अधिकांश में, एक-दूसरे की पुनरावृत्ति-रूप ही बन जातीं।

वस्तुतः कलाकार का लक्ष्य केवल आत्मगत आवेगों आदि को अभिव्यक्त करना नहीं होता, केवल बाहरी स्थितियों का चित्रण भी उसका उद्देश्य नहीं होता। वह वस्तुतः जीवन या जीवनानुभूति के विशिष्ट क्षणों को अभिव्यक्ति देना चाहता है; ये क्षण उस क्रिया-प्रतिक्रिया को प्रकट करते हैं जो अपनी विशेषताओं से सम्पन्न द्रष्टा या विषयी और विशिष्ट बाह्य स्थिति के बीच घटित होती हैं। अपनी सृष्टि द्वारा कलाकार हमें अपनी जीवन-प्रक्रिया में साझेदार बनने का निमंत्रण देता है। कला का असली उद्देश्य उक्त कोटि के नये जीवन-क्षणों को प्रतीकबद्ध रूप में प्रस्तुत करके मानवीय अस्तित्व को समृद्ध करना होता है।

हम यहाँ फिर अपनी बात को दुहराते हैं: कलाकार केवल निरालंबन मनोभावों और आवेगों को नहीं, वरन् ऐसे मनोभावों और आवेगों को व्यक्त करता है जो न्यूना-

धिक निर्दिष्ट वस्तु-सत्ताओं द्वारा निरूपित होते हैं। वस्तुतः इन संवेदनाओं की अनुभूति या अभिव्यक्ति वस्तुगत सत्ताओं से सम्बद्ध किये बिना संभव ही नहीं। गेटे का कथन है: 'मेरी सभी कविताएँ वास्तविक जीवन से प्रेरित हुई हैं, जिनके नीचे पक्की नींव है, मैं उन रचनाओं को महत्व नहीं देता जो हवा (हवाई कल्पना) से आक्षिप्त कर ली जाती हैं।'[७] डा० सी० ई० एम० जोड ने ह्रास का लक्षण संवेदनाओं का वस्तु-सत्ताओं से असम्बद्ध होना बताया है, जो डॉ० रिचर्ड्स जैसे आधुनिक विचारकों का सही मूल्यांकन है।'[८] ह्रास के इस विशेष लक्षण को जोड ने ही नहीं, गेटे ने भी स्वीकार किया है: 'पतन या ध्वंस के काल में सभी युग अन्तर्मुखी हो जाते हैं। दूसरी ओर प्रत्येक प्रगतिशील युग वस्तून्मुख होता है...स्वस्थ प्रयास अन्दर से बाहर की ओर निर्देशित रहता है।'[९] विषय-वस्तु के प्रति उदासीनता का विरोध करते हुए गेटे ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि, 'यदि विषय-वस्तु उपयुक्त न चुनी जाय, तो श्रेष्ठ प्रतिभा भी निष्फल हो जाती है।'[१०]

कला जैसी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया का वस्तु-सत्ता से असंबद्ध मान लिया जाना सचमुच ही आश्चर्य का विषय है। यदि काव्य की विषय-वस्तु के रूप में कुछ भी चुना जा सकता—यदि काव्यात्मक विषय-वस्तु जैसी कोई चीज होती ही नहीं—तो कवियों के लिये यह सम्भव होना चाहिए कि वे, **बिना किन्हीं मानवीय अनुभूतियों का आरोप किये,** स्टीम इञ्जिन पर वैसा ही महान महाकाव्य लिख दें जैसा कि वाल्मीकि ने राम के जीवन पर, या अश्वघोष ने बुद्ध के जीवन पर लिखा है।

तो, वह क्या है जिसे कला अभिव्यक्ति देती है? उत्तर है: कला जीवन और विश्व के उन पक्षों को अभिव्यक्ति देती है जिनका मानव-जाति के लिये आवेगात्मक मूल्य है। इन पक्षों को मोटे तौर पर सौन्दर्य तथा नैतिकता-सम्बन्धी मूल्यों के रूप में समझा जा सकता है। कला की विषय-वस्तु का यह वर्गीकरण स्थूल रूप में ही सही है। वस्तुतः यह सम्भव नहीं दीखता कि उस अनुभूति के प्रेरक- वस्तु-रूपों और उनकी विशेषताओं का पूर्ण वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाय। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध प्रयत्न भारतीय रसवाद में निहित है, जहाँ विविध विषय-रूपों तथा उनसे सम्बद्ध मनोभावों एवं आवेगों का विशद विवेचन किया गया है। किन्तु वह विवेचन पूर्ण है, इसमें सन्देह किया जा सकता है। यहाँ हम एक ही महत्वपूर्ण काव्य-कोटि का संकेत करें जो रसवादी व्याख्या के ढाँचे में समावेशित नहीं होती—तथा-कथित दार्शनिक या दर्शनानुप्राणित कविता, जैसी अंग्रेजी कवि डन ने लिखी है।

ऊपर हम देख चुके हैं कि कथात्मक काव्य तथा कथा-साहित्य में वस्तु-परक संकेत रहते हैं। क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि गीति-काव्य में उक्त विशेषता नहीं होती ? हर्बर्ट रीड का मत है कि 'गीत मूलतः एक प्रेक्षण या प्रतीति (Vision) होता है।'[११] अन्यत्र वह कहते हैं: 'कविताएँ केवल संवेदना-मूलक नहीं होतीं, वे अनुभूतियाँ होती हैं।'[१२] उनके मत में सब प्रकार की कला का उद्भव साक्षात् बोध (Intuition) या प्रतीति (Vision) में होता है जिसे ज्ञान से समीकृत करना चाहिए।'[१३] पाठकों को यह विचार अतिवादी लग सकता है, विशेषतः गीत-काव्य को लेकर, क्योंकि शुद्ध गीत काव्य का किसी वस्तु-सत्ता या बाह्य स्थिति से स्पष्ट सम्बन्ध प्रायः नहीं होता। यह ठीक है। फिर भी सचाई यह है कि गीतकार हमारे सामने कोई-न-कोई विषय उपस्थित करता ही है, यद्यपि प्रायः यह विषय या तो एक मनोभाव (जिसमें बोधात्मक तथा आवेगात्मक तत्व मिले रहते हैं) होता है, या एक व्यक्तित्व जिसमें सरल या जटिल, एक या एक से अधिक मनोभाव वर्तमान रहते हैं। गीत-काव्य और कथा-मूलक काव्य में एक और अन्तर भी होता है जिसे उनके क्रमिक प्रभावों की संबद्धता में प्रकट किया जा सकता है: गीत को पढ़ते हुए हम उसमें निबद्ध मनोभाव से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, इसके विपरीत जब हम एक उपन्यास या नाटक पढ़ते हैं तो तादात्म्य-स्थापन की क्रिया गौण हो जाती है, और प्रस्तुत किये हुए चरित्रों तथा घटनाओं का अनुचिन्तन प्रधान हो जाता है। गीत लिखते समय कवि का ध्यान मुख्यतः उन परिवर्तनों पर होता है जो स्वयं उसके भीतर घटित हो रहे हैं। पाठक इन परिवर्तनों का अनुचिन्तन करता है और उनसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। प्रायः वह बाहरी परिस्थिति, जो इन परिवर्तनों का कारण होती है, जैसे प्रेमिका का आकर्षण और उसकी निर्दयता, अथवा युग का दम्भ और श्रद्धाहीनता, अनभिव्यक्त पृष्ठभूमि के रूप में वर्तमान रहती है, जिसका वर्णन अपेक्षित नहीं होता, केवल संकेतमात्र पर्याप्त हो जाता है। इसके विपरीत गीतकार कवि यह कोशिश करता है कि अपने आत्म में घटित होने वाले सूक्ष्म-जटिल परिवर्तनों को ठीक-ठीक प्रकट कर दे। इस प्रकार की अभिव्यक्ति देने के लिये शब्दों को उतनी ही सावधानी और निर्वैयक्तिक तटस्थता से प्रयुक्त करना होता है जितना कि बाह्य वस्तुओं के वर्णनात्मक चित्रण में।

जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जब, क्लेश या नैराश्य की स्थिति में, व्यक्ति क्षणभर को अपनी मनोदशा का एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में आलोचन करता

है; दूसरे ही क्षण में वह फिर जीवन के भोक्ता की स्थिति में लौट आता है। भोक्ता और द्रष्टा की स्थितियों का यह द्रुत परिवर्तन गीत-काव्य की सृष्टि की विशेषता है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में होनेवाला यह संक्रमण इतनी शीघ्रता से घटित होता है कि उन क्षणों में कवि का अस्तित्व और अस्तित्व-बोध एकात्मक हो जाते हैं। एक ओर तो कवि विशेष भावनाओं तथा आवेगों का भोक्ता होता है, और दूसरी ओर वह अपने को वैसे भोक्ता के रूप में देखता है। इसी अनुभव की आवृत्ति पाठकों में भी होती है। कथात्मक साहित्य में ज्ञाता और भोक्ता का यह तादात्म्य कभी उतना पूर्ण नहीं होता; वहाँ लेखक और पाठक दोनों प्रस्तुत किये हुए पात्रों के चरित्रों तथा क्रियाओं को थोड़ी-बहुत तटस्थता के साथ देखते रहते हैं।

वे विषय या वस्तु-पक्ष जो हम में सौन्दर्य-संवेदना जगाते हैं, अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे ध्वनियों के समूह संगीत में, रेखाकृतियाँ तथा अन्य आकार सरल चित्रांकन में; जटिल कर्मों, मनोभावों अथवा विचारों के संगठन, इत्यादि। यहाँ यह बात भी लक्षित करने की है कि मनुष्य केवल उसी वस्तु के प्रति आवेगात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता जो उसकी इन्द्रियों के सामने वर्तमान होती है, बल्कि उन वस्तु-संगठनों के प्रति भी जो उसकी कल्पना द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। यह स्थिति कला-सृष्टि के सृजात्मक तत्व की ओर संकेत करती है जिस पर अब हमें विचार करना चाहिए। इससे सम्बद्ध ही यह समस्या है कि कला का जीवन के यथार्थ से क्या सम्बन्ध होता है, अर्थात् कला कहाँ तक जीवन के सत्य को प्रकट करती है।

कला की सीधीसादी परिभाषा इस प्रकार होगी : कला आवेगात्मक अनुभूति की सम्भावनाओं की चेतना और उपभोग है, अथवा उन क्रियाओं को समाज-ग्राह्य प्रतीकों में प्रकट करने का प्रयत्न है। समस्त महत्वपूर्ण कला का मूल यथार्थ में होता है। वैज्ञानिक की भाँति कलाकार भी उपलब्ध अनुभव-राशि में से प्रत्याहरण और चयन करता है, और फिर प्रत्याहृत या चुने हुए तत्वों को सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करता है। अनुभव-तत्वों के सम्बन्धन या संग्रथन की यह क्रिया मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक सम्भावनाओं के नियमों का अनुसरण करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे विज्ञान में विभिन्न तथ्यों या तथ्य-बोधों का सम्बन्धन कार्य-कारण नियमों अथवा गणित के नियमों के अनुसार घटित होता है। दोनो क्षेत्रों में अन्तर यह होता है कि जहाँ प्रकृति के व्यापार एक ही दिशा में निर्धारित होते हैं, वहाँ मानवीय व्यापार प्रायः अनेक दिशाओं में प्रवाहित हो सकते हैं। एक दी हुई परिस्थिति में मानवीय कल्पना प्रायः ऐसी अनेक संभव

प्रतिक्रियाओं की भावना कर लेती है जो विभिन्न कोटियों की सफलताओं को उत्पन्न करेंगी। किन्तु वास्तविक जीवन में हम, वैसे अवसरों पर, अनेक प्रतिक्रियाएँ न करके एक ही दिशा में कार्य करते हैं। कला में जीवन की अनेक संभव प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित और उपभुक्त होती हैं, जिनमें कलासेवी या पाठक भी साझेदार बन जाते हैं। वस्तुतः एक शिक्षित व्यक्ति के जीवन में जीन की क्रिया को कल्पना से अलग नहीं किया जा सकता। शिक्षित व्यक्ति, प्रायः किसी स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करते हुए, उसे लम्बे चौड़े अनुपस्थित यथार्थ का अंग बना लेता है, और उस यथार्थ की सम्बद्धता में ही वर्तमान स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करता है। जब कोई व्यक्ति प्रेम-पत्र लिखने बैठता है, तो उसके आनन्द का प्रमुख कारण उसकी कल्पना होती है। इसी प्रकार जब मानव प्रेमी और प्रेमिका प्रेम-क्रीड़ा में प्रवृत्त होते हैं, तो उनके आनन्द का कारण केवल वर्तमान संवेदन ही नहीं होते; उन संवेदनों के साथ असंख्य स्मृतियाँ तथा कल्पना-संचित मूल्य भी गुंथे रहते हैं।

वैज्ञानिक लोग इस बात से सहमत जान पड़ते हैं कि भौतिक जगत की प्रकृति को नियमों या सिद्धान्त-सूत्रों की एक संबद्ध पद्धति द्वारा प्रकट किया जा सकता है। किन्तु मानवीय अनुभूतियों की ऐसी कोई संबद्ध पद्धति नहीं है जो मानव-प्रकृति को पूर्ण अभिव्यक्ति दे सके। मनुष्य समूहों में रहते हैं और समूह, देश या जाति के विश्वासों आदि अर्थात् "संस्कृति" से प्रभावित हो कर एक-दूसरे के समान बन जाते हैं; फिर भी उनमें भेद बने रहते हैं, और उनके जीवन तथा कर्म भिन्न-भिन्न संस्थानों में संगठित होते रहते हैं। कला जीवन की इस विविधता को, विविधता के उन रूपों को जिनका आवेगात्मक महत्व है, संबद्ध रूप में प्रकाशित करती है।

जहाँ यह ठीक है कि तरह-तरह की ध्वनियाँ और रूप रंग, असंख्य संगठनों में, हमारी सौन्दर्य-मूलक प्रतिक्रिया का विषय होते हैं, वहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि उक्त संवेदना का प्रमुख विषय स्वयं मनुष्य है, वे मनुष्य जिनमें प्रेम और घृणा, क्रोध और ईर्ष्या, कुटिलता और दम्भ तथा वीरता, दया और आत्मत्याग की अनगिनत विशेषताएँ पायी जाती हैं। यह कहना गलत नहीं है कि कला मनुष्य की उन आवेगात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करती है जिन्हें वह चारों ओर के परिवेश की अपेक्षा में अनुष्ठित करता है, किन्तु ज्यादा सही यह कथन होगा कि कला मानवीय चेतना को उस विश्व की सम्बद्धता में अभिव्यक्ति देती है जिसका प्रमुख भाग स्वयं मनुष्यों द्वारा निर्मित होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता

है कि कला उतनी ही मनुष्य की आत्म-चेतना की वाहक होती है जितनी कि उसकी विश्व-चेतना की; कला आत्म-बोध और जगद्बोध दोनों ही है। एक सचेत जीवन क्षण को प्रस्तुत करती हुई कला उस क्षण को स्वयं हमारे जीवन-स्पंदन का भाग बना देती है, और इस प्रकार हमारी सचेत अनुभूति के प्रसार या समृद्धि का कारण बन जाती है।

गीत में एक मनोज्ञ, सूक्ष्म-संवेदना-सम्पन्न व्यक्ति के, जीवन-क्षण का आकलन रहता है। उसमें एक अपेक्षाकृत सरल परिस्थिति के प्रति सीधी-सी प्रतिक्रिया निबद्ध रहती है। सर्वत्र सरलता से मतलब होता है, जटिल सम्बन्धों का अभाव। गीत में एक निर्दिष्ट विषय या परिस्थिति, अथवा उसके एक पहलू, के प्रति एक स्पष्ट मनोभाव का अंकन किया जाता है। गीत में परिस्थिति और द्रष्टा दोनो पक्षों के विरोधी तत्त्वों का आकलन नहीं रहता, यदि कभी रहता भी है तो इस ढंग से कि उसके द्वारा एक ही मनोभाव की पुष्टि हो। अंग्रेजी कवि डन की गीतियों में इसके अनेक उदाहरण मिल सकेंगे।

गीत में किसी व्यक्ति के एक सार्थक जीवन-क्षण की अभिव्यक्ति रहती है। इसके विपरीत एक महाकाव्य, नाटक या उपन्यास का लक्ष्य किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के समग्र जीवन, अथवा जीवन के एक बड़े भाग का प्रकाशन होता है। गीत में एक ऐसे जीवन-क्षण को पकड़ने का प्रयास होता है जो, अपनी तीव्रता के कारण, व्यक्ति को अनन्त महत्व से मण्डित दिखाई देता है; वहाँ बाह्य यथार्थ को एक अकेली वृत्ति या मनोभाव की अपेक्षा में देखा जाता है। इसके विपरीत कथा-मूलक साहित्य में तरह-तरह के पात्रों और उनके कर्मों को चित्रित किया जाता है। इन पात्रों के जीवन में बाहरी तथा भीतरी दोनो प्रकार के द्वन्द्व पाये जाते हैं। कथा-मूलक साहित्य में हम विभिन्न पात्रों के विरोधी प्रयोजनों का संघर्ष पाते हैं। वैसे साहित्य में दो प्रकार का मूल्यांकन रहता है; विभिन्न पात्र विभिन्न लक्ष्यों और प्रयोजनों को महत्वपूर्ण मानते हुए मूल्यांकन और संघर्ष करते हैं, और लेखक उन प्रयोजनों तथा लक्ष्यों में से कुछ को अपनी सहानुभूति देता है। जिन्हें हम यथार्थवादी लेखक कहते हैं वे इस दूसरी कोटि के मूल्यांकन को बचा कर चलना चाहते हैं। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वैसा बचाव पूर्णतया संभव है। बड़े-से-बड़े सन्देहवादी के लिये यह सम्भव नहीं कि वह अपनी विभिन्न विरोधी प्रवृत्तियों को समान रूप में सन्तुष्ट करे। उसे विवश होकर अपनी प्रवृत्तियों में से चुनाव करना पड़ता है, उसका चित्रण करने

वाले लेखक को भी यह संकेत करना ही पड़ेगा कि वह किन प्रवृत्तियों के सन्तोषण को कितना महत्व देता है।

विभिन्न पात्रों की सृष्टि द्वारा कथा-मूलक साहित्यकार विभिन्न उपभुक्त प्रवृत्तियों के संस्थानों (Patterns of Lived Impulses) की सृष्टि करता है, इन संस्थानों में से कुछ को वह ज्यादा महत्व देता है, और कुछ को कम; इस प्रकार वह अपने पाठकों को यह प्रच्छन्न संकेत दे देता है कि वे जीवन के किन आदर्शों को सार्थक एवं महत्वपूर्ण समझें। यदि लेखक विचारक भी है, तो वह उन सामान्य सिद्धान्तों का संकेत भी कर सकेगा जो उन जीवनादर्शों का आधार हैं।

हमारा यह अन्तिम वक्तव्य क्रोचे तथा उनके अनुयायियों को ग्राह्य नहीं होगा। क्रोचे ने, जैसा कि हम जानते हैं, अनुभवात्मक बोध तथा बौद्धिक ज्ञान में, प्रत्यक्ष प्रतीति और धारणा में, कला और दर्शन में तीक्ष्ण भेद निरूपित किया है। क्रोचे के मत में कला का उपादान अनुभवात्मक, प्रत्यक्ष मूलक प्रतीतियाँ होती हैं, जो विशेषों (Particulars) के निरूपण में अभिव्यक्ति पाती हैं; इसके विपरीत धारणात्मक ज्ञान का विषय सामान्य होता है। उदाहरण के लिये एक झील या नदी विशेषात्मक प्रतीति है, जब कि जल एक सामान्य धारणा है।[१४] क्रोचे के सिद्धान्त का आधार यह वस्तुस्थिति है कि कलाकार प्रायः अपनी अनुभूति को विभिन्न चित्रों की भाषा में प्रकट करते हैं। किन्तु क्रोचे का सिद्धान्त सदोष और भ्रामक है। कला-सृष्टि में जिन चित्रों का विधान किया जाता है वे एक-दूसरे से सम्बन्धित भी होते हैं, ये सम्बन्ध विशेष रूप न होकर सामान्य रूप होते हैं। चित्रकार और कवि केवल झील का, उसे शेष विश्व से विच्छिन्न करके, चित्रण नहीं करते; उनके चित्रण का विषय वह झील होती है जो स्वयं उनकी, अथवा किसी दूसरे की, संवेदना में खास ढंग से प्रतिफलित होती है। कला में विशेष का चित्रण सदैव एक या दूसरे व्यक्ति की रुचियों का सापेक्ष होता है। फिर भी यदि कलात्मक अनुभूति सर्व-ग्राह्य होती है, तो उसका कारण यह है कि वे रुचियाँ मानव-संवेदना के सामान्य-रूपों से संबद्ध होती हैं। इसलिये वे पद या धारणाएँ जिनके माध्यम से विशेष का चित्रण किया जाता है, स्वयं सामान्य-रूप (Universals) होती हैं; प्रत्येक विशेषण एक सामान्य या जाति का बोधक होता है। साथ ही यह भी सही है कि एक ही विशेषण या संज्ञा शब्द विभिन्न मस्तिष्कों में विभिन्न चित्र उत्थित करता है। इन चित्रों में जो तत्व समान होता है वह है उनका अर्थ, यह अर्थ भी विशेष न होकर सामान्य रूप होता है। कला की प्रकृति को समझने

में क्रोचे ने जो भूल की है, उसका कारण यह है कि वे धारणा (Concept) नाम की वस्तु को बड़े संकीर्ण अर्थ में लेते हैं। समस्त धारणाएँ विशेषों के प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त सामान्य रूप को ही प्रकट नहीं करतीं, कुछ धारणाएँ अनुभूति-तत्वों के कल्पना-मूलक विस्तार तथा पुनर्ग्रंथन द्वारा भी प्राप्त होती हैं। और मनुष्य केवल अनुभव द्वारा उपस्थापित विशेषों के प्रति ही रागात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता, वह वैसी प्रतिक्रिया उन संभावनाओं तथा आदर्शों के प्रति भी करता है जो उसकी धारणात्मक या प्रत्ययात्मक कल्पना (Conceptual Imagination) द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। जब इज़रा पाउण्ड कहते हैं :

इन सब तरुण महिलाओं में से किसी ने
विश्व के कारण का अन्वेषण नहीं किया

तो इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वह हमारा चित्रों या विशेष की प्रतीति (Intuition) द्वारा मनोरंजन करना चाहते हैं। उक्त पंक्तियाँ उतना हमारी ऐन्द्रिय कल्पना का स्पर्श नहीं करतीं, जितना कि बुद्धि का, और उनमें निश्चित ही बौद्धिक कोटि का रस या आकर्षण है। जिस जीवनानुभूति का प्रेषण या प्रकाशन कला करती है उसका विशेष धर्म इन्द्रिय-ग्राह्य होना नहीं है, उसकी विशेषता है आवेगात्मक-बोध-रूप होना।

उक्त विवेचन के आलोक में कला के आस्वादन और मूल्यांकन-सम्बन्धी कई प्रश्नों का समुचित उत्तर दिया जा सकता है। हम किसी कला-कृति में रस क्यों लेते हैं, इसका उत्तर यह होगा कि उसके द्वारा हमारी जीवन-संवेदनाओं को समृद्धि और प्रसार मिलता है। हम अपनी जीवन-चेतना को उन कृतियों द्वारा उपस्थापित जीवन की नई संभावनाओं में विस्तृत कर लेते हैं। प्रसादात्मक और दुःखात्मक दोनो ही प्रकार की कृतियाँ इस विशेषता से सम्पन्न होती है। यदि हम कभी-कभी दुःखान्त कृतियों में अधिक रुचि लेते हैं तो इसका कारण यह है कि वे हमारे कल्पनात्मक जीवन को ज्यादा जटिल ढंगों से स्पंदित करती हैं।[१५]

परिपक्व अभिरुचि और परिष्कृत संवेदनशीलता से सम्पन्न व्यक्ति जिस कला-कृति की विषय-वस्तु (Contents) से जहाँ तक अपना तादात्म्य स्थापित कर सके, वह रचना वहाँ तक प्रामाणिक या यथार्थ कही जायगी। किसी नाटक या उपन्यास की प्रामाणिकता या सचाई का सम्बन्ध उसमें वर्णित देश-कालगत घटना-क्रम से नहीं

होता, वरन् उन अर्थों के अन्तर्सम्बन्धों से होता है जिनकी प्रतीक वे घटनाएँ हैं। वस्तुओं और घटनाओं में निहित उनके अर्थपूर्ण अन्तर्सम्बन्धों का चिन्तन और उनकी कल्पनात्मक स्वीकृति की क्रियाएँ केवल कला के क्षेत्र तक सीमित नहीं, वे वैज्ञानिक चिन्तन में प्रयुक्त स्थापना-निगमन-मूलक तर्कना में भी अनुष्ठित होती हैं।

अनुभूति का अभिव्यक्ति से क्या सम्बन्ध होता है? शैली क्या है? कलाकार की उपयुक्त शब्दों और अभिव्यंजनाओं की खोज में क्या प्रयोजन रहता है। ऐसा लगता है कि उसके इस प्रयत्न में एक तुलनात्मक प्रक्रिया निहित होती है : कलाकार को एक अनुभूति होती है, और उसके प्रकाशन के लिये वह ऐसे प्रतीकों की खोज करता है जो कुल मिलाकर दुबारा वही या उस-जैसी अनुभूति उत्थित कर सकें। जब दूसरी अनुभूति पूर्वानुभूति के समान नहीं होती, तो वह पुनः अन्य प्रतीकों की खोज करता है। इस प्रकार उसका प्रतीकों का अन्वेषण चलता रहता है, जब तक कि वह पूर्वानुभूति के तुल्यार्थक प्रतीक न पा ले।

कला-सृष्टि का यह विवरण विश्वसनीय जान पड़ता है। संभवतः उस सृष्टि के कुछ उदाहरण इस विवरण के अनुरूप होते हैं, जैसे तब जब कलाकार किसी दृष्ट पदार्थ या स्थिति का सही चित्र देना चाहता है। वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध उक्ति "शान्ति के क्षणों में संस्मृत आवेग" (इमोशन रिकलेक्टेड इन ट्रैङ्क्विलिटी) से इस बात की पुष्टि होती है। (यहाँ आवेग के स्थान पर अनुभूति या प्रतीति शब्द होना चाहिए क्योंकि स्मरण ज्ञानात्मक होता है, केवल संवेदन-रूप नहीं।) किन्तु कला-सृष्टि-सम्बन्धी यह मन्तव्य इतना सरल है कि उस सृष्टि की जटिलताओं की समुचित व्याख्या नहीं कर सकता। इस मान्यता के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है : तथा-कथित मूल अनुभूति, यदि वह कुछ भी जटिल है, प्रतीकों के बिना अस्तित्ववान नहीं हो सकती। साधारण-से-साधारण बिम्ब भी प्रतीक-बद्ध बन जाते हैं, जैसे ही उन्हें पृथक् करके नाम देने की कोशिश की जाती है।

वस्तुतः कलात्मक सृष्टि पूर्वानुभूत विषयों का पुनरुल्लेख मात्र नहीं होती, वह जीवन-प्रक्रिया के नये क्षणों का सृजन करती है, जिसके उपादान कलाकार के पिछले अनुभव तथा वर्तमान प्रत्यय (Ideas) और संवेदन होते हैं।

यहाँ कला-सम्बन्धी मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त की परीक्षा भी उपादेय होगी। कलाकार की दबी हुई अन्तर्वृत्तियों से कला का सम्बन्ध स्पष्ट करके फ्रायड तथा उसके

अनुयायियों ने अवश्य ही कुछ महत्वपूर्ण धारणाएँ दी हैं। व्यक्ति के सामने अपनी आकांक्षाओं को तृप्त करने की अनेक सम्भावनाएँ रहती हैं, उनमें से कुछ ही जीवन में यथार्थ हो पाती हैं। अतः यह अनुमान सही लगता है कि कलाकार अपने सृजन द्वारा अपने को कल्पना-जगत में सन्तुष्टि देता है। लेकिन यह अनुमान कला के सम्पूर्ण स्वरूप की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता। यदि कला केवल बचपन की दबी हुई वासनाओं की अभिव्यक्ति ही हो, जैसा कि फ्रायडवादियों का विचार है, तो कलाकार द्वारा बाद के जीवन में प्राप्त किया हुआ ज्ञान और अनुभव, कला-सृष्टि के विशिष्ट प्रयोजन के लिये, निरर्थक होने चाहिएँ। यह बात विचित्र जान पड़ती है। बाद के जीवन में कलाकार शिक्षा प्राप्त करता है, दूसरे कलाकारों का अध्ययन करता है, तरह-तरह के विचार संचित करता है। ये सब उसकी सृष्टि के लिए क्या कुछ भी अर्थ नहीं रखते? फ़ायडीय मत के आधार पर उन प्रयत्नों का भी कोई महत्व नहीं रहता जिनके द्वारा कलाकार अपनी रचना को शैलीगत पूर्णता देता है। उक्त मन्तव्य यह भी नहीं समझा सकता कि विभिन्न कला-कृतियाँ न्यूनाधिक महत्वपूर्ण क्यों होती हैं। वस्तुतः फ़ायड का मन्तव्य हमें मूल्यांकन का कोई पैमाना नहीं दे सकता। वह सिद्धान्त केवल कला के उद्भव की व्याख्या का प्रयत्न है।

दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति कला है, यह सिद्धान्त कलात्मक प्रेरणा की ही व्याख्या देता है, वह कला की उन सौन्दर्यात्मक विशेषताओं को भूल जाता है जिनके कारण वह सुरुचि-सम्पन्न दर्शकों या पाठकों को रसात्मक लगती है। कृतियों को स्रष्टा के व्यक्तिगत इतिहास द्वारा समझने की कोशिश करते हुए उक्त सिद्धान्त यह भुला देता है कि रचना का रचयिता के परिवेश, उसके सांस्कृतिक वातावरण और प्रतिभा से भी संबंध होता है। मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार दमित वासनाएँ कलाकार में ही नहीं, सभी व्यक्तियों में पायी जाती हैं। शायद इसीलिये उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति का सार्वभौम प्रभाव होता है। किन्तु इस सिद्धान्त से हम विभिन्न कलाकारों की अलग-अलग विशेषताओं और उनकी कृतियों की अनेकरूपता को बिल्कुल ही नहीं समझ सकते।

फ्रायड के तंत्र में यह माना जाता है कि व्यक्ति की अधिकांश क्रियाओं के मूल में दमित काम-वासना होती है। उन क्रियाओं में कला-सृष्टि भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि फ्रायड का सिद्धान्त कला-सृष्टि की **विशेष** क्रिया के **विशिष्ट** कारण का संकेत नहीं करता।

मनोविश्लेषणवाद द्वारा दी गयी कला की व्याख्या की एक दूसरी बड़ी कमी यह है कि वह मनुष्य की कला-साधना तथा दूसरी सांस्कृतिक क्रियाओं जैसे विज्ञान, दर्शन आदि में कोई सम्बन्ध नहीं देख पाती। अन्ततः मनुष्य की विभिन्न सांस्कृतिक क्रियाएँ एक-दूसरे से एकदम विच्छिन्न नहीं मानी जा सकतीं।

फ्रायडीय पद्धति की सीमा को छोड़कर हम एक दूसरा प्रश्न उठाएँगे: किसी कलाकृति का अपने युग की संवेदना से क्या संबन्ध होता है। क्या कलाकृति उस संवेदना को प्रकट करती है? अथवा उसे निर्मित करती है? क्या कलात्मक सृष्टि का मुख्य प्रयोजन यही है कि वह युग-विशेष की धुंधली प्रतीतियों, संवेदनाओं तथा मनोभावों को अभिव्यक्ति दे, अथवा वह प्रतीतियों, संवेदनाओं तथा मनोभावों की नयी पद्धतियों का निर्माण करती है? इस प्रश्न का कई दूसरे प्रश्नों से सम्बन्ध है: किसी कलाकृति के बारे में यह कहाँ तक कहा जा सकता है कि वह एक खास युग की उपज है? उन समकालीन अन्वेषकों तथा विचारकों द्वारा जो दूसरे क्षेत्रों में काम कर रहे हैं, कलाकार को अपनी सृष्टि में कहाँ तक सहायता मिलती है? सृजनशील कलाकार का परम्परा से क्या सम्बन्ध होता है? कभी-कभी समसामयिक कला के सम्बन्ध में गलतफहमी, और उसे समझने में कठिनाई, क्यों होती है? क्या कला अधिकांश लोगों के लिये बुद्धिगम्य होती है, अथवा होनी चाहिए?

हमने सच्ची कला द्वारा उत्पादित संवेदनाओं के बारे में कवि पोप की निम्न उक्ति सुनी है: जो अनेक बार मन में आया था, पर कभी इतनी अच्छी तरह प्रकट नहीं किया गया था। पोप के अनुसार कला हमें स्वयं अपने ही मन का चित्र पुनः पकड़ा देती है। श्री इमर्सन ने कहा है: 'प्रतिभाशाली की प्रत्येक कृति में हम अपने ही उपेक्षित विचारों को पाते हैं।'[१६] कला और सामान्य लोगों के जीवन के अनुभवों के सम्बन्ध के बारे में यह एक सम्मति हुई। इससे ठीक विपरीत सम्मति का प्रकाशन अंग्रेजी कवि ऑडेन ने किया है, जिसे श्री ओकोनोर ने उद्धृत किया है। ऑडेन के अनुसार एक साधारण तथा प्रथम श्रेणी के कवि में भेद यह है कि जहाँ पहला केवल वही व्यक्त करता है जो हम सबके मन में होता है, वहाँ दूसरा हमारे मन में कुछ विषयों से संबद्ध कतिपय भावनाओं को पहली बार जागृत करता है। 'इस समय के बाद, इस कविता के कारण, अब मेरी समस्त संवेदनाएँ भिन्न हो जायेंगी।' कभी-कभी कवि हमें पहली बार उन चीजों की अवगति देता है जो किसी युग की विशेषताएँ होती हैं।[१७]

श्रेष्ठ कला के सम्बन्ध में ये दो विरोधी सम्मतियाँ हैं, क्या उनमें समझौता सम्भव है ? इस समस्या पर विचार करने से पहले हम पाठकों के समक्ष दो और महत्वपूर्ण तथ्य उपस्थित करना चाहेंगे, प्रथम यह कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है, और दूसरे स्पेंगलर का यह कथन कि 'गाँव का इतिहास नहीं होता।'

जब हम कहते हैं कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है तो हम मुख्यतः उसकी शारीरिक रचना का नहीं, अपितु उसके आवेगात्मक तथा बौद्धिक गठन का विचार करते हैं। जिस मनुष्य ने एक बुद्ध, प्लेटो अथवा कान्ट द्वारा उपस्थित किये हुए प्रश्नों और उनके समाधानों को आत्मसात् कर लिया है, वह उस व्यक्ति से नितान्त भिन्न है जिसने उन अथवा उनके समान प्रश्नों में कभी कोई अभिरुचि नहीं ली। आज के बुद्धिजीवी मनुष्य का जटिल व्यक्तित्व जिन असंख्य प्रतीतियों, चित्रों और विचारों से निर्मित होता है वे असंख्य प्राचीन और नवीन स्रोतों में ग्रहण किये जाते हैं। मनुष्य की यह विशेषता है कि वह दूसरे नर-नारियों के अनुभवों तथा प्रतिक्रियाओं को ग्रहण करके अपने व्यक्तित्व का प्रसार करता है। ग्रामीण व्यक्ति भी इसका अपवाद नहीं है, यद्यपि, इस सम्बन्ध में, एक नगरवासी की अपेक्षा उसे मिलनेवाले अवसर बहुत सीमित होते हैं।

मैं एक साहित्यिक, वैज्ञानिक अथवा विचारात्मक कृति को वहाँ तक पसन्द करता हूँ जहाँ तक वह मेरे जीवन या अस्तित्व को समृद्ध करती है। इससे अनुगत होता है कि विभिन्न पाठकों को, जिनके व्यक्तित्व विभिन्न दिशाओं में विभिन्न दर्जों तक विकसित हो चुके हैं, भिन्न-भिन्न कोटियों की रचनाएँ रोचक तथा उपयोगी जान पड़ेंगी। इस स्पष्ट तथ्य की परीक्षा के लिये आप किसी भी पुस्तकालय के उस रजिस्टर की परीक्षा कर सकते हैं जिसमें दी हुई पुस्तकों का हिसाब रहता है। आश्चर्य की बात है कि वे समीक्षक और विचारक जो यह माँग करते हैं कि किसी कला-कृति को सबके लिये समान रूप में बुद्धिगम्य होना चाहिए, इस स्पष्ट तथ्य को नहीं देख पाते।

प्रश्न है, वे क्या तत्व हैं जो एक पुस्तक को कुछ पाठकों के लिये अपेक्षाकृत कठिन बना देते हैं ? उत्तर में निवेदन है—पुस्तक की संकेतात्मकता। एक महत्वपूर्ण कृति में, जैसे कि ब्रेडले की "ऐपियरेन्स एण्ड रियालिटी", अथवा विटगैन्स्टाइन के "ट्रैक्टाटस" में, असंख्य समस्याओं, युक्तियों तथा हलों के संकेत रहते हैं। किन्तु एक कलाकृति में पाये जानेवाले संकेत दूसरी कोटि के होते हैं। वैसी कृति में उन अनक अनुभव-

क्षेत्रों के प्रति संकेत रहते हैं जिनके विस्तार और जटिलता का विश्लेषण प्राचीन बड़े कलाकारों द्वारा हो चुका है । कोई भी बड़ा लेखक प्राचीन लेखकों के कृतित्व की पुनरावृत्ति नहीं करता। यदि वह पूर्व लेखकों द्वारा उद्घाटित अनुभवों का संकेत करता है तो इसलिए कि वह उन्हें नये सन्दर्भों में, अपने युग की विशिष्ट प्रतीतियों तथा मनोभावों के साथ-साथ, रख सके, और इस प्रकार पुरानी अनुभूतियों को भी नई सार्थकता तथा नये अभिप्रायों से वेष्टित कर दे। पुरानी अनुभूतियों के प्रति संकेत आवश्यक भी होते हैं, इसलिए कि वे आज के मनुष्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का अंग हैं। आधुनिक मनुष्य की संवेदनाएँ और प्रवृत्तियाँ, उसके संघर्ष और आस्थाएँ, अपने वर्तमान रूप से भिन्न होतीं यदि वे बुद्ध और ईसा, मार्क्स और फ्रायड, डार्विन और आइन्स्टाइन की शिक्षाओं तथा चिन्ताओं द्वारा प्रभावित न होतीं।

तो, कवि पोप और कवि ऑडेन के मतों का समन्वय कहाँ है? हमारा विचार है कि श्रेष्ठ कलाकार सर्वसाधारण की प्रतीतियों को ही ऐसे ढंग से प्रकट करता है कि वे नूतन दिखाई देने लगें। कलाकार साधारण प्रतीतियों को नये ढंगों से विस्तृत और संगठित करता है। इस प्रकार वह नवीनता की सृष्टि करते हुए भी अपने युग का, तथा ऐतिहासिक मनुष्य का, प्रतिनिधि बन जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है, कलाकार को और उस व्यक्ति को जो अपने को सुसंस्कृत बनाना चाहता है, अतीत महाग्रन्थों का परिचय क्यों अपेक्षित होता है? गणित जैसे विषय में बाद के सिद्धान्तों को जानने के लिये यह ज़रूरी है कि हम उसके पूर्व रूपों या मन्तव्यों से परिचित हों। पिछले अन्वेषणों से परिचित हुए बिना कोई गणित के आगे के अन्वेषणों को नहीं समझ सकता। वस्तुतः गणित के परवर्त्ती अन्वेषण पूर्व अन्वेषणों पर निर्भर करते हैं। किन्तु साहित्य, दर्शन आदि के क्षेत्रों में नयी-पुरानी कृतियों में वैसी निर्भरता या सापेक्षता नहीं रहती। इसलिये कहा जा सकता है कि हम प्राचीन कृतियों की अवहेलना करके भी आज के साहित्य, दर्शन आदि को समझ सकते हैं। किन्तु यह स्थापना सही नहीं है। अतीत कृतियाँ वर्तमान को प्रभावित करती हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। पन्द्रहवीं शताब्दी में योरप में जो ज्ञान के क्षेत्रों में पुनर्जागृति हुई उसका एक बड़ा कारण यूनानी "क्लासिक्स" का अन्वेषण भी था। इस उदाहरण से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी जाति की या युग की सृजनात्मक उपलब्धियाँ नष्ट हो सकती हैं, और इस प्रकार दूसरे युगों के लिये अलभ्य या दुष्प्राप्य बन सकती हैं। इन उपलब्धियों को हमने मानवीय जीवन तथा

अनुभूति की संभावनाओं के नाम से अभिहित किया है। उनकी स्मृति नष्ट हो जाने से आगे आनेवाली पीढ़ियों के अस्तित्व पर वैसा प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा कि उनके सृजनात्मक अथवा सांस्कृतिक व्यवहार पर।

महनीय ग्रन्थों अथवा "क्लासिक्स" का परिचय किसी व्यक्ति को दो तरह प्रभावित करता है। प्रथमतः वह उसके अस्तित्व को उन सजीव प्रतिक्रियाओं तथा अनुभूतियों में, जिन्हें बड़े लेखक या कलाकार मूर्त्त कर गये हैं, प्रक्षिप्त करके उसका विस्तार कर देता है; दूसरे वह उसे विश्लेषण के विशेष धरातल का, उन प्रभावों का जो जटिल तथा समृद्ध अनुभूति पर रूपाकार के आरोप द्वारा उत्पन्न होते हैं, और चेतना के उस उत्थान का जो विविध तथा विस्तृत अनुभूतियों के कल्पना-मूलक, एकीकृत प्रत्यक्ष से आता है, अभ्यस्त बना देता है।

एक सुसंस्कृत लेखक 'क्लासिक्स' के दो महत्वपूर्ण उपयोग करता है। प्रथमतः वह उनसे ऐसी असंख्य जीवन-स्थितियों और उनके विभिन्न अंगों की अवगति प्राप्त करता है जो अर्थपूर्ण हैं, और जिनके प्रति किसी भी परिपक्व रुचि तथा प्रौढ़ संवेदना-वाले व्यक्ति को प्रतिक्रियाशील होना चाहिए—यद्यपि उसकी प्रतिक्रिया प्राचीन लेखकों की प्रतिक्रिया से भिन्न होगी, और अपनी भिन्नता द्वारा नये युग को अभिव्यक्ति देगी। दूसरे, वह 'क्लासिक्स' से ऐसे अनुभवों के संकेत पा सकता है जिन्होंने लोगों की स्मृति पर स्थायी चिह्न छोड़ दिये हैं, और जिन्हें वह अपनी रचनाओं में संकेतित कर सकता है। इस दूसरे व्यापार द्वारा लेखक अपनी कृति में संक्षिप्तता और तीव्रता ला सकता है, अर्थात् अपनी अभिव्यक्ति एवं आवेगों को तीव्र तथा सघन बना सकता है।

प्राचीन लेखकों ने जिन परिस्थितियों और अनुभवों का वर्णन किया है वे आज के वातावरण में ज्यों-के-त्यों उपलब्ध नहीं हो सकते। किन्तु उन परिस्थितियों तथा अनुभवों के विधायक तत्व आज के जीवन में भी मौजूद हो सकते हैं, भले ही उन्हें विविक्त कर लेना अब उतना सहल न हो। "क्लासिक्स" के अध्ययन से लेखक उन उपादानभूत तत्वों की विश्लेषणात्मक चेतना प्राप्त कर सकता है, और फिर उनका सचेत उपयोग अपनी रचना में कर सकता है। लेखक के सम सामयिक विचारक तथा अन्वेषक भी उसे कुछ ऐसी ही मदद देते हैं। वे लेखक को उन विचारात्मक तत्वों तथा मनोभावों की विश्लेषणात्मक अवगति प्रदान करते हैं जो समकालीन मनोवृत्तियों का स्वरूप निर्मित करते हैं। इस प्रकार प्राचीन कलाकारों तथा नवीन चिन्तनशील

लेखकों की सहायता से लेखक जटिल मानव-जीवन और चेतना के उपादानों की जानकारी प्राप्त करता है।

एक ऐसा पाठक जिसने अतीत की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर को आत्मसात् कर लिया है, और जो अपने युग की नयी विकास-दिशाओं से भी परिचित है, ऐसे कला-साहित्य की माँग करता है जो एक ओर तो चिर-नवीन परम्परा की स्मृति या अभिज्ञान जगाकर उसे पुलकित करे, और दूसरी ओर उसमें समसामयिक संवेदना की उन संभावनाओं की अवगति उत्पन्न करे जिनका लोगों को धुँधला आभास ही हो रहा है। इसके विपरीत वह पाठक जिसकी ऐतिहासिक चेतना अविकसित या कम विकसित है—जैसे कि स्पेंगलर का ग्रामीण—ऐसे काव्य-साहित्य को पसन्द करेगा जो अपेक्षाकृत कम जटिल है। वह परम्परा के अपेक्षाकृत ज्यादा लम्बे निरूपण से सन्तुष्ट होगा, और उन जटिल नूतनताओं को ठीक से नहीं पकड़ सकेगा जो एकदम आधुनिक कला में पायी जाती हैं।

सारांश यह कि कला वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्य एक विशेष कोटि की आत्मावगति प्राप्त करता है। कोई कलाकृति कितनी ही रहस्यमय, प्रतीकात्मक अथवा गूढ़ क्यों न हो, फिर भी उसका लक्ष्य यही होता है कि अनुभव के कतिपय क्षणों तथा क्षेत्रों को प्रकाशित या व्यक्त कर दे। सब प्रकार का अनुभव बाह्य वास्तविकता से संबंधित होता है, फिर चाहे यह वास्तविकता हमारे मानव-साथियों की क्रियाएँ और मनोभाव ही क्यों न हो। तात्पर्य यह कि कला की विषयभूत वास्तविकता केवल बाह्य तथा गोचर जगत् नहीं होता, वहाँ प्रायः हमारी दृष्टि स्वयं मनुष्य पर टिकी रहती है। कला में ऐसी वास्तविकताओं का भी ध्यान किया जाता है जैसे विश्व की समग्रता और उससे मनुष्य का संभाव्य संबंध, विश्व-ब्रह्माण्ड में मनुष्य की गति और गन्तव्य, और उस विश्व की अपेक्षा में उसके प्रिय स्वप्नों तथा आदर्शों, और उसकी निगूढ़, तीव्र संवेदनाओं की सार्थकता या महत्व। इस व्यापक दृष्टि से देखने पर हम कला को केवल व्यक्तिगत अथवा सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अथवा नैतिक ही नहीं कह सकते, वह दार्शनिक और आध्यात्मिक भी होती है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य का आवेगात्मक जीवन अनुभूति के किसी एक आयाम (Dimension) तक सीमित नहीं है। किन्तु जिस वास्तविकता या यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया को हम कला कहते हैं, उसका चित्र निरन्तर विभिन्न विज्ञानों तथा दर्शन द्वारा निर्मित और पुनर्निर्मित हो रहा है। फलतः जब मनुष्य के बौद्धिक दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है,

जब विज्ञान और दर्शन में क्रान्तियाँ होती हैं, तो कला का रूप भी अपरिवर्तित नहीं रहता। ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में होनेवाले परिवर्तन आवश्यक रूप में कलात्मक अनुभूति को प्रभावित करते हैं।

संभवतः विश्व की समग्रता के प्रति, और उसमें मनुष्य का क्या स्थान है इसके बारे में, मानवता के मनोभाव इने-गिने रूप ही धारण कर सकते हैं : इन मनोभावों को हम ऐसी व्यंजनाओं द्वारा प्रकट करते हैं जैसे संशयवाद या आस्था, भौतिकवाद या अध्यात्मवाद, आशावाद या निराशावाद, इत्यादि। सभ्य जातियों के साहित्यिक इतिहास में संभवतः ये मनोभाव बार-बार आवृत्त होते हैं। फिर भी उनकी अभिव्यंजना में अन्तर न पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक ऐसे व्यापक मनोभाव का आधार युग-विशेष का ज्ञान-विज्ञान होता है, और यह ज्ञान-विज्ञान एक युग से दूसरे में बदल जाता है। फलतः प्रत्येक मनोभाव के पक्ष या विपक्ष में प्रस्तुत की जा सकनेवाली साक्षी अथवा तथ्यात्मक आधार में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन विस्तार और जटिलता दोनों में ही होता है। नयी दृष्टियों तथा नये प्रमाणों की छाया में आधार-भूत साक्षी के रूप बदलते रहते हैं। किसी भी युग के प्रतिनिधि कलाकारों में युग के विशिष्ट मनोभावों के पक्ष या विपक्ष में उपलब्ध साक्षी की तीखी चेतना रहती है, वह साक्षी ही कलात्मक संवेदना की अभिरुचि का केन्द्र होती है। नवीन समर्थक साक्षी या तथ्य-सामग्री की चेतना ही एक युग के सन्देहवाद, भौतिकवाद अथवा अध्यात्मवाद को दूसरे युगों के उसी मनोभाव से भिन्न करती है। उदाहरण के लिये आज के मनुष्य का भौतिकवाद डिमोक्राइट्स या चार्वाक के भौतिकवाद से बहुत भिन्न है, वैसे ही हीगल के बाद का अध्यात्मवाद प्लेटो और शंकर के अध्यात्मवाद से भिन्न है।

श्री टी० एस० इलियट ने सार्थकता के स्तरों की धारणा दी है, जिससे हम सब परिचित हैं। इलियट का कथन है कि श्रेष्ठ कला में एक साथ ही अर्थवत्ता के अनेक धरातल मौजूद रहते हैं, जिसके कारण वह विभिन्न योग्यताओं के पाठकों को अच्छी लगती है। उदाहरण के लिये श्री तुलसीदास का "राम-चरित-मानस" जहाँ एक ओर रसज्ञ विद्वानों को प्रिय लगता है, वहाँ दूसरी ओर थोड़ा पढ़े-लिखे देहातियों को भी। यही बात टॉल्स्टाय तथा शेक्सपियर जैसे महान् लेखकों की कृतियों पर भी लागू होती है। इन विभिन्न स्तरों का क्या अभिप्राय हो सकता है? जहाँ तक आस्था तथा अनास्था के मनोभावों का प्रश्न है, इन स्तरों का मतलब होगा साक्षी (Evidence) या प्रमाण-सामग्री के विभिन्न क्रम, अथवा उनकी चेतना। दूसरे मनोभावों की संबद्धता

में, जैसे कि प्रेमिका-सम्बन्धी आकर्षण-भावना में, विभिन्न स्तरों का निर्माण उन विभिन्न गुणात्मक तत्वों की चेतना से होता है जो पृथक्-पृथक् मूल्य-पद्धतियों (Value-Systems) का अंग होते हैं, और जिनकी अवगति विश्लेषण तथा संबंध-स्थापन की न्यूनाधिक शक्तियों की अपेक्षा करती है।

किसी कला-कृति की महत्ता के दो माप हैं: अर्थवान् यथार्थ का वह विस्तार जिसका स्पर्श हमें विचाराधीन कृति के द्वारा होता है, और नवीनता तथा व्यक्तित्व का वह दर्जा जिस तक उस यथार्थ की अभिव्यक्ति में पहुँचा जा सका है। सब तरह की कलात्मक अनुभूति एक प्रकार की निर्मिति होती है। उसकी नूतनता का एक स्रोत तो वे नये तत्व होते हैं जिनका उसमें ग्रथन हुआ है, और दूसरा उन तत्वों के सम्मिश्रण की शैली, या उसमें प्रतिफलित शिल्प-विधान। अपेक्षाकृत स्थिर युगों में कलाकार प्रायः रचना-तन्त्र द्वारा नवीनता की उपलब्धि करता है। उसकी अनुभूति के विधायक तत्व प्रायः परिचित होते हैं, इसलिये उसकी कृति सुबोध होती है। किन्तु एक ऐसे कलाकार को जो एक युग के अन्त और दूसरे के प्रारम्भ में आता है दोहरा काम करना पड़ता है। उसे ऐसी प्रतीतियों तथा मनोभावों को वाणी-बद्ध करना होता है जो थोड़े ही लोगों की चेतना में रूपायित होने की ओर अग्रसर हो रहे हैं, और, उन प्रतीतियों तथा मनोभावों को समष्टि रूप में ढालने के लिये, उसे नये शिल्प-विधानों का आश्रय लेना पड़ता है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में वर्ड्सवर्थ को और बीसवीं के दूसरे शतक में टी० एस० इलियट को कुछ इसी प्रकार का कार्य करना पड़ा।

एक महत्वपूर्ण और वास्तविक अर्थ में कलाकार अपने युग की उपज होता है। वह वस्तुतः उन चीजों को प्रकट करता है जो युग के लोगों द्वारा महसूस की जा रही है—भावना तथा क्रिया की उन संभावनाओं को जिन्हें अधिक संवेदनशील समसामयिक मनुष्य महसूस कर रहे हैं। यही कारण है कि समकालीन पाठक पुराण-पन्थियों की आलोचनाओं के विरुद्ध नये कलाकार का स्वागत करते हैं। कोई प्रतिभाशाली तब तक आदृत और प्रभावशील नहीं हो सकता जब तक उसे थोड़े-बहुत संवेदनशील तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का सहारा न हो। वस्तुतः सब प्रकार की सांस्कृतिक प्रगति का यही अर्थ होता है, अर्थात् धुंधले रूप में प्रतीत होने वाली जीवन-संभावनाओं का स्पष्ट रूप में प्रत्यक्षीकरण या उपलब्धि। प्रतिभाशाली वह उपकरण है जिसके द्वारा यह प्रत्यक्षीकरण या उपलब्धि संभव होती है।

निष्कर्ष यह कि कलाकार अपने युग के द्वारा उपस्थापित विशिष्ट सामग्री के

आधार पर जीवनानुभूति के नये रूपों या संस्थानों की सृष्टि करता, और इस प्रकार नूतनता की उपलब्धि करता है। वस्तुतः प्रतिभाशाली के व्यक्तित्व में ही नये युग का जीवन, उस समय जब जीवन के पुराने आदर्श छिन्न-भिन्न या खण्डित हो चुकते हैं; आत्म-चेतना तथा सामंजस्य प्राप्त करता है। जिसे हम एक नयी विचार-पद्धति, अथवा महसूस करने या क्रियाशील होने का एक नया ढंग, कहते हैं, वह अन्तिम विश्लेषण में एक ऐसा सुविधाजनक तरीका होता है जिसके द्वारा नयी संवेदना के उपादानों या तत्वों को व्यवस्थित तथा एकीकृत किया जा सकता है। नयी व्यवस्था या संस्थान जितने ही विस्तृत क्षेत्र का स्पर्श करता है, वह उतनी ही जटिल तथा समृद्ध पद्धति का रूप धारण करता है। उदाहरण के लिये एक बड़ा नाटककार या उपन्यासकार, विभिन्न चरित्रों की सृष्टि द्वारा, युग-संवेदना के प्रायः सभी तत्वों का उपयोग कर डालता है; इसी प्रकार एक दार्शनिक, एक महती विचार-पद्धति के निर्माण में, अपने युग-बोध के समस्त उपादानों को निःशेष कर देता है। दूसरी कोटि का प्रतिभाशाली, जैसे एक ह्यूम अथवा दास्ताएव्स्की, यथार्थ के सीमित किन्तु सार्थक एक ही क्षेत्र में गहरे घुस कर अपनी प्रतिभा का प्रमाण देता है।

अब हम वास्तविक कला-साहित्य की एक दूसरी विशेषता को लक्षित करेंगे, अर्थात् उसकी निर्वैयक्तिकता। कला की नयी-से-नयी सृष्टियों को, अन्ततः, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए। समस्त कला सामान्य (Normal) मनुष्य की आवेगात्मक तथा संकल्प-मूलक जीवन-संभावनाओं का अन्वेषण या उद्घाटन है। तर्कशास्त्र की भाँति वह समस्त कला जो वास्तविक है, सबके उपभोग के लिए होती है। महान और यथार्थ कला ऐसी प्रत्येक चीज का बहिष्कार करती है जो खामखयाली कल्पना अथवा व्यक्तिगत वैचित्र्य की द्योतक है। हमारे मत में वैचित्र्य-मूलक अथवा खामखयाली कल्पना (Fancy) तथा यथार्थ कल्पना (Imagination) का अन्तर इस प्रकार है: जहाँ द्वितीय कोटि की कल्पना बाह्य अथवा आन्तरिक वास्तविकता का पुनर्गठन स्वयं यथार्थ के नियमों के अनुसार करती है, वहाँ प्रथम कोटि की कल्पना यथार्थ के तत्वों को अनियंत्रित स्वच्छंदता से एकत्रित कर डालती है। उक्त प्रभेद को हम उदाहरण द्वारा व्यक्त करें। टॉल्स्टॉय का "एना केरीनिना" उपन्यास यथार्थ कल्पना की सृष्टि है, जब कि "अलिफ़लैला" वैचित्र्य-मूलक कल्पना की। कथा-साहित्य का इतिहास इस तथ्य का महत्वपूर्ण निदर्शन उपस्थित करता है कि कला का विकास क्रमशः अधिकाधिक यथार्थवाद की ओर हुआ है। नाटक तथा

कथा-साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिये सदा से औत्सुक्य नामक वृत्ति का आधार लिया गया है। लेखक पाठकों या दर्शकों की उत्सुकता को अन्त तक बनाये रखना चाहता है। प्राचीन काल के लेखक उक्त भावना को जागृत रखने के लिये अलौकिक तत्वों का सन्निवेश करते थे, जैसे किसी ऋषि या देवता का हस्तक्षेप; अथवा वे विशुद्ध संयोग द्वारा समस्या को खड़ा या हल कर देते थे। आज के कथा-साहित्य में हमारी उत्सुकता तथा कुतूहल की वृत्तियों का एकमात्र आधार मानव-प्रकृति की विविध संभावनाएँ ही होती हैं।

कला-सृष्टि के क्षेत्र में निर्वैयक्तिक होने का अर्थ है वस्तुतः अथवा सार्वभौम रूप में मानवीय होना। **महान् कला जीवन की सामान्यरूपता के बीच नवीनता के विधान का कठिन कार्य करती है।** इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि महान नाटककारों तथा उपन्यास-लेखकों के समस्त महत्वपूर्ण पात्र "टाइप" होते हैं, अर्थात् वे किसी युग के विभिन्न जीवन-रूपों अथवा जीवन-प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि, और इसलिए सब युगों के प्रतिनिधि, जान पड़ते हैं। बात यह है कि वह वस्तु जो मानव-इतिहास के किसी एक युग की प्रतिनिधि हो सकती है, उस समूचे इतिहास की प्रतिनिधि होती है। महनीय कला-कृतियों की उम्र लम्बी होती है, इसका कारण यह है कि वे कृतियाँ विभिन्न जातियों तथा युगों की संस्कृतियों के आवरणों को भेद कर मानवीय कर्मों तथा प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध मानव-प्रकृति की मूल प्रवृत्तियों से स्थापित कर देती हैं। पूछा जा सकता है कि अपने "एना केरीनिना" उपन्यास में टॉल्स्टॉय नायिका के प्रेमी व्रांस्की का चित्रण सफलता से क्यों नहीं कर सके हैं? उत्तर है: उक्त उपन्यास में वे हमें व्रांस्की की गूढ़ अन्तर्वृत्तियों की निकट झाँकी देने में असमर्थ रहे हैं। पात्रों के नये से नये "मूड" और मनोभाव तभी बुद्धिगम्य होते हैं जब उनका संबंध उन मौलिक वृत्तियों से जोड़ दिया जाता है जो सम्पूर्ण मानव-जाति में पायी जाती हैं। इतिहास-ग्रन्थों में वर्णित स्त्री-पुरुषों के कार्यों तथा चरित्रों के सम्बन्ध में भी ऊपर का वक्तव्य लागू होता है।

आलोचना का स्वरूप और उपयोगिता

ऊपर हमने कला की प्रकृति का विवेचन किया। अब हम एक दूसरी सांस्कृतिक क्रिया की परीक्षा करेंगे, जिसका कला के उपभोग, और सृष्टि से भी, निकट सम्बन्ध है। दो प्रकार के लेखक कला-साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हैं, एक साहित्य-मीमांसक और दूसरे समीक्षक। यहाँ हम समीक्षा और समीक्षक की प्रकृतियों का उद्घाटन

करेंगे। पूछा जा सकता है, साहित्य-मीमांसक से भिन्न कला-साहित्य के समीक्षक का क्या कार्य और उपयोगिता होती है ?

समीक्षा के इतिहास से हमें अनेक प्रकार की आलोचनाओं और आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोणों का परिचय प्राप्त होता है, जैसे "क्लासिकल" (शास्त्रीय अथवा मानदण्डों पर आधारित) और रोमांटिक (स्वच्छन्दतावादी), ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय, जीवनी-मूलक और मनोवैज्ञानिक, प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी, इत्यादि। यहाँ हम इन विभिन्न दृष्टिकोणों और आलोचना–प्रकारों को आँकने की कोशिश नहीं करेंगे। इसके विपरीत, समीक्षा के स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध में हम स्वयं अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करेंगे, और यह देखने की चेष्टा करेंगे कि उस मन्तव्य की अपेक्षा में विभिन्न समीक्षा-सिद्धान्तों की क्या सार्थकता है।

हम आलोचना की परिभाषा इस प्रकार करेंगे : आलोचना किसी कला-कृति में निबद्ध अनुभूति के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन का प्रयत्न है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि उक्त तीन क्रियाओं को एक-दूसरी से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। एक क्रिया हमें अनिवार्य रूप से दूसरी की ओर ले जाती है, और उन क्रियाओं का एक-दूसरी के लिये मतलब या सार्थकता होती है। किसी कला-कृति का विश्लेषण इसलिये किया जाता है कि बाद में उसकी व्याख्या की जा सके, और विश्लेषण और व्याख्या दोनों का लक्ष्य उचित मूल्यांकन ही होता है। एक सांस्कृतिक क्रिया के रूप में कला का हमारे लिये विशेष महत्व यही है कि उसमें मूल्य निहित होते हैं।

विश्लेषण द्वारा हम पाठकों का ध्यान कृति के उपादानभूत तत्वों की ओर आकृष्ट करते हैं। कलात्मक अनुभूति प्रायः जटिल होती है; उसमें जहाँ एक ओर सांगीतिक लय, चित्र आदि विद्यमान होते हैं वहाँ दूसरी ओर प्रायः सार्थक स्थिति या स्थितियाँ भी मौजूद होती हैं जिनमें आत्म-परक अथवा वस्तु-परक या दोनों ही कोटियों के तत्व उपस्थित रहते हैं। विश्लेषण का प्रधान उद्देश्य आलोच्य कृति के उन तत्वों या अंगों का पृथक्करण है जो उस कृति की प्रभावात्मकता के हेतु है। एक कला-कृति अनेक प्रभाव उत्पन्न करती है। यद्यपि मूलतः हम कलात्मक अनुभूति को उसके समग्र, अविश्लेषित रूप में ग्रहण करते हैं, फिर भी उसकी आलोचनात्मक अवगति के लिये उसे खंडित करना आवश्यक हो जाता है। इस खंडित करने या विश्लेषित करने की क्रिया द्वारा ही समीक्षा-व्यापार सचेत बनता है। एक आदर्श समीक्षक हम उसे कहेंगे

जो किसी कला-कृति के प्रत्येक उपादान तत्व को देखने की क्षमता रखता है, और सूक्ष्म, विवरणात्मक ढंग से उन हेतुओं को जानता है जिनके कारण वह आलोच्य कृति के विभिन्न अंगों या पहलुओं को स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देता है। किन्तु शायद ऐसा कोई समीक्षक कभी कहीं अस्तित्ववान् नहीं रहा, और शायद अस्तित्ववान् होगा भी नहीं; कारण यह है कि कलात्मक अनुभूति में, विशेषतः उसके उच्चतर रूपों में, कुछ ऐसा रहस्यमय सौन्दर्य और आकर्षण रहता है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण की पकड़ में नहीं आता।

किसी कला-कृति की **व्याख्या** का अर्थ है, उसके विश्लेषित तत्वों को कलाकार के परिवेश में उपस्थित अधिक व्यापक समष्टियों (Wholes) अथवा शक्तियों से सम्बन्धित कर देना। कृति की व्याख्या द्वारा हम उसे सांस्कृतिक वातावरण के उस सन्दर्भ में प्रतिष्ठित कर देते हैं जहाँ उसका उदय सम्भव हुआ। व्याख्या का एक और अर्थ भी हो सकता है: उन समसामयिक तथा ऐतिहासिक प्रभावों की छानबीन जिन्होंने कलाकार द्वारा विशिष्ट सामग्री के चयन और उस सामग्री के संगठन में निहित गौरव को, निर्धारित किया। संक्षेप में, किसी कला-कृति की व्याख्या का अर्थ है उसे, कार्य और कारण दोनो रूपों में, रचयिता के युग, वातावरण और परिवेश से सम्बद्ध कर देना। कारण यह कि कला की सृष्टियाँ जहाँ तक एक ओर अपने सांस्कृतिक परिवेश की उपज होती हैं, वहाँ दूसरी ओर वे उस परिवेश के स्वरूप को प्रभावित एवं परिवर्तित करने वाली भी होती हैं। विशेषतः अतीत कला-सृष्टियों के सम्बन्ध में (और अतीत एक सापेक्ष शब्द है जिसका अभिप्राय निकट अतीत और दूरवर्ती अतीत दोनो ही हो सकते हैं) हम अपेक्षाकृत स्पष्टता से यह जानकारी हासिल कर सकते हैं कि उन्होंने बाद के युग या युगों की रुचियों, नैतिकता, जीवन-दृष्टियों आदि पर क्या प्रभाव डाला। जैसा कि हमने शुरू में कहा था, विश्लेषण और व्याख्या का चरम प्रयोजन कृति-विशेष का मूल्यांकन है। क्योंकि मूल्यांकन में अर्थ या अभिप्राय का आकलन निहित है, इसलिये वैसे आकलन को भी आलोचना का प्रयोजन कहा जा सकता है। किन्तु व्यवहार में किसी कला-कृति के समझने और उसके रस-ग्रहण अथवा मूल्यांकन की क्रियाओं को एक-दूसरी से अलग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि इस सन्दर्भ में कृति-विशेष को समझने का अर्थ उसकी उन विशेषताओं को लक्षित करना है जो उसके प्रभाव अथवा प्रभावहीनता का हेतु होती है।

यहाँ प्रश्न उठता है, वे कौन-सी विशषताएँ हैं जो किसी कला-कृति को महत्वपूर्ण

बनाती हैं ? उक्त प्रश्न निरर्थक है, यदि उसका यह अभिप्राय हो कि कृति के मूल्यात्मक पहलू को उसके समग्र अस्तित्व से अलग किया जा सकता है। कला-कृति में जीवनानुभूति के विशिष्ट पक्षों अथवा संस्थानों को मूर्त या प्रकाशित किया जाता है, और यह समग्र अनुभूति ही मूल्यवान होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति में कलाकार अपने जीवन के कतिपय महत्वपूर्ण स्पन्दनों को सम्बद्ध रूप में उपस्थित करता है; हमारे मूल्यांकन का विषय यही सम्बद्ध जीवन-स्पन्दन होते हैं। किन्तु विश्लेषणात्मक अवगति के लिये हम कलात्मक अनुभव में दो तत्वों को विविक्त कर सकते हैं, अनुभव के विभिन्न तत्व और उन्हें संगठित तथा प्रभविष्णु रूप देने के तरीके या रचना-तंत्र (टेकनीक)। हम खासतौर से उन रचना-तंत्रों (Techniques) पर ध्यान देते हैं जो प्रकाशित अनुभव को संगत एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं। दूसरे, हम समग्र अनुभूति की विभिन्न विशेषताओं पर अलग-अलग ध्यान दे सकते हैं, जैसे उसका संगीत और चित्र विधान, उसके प्रेक्षा मूलक और आवेगात्मक तत्व, उसका बौद्धिक और नैतिक स्वर, उसकी कल्पनात्मक व्यापकता और साहसपूर्ण संगठन, उसकी शक्ति और तीव्रता, उसकी सच्चाई और आन्तरिकता, गहराई, उल्लास-भावना इत्यादि। वस्तुतः, चूँकि कलात्मक अनुभूति कलाकार के आत्मिक जीवन का अंग होती है, इसलिये उसमें प्रायः वे सभी विशेषताएँ पायी जा सकती हैं जो मानव-चेतना के लिये सम्भव है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि आलोचक लोग कला-कृतियों में भिन्न-भिन्न विशेषताओं की खोज करें, और भिन्न-भिन्न विशेषताओं को पायें। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व विभिन्न कारणों से भले या बुरे होते हैं, वैसा ही कला-कृतियों के बारे में भी सत्य है। जिस प्रकार विभिन्न लोग मानव व्यक्तित्व की अलग-अलग विशेषताओं पर मुग्ध होते हैं, वैसे ही विभिन्न समीक्षक कला-कृतियों में भिन्न-भिन्न कोटियों के प्रभावों को देखते और खोजते हैं। यही कारण है कि उन कृतियों के मूल्यांकन के सम्बन्ध में समीक्षकों में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

किन्तु किसी भी समीक्षक को कला-कृतियों की एक विशेषता की उपेक्षा करने का अधिकार नहीं है, अर्थात् उनकी वह शक्ति जिसके द्वारा वे हमारे सचेत जीवन और अनुभूति को समृद्ध बनाती हैं। प्रश्न है : कला उक्त कार्य का संपादन कैसे करती है ? उत्तर है : मनुष्य के समसामयिक तथा ऐतिहासिक अनुभव से हमारा सार्थक सम्बन्ध स्थापित करके। उक्त स्थिति को दूसरे ढंग से भी देखा जा सकता है। कलाकार उस यथार्थ का, जिसका आवेगात्मक महत्व है, अपनी चेतना द्वारा विश्लेषण करके पुन-

निर्माण करता है; यह निर्माण मानव-संवेदना के सार्वभौम नियमों के अनुरूप घटित होता है। आलोचक को यह देखने में आनन्द आता है कि कलाकार ने इस निर्माण की क्रिया को कितनी कुशलता से अनुष्ठित किया है। मतलब यह कि समीक्षक कलाकार के रचना-तंत्र या टेकनीक पर प्रकाश डालता है। किन्तु टेकनीक के विश्लेषण का यह मतलब हर्गिज़ नहीं है कि समीक्षक हमें यह बतलाना भूल जाय कि कृति-विशेष में निबद्ध अनुभूति का क्या महत्व है। इस महत्व को आँकने के लिये यह संकेत देना जरूरी है कि प्रकाशित अनुभति कहाँ तक स्वयं हमारी चेतना का विस्तार और संगठन करने में समर्थ है। हम कुछ अधिक सावधानी से समझने की कोशिश करें कि वैसा संकेत देने में कौन-कौन-सी क्रियाएँ निहित हैं।

कल्पना की सृष्टि काफी दूर तक एक अचेतन या अर्धचेतन क्रिया होती है। कलाकार कहीं भी यह नहीं सीख पाता कि वह किस प्रकार अपनी विविध अनुभूतियों के तत्वों को नयी समष्टियों में संगठित करे, कहीं भी वह इस रहस्य का पता नहीं पा सकता कि कैसे वह संगीत तथा चित्रों को मिश्रित करे कि विशिष्ट कोटि के प्रभाव उत्पन्न हो जायँ। कला जिन प्रभावों को उत्पन्न करती है वे अक्सर विचित्र तथा रहस्यमय होते हैं, उनके सम्बन्ध में रचना के क्षणों में हिसाब करके नहीं चला जा सकता। किन्तु एक बार जब कलात्मक अनुभूति निर्मित तथा प्रकाशित हो चुकती है, तो समीक्षक के लिये यह सम्भव है कि वह धैर्य-पूर्वक विश्लेषण करके उसके प्रभावों के हेतुभूत तत्वों को पृथक् कर ले। इस विश्लेषण द्वारा भविष्य के कलाकारों को विशेष लाभ होता है, ऐसी बात नहीं; प्रत्येक युग के नये कलाकारों को अपनी नवीन अनुभव-सामग्री के ग्रथन एवं प्रकाशन के लिये नये रचना-तंत्रों की जरूरत होती है। इसके विपरीत समीक्षक के विश्लेषण का एक बुरा प्रभाव भी हो सकता है। वह बाद के पाठकों तथा समीक्षकों को यह प्रेरणा दे सकता है कि वे अपने समसामयिक कलाकारों में पुराने रचना-तंत्रों को ढूँढ़ने का प्रयास करे। फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उक्त कोटि का विश्लेषण पाठकों में एक नयी चेतना की प्राप्ति का उल्लास पैदा करता है, और उनके उपभोग की रहस्यमय स्थिति को बुद्धिगम्य बना देता है। समीक्षा की मदद से औसत पाठक की कला-सम्बन्धी रस-ग्रहण की क्रिया सचेत रूप धारण कर लेती है।

सब प्रकार के रचना-तंत्रों का, फिर चाहे उनका प्रयोग अनजाने किया गया हो या सचेत भाव से, एक ही लक्ष्य होता है, अर्थात् कतिपय अनुभूतियों का प्रभावपूर्ण प्रकाशन। आलोचनात्मक विश्लेषण का उद्देश्य भी पाठकों को प्रकाशित अनुभूति की

प्रकृति और उसके विस्तार का परिचय कराना है। एक महत्वपूर्ण समीक्षक किसी कला-कृति में निहित रचनातंत्र या "टेकनीक" का विश्लेषण स्वयं टेकनीक की अवगति देने के लिये नहीं करता, उसका ध्येय यह दर्शित करना रहता है कि किस प्रकार कलाकार ने विशिष्ट रचनातंत्र या रीति के अवलंबन द्वारा अपने अनुभवों को उपयुक्त संगठन और गौरव दिया है।

तात्पर्य यह कि समीक्षक का ज्यादा महत्वपूर्ण कार्य पाठकों को यह बतलाना है कि आलोच्य कृति में निबद्ध अनुभूति किस कोटि की है, और कितनी महत्वपूर्ण है। हमने कहा कि समीक्षक कृति-विशेष में अभिव्यंजित अनुभूति का विश्लेषण और व्याख्या करता है, इसका यह मतलब नहीं कि वह अनुभूति आवश्यक रूप में अस्पष्ट या अबुद्धिगम्य होती है। फिर भी उसे व्याख्या की अपेक्षा हो सकती है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक महत्वपूर्ण दार्शनिक, शंकर, नागार्जुन, हीगल आदि की विचार-पद्धति को व्याख्या की अपेक्षा होती है, भले ही वह विचार-पद्धति अपने में पूर्ण तथा संगत हो। किसी भी शब्द का अर्थ उसके सन्दर्भ से निर्धारित होता है; शब्द का सही अर्थ केवल कोश की मदद से नहीं जाना जा सकता। शब्दों की भाँति अनुभूतियों का भी विशिष्ट सन्दर्भों से सम्बन्ध होता है। आलोचक का प्रधान कार्य यही है कि वह कृति में निबद्ध अनुभूति को कलाकार के देश-काल के सन्दर्भ में रखकर स्पष्ट कर दे। उक्त सन्दर्भ का ज्ञान कृति के उचित मूल्यांकन के लिये भी अपेक्षित होता है।

आलोचना के सम्प्रदाय

साहित्य-प्रेमियों के लिये यह परिस्थिति असमंजस में डालने वाली हो सकती है कि कलात्मक समीक्षा के अनेक सम्प्रदाय हैं, जो कला का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न तरीकों से करना चाहते हैं। यह स्थिति नैतिक क्षेत्र की स्थिति के समानान्तर जान पड़ती है। नैतिकता के क्षेत्र में भी विभिन्न विचारक भलाई-बुराई के भिन्न पैमानों का प्रयोग करते हैं। मूल्यांकन के मानों के सम्बन्ध में इस प्रकार का मतभेद, फिर चाहे उसका क्षेत्र कला हो अथवा नैतिकता, विचारशीलों के मन में सन्देहवाद को जन्म देता है। दोनो क्षेत्रों में सन्देहवादी विचारक यह मन्तव्य प्रतिपादित करते रहे हैं कि मूल्यांकन की कोई सर्वमान्य, वस्तुपरक कसौटी नहीं हो सकती। दूसरे अध्याय में हमने नीति-शास्त्र से सम्बन्धित संशयवादी विचार-धाराओं की संक्षिप्त परीक्षा की थीं, यहाँ हम

सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी संशयवाद के निराकरण का संक्षिप्त प्रयत्न करेंगे। इस संशयवाद का प्रतिपादन लार्ड बालफ़र ने निम्न शब्दों में किया है :

प्रत्येक मनुष्य के लिये वह चीज प्रेम करने योग्य जिससे वह बहुत प्रेम करता है। प्रत्येक के लिये वह वस्तु सबसे सुन्दर है जिसकी वह बहुत ज्यादा प्रशंसा करता है। और यहाँ हम सिर्फ इस पुरानी बात को नहीं दुहरा रहे हैं कि रुचि (Taste) के बारे में विवाद करना व्यर्थ है। हम ज्यादा गंभीर बात कह रहे हैं, हम कह रहे हैं कि, सबसे महत्वपूर्ण परिस्थितियों में भी, प्रेम या सौन्दर्य के सम्बन्ध में विवाद, न केवल व्यर्थ होगा, अपितु निरर्थक होगा।[१८]

निष्कर्ष यह कि किसी कला-कृति के महत्व के बारे में किसी भी तरह की आलोचना या विवाद व्यर्थ होता है। इसका युक्तिसंगत परिणाम यह है कि हमें कला-कृतियों की समीक्षा तथा मूल्यांकन से विरत हो जाना चाहिए। हम इस निष्कर्ष को भ्रामक समझते हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि कलात्मक मूल्यांकन के कोई ऐसे पैमाने नहीं हैं जो निरपेक्ष तथा अखंड रूप में सही या विश्वसनीय हों, तो भी यह अनुगत नहीं होता कि कला के उत्कर्ष के पैमाने होते ही नहीं।

किन्तु यदि हम वैसे पैमानों में विश्वास प्रकट करते हैं, तो हमारे सामने यह महत्व-पूर्ण प्रश्न खड़ा हो जाता है कि आलोचना के विभिन्न संप्रदाय विभिन्न पैमानों का प्रति-पादन क्यों करते हैं। दूसरा प्रश्न यह होगा-क्या यह सम्भव है कि हम किसी तर्क-संगत प्रणाली से यह निर्णय कर सकें कि कौन-सा पैमाना वस्तुतः विश्वसनीय तथा ग्राह्य है?

उक्त संशयवादी धारणा के निराकरण में जो मौलिक बात हमें कहनी है वह यह है कि कलात्मक उत्कर्ष के अनेक पैमाने सब एक साथ न्यूनाधिक प्रामाणिक हो सकते हैं। विश्व के इतिहास में अनेक कोटियों के महापुरुष हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न कारणों से महत्वशाली थे। भिन्न-भिन्न कोटियों की अनुभूतियाँ तथा कर्म भी अलग-अलग हेतुओं से महत्वपूर्ण हो सकते हैं। कला-कृतियों का महत्व अन्ततः उन संगठित जीवनानुभूतियों का महत्व होता है जो उन कृतियों में निबद्ध की जाती हैं। अतएव हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि कलात्मक उत्कर्ष की विभिन्न कोटियाँ और उन कोटियों के माप के विभिन्न पैमाने होते हैं।

हम अपनी बात दूसरे ढंग से कहें। एक व्यक्तित्व की भाँति कला-कृति भी हमारे ऊपर तरह-तरह के प्रभाव डालती है। जहाँ किसी कला-कृति का एक समग्र प्रभाव

होता है, वहाँ उसके विभिन्न पक्षों या पहलुओं से उत्थित होने वाले अनेक प्रभाव भी होते हैं। कृति के कुछ प्रभाव तात्कालिक होते हैं, जैसे कि उसके संगीत और चित्रात्मकता से संबद्ध प्रभाव। कुछ प्रभावों का अनुभव अपेक्षाकृत दीर्घ-काल-व्यापी होता है, जैसे कि नायक अथवा नायिका के नैतिक पक्षपातों अथवा चारित्रिक विशेषताओं का प्रभाव। जब हम एक बुद्ध या नेपोलियन से संबंधित कृति को पढ़ते हैं, तो हम केवल संगीत, अलंकारों आदि के प्रभावों को ही ग्रहण नहीं करते; हम जीवनोपयोगी आदर्श के रूप में नायक की विभिन्न प्रेरणाओं तथा उनसे निर्गत होने वाले क्रिया-कलापों के बड़े प्रभावों को भी ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार एक महत्वपूर्ण उपन्यास का नैतिक द्वन्द्वमूलक कथानक, उसमें निरूपित मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक संघर्ष, और उसके जटिल पात्र हमारे मन पर जो छाप छोड़ते हैं वह उन प्रभावों से भिन्न और उच्चतर होती है जो किसी शब्द या उपमा के चामत्कारिक प्रयोग अथवा चमत्कारपूर्ण वाक्य-विन्यास से गृहीत होते हैं।

इस आवश्यक भूमिका के पश्चात् हम कतिपय प्रसिद्ध समीक्षा-दृष्टियों का महत्व आँकने की कोशिश करेंगे।

मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय समीक्षा-प्रणालियों का मुख्य महत्व इसमें है कि वे हमें किसी कला-कृति के, अथवा उसमें निबद्ध अनुभूति के, सन्दर्भ को समझने में मदद देती हैं। प्रायः हमें कलाकारों की जीवनियाँ उपलब्ध नहीं होतीं; ऐसी स्थितियों में तथा-कथित मनोवैज्ञानिक आलोचना समाजशास्त्रीय आलोचना में परिणत और मग्न होने लगती है। कारण यह कि किसी युग के सामाजिक मनोभावों में उसके मनोवैज्ञानिक मनोभावों का वैसे ही समावेश रहता है जैसे कि उसकी नैतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियों का। दूसरे, किसी कलाकार की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ वहीं तक महत्वपूर्ण होती हैं जहाँ तक वे अपने युग के लोगों की समान वृत्तियों को प्रतिफलित करती हैं, अथवा उन वृत्तियों को निर्मित करती हैं। समीक्षा की दृष्टि से यह जानना उतना जरूरी नहीं है कि कलाकार के मन की प्रकृति और रुचियाँ क्या थीं जिन्होंने उसे सृष्टि की प्रेरणा दी, जितना कि यह जानना कि उसके समसामयिक पाठकों की दृष्टि में, और आज हमारी दृष्टि में, वे कौन से महत्वपूर्ण मनोभाव हैं जो उसकी कृतियों में व्यक्त हुए हैं।

कलाकार के मनोवैज्ञानिक-सामाजिक वातावरण का ज्ञान समीक्षक के लिये दो

प्रकार से सहायक होता है : प्रथमतः वह उसे आलोच्य कृति का अभिप्राय समझने में मदद देता है; दूसरे, वह समीक्षक को इस योग्य बनाता है कि वह उस यथार्थ के क्षेत्र और विस्तार से परिचित हो सके जहाँ से कलाकार ने अपनी सामग्री प्राप्त की थी। विश्व की प्रत्येक वस्तु के समान कलाकार की अनुभूति की सार्थकता उन संबंधों में निहित होती है जो उस अनुभूति और आसपास की दुनिया के बीच रहते हैं। सच यह है कि, काफी दूर तक, वे सम्बन्ध ही उस अनुभूति का निर्माण करते हैं। समाजशास्त्रीय आलोचना का यह कार्य है कि वह उन सम्बन्धों की आन्तरिक रचना का उद्घाटन करे। संक्षेप में, समाजशास्त्रीय आलोचना को यह बतलाना चाहिए कि आलोच्य कृति कहाँ तक उन मनोभावों को प्रतिफलित और चित्रित करती अथवा पूर्ण रूप देती या गठित करती है, जो कलाकार के युग में लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे।

किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के साथ कुछ खतरे भी हैं।

ऊपर कहा गया था कि समीक्षक का मुख्य कार्य उन तत्वों का विश्लेषण और व्याख्या है जो किसी कलाकृति के उपभोग को प्रभावित करते हैं, अर्थात् जो उस कृति को भला या बुरा बनाते हैं। समीक्षक "टेकनीक" या रचना-तंत्र पर ध्यान देता है क्योंकि उसका अनुभूति के प्रभावपूर्ण प्रकाशन से सम्बन्ध रहता है, और वह कलाकार के युग तथा परिवेश को लक्षित करता है क्योंकि वहाँ से सृजन-सामग्री का आदान होता है। समीक्षक उस आत्म-परक तथा वस्तु-परक यथार्थ में, जिनका प्रेषण कला-कृति का ध्येय है, रुचि लेता है, इसका मुख्य कारण यह है कि अन्ततः वह यथार्थ ही कृति को रोचक और रसात्मक या उपभोग्य बनाता है। किसी कला-कृति के बारे में समीक्षक को जो प्रश्न सबसे पहले, और सबसे बाद में भी, पूछना चाहिए वह यह है : वे कौन-सी यथार्थ से संबद्ध स्थितियाँ और मनोभाव हैं जिन्हें वह कृति वर्णित या प्रकाशित करना चाहती है, और जिनके प्रकाशन द्वारा वह अपने को ग्राह्य बनाती है ? किसी भी कला-कृति का सम्पूर्ण विश्लेषण दो चीजों में हो जाता है, उन स्थितियों में जिन्हें वह चित्रित करती है' और उन मनोभावों में जिन्हें वह जगाती या संकेतित करती है, अथवा जो उसमें निहित होते हैं।

समाजशास्त्रीय समीक्षा-दृष्टि के साथ दो खतरे लगे रहते हैं। प्रथमतः, समाजशास्त्रीय आलोचक के मन में यह धारणा हो सकती है कि समीक्षा-कर्म के लिये यह जान लेना काफी है कि कलाकार का युग और समाज किस प्रकार के थे। दूसरे शब्दों में,

समीक्षक कलाकार के युग आदि की जानकारी को साहित्यिक अभिरुचि तथा रसज्ञता का स्थानापन्न मान ले सकता है। दूसरा खतरा यह है कि वह आलोच्य कृति में केवल उन्हीं चीजों को देखे जिनकी व्याख्या उसकी स्थूल समाजशास्त्रीय जानकारी के आलोक में हो सकती हैं। उक्त दोनो खतरे सम्बन्धित हैं। जैसा कि श्री स्पिनगार्न का अभियोग है: 'ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक कोटियों की आलोचनाएँ हमारे ध्यान को स्वयं कला-कृति से दूर हटाकर कलाकार के युग, परिवेश, कला-संप्रदाय, जीवनी आदि की ओर ले जाती हैं।'[१९] कलाकार के युग, समाज, जीवनी आदि से संबंधित जानकारी का सही उपयोग यह है कि उसके द्वारा कला-कृति की व्याख्या में मदद ली जाय; इसके बदले समीक्षक की प्रवृत्ति यह हो जाती है कि उस कला-कृति को उस जानकारी का माध्यम मात्र मान ले। समाजशास्त्रीय आलोचक यह भूल जाता है कि, कला के समीक्षक की हैसियत से, उसकी अभिरुचि का विषय वह यथार्थ अथवा अनुभूति है जिसका आलोच्य कृति में आवेगात्मक आकलन तथा कलापूर्ण प्रकाशन हुआ है, और वह उस कृति के उन तत्वों की उपेक्षा करने लगता है जिनका विशुद्ध सामाजिक महत्व नहीं है। इसका फल यह होता है कि उसे उस कृति के वे पहलू नहीं दीख पाते जो युग-विशेष के जीवन की स्थूल अभिव्यक्तियों से संबंधित नहीं हैं। वह यह मानकर चलता है कि कला का स्वरूप सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है और उसकी सार्थकता भी सामाजिक ही होती है, और यह नहीं देख पाता कि कला का सम्बन्ध केवल उन सामाजिक और नैतिक प्रेरणाओं से ही नहीं होता जिनकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ एक युग को दूसरे से भिन्न करती हैं, बल्कि उन मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से भी होता है जो युग-युग में प्रायः वही रहती हैं और जिनके कारण विभिन्न युग एक-दूसरे को समझना सम्भव पाते हैं। समाजशास्त्रीय आलोचना की महत्वपूर्ण कमियों के मूल में उसकी जीवन-सम्बन्धी संकीर्ण दृष्टि होती है, जिसके कारण वह जीवन के उपादानों और निर्धारित तत्वों को समग्रता में नहीं देख पाती। समाजशास्त्रीय आलोचना जीवनानुभूति के आन्तरिक सत्व और उसे निर्धारित करने वाले कारणों दोनों को सरल कर डालती है; उसकी इस प्रवृत्ति को मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा और भी पुष्टि मिली है।

व्यक्तित्वों तथा युगों के समस्त जीवनी-मूलक अथवा ऐतिहासिक विवरण अमूर्त एवं अपूर्ण होते हैं। इस प्रकार के समस्त विवरण चुनी हुई प्रवृत्तियों तथा शक्तियों की भाषा में प्रकट किये जाते हैं। कोई भी जीवन, विशेषतः एक प्रतिभाशाली का

सृजनशील जीवन, इस प्रकार के सामान्य तत्वों से पूर्णतया व्याख्यात नहीं होता। सृजनशील कलाकार की कृति में ऐसी अनेक नूतनताएँ रहती हैं जो सामान्य कोटि के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय विश्लेषण की पकड़ में नहीं आ सकतीं। कलाकार के युग का कोई भी इतिहास और स्वयं कलाकार की कोई भी जीवनी, उसकी कृतियों के उन सूक्ष्म प्रभावों, जैसे लय और संगीत के सूक्ष्म विधानों, संवेदना और मूड के विचित्र रूपों, और अलंकारों तथा चित्रों के अद्‌भुत संयोजनों की व्याख्या नहीं कर सकते जिन्हें वह अपनी प्रेरणा और प्रतीति के कतिपय अपूर्व क्षणों में उत्सृष्ट करता है, और जो स्वयं उसकी कृतियों में भी दो बार उत्पन्न नहीं हो पाते। एक नितान्त मौलिक कलाकृति की इस कोटि की नितान्त नवीन विशेषताएँ आलोचना की उस दृष्टि या सरणि को जन्म देती हैं जिसे प्रभाववादी समीक्षा कहते हैं, और जो आलोच्य कृति के लघु-सूक्ष्म छायात्मक प्रभावों का संकेत करने की चेष्टा करती है।

किन्तु प्रभाववादी समीक्षक के साथ भी कुछ खतरे लगे रहते हैं। वह समीक्षक प्रायः आलोच्य कृति की दो तरह की विशेषताओं में भेद नहीं कर पाता, वे विशेषताएँ जो उसकी विशिष्ट संवेदना को वहाँ दिखाई देती हैं, और जो उसमें सचमुच पायी जाती हैं। प्रभाववादी आलोचक स्वभावतः व्यक्तिवादी होता है, वह कला-समीक्षा के वस्तु-परक पैमानों में आस्था नहीं रखता। वह यह खोजने का प्रयत्न नहीं करता कि किसी कलाकृति में क्या तत्व वस्तुनिष्ठ रूप में मौजूद हैं। उसकी चिन्ता का प्रमुख विषय यह प्रकट करना होता है कि आलोच्य कृति स्वयं उसकी चेतना में क्या प्रतिक्रियाएँ जगाती है। प्रभाववादी आलोचक कृति की अपेक्षा स्वयं अपनी प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में बात करने में ज्यादा रस लेता है। इसलिये यह जरूरी नहीं कि किसी कृति के बारे में दो प्रभाववादी समीक्षकों की एक ही राय हो, अथवा एक ही समीक्षक की दो भिन्न अवसरों पर एक राय हो।

प्रभाववादी आलोचक को कलाकृति की विभिन्न विशेषताओं के आपेक्षिक महत्त्व की चेतना नहीं होती। वह उन विशेषताओं या प्रभावों को महत्त्व देता है जो उसकी तात्कालिक, विशिष्ट सम्वेदना को प्रिय लगते हैं। वह कलाकार के युग तथा परिवेश की चर्चा से विरत रहता है, और आलोच्य कृति के उन प्रभावों की छानबीन से घबराता है जो विशुद्ध सौन्दर्य-संवेदना का अतिक्रमण करते हैं। फलतः प्रभाववादी आलोचक उन बड़े तत्वों की उपेक्षा कर सकता है जो कला और जीवन दोनों की रीढ़ का निर्माण करते हैं। छोटे-छोटे प्रभावों का अनुचिंतन करते हुए वह अनुभूति के उन

बड़े ढाँचों की उपेक्षा कर सकता है जो किसी कला-कृति के आधारभूत होते हैं, और उसे सप्राण बनाते हैं। अवश्य ही यह सम्भव है कि किसी कलाकृति में ऐसे प्रभाव सन्निहित हों जो उसके अपने युग की संवेदना का अतिक्रमण कर गये हों, और इस प्रकार बाद के युगों के अधिक संवेदनशील समीक्षकों को ही दिखाई पड़ें, किन्तु साथ ही यह भी सही है कि उन अनदेखे प्रभावों का संकेत उत्तरकालीन समीक्षक के समसामयिक पाठकों की सामूहिक अनुभूति की अपेक्षा में ही किया जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि किसी कृति की आलोचना करते समय यह आवश्यक है कि उसकी विशेषताओं का सम्बन्ध समीक्षक के युग की शिक्षित संवेदना से जोड़ा जाय। इस प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना का अर्थ है कृति का युग-विशेष के प्रचलित यथार्थ रूपों से (और वे रूप आत्म-परक भी हो सकते हैं और वस्तु-परक भी) लगाव दर्शित करना। विशुद्ध प्रभाववादी आलोचना, जो इस प्रकार के सम्बन्ध-स्थापन को महत्व नहीं देती, अपेक्षाकृत छिछली जान पड़ती है।

इन कारणों से एक महत्वपूर्ण कलाकृति अथवा कलाकार के साथ समाजशास्त्रीय समीक्षक जितना न्याय कर सकता है, उतना प्रभाववादी समीक्षक नहीं। हम यह नहीं कहते कि प्रभाववादी समीक्षा द्वारा देखी हुई सूक्ष्म विशेषताएँ महत्वपूर्ण नहीं होतीं, किन्तु उन विशेषताओं की महत्ता ठीक से तभी समझी जा सकती है जब उनका सम्बन्ध जीवन और अनुभूति के विस्तार तथा गहराइयों से दिखा दिया जाय, अर्थात् जब उनकी मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत कर दी जाय। किन्तु उस व्याख्या की प्रकिया, अदृश्य रूप में, प्रभाववादी समीक्षा को समाजशास्त्रीय परीक्षा में परिणत कर देगी। अवश्य ही हम यहाँ समाजशास्त्रीय विशेषण का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में कर रहे हैं, अर्थात् उस अर्थ में जिसमें उसके अन्तर्गत दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टियों का भी समावेश हो जाता है।

इसी प्रकार विशुद्ध अभिव्यंजनवादी समीक्षा, जिसका प्रचार क्रोचे और उसके अनुयायियों ने किया है, पर्याप्त नहीं है। महनीय कला के अनुरूप ऊँचाई पर पहुँचने का प्रयत्न करते हुए अभिव्यंजनावादी समीक्षा को समाजशास्त्रीय धरातल पर प्रवेश करना पड़ जायगा। उक्त समीक्षा-पद्धति के प्रशंसक श्री स्पिनगार्न के अनुसार समीक्षा का मूल कार्य निम्न प्रश्न या प्रश्नों का उत्तर देना है : 'लेखक क्या करना चाहता था? और वह कहाँ तक अपनी योजना को सफलतापूर्वक पूर्ण कर सका है?'[२०] हमारी समझ में ये प्रश्न उचित नहीं हैं, क्योंकि वे यह मानकर चलते हैं कि कलाकार किसी

पूर्व-सिद्ध अनुभूति या योजना को प्रकाशित करने के इरादे से अग्रसर होता है। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि स्थिति ठीक यही नहीं है, और यह कि एक कला-कृति का सृजन करते हुए कलाकार एक नये अनुभव-रूप का निर्माण करता है, न कि किसी पूर्वानुभूत या पूर्वसिद्ध अनुभव को प्रकट करता है। थोड़ी देर को यदि यह मान भी लिया जाय कि कलाकार एक पूर्व-निर्मित अनुभव का प्रकाशन करता है, तो प्रश्न उठेगा—समीक्षक यह कैसे जान सकता है कि वह पूर्व-सिद्ध अनुभव क्या था? समीक्षक की पहुँच केवल उस अनुभव तक होती है जो कलात्मक अभिव्यक्ति में निबद्ध हो चुका है। चूँकि मूल अनुभव उसकी पहुँच के बाहर होता है, इसलिये वह कभी उसकी तुलना प्रकाशित अनुभव से नहीं कर सकता।

इसलिये, हमारे लिये यह प्रश्न पूछना समुचित नहीं है कि कलाकार क्या करना चाहता था। वस्तुतः हमें अपना ध्यान उस पर रखना चाहिए जो कलाकार ने सम्पन्न किया है, अर्थात् उस कला-कृति पर जो उसने हमारे सामने प्रस्तुत की है। हो सकता है कि कलाकार एक खास परिस्थिति अथवा चरित्र की सृष्टि, अथवा एक बड़ी समस्या का समाधान, करना चाहता था: हमें उन उद्देश्यों तथा महत्वाकांक्षाओं का विचार नहीं करना है जिन्होंने कलाकार के सृजन-संकल्प को प्रेरणा दी। संभवतः हम वही देख सकते हैं, और उसी का मूल्यांकन कर सकते हैं, जो वह कर चुका है। वह मूल्यांकन तभी सम्भव है जब हम कलाकार द्वारा प्रकाशित अनुभूति की विषय-वस्तु का मानव-जाति की सौन्दर्य-मूलक वृत्तियों तथा दूसरे पक्षपातों की अपेक्षा में विश्लेषण करें। दार्शनिक ब्रेडेले ने एक स्थान पर कहा है कि दृष्ट पदार्थों में खुरदरे कोने (Ragged Edges) होते हैं जो कि अपने से परे ऐसे यथार्थ की ओर संकेत करते हैं जिसकी वे पदार्थ अपूर्ण अभिव्यक्तियाँ या टुकड़े हैं। ठीक इसी प्रकार कलाकार के अनुभव का प्रत्येक तत्व या पहलू अपने से परे संकेत करता है। उस तत्व या पहलू की सार्थकता दो चीजों की सापेक्ष होती है: एक ओर मानव-प्रकृति की कतिपय मूल प्रवृत्तियों या जरूरतों की, और दूसरी ओर उस वास्तविक या कल्पना-मूलक यथार्थ की जिस पर वे वृत्तियाँ संसक्त होती हैं। समीक्षा का कार्य यह है कि वह कलात्मक अनुभूति के विभिन्न पक्षों की सार्थकता का उद्घाटन करने के लिये उन सम्बन्धों की छानबीन करे जो उन पक्षों तथा बाहरी और भीतरी यथार्थ के बीच स्थापित हुए हैं। किसी कलाकृति की मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्या का अर्थ उक्त सम्बन्धों का उद्घाटन ही है।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आलोचना का कार्य केवल, अथवा मुख्य रूप में, व्याख्यात्मक है। समीक्षक को प्रायः प्रत्येक कदम पर, जाने या अनजाने, मूल्यांकन करना पड़ता है। जब वह आलोच्य कृति के विभिन्न गुण-दोषों पर भिन्न-भिन्न मात्राओं में गौरव देता है तो वह अनिवार्य रूप में मूल्यांकन करता ह। कुछ लोगों का विचार है कि समीक्षक को विभिन्न कृतियों तथा कलाकारों पर तुलनात्मक निर्णय नहीं देने चाहिएँ, किन्तु यह सम्भव नहीं है। बात यह है कि ये दूसरी कोटि के निर्णय ही उन पैमानों को जन्म देते हैं जिनके द्वारा विभिन्न कला-कृतियों का मूल्यांकन होता है। मूल्यांकन के नये पैमानों का अन्वेषण करते हुए कला-मीमांसक प्राचीन "क्लासिक्स" के महत्व का निषेध नहीं करते, यदि वे ऐसा करें तो सम्भवतः नये पैमाने स्वीकृत न हो सकें। इसके विपरीत वे "क्लासिक्स" में ही उन विशेषताओं को ढूँढ़ निकालते हैं जिनकी व्याख्या स्वीकृत सिद्धान्तों या मानों के आधार पर नहीं हो सकती थी। किन्तु मूल्यांकन के एक नये सिद्धान्त या पैमाने के अन्वेषण का अर्थ यह नहीं है कि पुराने पैमाने व्यर्थ हो गये, भले ही उसका यह असर हो कि विभिन्न सिद्धान्तों या पैमानों के आपेक्षिक महत्व में कमी-बेशी हो जाय। नये सिद्धान्तों के उत्साही प्रचारक इस तथ्य को प्रायः भूल जाते हैं। हमारा अनुमान है कि वर्तमान काल में मिल्टन तथा रोमांटिक कवियों का महत्व कम करने के जो प्रयत्न हुए हैं उनके मूल में कुछ ऐसा ही असमंजस या भ्रान्ति है। सम्भव है कि मिल्टन उतना बड़ा कवि न हो जितना दान्ते हैं, क्योंकि पूर्व कवि में उत्तर कवि की कतिपय विशेषताएँ नहीं पायी जातीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मिल्टन एक महत्वपूर्ण कवि नहीं है और उसके काव्य में पायी जाने वाली विशेषताएँ—स्थिर तीव्रता, व्यापक कल्पना और नैतिक आवेश-आवेग—महत्वपूर्ण गुण नहीं हैं। आज के कवि, जैसे टी०एस्० इलियट, श्रेष्ठतम लेखकों जैसे शेक्सपियर और दान्ते के समकक्ष तो नहीं ही हैं, वे तिरस्कृत रूमानी कवियों से भी निश्चित रूप में श्रेष्ठ नहीं हैं। कारण यह है कि उनके काव्य में शक्तिपूर्ण सरलता तथा विश्लेषणात्मक सूक्ष्मता का वह समन्वय नहीं मिलता जो श्रेष्ठतम कविता की विशेषता है। हम कह रहे हैं कि नये, क्रान्तिकारी लेखकों द्वारा मूल्यांकन के नये प्रतिमानों पर जो गौरव दिया जाता है वह प्रायः अतिरंजित और एकांगी होता है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस गौरव से एक लाभ भी होता है। नये सिद्धान्तों के प्रचारक अपनी बात सुना ही न सकें, यदि वे पुराने सिद्धान्तों के दावे का कड़ा विरोध न करें।

सारांश यह कि समीक्षा कला को बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न है, वह रसानु-

भूति की बौद्धिक व्याख्या है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये समीक्षा कलात्मक अनुभूति का विश्लेषण करती है, उसके उपादानभूत तत्वों के बाहरी सम्बन्धों का उद्घाटन करती है, और समग्र प्रकाशित अनुभूति का, उसे बाहरी तथा भीतरी यथार्थ का नया कल्पना-मूलक संग्रथन मानते हुए, मूल्यांकन करती है। इस प्रकार समीक्षा कला के ही उद्देश्य को अग्रसर करती है, वह उद्देश्य है परिवेश या यथार्थ की रागात्मक संभावनाओं की अवगति। यद्यपि कलात्मक अनुभूति के क्षेत्र से बाह्य प्रकृति और शेष विश्व बहिष्कृत नहीं हैं, फिर भी काव्य-साहित्य में जिस यथार्थ का विशेष महत्व होता है उसमें स्वयं मनुष्यों की स्थितियों तथा मनोभावों का मुख्य स्थान रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कला मनुष्य का वह प्रयत्न है जिसके द्वारा वह आत्म का प्रकाशन और स्पष्टीकरण करता है। किन्तु कला में जिस आत्म का प्रकाशन होता है वह जन्म-काल से ही निष्पन्न रूप में वर्तमान नहीं होता, वह आत्म क्रमशः उस यथार्थ की प्रतिक्रिया में उत्थित और निर्मित होता है जिसकी रूपरेखा स्वयं मनुष्य ही, वैज्ञानिक-दार्शनिक चिन्तन द्वारा, खींचता आ रहा है। इस वक्तव्य के आलोक में यह समझा जा सकता है कि क्यों प्रत्येक युग को नयी कला की जरूरत होती है, अथवा क्यों वह नयी कला की सृष्टि करता है। द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच जो जटिल सम्बन्ध स्थापित होता है उसे अनुभव कहते हैं, और कला की एक परिभाषा यह भी हो सकती है कि वह ऐसे नये अनुभव-क्षणों को उत्पन्न करने का प्रयत्न है जिनमें ज्ञाता या विषयी तथा उसके चारो ओर फैले यथार्थ के कुछ पहलुओं में सम्बन्ध स्थापित होता है। विज्ञान की भाँति कला भी अमूर्त होती है, वह विषय और विषयी के सम्बन्ध के कुछ पक्षों का ही निर्माण या प्रकाशन करती है। कला इन सम्बन्धों की अनेक-रूप संभावनाओं का उद्घाटन करती हुई उनके द्वारा मानव-अस्तित्व को समृद्ध करती है।

किन्तु कला उक्त सम्बन्धों को उनके विशेष रूपों में ही अभिव्यक्ति देती है। समीक्षा का कार्य यह है कि विश्लेषण द्वारा विशिष्ट कलात्मक अनुभूतियों के विधायक तत्त्वों को अलग करे, उन तत्त्वों का वर्गीकरण करे, और उन्हें सामान्य पदों में वर्णित कर दे। समीक्षा का लक्ष्य है, कलात्मक अनुभूति की सम्बन्ध-मूलक अवगति। समीक्षा के उक्त कार्य मूलतः दार्शनिक हैं, और समीक्षा प्रधान रूप में एक दार्शनिक क्रिया है। इस क्रिया का विषय मानव-मस्तिष्क की वे कतिपय प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा वह कला-कृतियों का अनुचिन्तन एवं अनुशीलन करता है।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. आई० ए० रिचर्ड्स, द प्रिन्सिपिल्स आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (कीगन पाल, छठा मुद्रण, १९३८), पृ० २८४।

२. वही, पृ० २६७।

३. दे० क्लीन्थ ब्रुक्स, माडर्न पोएट्री ऐन्ड द ट्रेडिशन, (पोएट्री लन्दन, १९४८), पृ० १८-२२, २८।

४. डी० जी० जेम्स, स्केप्टिसिज्म ऐन्ड पोएट्री, (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन लि०, लन्दन, १९३७), पृ० ३०।

५. हर्बर्ट रीड, द मीनिंग आव् आर्ट, (पैलिकन बुक्स, १९५०), पृ० १६।

६. पोएटिक्स, पृ० ९।

७. कनवरसेशन्स, पृ० ८।

८. दे० सी० ई० एम्० जोड, डिकेडेन्स : ए फ़िलॉसिफिकल इन्क्वायरी, (फ़ेबर और फ़ेबर, १९४८), अध्याय ४।

९. कनवरसेशन्स, पृ० १२६।

१०. वही, पृ० १८।

११. हर्बर्ट रीड, कलेक्टेड एसेज इन लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (फ़ेबर और फ़ेबर, १९३८), पृ० ७०।

१२. वही, पृ० १९०।

१३. वही, पृ० ४४।

१४. दे० बेनिडिटो क्रोचे, ईस्थेटिक, (अं० अनु० मैकमिलन, लन्दन, दूसरा सं० १९२२), पृ० २२।

१५. एलेक्जेन्डर पोप, एसे आन क्रिटिसिज़्म।

१६. इमर्सन, एसे आन सेल्फ-रिलाएन्स।

१७. डब्ल्यू० बी० ओ कोनोर, फार्म्स आव् मॉडर्न फ़िक्शन, (मिनेसोटा यूनिवर्सिटी, लन्दन, १९४८), पृ० ३ पर उद्धत।

१८. अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म, संपादक चार्ल्स ग्लिक्सबर्ग, (हेन्डरिक्स हाउस, न्यूयार्क, १९५२), पृ० २६२ पर पाल एल्मर मोर द्वारा उद्धृत।

१९. दे० स्पिनगार्न, द न्यू क्रिटिसिज्म, (अमेरिकन क्रिटिकल एसेज़, आक्सफ़ोर्ड क्लासिक्स में समावेशित), पृ० ४२८-२९।

२०. वही, पृ० ४३५।

अध्याय ६

दर्शन का स्वरूप

हमारा युग सन्देह तथा शंकाओं का युग है। अन्य चीजों की भाँति दर्शन के सम्बन्ध में भी आज के मनुष्य के मन में अनेक शंकाएँ हैं। वह न तो यह जानता है कि दर्शन का वास्तविक कार्य क्या है, और न यही कि उसका वास्तविक उपयोग क्या है। दर्शन सांस्कृतिक जीवन की एक केन्द्रीय क्रिया है, उसके सम्बन्ध में अनिश्चय का अर्थ है संस्कृति के सभी रूपों के मूल्य एवं उपयोगिता के बारे में अनिश्चय होना। आज का मनुष्य कविता पढ़ता है, और कभी-कभी लिख भी लेता है; किन्तु वह यह बिल्कुल नहीं जानता कि क्यों कविता को एक महत्वपूर्ण चीज़ माना जाय। वह नैतिक व्यवहार करता है और नैतिक निर्णय भी देता है, बिना इस आस्था के कि इन व्यापारों का कोई गंभीर अर्थ है। तर्क-मूलक भाववादियों का कहना है कि कविता एवं नैतिक निर्णय के क्षेत्र में हम केवल श्रोताओं की संवेदनाओं (Feelings) को प्रकट अथवा दूसरों की संवेदनाओं को उत्तेजित करते हैं, और उन संवेदनाओं के वाहक शब्द तथा वाक्य वास्तव में बाह्य-संकेत-हीन होते हैं। इसी प्रकार दर्शन के सम्बन्ध में आज की प्रचलित धारणा यह है कि उसका तत्वजगत से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसका एकमात्र लक्ष्य विभिन्न वक्तव्यों की तर्कात्मक समानता अथवा एकार्थकता को प्रकट करना है।

मनुष्य तथा इतर प्राणियों में एक बड़ा भेद यह है कि मनुष्य आत्मावगति रखता है। अपनी क्रियाओं के उद्देश्य का कथन करके वह अपने को मुक्त बना लेता है। किन्तु हम कोई काम किस प्रयोजन से करते हैं, किस मूल्य के लाभ या प्राप्ति के लिये करते हैं, अथवा हमें किन मूल्यों की प्राप्ति के लिये व्यापृत होना चाहिए, यह बताना स्वयं दर्शन के अनेक कार्यों में से एक है। चूँकि आधुनिक मनुष्य के मन में दर्शन की कोई समुचित धारणा नहीं है, इसलिये वह अपनी किसी भी महत्वपूर्ण क्रिया को जीवन में उचित स्थान नहीं दे पाता। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य को दर्शन

के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। और दर्शन मनुष्य को यह प्रश्न उठाकर ही मुक्ति दे सकता है कि—दर्शन क्या है ? मानवीय जीवन एवं संस्कृति के क्रम में दर्शन का क्या स्थान है ? स्वयं अपनी प्रकृति पर विचार करना उसी प्रकार दर्शन का काम है जैसे कि अन्य विशेष रूप से मानवीय व्यापारों पर विचार करना।

मानवीय व्यापारों को समझने के लिये उनके द्वारा पूर्ति पाने वाले प्रयोजनों का उल्लेख करना होता है, वैसे ही जैसे कि जीवधारियों की अन्य क्रियाओं की व्याख्या के लिये। अतएव यह प्रश्न कि दर्शन क्या है, निम्न दूसरे प्रश्नों में अनूदित किया जा सकता है : दर्शन जीवन में किस प्रयोजन की पूर्ति करता है ? अथवा, मनुष्य की किन जरूरतों में दार्शनिक क्रिया का उदय होता है।

दर्शन का उदय उन व्यक्तियों तथा समाजों के जीवन में होता है जिन्हें जीवन की मूल ज़रूरतों को पूरा करने के बाद कुछ अवकाश रहता है। यह बात दर्शन पर ही नहीं, विज्ञान आदि दूसरी ऊँची क्रियाओं पर भी लागू है। अवश्य ही, कविता तथा दर्शन की अपेक्षा से हम विज्ञान को व्यावहारिक उपयोगिता की चीज़ कह सकते हैं, किन्तु विज्ञान की उन्नति भी मुख्यतः उन लोगों द्वारा घटित होती है जो स्वयं ज्ञान में अभिरुचि रखते हैं, न कि उसके व्यावहारिक उपयोग में। यदि यह भी मान लिया जाय कि विज्ञान का उदय मनुष्य की व्यावहारिक ज़रूरतों में होता है जैसा कि मार्क्स-वादियों का विचार है—तो भी वह सिद्धन हीं किया जा सकता कि उसकी सतत प्रगति उन ज़रूरतों के आधार पर होती रह सकती है। कारण यह है कि वे इने-गिने प्रतिभा-शाली व्यक्ति जो विज्ञान की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं, प्रायः अपनी सौन्दर्य-मूलक तथा बौद्धिक जिज्ञासा की वृत्तियों के सन्तोषण में रुचि रखते हैं। न कि व्यावहारिक ज़रूरतों की पूर्ति में।

मानव-चिन्तन को अग्रसर करने वाली शक्ति उसकी एक विशिष्ट माँग है : मनुष्य अपनी अनुभूतियों के बीच सामंजस्य तथा संगति देखना चाहता है। वह इस विश्वास को लेकर जीवित रहता तथा व्यवहार करता है कि संसार की वस्तुएँ स्थिर प्रकृति की हैं, और यह कि एक विश्वसनीय अनुभव दूसरे वैसे अनुभव का विरोधी नहीं हो सकता। समान तथा बारबार आने वाली स्थितियाँ मनुष्य के इस विश्वास को पुष्ट करती हैं, और बाद में यह विश्वास संगति-नियम (Law of consistency) अथवा समरूपता के सिद्धान्त (Law of uniformity) के रूप में प्रति-

पादित हो जाता है। जब कभी मनुष्य को इस नियम का व्यतिक्रम दिखाई देता है, वह परेशान हो जाता है, और तब तक बोधात्मक सन्तुलन को प्राप्त नहीं कर पाता जब तक कि दीखने वाले विरोध का परिहार न हो जाय। उदाहरण के लिये पानी में मुड़ी हुई दीखने वाली छड़ी की प्रतीति उसकी हवा में सीधी दीखने वाली प्रतीति की विरोधिनी है। इस विरोध को दूर करने के लिये मनुष्य उन प्रक्रियाओं पर सैद्धान्तिक चिन्तन करने लगता है जिनके द्वारा, विभिन्न भौतिक माध्यमों में, पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। हम एक आत्म-संगत अथवा निर्विरोध जगत में रहते हैं, यह विश्वास करके चलना मनुष्य के लिये इतना ज़रूरी है कि प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रैडले के लिये यह मन्तव्य बनाना उचित प्रतीत हुआ कि 'चरम तत्व की प्रधान विशेषता यह है कि वह अपना विरोध नहीं कर सकता', अर्थात् आत्म-विरोधी या विसंगत नहीं हो सकता। किन्तु वास्तव में विरोध-हीनता वक्तव्यों अथवा सम्मतियों का गुण है, जिसका उल्लेख तर्क-शास्त्र में होना चाहिए; तत्व दर्शन में उसके बदले समरूपता (Uniformity) अथवा व्यवहार की नियमितता का संकेत किया जाना चाहिए। वस्तुतः किसी ज्ञान-राशि की आन्तरिक संगति या सामंजस्य को उस यथार्थ की समरूपता या नियमानुकारिता का प्रतीकात्मक प्रकाशन माना जाना चाहिए जो उस ज्ञान का विषय है। आगे हम देखेंगे कि आत्म-संगति की इस व्याख्या में किंचित् संशोधन की जरूरत है। यहाँ हम एक दूसरी चीज़ लक्षित करेंगे, वस्तुओं की समरूपता का अनुमान उनके अपरिवर्तनीय परिणामों से किया जाता है। जब तक वस्तु समान स्थितियों में एक-सा व्यवहार करती है, अर्थात् जब वह दूसरी वस्तुओं पर समान प्रभाव डालती है, तब उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसका व्यवहार नियमित अथवा नियमानुवर्ती है।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना चाहिए; विभिन्न वस्तुएँ दूसरी वस्तुओं तथा मनुष्यों पर जो प्रभाव डालती हैं वे भिन्न कोटियों के होते हैं। एक पत्थर को यदि एक कागज़ों के बंडल पर दे मारा जाय तो वह उसे स्थानांतरित कर देता है, यदि उस बंडल पर कोई तेजाब डाला जाय तो वह संभवतः कागजों में रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न कर देगा; किन्तु पत्थर और तेजाब दोनो मनुष्य पर एक तीसरा प्रभाव डालेंगे, अर्थात् दर्द उत्पन्न करने का प्रभाव। विभिन्न विज्ञान विभिन्न वस्तुओं के नियमित व्यवहार का अध्ययन उनके कुछ चुने हुए प्रभावों की अपेक्षा से करते हैं। प्रचलित भाषा में इस तथ्य को हम यह कह कर प्रकट करते हैं कि विभिन्न विज्ञान वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इसका फल यह होता है कि एक विज्ञान जिस

अर्थ-समष्टि को उत्सृष्ट करता है वह विश्व की एकता के एक खास पहलू को, अथवा एक खास पहलू की एकता को ही, दर्शित कर पाता है।

वैज्ञानिक व्याख्या का सम्बन्ध उन गति-मूलक प्रभावों से होता है जो वस्तुएँ अथवा उनके कतिपय पहलू उत्पन्न करते हैं, उस व्याख्या का लक्ष्य होता है उन प्रभावों को बुद्धिगम्य बनाना, उनकी भावी गतिविधि का पूर्वाभास ले सकना, और उन पर नियंत्रण स्थापित करना। उदाहरण के लिये आवर्त्तन (Refraction) के नियम जो कि आलोक-विज्ञान का अंग है, हमें प्रकाश के उन प्रभावों को समझने, उनका पूर्वाभास लेने, तथा उन्हें नियंत्रित करने में मदद देते हैं जो उसके एक भौतिक माध्यम से दूसरे माध्यम में जाने पर उत्पन्न होते हैं।

दूसरे उदाहरण हम नैतिक तथा अनैतिक कर्मों एवं कलाकृतियों द्वारा पड़ने वाले प्रभावों में पा सकते हैं। इन प्रभावों का अध्ययन नीति-शास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र में होता है। विभिन्न प्रकार की विद्याएँ, भौतिक, प्राणि-शास्त्र से सम्बन्धित, तथा मानवीय, अपने बीच उन समस्त प्रभावों की छानबीन कर डालती हैं जो विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न पहलुओं द्वारा मनुष्य नाम के प्राणी पर पड़ते हैं।

ऐसी दशा में दर्शन के लिए क्या काम शेष रह जाता है?

दर्शन के सम्बन्ध में एक बहुत ही प्रचलित धारणा वह है जिसका प्रचार हर्बर्ट स्पेंसर ने किया और जिसके उदाहरण-स्वरूप आधुनिक योरप की अनेक दर्शन-पद्धतियाँ पेश की जा सकती हैं। स्पेंसर के अनुसार विज्ञान अंशतः एकीकृत ज्ञान है, और दर्शन पूर्णतया एकीकृत ज्ञान है। वह कहता है कि दर्शन 'सबसे अधिक सामान्य कोटि का ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसकी उत्पत्ति विभिन्न विज्ञानों द्वारा दिये हुए ज्ञानों के एक समष्टि रूप में मिश्रित होने से होती है।' इस मिश्रण की प्रक्रिया की व्याख्या इस प्रकार की गई है: 'जिस प्रकार विज्ञान के अधिक व्यापक सामान्य कथन अपने क्षेत्र के संकीर्ण अथवा कम व्यापक सामान्य कथनों को एकता में आबद्ध कर देते हैं, वैसे ही दर्शन के सामान्य कथन विज्ञान के व्यापकतम सामान्य कथनों को एकता में ग्रथित कर देते हैं।'[१] मतलब यह कि विभिन्न विज्ञानों के व्यापकतम नियमों को दर्शन के और भी व्यापक नियमों के निष्कर्षों के रूप में अनुगत होना चाहिए। दूसरे शब्दों में दर्शनशास्त्र का काम एक ऐसी सर्व-समावेशी निगमनात्मक पद्धति (Deductive

System) का निर्माण करना है जिसे विभिन्न वैज्ञानिक नियम-पद्धतियों के ऊपर स्थापित किया जा सके।

स्वयं स्पेंसर ने, विकास के एक सार्वभौम नियम के रूप में, एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया। हीगल और कालमार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धतियाँ भी, जो क्रमशः अध्यात्मवादी तथा भौतिकवादी हैं, इसी कोटि में आती हैं। हीगल और मार्क्स दोनों ने ही ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण करने की कोशिश की है जो भौतिक तथा जैवी जगत पर जितने लागू हैं उतने ही ऐतिहासिक-सामाजिक घटना-शृंखला पर भी।

आधुनिक काल में इस प्रकार की निगमनात्मक पद्धतियों के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया हुई है। हम मानते हैं कि यह प्रतिक्रिया, काफ़ी सीमा तक, उचित है। हम निगमनात्मक दर्शन-पद्धतियों को निम्न कारणों से अग्राह्य समझते हैं। प्रथमतः यह समझ में नहीं आता कि कैसे दर्शन ऐसे नियम अथवा नियम-समूह का पता लगा सकता है जिससे नितान्त भिन्न कोटि के नियम—एक ओर भौतिक परिवर्तनों के नियम और दूसरी ओर मानव-व्यवहार के नियम—निगमन-विधि से निकाले जा सकें। इस सम्बन्ध में एक स्थिति का संकेत पर्याप्त होगा। भौतिक विज्ञान के नियम गणित के समीकरणों (Mathematical Equations) के रूप में प्रतिपादित किये जाते हैं। निगमन विधि (Deduction) का प्रयोग करते हुए उन्हें वैसे समीकरणों से ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु जहाँ तक हमें मालूम है किसी भी दर्शन-पद्धति ने अब तक अपने सिद्धान्तों को गणित की भाषा में व्यक्त करने का साहस नहीं किया है। एक दूसरी बात भी विचारणीय है। गणित के बाहर कोई भी ऐसी निगमनात्मक पद्धति नहीं है जहाँ निगमन-विधि के प्रयोग में भूल-चूक होने की संभावना न हो—जो तर्कशास्त्र की दृष्टि से निर्दोष एवं पूर्ण हो। एक लम्बी निगमन-शृंखला में यदि कहीं एक भी कड़ी ग़लत हो जाय, यदि कहीं एक भी निगमन सदोष रह जाय, तो पूरी विचार-पद्धति दूषित हो जाती है। सच यह है कि गणित के बाहर निगमन-विधि का निर्दोष प्रयोग संभव नहीं है। दर्शन-पद्धतियों में उक्त विधि के ग़लत प्रयोग के उदारण दुर्लभ नहीं हैं। हीगल के तर्कशास्त्र में वे उतने ही सुलभ हैं जितने कि ब्रेडले के "तत्व पदार्थ और उसके विवर्त" (Appearance and Reality) ग्रंथ में।

आज हमें इस बात का संकेत मिल रहा है कि कुछ लोग फिर निगमनात्मक दार्शनिक चिन्तन को उज्जीवित करना चाहते हैं। आश्चर्य की बात है कि स्वयं तर्क-मूलक

भाववादी, जो कि अपने को निगमनात्मक दर्शन का विरोधी कहते हैं, वैसा प्रयत्न कर रहे हैं। आज कुछ विचारक "विज्ञानों की एकता" के नारे को बुलन्द कर रहे हैं। उन्होंने हमारे सामने भूतशास्त्रवाद या भौतिकतावाद (Physicalism) का सिद्धान्त रक्खा है, जो कि वास्तव में एक तत्व-दर्शन का सिद्धान्त है। भूतशास्त्रवाद का कार्यक्रम दो प्रकार का है। प्रथमतः वह चाहता है कि समस्त सामाजिक तथा जैवी विज्ञानों की पदावली को भौतिकशास्त्र की पदावली में परिवर्तित कर दिया जाय। दूसरे, उनका विश्वास है कि प्राणि-शास्त्र, व्यवहार-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि के नियमों या कानूनों के वक्तव्यों को भौतिकशास्त्र के वक्तव्यों अथवा कानूनों में बदल दिया जाय।[२]

इस कार्यक्रम के विरुद्ध जॉन ड्यूई ने चेतावनी दी है जिसे हम उद्धृत करेंगे: 'सब विज्ञानों के पारिभाषिक पदों को किसी एक विज्ञान की पदावली में परिवर्तित करके समस्त विद्याओं की एकता स्थापित करने का प्रयत्न शुरू से ही विफल होने को बाध्य है।'[३]

कार्नैप कहते हैं: 'विज्ञान की एकता के प्रश्न का सम्बन्ध वस्तुतः विज्ञान के तर्कनाशास्त्र से है, न कि तत्वमींमांसा से। उस प्रश्न का विषय है, विभिन्न विज्ञानों के पदों तथा नियमों का तर्कात्मक सम्बन्ध।'[४] किन्तु कार्नैप ने इसका विचार नहीं किया कि तर्कशास्त्र के नियम एक ही वक्तव्य-क्षेत्र (Universe of Discourse) में लागू होते हैं। विभिन्न वक्तव्य-क्षेत्रों से सम्बन्धित कथनों में किसी प्रकार का तर्कमूलक विरोध अथवा निर्भरता प्रदर्शित नहीं की जा सकती। श्री वैज़मान ने लिखा है: 'तर्कशास्त्र का प्रयोग एक महत्वपूर्ण अर्थ में सीमित होता है...तर्कशास्त्र के लगाव या सम्बन्ध उन्हीं वक्तव्यों के बीच हो सकते हैं जो एक समान क्षेत्र से सम्बद्ध हैं। निगमनात्मक सम्बन्ध कभी ऐसे क्षेत्र के बाहर नहीं जाता।'[५] इस प्रकार हम देखते हैं कि भूतशास्त्रवादियों का कार्यक्रम तर्कशास्त्र की सीमा के बाहर चला जाता है; वह वस्तुतः तत्व-दर्शन के सम्बन्ध रखता है। ऐसा जान पड़ता है कि तर्क-मूलक भाववादी को तत्व-दर्शन (Metaphysics) से कोई आपत्ति नहीं है, यदि उसका उपयोग एक ख़ास किस्म के भौतिकवाद की पुष्टि में किया जाय।

परिणमन द्वारा एकीकरण

वस्तुतः भूतशास्त्रवादियों का प्रयत्न उस लम्बी-चौड़ी चिन्तन-परम्परा का उदाहरण है जिसका लक्ष्य विश्व की विविधताओं, अथवा वस्तुओं के विविध पहलुओं को,

एकात्मक दर्शित करना रहा है। इस दृष्टि से जड़वादी दार्शनिकों ने बड़े निपुण तर्कों का उपयोग किया है। उदाहरण के लिये यंत्रवादी भौतिकवाद यह कोशिश करता है कि वस्तुओं के विभिन्न प्रभावों को केवल एक प्रभाव में परिणत कर दे, अर्थात् यह दर्शित कर दे कि वे सब प्रभाव अन्ततः शक्ति के वितरण अथवा उन वस्तुओं के गति-रूप हैं जिनका अध्ययन भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र में होता है। मतलब यह कि यंत्रवाद किसी चीज़ के विभिन्न पहलुओं को उसके एक पहलू या रूप में परिणत करना चाहता है, और बाकी पहलुओं को आभास अथवा मिथ्या दर्शित करने का प्रयत्न करता है। इसी दृष्टि का एक दूसरा रूप है, जिसे हम पद्धति-मूलक भौतिकवाद (Methodological Materialism) कह सकते हैं। यह भौतिकवाद वस्तुओं के गुणात्मक प्रभावों को उनके मात्रागत परिवर्तनों से सम्बन्धित कर देना चाहता है। इस मत के अनुसार वस्तुओं की गुणात्मक विविधता की व्याख्या करने के लिये यह दर्शित कर देना काफ़ी है कि वे विविधताएँ मात्रामूलक परिवर्तनों से सहचरित होती हैं। उदाहरण के लिये यह समझा जाता है कि हम किसी गीत के सम्पूर्ण प्रभाव की व्याख्या यह दिखाकर कर सकते हैं कि उसकी विभिन्न लयों तथा गतों का सम्बन्ध विभिन्न ध्वनि-स्पन्दनों की निश्चित लम्बाइयों तथा आवृत्ति-संख्याओं (Frequencies) से है। इसी प्रकार यदि यह दिखा दिया जाय कि मनुष्य के विचार तथा आवेग स्नायु-मंडल तथा अन्य शारीरिक परिवर्तनों से आवश्यक रूप में सम्बन्धित हैं, तो उन विचारों तथा आवेगों की व्याख्या हो जाती है।

समझा जाता है कि इस प्रकार की व्याख्याएँ विशुद्ध रूप में वैज्ञानिक होती हैं। किन्तु हमारा विश्वास है कि उन व्याख्याओं में वैज्ञानिक व्याख्याओं का कोई भी गुण नहीं होता। यह बात स्पष्ट हो जायगी यदि हम मानसिक दशाओं की शारीरिक तथा स्नायविक व्याख्या का विचार करें। उदाहरण के लिये हम पूछ सकते हैं कि क्या शरीर-विज्ञान (Physiology) तथा स्नायु-विज्ञान (Neurology) हमें ऐसी योग्यता दे सकते हैं कि हम (१) चिन्तन-प्रक्रिया के उन विशिष्ट धर्मों की व्याख्या कर सकें जिनके कारण वे यथार्थानुकारी एवं सत्य होते अथवा नहीं होते हैं; (२) हम उन चिन्तन-क्रियाओं को पूर्वभासित (Anticipate) कर सकें जो एक ख़ास मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली हैं; और (३) एक या दूसरे प्रकार के विचारों के उदय होने पर नियन्त्रण कर सकें। यह देखना कठिन नहीं है कि ऊपर की दी हुई चन्तन-प्रक्रिया की व्याख्या इन तीनों में से एक भी शर्त को पूरा नहीं कर सकती।

हो सकता है कि हम किसी मनुष्य अथवा जनसमूह की जरूरतों और आवेगों पर प्रचार (Propaganda) अथवा वैसे दूसरे तरीकों से कुछ नियन्त्रण कर सकें। किन्तु उन तरीकों का पता खास तौर से स्नायु-विज्ञान तथा शरीर-विज्ञान द्वारा नहीं लगाया गया है। सच यह है कि जन-मत को प्रभावित करने और सोचने की घटनाएँ उस तथ्य-क्रम के अन्तर्गत नहीं आतीं जिनका अध्ययन उपरोक्त विज्ञान करते हैं। कहा जाता है कि हमारी आवेगात्मक अनुभूतियाँ सदैव शारीरिक क्रियाओं द्वारा सहचरित रहती हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन अनुभूतियों और उन क्रियाओं में तादात्म्य का सम्बन्ध है। उदाहरण के लिये जब एक व्यक्ति तार द्वारा अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर तीव्र आवेगात्मक प्रतिक्रिया करता है, तो यही कहना उचित जान पड़ता है कि उसकी प्रतिक्रिया का कारण उसे मिली हुई खबर है। उसके शरीर में जो भौतिक परिवर्तन उस प्रतिक्रिया के साथ होते हैं, उन्हें उस अनुभूति का कारण नहीं कहा जा सकता। दूसरे, उसकी प्रतिक्रिया मुख्यतः मनोवैज्ञानिक होती है। उसके मन में यह विचार आता है कि उसकी बनाई हुई सैकड़ों योजनाएँ व्यर्थ हो गईं, और अपने पुत्र के जीवन से उसने जिन सुखों के पाने की कल्पना की थी उनकी सम्भावना नष्ट हो गई।

भूतशास्त्रवादी यह कोशिश करते हैं कि प्रेम आदि आवेगों के व्यंजक शब्दों तथा वाक्यों को उन वाक्यों में परिवर्तित कर दें जो शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन करते हैं। किन्तु इस प्रकार की परिवर्तित व्यंजनाओं द्वारा बातचीत करना तथा लिखना नितान्त कठिन हो जायगा, क्योंकि एक-एक शब्द के स्थान पर लम्बी व्यंजनाओं को रखना पड़ेगा। दूसरे, ये लम्बी-चौड़ी व्यंजनाएँ भी जो कि शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन करेंगी, उस आन्तरिक संवेदना को प्रस्तुत नहीं कर सकेंगी जिसके कारण प्रेम जैसे आवेग की अनुभूति इतनी महत्वपूर्ण तथा जीवन्त प्रतीत होती है।

हम दर्शन को एक सर्वातिशायी विज्ञान नहीं मानते, न उस अर्थ में जो हर्बर्ट स्पेन्सर को अभिप्रेत है, और न उस अर्थ में जिसमें उसे कार्नेप ने लिया है। हमारी राय में दर्शन का काम ऐसे नितान्त सामान्य नियमों की खोज नहीं है जो, निरपवाद रूप में, समस्त जगत पर लागू हो सके। दर्शन का यह भी काम नहीं है कि वह विश्व की विभिन्न छबियों को एक रूप में परिणमित करके उस पर जबर्दस्ती एकता लाद दे, और विश्व के विभिन्न पहलुओं के वर्णनों को एक प्रकार के वर्णन में बदल दे। इसके विपरीत हमारा विचार है कि दर्शन का काम विश्व की विविधता को उड़ा देना नहीं,

अपितु उसकी तीव्रतर अवगति उत्पन्न करना है। दर्शन विश्व के एक, सामान्यतम पहलू का प्रत्याहरण (Abstraction) की प्रक्रिया द्वारा अध्ययन नहीं करेगा, उसे विश्व को उसकी समस्त मूर्तिमत्ता में पकड़ सकना चाहिए। प्रत्येक विज्ञान अमूर्त होता है, वह प्रत्याहरण द्वारा वस्तुओं के किसी एक पहलू का अध्ययन करता है; यदि दर्शन विज्ञान के पीछे चलेगा तो वह कभी भी विश्व की मूर्त समग्रता को अपनी पकड़ में नहीं ला सकेगा।

बीसवीं सदी के अधिकांश दार्शनिकों के पक्षपातों तथा मान्यताओं के विरुद्ध हमारा यह प्रस्ताव है कि दर्शन को विज्ञान से भिन्न होना चाहिए। उसकी चिन्तन-प्रणाली वैज्ञानिक प्रणाली से भिन्न है। विज्ञान के विविध रूपों का लक्ष्य होता है, वस्तुओं की अस्तित्व-मूलक व्याख्या करना। विज्ञान यह बतलाता है कि कैसे कुछ वस्तुएँ अथवा घटनाएँ अस्तित्व में आती हैं, अथवा कैसे कुछ चीजें दूसरी चीजों से निःसृत होती हैं। अपने आदर्श रूप में विज्ञान इन व्याख्याओं को ऐसी स्थापनाओं तथा नियमों के रूप में, जिनकी निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा परीक्षा हो सके, निरूपित करता है। भौतिकशास्त्र में इस आदर्श की प्रायः पूर्ण उपलब्धि हो जाती है। किन्तु अधीत विषय-वस्तु की जटिलता के कारण सामाजिक विज्ञानों द्वारा प्राप्त होने वाली सफलता दूसरी कोटि की होती है। इन शास्त्रों के सामान्य कथन कार्य-कारणों की पूर्वसिद्ध श्रृंखलाओं का नहीं, अपितु सम्भाव्य श्रृंखलाओं का उद्घाटन करते हैं, और उनकी स्थापनाएँ "कल्पना-मूलक दृष्टि अथवा प्रयोग" द्वारा ही परीक्षित होती हैं। किन्तु भौतिक और सामाजिक विज्ञान दोनों का उद्देश्य अस्तित्व-मूलक व्याख्याएँ प्रस्तुत करना है। इस दृष्टि से दर्शनशास्त्र दोनो प्रकार के विज्ञानों से भिन्न है।

दर्शन का साक्षात् विषय अस्तित्ववान् पदार्थ नहीं हैं। यह ठीक है कि अपने इतिहास में दर्शन अक्सर मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, कारण आदि प्रश्नों से उलझता रहा है, और यह विमर्ष भी करता रहा है कि हमारी आत्मा का गन्तव्य क्या है, सृष्टि का क्या भविष्य है, इत्यादि। पुराने ज़माने में दर्शन के इतने प्रश्नों के उलझने का एक कारण यह भी था कि उस समय मनुष्य की ज्ञान-क्रिया विभिन्न शाखाओं में विभक्त नहीं हुई थी। उस समय मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान उसके धर्म और दर्शन में निहित था। जिस समय वेदों और उपनिषदों का निर्माण हुआ, और उसके कुछ बाद भी, थेलीज़ और हेराक्लाइट्स, डिमोक्राइट्स तथा कणाद, ऐम्पीडाक्लीज़ तथा कपिल ने अपनी कल्पना-मूलक भौतिक पद्धतियों का निर्माण किया। यूनान में इस

स्थिति में उस समय तक कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ था जब प्लेटो ने अपनी भव्य दर्शन-पद्धति की रचना की। उसके बाद अरस्तू ने ज्ञान को विभिन्न शाखाओं में विभक्त कर दिया। किन्तु अरस्तू भी यह मानते रहे कि तत्व-दर्शन एक सामान्य विज्ञान है जो वस्तुओं के 'मूल कारणों तथा नियमों'[६] का अन्वेषण करता है। दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया पर अरस्तू का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा; प्राचीन यूनान में ही नहीं, मध्ययुगीन तथा पुनर्जागृति के बाद के योरप में भी, दर्शन को सर्वसमावेशी विज्ञान समझा जाता रहा। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के समय में भौतिकशास्त्र को प्रकृति-दर्शन कहा जाता था और उसे दर्शन की एक शाखा समझा जाता था। उन्नीसवीं सदी में, जैसा कि हम देख चुके हैं, हीगल, मार्क्स और स्पेन्सर ने अपनी पद्धतियों का निर्माण इसी पुराने ढंग पर किया।

आज शायद ही कोई विचारक होगा जो यह स्वीकार करेगा कि दर्शन को भौतिक जगत तथा जीव-जगत के सम्बन्ध में वक्तव्य देने का अधिकार है, अथवा उसे समाज तथा इतिहास के विकास पर अपनी राय देनी चाहिए। आज हम इस बात को अधिकाधिक समझ रहे हैं कि भौतिक तथा सामाजिक जगतों को किसी प्रागनुभविक (Apriori) बौद्धिक ढाँचें में "फ़िट" नहीं किया जा सकता। विभिन्न अन्वेषक अपने विभिन्न क्षेत्रों का तथ्यात्मक अध्ययन अपने-अपने ढंग से करते हैं। हम किसी ऐसी पद्धति को नहीं जानते जिसके द्वारा समस्त विज्ञानों की तथ्य-सामग्री को एक जगह इकट्ठा करके उस पर शासन करने वाले व्यापक नियमों का पता लगा लिया जाय।

सच यह है कि दर्शन विज्ञानों का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, उसे वस्तुओं के अस्तित्व-सम्बन्धी प्रश्नों से विशेष सरोकार नहीं है। दर्शन का काम कारण-मूलक व्याख्याएँ देना नहीं है। जब एक दार्शनिक कार्य-कारण के सम्बन्ध, अनुमान, प्रमाण, सत्य, साधुता (Virtue) आदि के सम्बन्ध में विचार करता है तो निश्चय ही वह उन चीजों के कारणों की खोज नहीं करता। प्रश्न उठता है, तो दार्शनिक क्या करना चाहता है? कालिंगवुड ने कहा है: 'दर्शन को हम दूसरे दर्जे का चिन्तन कह सकते हैं, अर्थात् चिन्तन के सम्बन्ध में चिन्तन।'[७] किन्तु यह बात दर्शन-विषयक सत्य का एक पहलू है। इसमें सन्देह नहीं है कि दार्शनिक चिन्तन-क्रिया मननात्मक तथा आलोचनात्मक होती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि इस मनन तथा चिन्तन का विषय मुख्यतः मनुष्य का वैज्ञानिक बोध होता है। दर्शन मनुष्य की सौन्दर्य, नैतिकता तथा धार्मिक-

आध्यात्मिक अनुभूतियों पर भी उसी प्रकार विचार करता है जिस प्रकार कि विज्ञानों से प्राप्त होने वाले ज्ञान पर।

हम दर्शन की परिभाषा इस प्रकार करेंगे : **दर्शन सांस्कृतिक अनुभूति का विश्लेषण, व्याख्या एवं मूल्यांकन करने का प्रयत्न है।** चूँकि इस अनुभूति में स्वयं दर्शन का भी समावेश है, इसलिये दर्शन स्वयं अपने स्वरूप, क्रिया तथा उपलब्धियों का विश्लेषण, व्याख्या एवं मूल्यांकन भी करता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि दर्शन मुख्यतः एक आलोचनात्मक क्रिया है। उसका समस्त संस्कृति से वही सम्बन्ध है जो समीक्षा का कला-साहित्य से होता है। जिसे हम सांस्कृतिक अनुभूति कहते हैं उसकी दो मुख्य विशषताएँ हैं; प्रथमतः वह निरुपयोगी होती है अर्थात् स्वयं अपना साध्य होती है; दूसरे सांस्कृतिक अनुभूति प्रायः प्रतीक-बद्ध रूप में वर्तमान रहती है। दर्शन का सम्बन्ध उस अनुभूति से नहीं है जो विभिन्न पदार्थों के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। यह अनुभूति संस्कृति नहीं होती। सांस्कृतिक अनुभूति अथवा क्रिया का सम्बन्ध उन प्रतीक-विधानों से होता है जिनके द्वारा मनुष्य यथार्थ के विभिन्न, अर्थवान पहलुओं को चेतना में संचित एवं व्यवस्थित करके उनका मनन करता है—अर्थात् उन क्रियाओं से जो उसके अस्तित्व का साधन न होते हुए उसके आत्मिक जीवन को विस्तार देती हैं। फलतः दर्शन का विषय वे क्रियाएँ नहीं हैं जो दृश्यमान जगत का निर्माण करती हैं, बल्कि वे क्रियाएँ जो मनुष्य के आन्तरिक जीवन को निर्मित करती हैं। इस दृष्टि से, कला की भाँति, दर्शन को भी आत्मज्ञान कहा जा सकता है। दर्शन का बाह्य जगत से सम्बन्ध होता है, किन्तु वह सम्बन्ध सीधा नहीं, अपितु व्यवहित होता है। उदाहरण के लिये विज्ञानगत बोध का विश्लेषण तथा व्याख्या करते हुए दर्शन का बाह्य जगत से दूर का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। चूँकि दार्शनिक वक्तव्यों का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य के आन्तरिक, सांस्कृतिक जगत से होता है इसलिये उन वक्तव्यों को बाह्य निरीक्षण द्वारा प्रमाणित अथवा अप्रमाणित नहीं किया जा सकता।[८] इस दृष्टि से हम दर्शन को मानवीय आत्मा का वर्णनात्मक अध्ययन, अथवा मानवीय संस्कृति का समीक्षात्मक वर्णन कह सकते हैं। दर्शन वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मानव-संस्कृति आत्म-चेतना प्राप्त करती है। बौद्धिक चिन्तन के सामान्य नियम के अनुसार दर्शन का उदय तब होता है जब मानव-बुद्धि के सम्मुख कतिपय असंगतियाँ अथवा विरोध उठ खड़े होते हैं। जब असंगति या विरोध तथ्य-जगत में मिलता है, तो विज्ञान का जन्म होता है; किन्तु जब असंगति या विरोध उन धारणाओं या प्रत्ययों के संसार में होता है जिनके

द्वारा हम तथ्य-जगत तथा मूल्य-जगत की व्याख्या करना चाहते हैं, तो दर्शन का उदय होता है। दर्शन का काम उन विरोधों तथा असंगतियों को दूर करना है जो कि विभिन्न विज्ञानों, कलाओं, तथा नैतिकता, अध्यात्म आदि क्षेत्रों की दृष्टियों, पद्धतियों, मान्यताओं आदि के बीच उठ खड़ी होती हैं। एक ही क्षेत्र में उत्थित होने वाले विरोध तथा असंगतियाँ भी दर्शन का विषय हो सकती हैं; और दर्शन उन मान्यताओं, प्रत्ययों तथा पद्धतियों पर भी विचार कर सकता है जिन्हें अनेक विज्ञान स्वीकार करते हैं।

हमने अभी तक दर्शन के स्वरूप का सामान्य परिचय दिया, अब हम उसकी विभिन्न क्रियाओं की परीक्षा करेंगे। दर्शन का पहला कार्य है विश्लेषण, जो स्वभावतः व्याख्या तथा मूल्यांकन से पहले आता है। दर्शन किस चीज का विश्लेषण करता है? दार्शनिक विश्लेषण का विषय मनुष्य की वे क्रियाएँ हैं जिनके द्वारा वह यथार्थ के विभिन्न पहलुओं की अवगति अथवा कल्पनात्मक बोध प्राप्त करता है। यहाँ एक रोचक प्रश्न उठ खड़ा होता है। क्रिया नाम की वस्तु प्रवाहशील होती है, वह लगातार होती रहती है; विश्लेषण के लिये दर्शन उसे किस प्रकार पकड़ सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि चिन्तनात्मक क्रियाएँ काल के बाहर होती हैं, वे उन क्रियाओं की भाँति जिनका अध्ययन मनोविज्ञान करता है, कालिक या कालगत नहीं होतीं। एक प्रक्रिया के रूप में जानना या बोध काल-गत चीज है, किन्तु यथार्थ का प्रकाशक होने के नाते वह कालिक नहीं है। अपने कालहीन रूप में बोध-क्रिया को प्रतीकों के द्वारा प्रकट किया जा सकता है, और उसे प्रत्ययों तथा वाक्यों में बाँधा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि दर्शन का काम प्रत्ययों तथा वाक्यों का विश्लेषण करना है, वहाँ तक जहाँ तक वे प्रत्यय और वाक्य यथार्थ के स्वरूप को उद्घाटित करते हैं।

किन्तु उक्त समस्या का यह हल समीचीन नहीं है। हम अपनी कठिनाई को एक दूसरे ढंग से रक्खें: सब प्रकार के यथार्थ, फिर चाहे वे भौतिक हों अथवा मानसिक, लगातार बदल रहे हैं। उन्हें स्थिर अर्थ वाले प्रत्ययों (Concepts) तथा वाक्यों द्वारा कैसे उद्घाटित किया जा सकता है? प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसाँ ने इस युक्ति का उपयोग समस्त भौतिक ज्ञान के विरोध में किया है। इस कठिनाई को हल करने के लिये हमें दो-तीन बातें मानकर चलना पड़ेगा। प्रथमतः हमें यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य का समस्त शब्द-व्यवहार प्रयोजनमूलक होता है और यह कि मनुष्य के प्रयोजन न्यूनाधिक स्थिर रहते हैं। दूसरे, हमें मानना पड़ेगा कि भौतिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के यथार्थ, वहाँ तक जहाँ तक वे मानवीय प्रयोजनों के लिये अर्थवान हैं, बार-

बार आवृत्त होने वाली गतियों अथवा क्रियाओं द्वारा निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिये यह सम्भव है कि वे चीजें जिन्हें हम पानी या हवा कहते हैं, पिछले पाँच-छः हजार वर्षों में, अर्थात् सभ्य मनुष्य के इतिहास की अवधि में, थोड़ी-बहुत बदल गयी हों। किन्तु मनुष्य को भौतिक, जैवी तथा सौन्दर्यमूलक जरूरतों की अपेक्षा में भी वे प्रायः वही रही हैं, और आधुनिक रसायन-शास्त्री के लिये भी उनका रूप प्रायः स्थिर है। यही बात दूसरी ऐसी चीज़ों के बारे में कही जा सकती है जैसे कि अणुवीक्षण यंत्र, थर्मामीटर, तौलने का यंत्र, तेजाब, क्षार आदि जिनके प्रयोग के बिना वैज्ञानिक अन्वेषण सम्भव ही नहीं होंगे। इसी प्रकार प्रतीक-बद्ध मानसिक क्रियाएँ भी स्थिर-रूप बनी रहती हैं। मनुष्य परस्पर बातचीत तथा सामाजिक व्यवहार कर पाते हैं, इसका प्रमुख कारण यह है कि उनकी ज़रूरतें तथा रुचियाँ समान होती हैं। और वे प्रकृति की एकरूपता (Uniformity) में विश्वास किये जाते हैं, इसका कारण यह है कि वह प्रकृति उनकी सामान्य ज़रूरतों को लगातार पूरा करती रहती हैं।

अर्थ तथा प्रेषण

ऊपर की मान्यताएँ आवश्यक हैं, इसे सिद्ध करने के लिये हम शब्दों के अर्थ तथा उन अर्थों के प्रेषण की समस्या पर विचार करेंगे। पशुओं से मनुष्य का एक बड़ा भेद यह है कि वह यथार्थ जगत को प्रतीकों के रूप में प्रकट या अनूदित कर लेता है। इस प्रक्रिया द्वारा मनुष्य की अपने अनुभवों को याद रखने और संगठित करने की शक्ति बहुत ज़्यादा बढ़ जाती है, उसके द्वारा उसकी सामाजिक सम्पर्क की क्षमता में भी विशेष वृद्धि होती है। मनुष्य द्वारा प्रयुक्त होने वाले सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक शब्द हैं। प्रतीकों का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग गणित में पाया जाता है। प्रतीकों का रूप कुछ भी हो, उनका प्रयोग वस्तुओं, गतियों तथा क्रियाओं, गुणों तथा सम्बन्धों को प्रकट करने के लिये किया जाता है। एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है। हम प्रतीकों का प्रयोग केवल उन्हीं चीजों का संकेत करने के लिये नहीं करते जो हमारे सामने मौजूद हैं, प्रतीकों द्वारा हम अतीत वस्तुओं का भी संकेत करते हैं और उन सम्भाव्य स्थितियों का भी जिनकी हम कल्पना करते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में हमारी समस्त स्थापनाएँ (Hypotheses) तथा 'यदि' से शुरू होनेवाले वक्तव्य प्रायः सम्भाव्य का निर्देश करने वाले ही होते हैं। किसी भी प्रकार के प्रतीकों के प्रयोग के सम्बन्ध में एक याद रखने की बात यह है कि वे यथार्थ वस्तु या स्थिति के उन्हीं पहलुओं को––फिर चाहे

वे तथ्य या पहलू वास्तविक हों अथवा कल्पित—संकेत कर सकते हैं जिनसे प्रतीकों का प्रयोग अथवा व्याख्या करने वाला परिचित है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रतीक वस्तुओं अथवा उनके गुणों को उनकी समग्रता में व्यंजित नहीं करते। उदाहरण के लिये जब हम 'अश्व' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ अश्व नाम की वस्तु की वे ही विशेषताएँ हो सकती हैं जिनका उस शब्द का प्रयोग करने वाले अथवा उसे सुनने या पढ़ने वाले को ज्ञान है। अश्व शब्द का सम्पूर्ण अर्थ कभी उस ज्ञान से अधिक नहीं हो सकता जो कि उस शब्द के प्रयोक्ता अथवा व्याख्याता को अश्व नाम के यथार्थ के सम्बन्ध में है। स्पष्ट ही अश्व का यह ज्ञान एक व्यक्ति से दूसरे में, और एक युग से दूसरे युग में, बदलता रहता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न सन्दर्भों में, विभिन्न मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त अश्व शब्द एक ही अर्थ का वाहक होता है। वस्तुतः अश्व शब्द का वाच्य अश्व की वह धारणा होती है जो कि प्रयोक्ता अथवा व्याख्याता के मन में रहती है। ऑगडेन और रिचर्ड्स नें कहा है कि शब्दों का सीधा सम्बन्ध धारणाओं तथा प्रत्ययों से होता है, और दूर का सम्बन्ध वस्तुओं से।[१] यह स्थिति एक कठिन बौद्धिक समस्या को उत्थित करती है। विभिन्न लोगों के अनुभव तथा ज्ञान भिन्न-भिन्न होते हैं, फिर वे, प्रतीकों का प्रयोग करते हुए, कैसे एक-दूसरे तक अपना अभिप्राय पहुँचा देते हैं? अथवा यह माना जाय कि विभिन्न मनुष्य अभिप्रेत अर्थों का पूरा प्रेषण कभी नहीं करते, और यह कि लोगों के पारस्परिक विचार-विनिमय की प्रतीति वास्तविक न होकर भ्रमात्मक है? किन्तु यह मन्तव्य कि मनुष्य एक-दूसरे तक अपने अभिप्राय नहीं पहुँचा पाते, उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि आज के जटिल यंत्र युग में तब तक काम नहीं चल सकता जब तक कि लोग एक-दूसरे की बात को ठीक-ठीक न समझें। उदाहरण के लिये आज के उद्योगधन्धों में जो रासायनिक तथा यांत्रिक क्रियाएँ होती हैं, उनके ठीक अनुष्ठान के लिये यह ज़रूरी है कि विभिन्न कर्मचारी एक-दूसरे के निर्देशों (Directions) तथा आदेशों को ठीक-ठीक समझें।

ऊपर की समस्या का हल इस तथ्य में है कि मानव-प्रकृति में एक मौलिक एकता है, जो कि विभिन्न मनुष्यों की समान रुचियों तथा प्रयोजनों में प्रतिफलित होती है। इस एकता का मनुष्य के बौद्धिक व्यापारों पर निम्न प्रभाव पड़ता है। मनुष्यों द्वारा किये हुए तथ्यों के समस्त वर्णन तथा उल्लेख प्रयोजन-मूलक होते हैं, अर्थात् उनका उद्देश्य कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति अथवा कतिपय प्रयोजनों की पूर्ति होता है। जब एक

मनुष्य दूसरे से बात करना चाहता है; अथवा दूसरा पहले को समझना चाहता है, तो उन दोनों को उस प्रयोजन को पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए जो बातचीत के मूल में है; दोनों को एक-दूसरे के शब्दों की व्याख्या उस प्रयोजन के सन्दर्भ में करनी चाहिए। प्रयोजन-मूलक सन्दर्भ को ही "वक्तव्य का क्षेत्र" (Universe of Discourse) भी कहते हैं। विभिन्न शब्दों का अर्थ नितान्त धुंधला, अनिश्चित तथा अपरिच्छिन्न होता है; वक्ता तथा श्रोता का सामान्य प्रयोजन उस अर्थ को निश्चित और सीमित बना देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे वर्णनों अथवा प्रतीक-मूलक व्यंजनाओं का अभिप्राय दो चीजों से निश्चित होता है : प्रथमतः हमारे वर्णित वस्तुओं के ज्ञान से, और दूसरे उन प्रयोजनों से जिनके लिये हम विभिन्न अवसरों पर उस ज्ञान का उपयोग करते हैं।

दार्शनिक विश्लेषण

अब हम दार्शनिक विश्लेषण की समस्या की ओर लौटेंगे। दर्शन बोध-क्रिया के उन सामान्य रूपों का विश्लेषण करता है जो कि धारणाओं तथा कथनों के रूप में व्यक्त किये जाते हैं। एक धारणा अथवा प्रत्यय सरल भी हो सकता है और जटिल भी। सरल प्रत्यय का विश्लेषण नहीं हो सकता, यद्यपि उसकी व्याख्या हो सकती है, जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। 'या', 'और,' 'नहीं' आदि सरल प्रत्यय हैं। किसी जटिल प्रत्यय का विश्लेषण करने का अर्थ है उसे सरल प्रत्ययों में खंडित करना, और उन सम्बन्धों के संकेत करना जो उन सरल प्रत्ययों के बीच पाये जाते हैं। यह प्रक्रिया जब तक चलती रहती है जब तक हम सरल प्रत्ययों तक न पहुँच जायँ। सरल प्रत्यय उसे कहते हैं जिसका विषयभूत तत्व साक्षात् अनुभव की अपेक्षा से समझा जा सकता है। उदाहरण के लिये 'हरा' नामक प्रत्यय का अर्थ समझने का एक ही तरीका है, अर्थात अनुभव में आने वाले हरे पदार्थ की ओर संकेत कर देना। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'हरा' शब्द की प्रत्यक्ष-मूलक व्याख्या या परिभाषा ही हो सकती है। इससे यह अनुगत होता है कि एक जन्मान्ध मनुष्य कभी भी 'हरा' शब्द का अर्थ नहीं समझ सकता। इसी प्रकार एक ऐसा व्यक्ति जिसने कभी दाँत के दर्द का अनुभव नहीं किया है, नहीं समझ सकता कि दाँत की पीड़ा का क्या अर्थ हो सकता है। ऐसे ही 'उसकी अपेक्षा बड़ा', 'बाईं ओर', 'अमुक का विरोधी' आदि सम्बन्ध भी किसी-न-किसी प्रकार के साक्षात् अनुभव द्वारा ही समझे जा सकते हैं।

दार्शनिक विश्लेषण एक मानसिक क्रिया है। इसका मतलब यह हुआ कि हम जिस चीज़ का विश्लेषण करते हैं वह तथ्य नहीं होती, वह एक या अनेक तथ्यों की, अथवा उनके एक या अनेक पहलुओं की, धारणा या प्रत्यय होता है। डॉ० स्टेबिंग ने एक जगह लिखा है: 'हमारी सम्मति में विश्लेष्य वस्तु तथ्य होती है।'[१०] किन्तु यह स्पष्ट है कि दार्शनिक भौतिक तथ्यों का विश्लेषण नहीं करता। मानसिक तथ्यों के सम्बन्ध में भी यही सही है, हम उनकी सामान्यीकृत धारणा का विश्लेषण करते हैं, न कि विशेष मन में प्रतिफलित होने वाले अनुभवों का। सच यह है कि हमारी अनुभूतियाँ लगातार परिवर्तित होती रहती हैं, वे प्रवाह-रूप होती हैं, इसलिए उनका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। हम वस्तुतः उन अर्थों (Meanings) का विश्लेषण करते हैं जो कि विशेष अनुभवों में निहित समझे जाते हैं।

कुमारी एम्ब्रोज़ ने उस विश्लेषण के खिलाफ जिसका लक्ष्य स्पष्टीकरण है कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। वह कहती हैं कि 'जब किसी शब्द का अर्थ सचमुच अस्पष्ट या धुंधला होता है, तब निकट परीक्षण करने से हम उसके धुंधलेपन का ही पता पा सकेंगे।'[११] आगे वह कहती हैं: 'यह अजीब है कि हम लगातार विश्लेषण करने का प्रस्ताव करते हैं, जब कि अस्पष्टता को दूर करने का सबसे सीधा तरीका यह है कि हम एक निश्चय कर लें।'[१२] कहने का तात्पर्य यह कि विश्लेषण करने के बदले विभिन्न क्षेत्रों के विचारकों तथा दार्शनिकों को यह चाहिए कि वे किसी पद का अर्थ कृत्रिम रूप में निश्चित कर दें, जैसा कि गणित तथा भौतिक विज्ञानों में किया जाता है। किन्तु मामला इतना सरल नहीं है। विज्ञानों में वे क्रियाएँ तथा प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा किसी प्रत्यय की परिभाषा की जाती है पहले से जानी हुई रहती हैं, वैज्ञानिकों का काम सिर्फ इतना होता है कि वे उन क्रिया-प्रक्रियाओं को नया नाम दे दें। उसके बाद उस नाम या पद को उन क्रिया-प्रक्रियाओं द्वारा परिभाषित कर दिया जाता है। किन्तु दर्शन में इससे विपरीत पद्धति का अवलम्ब लिया जाता है। यहाँ धारणाएँ या प्रत्यय प्रायः पहले से दिये रहते हैं, जैसे कि कार्य-कारण-सम्बन्ध, विरोध, कर्तव्य, सौन्दर्य, सद्गुण या साधुता आदि, और समस्या यह होती है कि उनके अर्थों को निश्चित कर दिया जाय। मनुष्यों को कुछ अनुभव होते हैं जिनके वर्णन के लिए वे कतिपय प्रत्ययों तथा कथनों का उपयोग करते हैं; दर्शन की समस्या यह होती है कि उन कथनों तथा वर्णनों को तर्कशास्त्र की दृष्टि से सुनिश्चित तथा सही बना दिया जाय। वस्तुतः दर्शन जिन प्रत्ययों का विश्लेषण करता है, वे प्रत्यय व्याख्यात्मक होते हैं। वे उत्सृष्ट

प्रत्यय (Constructs) होते हैं, और उन्हें परिभाषित करने का प्रायः मतलब होता है उनकी उपयुक्तता का मंडन करना। यह मंडन केवल यह निश्चय कर लेने से प्राप्त नहीं हो जाता कि उन प्रत्ययों का प्रयोग निर्दिष्ट अर्थों में किया जाय।

विश्लेष्य तथा विश्लेषक (वह वाक्य-समूह जिसके द्वारा विश्लेषण किया जाता है) में क्या सम्बन्ध होता है? श्री लैंगफोर्ड ने "विश्लेषण का विरोधाभास" का उल्लेख किया है, जिसका प्रतिपादन इस प्रकार किया जा सकता है। यदि विश्लेषक व्यंजनाओं का वही अर्थ होता है जो कि उस शब्द-समूह का जो विश्लेष्य को प्रकट करता है, तो विश्लेषण द्वारा कोई नई बात नहीं कही जायगी, बल्कि केवल एक तादात्म्य को प्रकट किया जायगा, और इस प्रकार वह महत्वशून्य बन जायगा। किन्तु यदि दोनों ओर की व्यंजनाएँ एक ही अर्थ प्रकट नहीं करतीं, तो विश्लेषण ग़लत हो जायगा।[१३] इस पहेली का हल इस प्रकार है । समस्त विश्लेषण प्रयोजन-मूलक होता है। किसी प्रत्यय का विश्लेषण करने का अर्थ है, किसी प्रयोजन के लिये उसके अर्थ को निश्चित कर देना। इसका मतलब यह हुआ कि विश्लेष्य और विश्लेषक को एक ख़ास प्रयोजन के लिये ही, एक विशेष सन्दर्भ में, तुल्य या समान माना जा सकता है। यदि हम विश्लेषक के अर्थ को इस प्रकार सीमित न करें तो हम पायेंगे कि 'अश्व', 'पृथ्वी' आदि किसी भी प्रत्यय का पूर्ण विश्लेषण नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि 'भाई' जैसे सरल प्रत्यय को भी यह कह कर विश्लेषित नहीं किया जा सकता कि उसका अर्थ "नर-लिंग का सहोदर" है।[१४] कारण यह है कि भाई शब्द के साथ तरह-तरह के अनुषंग लगे हैं, जो उक्त विश्लेषक पदों में नहीं आ पाते। उक्त विश्लेषण केवल इस दृष्टि से सही है कि वह भाई नामक जीव की शारीरिक रचना (Anatomy) के बारे में कुछ जानकारी दे देता है।

गणित के प्रत्ययों के विश्लेषण से भी हमें केवल समानात्मक या एकात्मक (Identical) व्यंजनाएँ नहीं मिलतीं। यह ठीक है कि १६ + ९ = २० + ५ किन्तु गणित की कुछ क्रियाएँ पहली व्यंजना पर ही की जा सकती हैं, और कुछ केवल दूसरी पर। उदाहरण के लिये हम १६ + ९ को दो संख्याओं के वर्गों के रूप में अर्थात् $४^२ + ३^२$ के रूप में रख सकते हैं, २० + ५ को इस प्रकार नहीं रख सकते। इसी प्रकार दूसरी व्यंजना को हम ५ (४ + १) के रूप में रख सकते हैं, पहली व्यंजना को वैसे नहीं रख सकते। गणित की इन क्रियाओं की दृष्टि से उक्त दोनों व्यंजनाएँ समानात्मक (Identical) नहीं हैं। वस्तुतः गणित के क्षेत्र में व्यंजनाओं को विभिन्न समान

मूल्य वाले रूपों में इसलिये रखते हैं कि इस प्रकार उन पर कुछ नयी क्रियायें की जा सकें।

किन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा दार्शनिक विश्लेषण के विषय प्रायः व्याख्यात्मक धारणाएँ या उत्सृष्ट प्रत्यय होते हैं। ये प्रत्यय गणित तथा भौतिकशास्त्र के प्रत्ययों की भाँति ज्ञात सम्बन्धों की सहायता से निर्मित नहीं होते; प्रायः उनका उद्देश्य विभिन्न ऐसे तथ्यों की व्याख्या करना होता है जिनका हमें धुंधला अनुभव ही होता है। उदाहरण के लिये कार्य-कारण-भाव की धारणा लीजिए।

क्या कार्य-कारण-सम्बन्ध को नियमित परम्परा (Regular Succession) में परिणमित किया जा सकता है। अथवा क्या उसका अर्थ केवल नियमित साहचर्य (Regular Correlation) है? वैज्ञानिक के लिये यह सम्भव है कि वह कार्य-कारण भाव की कल्पना ऊपर के दो में से किसी एक रूप में कर ले, क्योंकि उसके अध्ययन का विषय वे घटनाएँ हैं जिन पर वह प्रयोगात्मक नियंत्रण रखता है,और जिनके अस्तित्व को परीक्षा द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु दार्शनिक चिन्तन को केवल वहीं तक सीमित नहीं किया जा सकता जहाँ तक हमें व्यावहारिक सुविधा प्राप्त है। दार्शनिक को कार्य-कारण-सम्बन्ध के दूसरे उदाहरणों पर भी दृष्टि रखनी पड़ेगी, जैसे कि नैतिक और मनोवैज्ञानिक निर्धारण। दर्शन का काम एक ऐसे प्रत्यय की सृष्टि करना होगा जो उन विभिन्न उदाहरणों की परिपूर्ण व्याख्या कर सके। मतलब यह कि दार्शनिक प्रत्यय केवल अनुभूत तत्त्वों के योग मात्र को प्रकट नहीं करेगा; वैसा योग सम्भव भी नहीं है, क्योंकि विभिन्न कार्य-कारण-सम्बन्धों की स्थितियाँ एक-दूसरे से नितान्त भिन्न होती हैं। दर्शन वस्तुतः अनुभूत तत्वों को इस प्रकार पुनः सृष्ट एवं ग्रथित करता है कि वे एक सम्बद्ध अवयवी (Connected Whole) का रूप धारण कर लें।

अभिप्राय यह है कि दार्शनिक विश्लेषण की क्रिया को दार्शनिक व्याख्या से अलग नहीं किया जा सकता। दर्शन में किसी प्रत्यय का विश्लेषण करने की क्रिया और एक व्याख्यात्मक प्रत्यय को निर्मित करने की क्रिया एक ही होती है। दार्शनिक प्रत्यय का लक्ष्य होता है अनुभव के किसी क्षेत्र का सफल चिन्तन, अथवा उस क्षेत्र के एक सफल चित्र की उद्भावना। ऐसा चित्र प्राप्त करने के लिये दार्शनिक को यह दिखला सकना चाहिए कि अनुभव का विशेष क्षेत्र एक आत्मसंगत समष्टि या अवयवी है।

इस प्रकार दार्शनिक प्रत्यय प्रायः वही काम करता है जो कि कोई व्याख्या-सूत्र या स्थापना। दार्शनिक व्याख्या का प्रारम्भिक रूप लक्षण या परिभाषा होती है, उस परिभाषा अथवा लक्षण-प्रत्यय को प्रत्ययों की एक समष्टि के बीच स्थापित कर देना ही व्याख्या का चरम रूप है।

किसी प्रत्यय का विश्लेषण हम एक दूसरे प्रयोजन से भी कर सकते हैं, उसकी प्रामाणिकता अथवा उपयुक्तता की परीक्षा के लिये। दार्शनिक ब्रेडले ने आकाश, काल, कारण आदि का विश्लेषण इसी दृष्टि से किया है। दार्शनिक विश्लेषण का उचित लक्ष्य रचनात्मक होता है, अर्थात् व्याख्यात्मक प्रत्ययों का निर्माण करना; दूसरी कोटि का विश्लेषण दार्शनिक मूल्यांकन का अंग है।

वस्तुतः किसी प्रत्यय का दार्शनिक विश्लेषण एक सहज कार्य नहीं है। इस विश्लेषण का अर्थ है, अनुभूत अनुभव-क्षेत्र की आन्तरिक रचना के सम्बन्ध में कल्पना करना। यह कल्पना एक प्रकार का निर्माण या स्थापना (Hypothetical Construction) होती है। दार्शनिक विश्लेषण का, विशेषतः प्रथम कोटि के विश्लेषण का, यह लक्ष्य रहता है कि उक्त निर्माण को व्यवस्थित तथा आत्मसंगत बना दे। इसीलिए हम कहते हैं कि किसी प्रत्यय के दार्शनिक विश्लेषण को उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के प्रयत्न से अलग नहीं किया जा सकता। जब हम कहते हैं कि एक दार्शनिक विश्लेषण सही है, तो उसका मतलब यह होता है कि हम विश्लेषित प्रत्यय को प्रामाणिक मानकर स्वीकार कर लें। उदाहरण के लिए कारणता, कर्तव्य आदि प्रत्ययों का सही विश्लेषण उनकी प्रामाणिकता की सिद्धि से भिन्न नहीं होगा। किन्तु जब हम निरपेक्ष तत्व (Absolute) जैसी धारणाओं के विश्लेषण को सही कहेंगे तो हमारा मतलब यह होगा कि वह विश्लेषण या परिभाषा एक विशेष दर्शन-पद्धति, जैसे कि शंकर, हीगल, या ब्रेडले की दर्शन-पद्धति की, अपेक्षा से ही सही अथवा प्रामाणिक है। एक परिभाषा अथवा विश्लेषण सार्वभौम रूप में प्रामाणिक तभी होगा जब वह हमारे अनुभव-क्षेत्र को व्यवस्थित रूप दे सकेगा। यहाँ हम पाठकों को स्मरण दिलायें कि जिसे हमने सांस्कृतिक अनुभूति कहा है, और जो कि कला, साहित्य आदि में अभिव्यक्ति पाती है, वह सार्वभौम रूप में प्रामाणिक होती है।

किसी प्रत्यय की व्याख्या करने का अर्थ है : एक, उस प्रत्यय की उन दूसरे प्रत्ययों से समानता तथा विभिन्नता दर्शित करना जो उससे मिलते-जुलते हैं और इस प्रकार

उसके एकात्मक होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिये वेदान्ती ब्रह्म की धारणा को ईश्वर की धारणा से अलग करते हैं। इसी प्रकार ब्रेडले ने भी निरपेक्ष तत्व (Absolute) तथा ईश्वर में भेद किया है। ऐसे ही तर्कशास्त्री हेतु (Condition) तथा कारण में अन्तर करते हैं। दूसरे, एक प्रत्यय की व्याख्या करने का अर्थ है उसका एक प्रत्यय-समष्टि में स्थान निश्चित कर देना। हमारे विचार में किसी वक्तव्य या कथन का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, उसकी व्याख्या ही की जा सकती है। किसी कथन की व्याख्या करने का अर्थ है उसके द्वारा आक्षिप्त होने वाले अर्थों (Implications) को उद्‌घाटित कर देना; उसकी व्याख्या का दूसरा अर्थ हो सकता है एक कथन-समष्टि में उसका स्थान बता देना। किसी कथन का अर्थ निश्चित करने के लिये उसके अंगभूत प्रत्ययों का विश्लेषण ज़रूरी होता है, और उस कथन के आक्षिप्त अर्थों को प्रकट करने के लिये उसकी व्याख्या की ज़रूरत होती हैं।

विश्लेषण तथा व्याख्या की क्रियाओं द्वारा दर्शन उस चीज़ की उपलब्धि करता है जिसे "प्रत्ययों की समष्टि" (Categorical System) की संज्ञा दी गई है।[१५] प्रत्यय-समष्टि से मतलब उन सम्बद्ध प्रत्ययों अथवा धारणाओं से है जो सांस्कृतिक अनुभव के किसी क्षेत्र का सम्भव वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार का वर्णन यथार्थ के किसी क्षेत्र की व्यापक चेतना को प्रकट करता है, अर्थात् उस सांस्कृतिक चेतना को जो कि किसी युग अथवा देश की विशेषता होती है। दर्शन की समन्वयात्मक क्रिया के सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

ऊपर हमने विश्लेषण के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया वह तर्क-मूलक भाववादियों के विश्लेषण-सम्बन्धी मत से भिन्न है। हमारे मत में विश्लेषण एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम सांस्कृतिक चेतना में प्रतिफलित यथार्थ के किसी क्षेत्र की रचना को मूर्त करते हैं। इसके विपरीत तर्कमूलक भाववादियों का विचार है कि विश्लेषण का यथार्थ की आन्तरिक रचना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिये श्री ए० जे० ऐयर ने दर्शन के कार्यों को समझाते हुए यह कहा है कि उसका काम परिभाषा देना है। एक प्रकार की परिभाषा कोष के अन्दर दी हुई होती है। वहाँ परिभाषित शब्द के बदले कुछ ऐसे प्रतीक रक्खे जाते हैं जो परिभाषित शब्द के प्रत्यय का काम कर सकें।[१६] किन्तु इस प्रकार की पर्याय-मूलक परिभाषाएँ दार्शनिक परिभाषाएँ नहीं होतीं। अरस्तू ने कहा है कि परिभाषा में हमें दो चीजों का संकेत करना चाहिए, अर्थात् उस वर्ग का जिसमें परिभाषित वस्तु का स्थान है, और उस विशिष्ट धर्म

(Differentia) का जो परिभाषित वर्ग की वस्तु को दूसरे उपवर्गों से भिन्न करता है। तर्कमूलक भाववादी के अनुसार अरस्तू की परिभाषा दार्शनिक परिभाषा नहीं होती। उक्त पद्धति के अनुसार परिभाषा करने का अर्थ इस प्रकार है। किसी शब्द या प्रतीक को परिभाषित करने का अर्थ उस वाक्य या कथन के बदले जिसमें वह शब्द पाया जाता है, ऐसे वाक्यों को रखना है जिनमें न तो वह शब्द पाया जाता है, और न उसका कोई पर्याय।[१७] मतलब यह है कि हम एक वाक्य या कथन को दूसरे वक्तव्यों तथा कथनों में इस प्रकार परिवर्तित करें कि बाद के कथनों में पूर्व कथनों में पाये जाने वाले पद अथवा प्रत्यय न रहें। उदाहरण के रूप में ऐयर ने बर्ट्रान्ड रसेल के "निश्चित वर्णन" (Definite Desription) के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। रसेल ने यह बतलाने की कोशिश की है कि एक प्रकार के वाक्य अथवा व्यंजनाएँ दूसरी कोटि के वाक्यों अथवा व्यंजनाओं में कैसे परिवर्तित की जायें। उदाहरण के लिये एक वाक्य लीजिए, 'गोल वृत्त का अस्तित्व सम्भव नहीं है।' दार्शनिक विश्लेषण की क्रिया से उक्त कथन को निम्न कथन में परिवर्तित किया जा सकता है: 'कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो वृत्ताकार भी हो और गोलाकार भी।' इसी प्रकार एक दूसरा वाक्य लीजिए: 'मेघदूत के लेखक कालिदास हैं।' विश्लेषण करने पर इस वाक्य के बदले हमें निम्न वाक्य प्राप्त होंगे: 'सिर्फ एक व्यक्ति ने "मेघदूत" लिखा, और वह व्यक्ति कालिदास थे।' उक्त वाक्य का दूसरा विश्लेषण भी दिया गया है: 'कभी कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जिसने "मेघदूत" लिखा, लेकिन जो कालिदास नहीं था।'[१८] तर्कमूलक भाववादी के अनुसार दार्शनिक विश्लेषण करने वाले वाक्य या कथन वियोजक (Analytic) होते हैं, जिसका मतलब यह है कि वे हमें कोई नया ज्ञान न देकर विश्लेषित वाक्यों के आक्षिप्त अर्थों की ओर ही ध्यान आकृष्ट करते हैं। दार्शनिक वाक्य अनुभवात्मक (Empirical) न होकर वियोजक होते हैं।[१९]

उक्त मन्तव्य और उसके समस्त अतिवादी निष्कर्षों का प्रतिपादन कार्नैप ने किया है। उनके अनुसार दो प्रकार की भाषा होती है, एक का विषय वस्तु-जगत होता है, और दूसरे का भाषा-सम्बन्धी क्रम।[२०] उक्त दो भाषाओं के अनुरूप ही दो तरह के अभिव्यक्ति-प्रकार हैं। एक प्रकार में हम वस्तुओं तथा तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं, और दूसरे में पदों (Terms), व्यंजनाओं तथा वाक्यों के तर्कात्मक अथवा आकारात्मक (Formal) सम्बन्ध को उद्घाटित करते हैं। विज्ञान की भाषा वस्तुओं की भाषा है, जो कि वस्तु-सत्यों के प्रति संकेत करती है। किन्तु दर्शन की अभिव्यक्ति-

प्रणाली दूसरी कोटि की है, वह भाषा-सम्बन्धी क्रम तथा उसके नियमों का अनुशीलन तथा प्रकाशन करती है। दर्शन का यह काम नहीं है कि वह हमें वस्तु-जगत के सम्बन्ध में जानकारी दे। असली दर्शन में वस्तु-जगत से सम्बन्ध रखने वाले कथन नहीं होते, उस दर्शन के वाक्य तर्कमूलक कथन (Logical Statements) होते हैं। तात्पर्य यह कि दर्शन का प्रमुख कार्य भाषा का तर्कात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। कार्नँप का ऐसा मत है कि यह विश्लेषण पदों आदि के क्रम-नियमों (Syntax) के निर्देश-रूप ही होता है।[२१] उस विश्लेषण में शब्दों के अर्थों का बिल्कुल ही विचार नहीं किया जा सकता, वहाँ केवल यह देखने की कोशिश की जाती है कि विभिन्न भाषाबद्ध व्यंजनाओं अथवा विभिन्न भाषा प्रतीकों के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ता है कि दर्शन का काम 'उन विभिन्न नियमों का, जिनका सम्बन्ध वाक्यों की रचना तथा कुछ वाक्यों को दूसरे वाक्यों से निष्क्रृष्ट करने की प्रणाली से है, उद्घाटन करना है।'[२२]

यह मन्तव्य गणित की प्रकृति से प्रेरणा लेता है। बीज गणित का (क+ख) (क—ख) =क^{२}—ख^{२} समीकरण सही होगा, बिना इस विचार के कि क और ख के मूल्य क्या हैं। उक्त समीकरण की प्रामाणिकता क और ख के विशेष मूल्यों पर निर्भर नहीं है, वह उन मूल्यों की निरपेक्ष है। इसलिये हम कह सकते हैं कि गणितशास्त्र केवल रूपाकार (Form) का विज्ञान है, जिसका काम कतिपय वर्गों के प्रतीकों के रूपात्मक सम्बन्धों का उद्घाटन करना है। तर्कमूलक भाववादियों का विचार है कि इसी प्रकार दर्शन भी केवल उन नियमों की खोज करता है जिनके अनुसार एक कोटि के कथनों या वाक्यों को दूसरी कोटियों के कथनों या वाक्यों में प्रामाणिकता के साथ परिवर्तित किया जा सकता है।

पहली दृष्टि में ऐसा जान पड़ता है कि तर्कमूलक भाववादियों का मत हमारे अपने मत से विशेष भिन्न नहीं है। हम ने कहा था कि दर्शन का विषय साक्षात् अनुभूत वस्तुएँ न होकर, अनुभव-विशेष का चिन्तन है। अर्थात्, दार्शनिक चिन्तन वस्तुओं के बारे में नहीं होता; और चूँकि दार्शनिक चिन्तन का विषय वस्तुएँ नहीं है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि दर्शन हमें वस्तु-जगत के सम्बन्ध में कोई जानकारी न दे सके। किन्तु हमारे तथा तर्क-मूलक भाववादियों के मतों की यह समानता दिखाऊ चीज़ है, वास्तविक नहीं। यह ठीक है कि दर्शन का विषय विचार, अर्थात् प्रत्यय और कथन, होते हैं, किन्तु प्रत्ययों और कथनों को यथार्थ जगत से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

जब हम कहते हैं कि दर्शन का काम चिन्तन प्रक्रिया पर मनन करना है, तो हमारा मतलब इतना ही है कि दर्शन साक्षात् वस्तु-जगत के स्वरूप का अन्वेषण नहीं करता। दर्शन या तो विभिन्न विज्ञानों द्वारा उत्सृष्ट प्रत्ययों की परीक्षा करता है, अथवा वह ऐसे व्याख्यात्मक सूत्रों को प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा विभिन्न अनुभव-क्षेत्रों से सम्बद्ध प्रत्यय एकता को प्राप्त कर लें।

तर्कमूलक भाववाद की मान्यता की मुख्य कमजोरी यह है कि **यदि हम अर्थों की उपेक्षा कर दें तो प्रतीक प्रतीक नहीं रह जाते, और उनके बीच कोई तर्कमूलक सम्बन्ध नहीं हो सकता।** तर्कमूलक सम्बन्ध न तो ध्वनियों के बीच होता है और न कागज़ पर अंकित किये हुए चिन्हों के बीच। ऊपर बीज-गणित के जिस समीकरण का जिक्र किया गया वहाँ भी क और ख केवल संख्याओं को ही प्रकट कर सकते हैं, यद्यपि यह ठीक है कि वे किन्हीं खास संख्याओं को संकेतित नहीं करते। उदाहरण के लिये उक्त समीकरण में क और ख के स्थान पर हम 'मेज़' और कुर्सी अथवा 'गाय' और 'अश्व' नहीं रख सकते। जैसा कि वाइल्ड और काबलिज़ ने कहा है : 'यदि हम प्रतीकों को उनके अर्थों से विच्छिन्न करके अनुशीलन का विषय बनायें, तो वे प्रतीक नहीं रह जाते, अपितु विशुद्ध भौतिक चीजें बन जाती हैं।'[२३]

यह कहा गया है कि गणित 'विशुद्ध रूपाकारों का विज्ञान' है, और यह कि 'तर्कशास्त्र का लक्ष्य रूपाकारों को दर्शित करना है।'[२४] किन्तु यह समझना भूल होगी कि यथार्थ से विच्छिन्न होकर रूपाकार में किसी प्रकार का अर्थ रह जाता है। यह धारणा कि रूपाकार का वस्तुसत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं होता, रूपाकार की प्रकृति के अज्ञान का द्योतक है। यह आश्चर्य की बात है कि तर्कमूलक भाववादियों ने रूपाकार (Form) की महत्वपूर्ण धारणा का उचित विश्लेषण करने की कोशिश नहीं की है।

प्राय: रूपाकार का अर्थ प्रत्यक्ष दीखने वाली वह बनावट या रचना है जो किसी वस्तु के विभिन्न अवयवों के संगठन-क्रम में प्रतिफलित होती है। इसका यह मतलब नहीं कि रूपाकार केवल उसी वस्तु में हो सकता है जिसमें अवयव हैं। उदाहरण के लिये एक लोहे की सलाख में अवयव दिखाई नहीं देते, फिर भी उसका आकार अथवा रूपाकार होता ही है। यह भी जरूरी नहीं है कि एक जगह घेरने वाली वस्तु में ही रूपाकार हो, एक गीत या एक ऐतिहासिक घटना में भी रूपाकार होता है, यद्यपि ये चीजें देशगत नहीं होतीं।

दूसरा उदाहरण लीजिए। एक सीमेन्ट के प्लास्टरवाली दीवार चिकनी, चमकदार तथा चतुर्भुज के आकार की हो सकती है। प्रश्न है: क्या ये सभी विशेषण दीवार के रूपाकार को लक्षित करते हैं, अथवा केवल अन्तिम विशेषण ही ? कोई कारण नहीं है कि हम किसी वस्तु की ज्यामितीय (Geometrical) विशेषताओं तक ही रूपाकार को सीमित करें, और उसके दूसरे विशेषणों की उपेक्षा करें। जब हम किसी मनुष्य अथवा जानवर के आकार या आकृति का वर्णन करते हैं तो हम प्रायः उसके रंग का उल्लेख भी करते हैं। सच यह है कि किसी चीज़ का वणन हमारे प्रयोजन द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिये एक लड़की का जो वर्णन किसी दर्जी को सन्तुष्ट करेगा, वह उस लड़की के संभावित वर को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार एक रसायन-शास्त्री द्वारा दिया हुआ युद्ध का वर्णन इतिहासकार के काम का नहीं होगा। रसायन-शास्त्री की दृष्टि में युद्ध एक प्रकार की घटनाओं का समूह है, इतिहासकार की दृष्टि में दूसरे प्रकार की घटनाओं का। सम्भवतः रसायन-शास्त्री के लिये युद्ध का रूपाकार एक प्रकार का होता है, और इतिहासकार के लिये, तथा विरोधी देशों के इतिहासकारों के लिये, दूसरे-दूसरे प्रकारों का।

जिसे हम किसी घटना की आकृति या रूपाकार कहते हैं वह उसका वह पहलू होता है जिसमें हमारी अभिरुचि है। चूँकि हमारी रुचियाँ सामान्य होती ह, इसलिये वस्तुओं की रूपाकार-सम्बन्धी विशेषताओं का सामान्य वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि वस्तु का कोई भी गुण उसका रूपाकार माना जा सकता है। तर्क-शास्त्री टॉम्सन ने लिखा है : 'रूपाकार से मतलब है चेतना के सम्मुख उपस्थित वस्तु को देखने का ढंग। जब हमारा ध्यान किसी वस्तु की ओर आकृष्ट होता है, तो हम स्वयं उस वस्तु को नहीं देखते, हम उसे अपनी पूर्वसिद्ध धारणाओं के आलोक में देखते हैं। उदाहरण के लिये एक गरीब आदमी धनी व्यक्ति को सौभाग्यशाली के रूप में देखता है, एक धार्मिक-आध्यात्मिक व्यक्ति की दृष्टि में धनी व्यक्ति वह है जो दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रलोभनों से घिरा है, तथा व्यापारी की दृष्टि में धनी व्यक्ति की विशेषता यह है कि ग्राहक-रूप में उसका प्रोत्साहन महत्वपूर्ण है।'[२५]

तो, किसी कथन का रूपाकार उसके अर्थ अथवा विषय-वस्तु से किस प्रकार भिन्न होता है ? एक कथन प्रायः दो प्रत्ययों के बीच सम्बन्ध अथवा सम्बन्धाभाव का निर्देश करता है; कथन या वाक्य का आकार या रूपाकार उस सम्बन्ध की गुणात्मक विशे-

षता का द्योतक होता है। उदाहरण के लिये निम्न वाक्यों में "क एक घोड़ा है", "क लाल है", "क ख से बड़ा है", क का दूसरे प्रत्ययों से भिन्न-भिन्न कोटियों का सम्बन्ध दिखलाया गया है। प्रत्येक वाक्य में एक ही उद्देश्य है, किन्तु प्रत्येक वाक्य उस उद्देश्य को भिन्न रोशनी में रखकर दर्शित करता है। मनुष्य वस्तुओं को विभिन्न दृष्टियों से देखता है। वे उसे विभिन्न रूपों में रोचक जान पड़ती हैं। किन्तु वह एक ही वाक्य को अनेक अर्थों में नहीं ले सकता, कारण यह है कि वाक्य-निर्माण का एक ही उद्देश्य होता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किसी वाक्य या कथन का रूप या रूपाकार निश्चित रूप में मनुष्य की किसी रुचि या प्रयोजन से सम्बन्धित होता है। उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं कि क ख से बड़ा है, तो हमारा उद्देश्य होता है क और ख की मात्रा-मूलक तुलना; यह तुलना या तो आकार को लेकर हो सकती है, अथवा संख्या को लेकर। इससे सिद्ध होता है कि ऐसा कोई रूपाकार नहीं है जिसका किसी-न-किसी यथार्थ से सम्बन्ध न होता हो। जिसे हम वाक्य या कथन का रूप अथवा कथन-रूप (Propositional Form) कहते हैं वह उस खास यथार्थ की ओर संकेत करता है, जिसका दिये हुए सन्दर्भ में, वक्ता के एक खास प्रयोजन से सम्बन्ध है। यह वक्ता के प्रयोजन पर निर्भर करता है कि एक खास मौके पर किसी विवर्त्त-मान तत्त्व (Variable) को किस कोटि का मान (Value) दिया जाय। उदाहरण के लिये ऊपर के वाक्य में, अर्थात् इस वाक्य में कि क ख से बड़ा है, यह सम्भव नहीं है कि हम क के स्थान पर 'पीला' लिख दें और ख के स्थान पर 'भैंस' और यह कहें कि 'पीला' 'भैंस' से बड़ा होता है। यह कथन निरर्थक है, क्योंकि, इस सन्दर्भ में, 'बड़ा' विशेषण का कोई ऐसा अर्थ नहीं है जिसका मानवीय प्रयोजन से सम्बन्ध हो।

एक वाक्य-रूप अथवा कथन-रूप (Propositional Form) उस ढंग या दृष्टि की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार किसी वस्तु को देखा जा रहा है; फलतः वह रूप यह निर्धारित करता है कि उस वाक्य में किस प्रकार के उद्देश्यों तथा विधेयों को रक्खा जा सकता है। जब देखने का दृष्टिकोण और उससे सम्बन्धित कथन-रूप निश्चित होंगे, तो वाक्य में प्रयुक्त प्रतीकों तथा प्रत्ययों के सम्बन्ध भी निश्चित होंगे; उन सम्बन्धों में से कुछ को पहले से (Apriori) जान लेना कठिन नहीं होगा। जिसे हम तर्कशास्त्रीय आवश्यकता (Necessity) कहते हैं उसका मूल मानव प्रयोजनों के व्यापृत होने के वे ढंग हैं जो वस्तु-सत्ताओं की अपेक्षा से प्रकट होते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि तर्कशास्त्रीय आवश्यकता का यथार्थ की प्रकृति से कोई

सम्बन्ध नहीं होता, कहने का मतलब यह है कि वह यथार्थ वस्तु-सत्ता आवश्यक रूप में मानवीय प्रयोजनों के अनुरूप देखी जाती है। वस्तु-सत्ता अपने को इस प्रकार देखने देती है, यह स्थिति आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकती है। लेकिन इसमें बहुत ज्यादा आश्चर्य की गुंजाइश नहीं है। अन्ततः मनुष्य को वस्तुसत्ता अर्थात् विश्व ने ही उत्पन्न किया है, और उस विश्व में उसकी सारी ज़रूरतें पूरी होती रहती हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड अथवा वस्तु-सत्ता मनुष्य की ज़रूरतों को पूरा करें, यह भी उतने ही आश्चर्य की बात है। मनुष्य ब्रह्माण्ड को कैसे जान पाता है, इसका, अन्तिम विश्लेषण में, यही उत्तर हो सकता है कि मनुष्य और वस्तु-जगत में एक प्रकार का आन्तरिक सामंजस्य है, और मनुष्य वस्तु-जगत का एक आवश्यक कार्य या परिणाम है।

अब हम दर्शन की अन्तिम क्रिया की परीक्षा करें, अर्थात् उसके मूल्यांकन-व्यापार की। दर्शन दो प्रकार का मूल्यांकन करता है। प्रथमतः दर्शन यह जानना चाहता है कि कोई सांस्कृतिक क्रिया प्रामाणिक है अथवा नहीं। दूसरे, दर्शन यह निश्चित करना चाहता है कि किसी सांस्कृतिक क्रिया का समस्त जीवन की अपेक्षा से क्या महत्व है। हम मूल्यांकन के इन दो प्रकारों की अलग-अलग परीक्षा करेंगे।

दर्शन विज्ञान की धारणाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है, जब कि वह स्वयं अपनी धारणाओं का रचनात्मक विश्लेषण करता है। वह विज्ञान के प्रत्ययों का विश्लेषण और मूल्यांकन इस दृष्टि से करता है कि उन्हें अपनी व्यापक प्रत्यय-समष्टि में स्थान दे सके। उदाहरण के लिये दर्शन भौतिक शास्त्र के सहचार-सम्बन्ध (Correlation) के प्रत्यय की परीक्षा इस दृष्टि से कर सकता है कि उसे कार्य-कारण की अथवा पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की अधिक व्यापक धारणाओं के अन्तर्गत ला सके। प्रायः दर्शन की रुचि विज्ञान के उन प्रत्ययों में होती है जिनका सम्बन्ध उसकी अन्वेषण-पद्धति और व्याख्या से होता है। इसी प्रकार दर्शन को कला-सृष्टि के सामान्य रूप में अभिरुचि होती है, उसे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में भी अभिरुचि रहती है।

निष्कर्ष यह कि दर्शन सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न रूपों की सामान्य विशेषताओं का विश्लेषण और परीक्षा करता है। दर्शन का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि विभिन्न अनुभव-क्षेत्रों से सम्बद्ध विचारकों के अवश्य-स्वीकृत मन्तव्यों (Postulates) और अन्वेषण-पद्धतियों में सामंजस्य स्थापित करे। यथार्थ की विभिन्न प्रतीकात्मक अभि-

व्यक्तियों के सम्बन्ध में, जिन्हें मानव-मस्तिष्क इकट्ठा कर लेता है, उस मस्तिष्क की बोधात्मक क्रिया को निर्विरोध अथवा आत्मसंगत बनाना दार्शनिक चिन्तन का विशेष प्रयोजन है। दर्शन मानवीय चिन्तन को सुसम्बद्ध तथा संगत बनाने की ओर प्रयत्नशील रहता है। इस दृष्टि से दर्शन इसका विचार करता है कि एक प्रतीकात्मक क्रिया से दूसरी प्रतीकात्मक क्रिया तक जाते हुए हमारी बुद्धि किस तरह विरोध या विसंगति को बचाती हुई चले।

केवल सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रों (Theoretical Disciplines) में हमारा विचार करने का ढंग हमारी एक प्रकार के कथनों से दूसरे प्रकार के कथनों तक पहुँचने की क्रिया, हमारी अनुमान-प्रणाली, तर्कशास्त्र के नियमों द्वारा शासित होती है; किन्तु कविता ,संगीत आदि ललित कलाओं के क्षेत्र में एक अनुभव से दूसरे अनुभव अथवा अनुभव-खण्ड की ओर संक्रमण करने के नियम हमारी सौन्दर्य-संवेदना पर निर्भर होते हैं। वे तर्कशास्त्र के नियमों से भिन्न भी हो सकते हैं। एक श्रेष्ठ आलोचक अपनी संवेदना से यह जान लेता है कि किसी कविता या चित्र में दो भिन्न अनुभवों अथवा प्रतीकों का संगठन उचित हुआ है अथवा नहीं, यद्यपि वह इस औचित्य को हमेशा नियमों के रूप में प्रकट नहीं कर पाता। हम पहले कह चुके हैं कि समीक्षा एक प्रकार की दार्शनिक क्रिया है। जिसे हम सौन्दर्य शास्त्र अथवा अलंकारशास्त्र (Aesthetics) कहते हैं, वह दर्शन की ही एक शाखा है, जहाँ आलोचना-क्रिया के सामान्य नियमों अथवा सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता है।

सौन्दर्य-दर्शन का काम केवल उन स्थितियों का अन्वेषण ही नहीं है जिनमें एक कलाकृति प्रामाणिक अथवा ग्राह्य बन जाती है; वह उन तत्वों का भी अन्वेषण करता है जो उस कलाकृति को महत्ता प्रदान करते हैं। सामान्य रूप में दर्शन जिसका विषय विविध मूल्य है, न केवल यह जानने की कोशिश करता है कि प्रामाणिकता कितने प्रकार की होती हैं, बल्कि यह भी कि महत्ता के कितने दर्जे होते हैं, और महत्व के हिसाब से विभिन्न मूल्यों अर्थात् महत्वपूर्ण जीवन-क्षणों को एक साध्य-साधन क्रम में किस प्रकार व्यवस्थित और सम्बद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार दर्शन केवल प्रामाणिकता की ही जाँच नहीं करता, वह यह भी जानने की कोशिश करता है कि जीवन में किन मूल्यों का कहाँ और क्या स्थान होना चाहिए।

हमने दर्शन के विभिन्न कार्यों का विवरण दिया। दर्शन के प्रथम दो कार्य विशुद्ध

रूप में बौद्धिक तथा तर्क-मूलक होते हैं, वे बुद्धि-मूलक अन्तर्दृष्टि अथवा प्रतिभान (Rational Intuition) पर निर्भर करते हैं। जहाँ तक दर्शन विश्लेषण और व्याख्या करता है, वह मानवीय विद्याओं का अंग है, और उसके वक्तव्यों की जाँच ठीक वैसे ही हो सकती है जैसे कि दूसरी मानवीय विद्याओं के कथनों की परीक्षा। जैसा कि हम बतला चुके हैं, मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-विधि कल्पनात्मक विस्तार तथा कल्पना-मूलक सम्बन्ध -स्थापन द्वारा तादात्म्य की अनभूति है। इस विधि का उपयोग उन सब दशाओं में किया जाता है जहाँ हम स्थापना तथा निगमन-मूलक तर्क-प्रणाली (Hpothetical-deductive Reasoning) से काम लेते हैं। दार्शनिक तर्कना के हर कदम पर हमें यह महसूस होना चाहिए कि वह निश्चयात्मक है। ऐसा महसूस करने की सम्भावना के मूल में क्या रहता है ? बात यह है कि दार्शनिक तर्कना में हम उन अर्थों अथवा रूपाकारों के बारे में सोचते हैं जिनका सम्बन्ध मानवीय प्रयोजनों से होता है और जिन्हें स्वयं मनुष्य, अपनी आन्तरिक ज़रूरतों के कारण, बाह्य जगत पर निक्षिप्त कर देता है।

कल्पनात्मक विस्तार तथा सम्बन्ध-स्थापन की क्रियाओं द्वारा ही मानवीय मस्तिष्क जीवन की विभिन्न सम्भावनाओं के अपेक्षित महत्व का निर्धारण कर पाता है; उन सम्भावनाओं तथा उनके सापेक्ष या निरपेक्ष मूल्यों दोनों का बोध उक्त विधियों से ही होता है। अगले अध्याय में, जहाँ हम नैतिक जीवन के आदर्शों की विभिन्नता तथा सापेक्षता का विचार करेंगे, इस विषय पर कुछ और रोशनी डाली जायगी।

दर्शन की समन्वय-क्रिया

अब हम एक दूसरी समस्या उठायेंगे। कहा जाता है कि दर्शन में विभिन्न कोटियों के ज्ञानों का समन्वय किया जाता है। क्या यह ठीक है ? यदि हाँ, तो किस अर्थ में ? जैसा कि हमने संकेत किया प्राचीन विचारक प्रायः यह मानते रहे हैं कि दर्शन समस्त ज्ञान का समन्वय करता है। आज भी कुछ विचारक इसे मानते हैं। उदाहरण के लिये डॉ० ब्रॉड ने लिखा है : 'दर्शन की कम-से-कम दो सम्भव क्रियाएँ हैं, जिन्हें मैं क्रमशः समग्र-दर्शन (Synopsis) तथा समन्वय (Synthesis) कहूँगा। समग्र दर्शन का अर्थ है अनुभव के उन सब क्षेत्रों या पहलुओं को, जिन्हें साधारण लोग अलग-अलग रखते हैं, एक साथ करके देखना। समन्वय का अर्थ है ऐसे आत्म-संगत एवं सम्बद्ध

प्रत्ययों (Coherent Set of Concepts) तथा सिद्धान्तों की उद्भावना जिनके द्वारा एकत्रित किये हुए समस्त तथ्य-क्षेत्रों को सन्तोषप्रद रूप में समझा जा सके।'[२६]

हमें इसमें सन्देह है कि दर्शन कभी भी वैसे प्रत्यय तथा सिद्धान्त दे सकता है जिनका ब्रॉड ने उल्लेख किया है। ऊपर हमने स्पेन्सर के इस मत की समीक्षा की थी कि दर्शन पूर्णतया एकीकृत ज्ञान है, और उसका काम व्यापकतम सिद्धान्त-सूत्रों का अन्वेषण है। हम स्पेन्सर, स्पिनोज़ा, हीगल आदि की चिन्तन-पद्धति के कायल नहीं हैं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन, एक प्रकार से, समस्त ब्रह्माण्ड को अथवा समस्त अनुभव-जगत को एक साथ देखने की कोशिश करता है। हमारा कहना है कि इस प्रकार देखने में दर्शन का जो प्रयोजन होता है वह विज्ञान के प्रयोजन से भिन्न है। विज्ञान विभिन्न सत्ताओं के कारणों की खोज करता है; वह उन नियमों की खोज भी करता है जो विभिन्न घटनाओं को शासित करते हैं। इसके विपरीत दार्शनिक की रुचि उन अनुभवों तथा क्रियाओं में होती है जिनमें मूल्य निहित रहते हैं। वह अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों का अन्वेषण इसलिये करता है कि उन जीवन-सम्भावनाओं का उद्‌घाटन कर सके जिनमें मनुष्य मूल्यों की उपलब्धि करता है। दार्शनिक की रुचि कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं होती। दर्शन का इतिहास देखने से जान पड़ता है कि दार्शनिक लोग चरम कारण अथवा परम तत्व को जानने का प्रयत्न करते रहे हैं; किन्तु असलियत यह है कि दर्शन अस्तित्व अथवा सत्ता के ऐसे रूप की खोज करता रहा है जिसे अनन्त मूल्य का अधिष्ठान माना जा सके। हमारा विचार है कि अतीत की अनेक बड़ी दर्शन-पद्धतियाँ इस वक्तव्य के आलोक में समझी जा सकती हैं। उदाहरण के लिये वेदान्त के ब्रह्म को संसार का कारण अथवा आदि कारण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वेदान्त के अनुसार कार्य-कारण-भाव की धारणा ब्रह्म पर लागू ही नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म कूटस्थ और निर्विकार है, जिसमें कारणता नहीं रह सकती। दूसरे, वेदान्त यह मानता है कि यह जगत मायामय है और उसकी प्रतीति एक भ्रांति है, ऐसी दशा में जगत की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। सच यह है कि वेदान्त ने इस प्रश्न में कभी अभिरुचि नहीं ली कि इस दुनिया की उत्पत्ति अथवा सृष्टि कैसे हुई। उसकी अभिरुचि का मख्य केन्द्र यह लक्षित कर देना रहा कि मोक्ष अथवा ब्रह्मभाव किसे कहते हैं, और उस दशा को साधक कैसे प्राप्त कर सकता है।[२७] वेदान्त का चरम तत्व वेदान्त के चरम श्रेय अथवा मोक्ष से भिन्न नहीं है, और उसकी प्राप्ति ही मानव-जीवन का परम ध्येय है।

इसी प्रकार कान्ट भी ईश्वर को आदि कारण से समीकृत नहीं करता। कान्ट के विचार में कारण की धारणा केवल व्यवहार-जगत में ही लागू होती है, उसे ईश्वर आदि अतीन्द्रिय पदार्थों पर लागू नहीं किया जा सकता। बौद्धों के अनसार जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण है; निर्वाण उनका उच्चतम या निरपेक्ष तत्व भी है। माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ में नागार्जुन ने निर्वाण का जो वर्णन दिया है वह कुछ वैसा ही है जैसा अध्यात्मवादी विचारकों द्वारा दिया हुआ ब्रह्म का वर्णन।[२८] किसी भी दशा में निर्वाण को आदि कारण से समीकृत नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हीगल का निरपेक्ष प्रत्यय चेतना की सर्वोच्च दशा अथवा उसकी सर्वोच्च भूमिका को संकेतित करता है; यह समझना कठिन हो जाता है कि कैसे उसे विश्व का कारण अथवा उत्पत्तिकर्ता कहा जा सकता है।

दूसरी ओर जब प्राचीन विचारक इस जगत को मिथ्या अथवा अतात्विक कहते हैं, तो प्रायः उनका मतलब यह घोषित करना होता है कि इस दुनिया के सुख तथा ऐश्वर्य क्षणिक हैं, जिनमें स्थायी मूल्य नहीं रहता। उदाहरण के लिए प्लेटो के जाति-प्रत्ययवाद में गुफा के रूपक द्वारा यह बताने की कोशिश की गई है कि इस दुनिया की चीजें अर्थहीन या सारहीन छाया मात्र हैं, और हमें उनकी ओर से अपना मन हटाकर प्रत्यय-जगत की ओर लगा देना चाहिए। वेदान्त के इस सिद्धान्त की कि जगत मिथ्या है, ऐसी ही व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए अद्वैतसिद्धि के एक टीकाकार श्री विट्ठलेशोपाध्याय ने लिखा है कि अद्वैत वेदान्त के जगत को मिथ्या घोषित करने का प्रयोजन यह है कि साधक में इस दुनिया की चीजों के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न कर दी जाय। दुनिया के प्रति आसक्ति की भावना यह कहने से उतनी अच्छी तरह दूर नहीं होती कि यहाँ के सुख-भोग क्षणिक हैं, जितनी कि यह कहने कि दुनिया मिथ्या है।'[२९] यहाँ पाठक स्मरण रक्खें कि "अद्वैतसिद्धि" नामक ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य जगत के मिथ्यापन की सिद्धि है। उक्त ग्रंथ से काफी पहले अपनी पुस्तक "शलेकवार्तिक" में श्री कुमारिल ने विज्ञानवाद की समीक्षा करते हुए कहा था कि बुद्ध ने जब जगत को मिथ्या बतलाया, तो उसका उद्देश्य यह था कि लोगों में दुनिया की चीज़ों के प्रति वैराग्य उत्पन्न कर दें...कुछ लोगों ने भूल से इसका मतलब यह लगाया कि बुद्ध जी के अनुसार ज्ञान का बाह्य विषय होता ही नहीं।'[३०]

हमारा मत है कि दर्शन की एकीकरण तथा समन्वय-क्रिया का विषय जीवन के मूल्य हैं। मूल्य-विज्ञान होने के नाते ही दर्शन विभिन्न बोधों का एकीकरण अथवा

समन्वय करने की चेष्टा करता है। फिर भी हम इसे अस्वीकार नहीं करना चाहते कि बहुत से महत्वपूर्ण दार्शनिकों ने अपने चिन्तन में दर्शन को एक वैज्ञानिक प्रयत्न के रूप में ही स्वीकार किया है, और दार्शनिक चिन्तन द्वारा वही काम करने की कोशिश की है जो कि विज्ञानों में किया जाता है। जैसे-जैसे विज्ञानों के क्षेत्र, उनकी सफलता तथा महत्व में वृद्धि होती गई है, वैसे-वैसे दार्शनिक विचारक इस बात पर ज़ोर देते आये हैं कि दर्शन को वैज्ञानिक विचार-पद्धतियों का अवलम्बन लेना चाहिए। यह बात आधुनिक योरपीय दर्शन की प्रगति पर विशेष रूप में लागू है।

किन्तु भौतिक विज्ञानों की प्रगति का तथा-कथित वैज्ञानिक दर्शन पर एक दूसरा प्रभाव भी पड़ा है; विज्ञान ने धीरे-धीरे तत्व-दर्शन की समस्याओं को उसके क्षेत्र से हटाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि तथा-कथित वैज्ञानिक दार्शनिक आज यह बतलाते हैं कि दर्शन का कार्य केवल विश्लेषण है। प्रो० ऐयर ने जान लॉक, बार्कले आदि का नाम यह दिखाने के लिये लिया है कि दर्शन मुख्यतः विश्लेषण ही है। ऐयर का विचर है कि अधिकांश बड़े दार्शनिकों ने अधिकतर विश्लेषण ही किया है, वे तत्व-चिन्तक (Metaphysicians) नहीं थे।[३१] उन्होंने लॉक के "मानवीय प्रज्ञा पर एक निबन्ध" का हवाला देते हुए कहा है कि वह 'मुख्यतः एक विश्लेषणात्मक ग्रंथ है।'[३२] ऐसा जान पड़ता है कि तथा-कथित वैज्ञानिक दर्शन को समन्वय से कोई मतलब नहीं है। तर्कमूलक भाववादियों के विचार में दर्शन के वक्तव्य तथ्य-मूलक नहीं होते, उनका विषय भाषा के सम्बन्ध होते हैं, और इसलिये दर्शन तर्कशास्त्र का एक अंग या विभाग है।[३३]

उक्त मन्तव्य के विरुद्ध हम मानते हैं कि दर्शन कभी भी अपनी समग्र दृष्टि लेने की आदत को नहीं छोड़ सकता और न वह समन्वय-क्रिया से ही विरत हो सकता है। किन्तु भविष्य में दर्शन की उन क्रियाओं का उद्देश्य मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन की सम्भावनाओं को लक्षित करना ही होना चाहिए। दर्शन को यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि मनुष्य की सौन्दर्यमूलक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन-सम्भावनायें क्या हैं। अपनी सृजनशील प्रवृत्ति की प्रेरणा से मनुष्य अनवरत उच्चतम मूल्यों के लाभ की सम्भावनाओं का अन्वेषण करता रहता है। दर्शन का यह काम है कि इस अन्वेषण को व्यवस्थित प्रयत्न का रूप दे, और उसकी दिशा का निर्देश करे।

ब्रह्माण्ड के बीच मनुष्य का जीवन दो विरोधी माँगों का संघर्ष-केन्द्र बना रहता

है; एक ओर उसकी आग्नेय कल्पनाशक्ति की ऊँची माँगें हैं, और दूसरी ओर उसके चारो ओर फैली हुई वास्तविकता की नीरस माँगे या ज़रूरतें। मनुष्य एक पूर्ण जीवन की कल्पना करता है और उसे यथार्थ बनाने के लिये अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है। शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के अनेक नियमों की परवाह न करते हुए कुछ समझदार दीवानों ने "स्थितप्रज्ञ" के आदर्श की कल्पना की। आश्चर्य की बात है कि उनमें से कुछ उस आदर्श की उपलब्धि भी कर सके। संसार के प्रमुख कवियों ने यह कभी नहीं माना कि उनकी प्रियतमाएँ केवल हाड़-मांस की पुतलियाँ हैं, जिनकी मदद से कतिपय शारीरिक क्षुधाएं पूरी की जा सकती हैं। वे उनके व्यक्तित्वों में लगातार अपरिमित सौन्दर्य का प्रक्षेप करते आये हैं। मनुष्य यह विश्वास रखता है। कि वह दुनिया को तथा अपने को बदल सकता है; इसलिये वह यह मानने से इनकार करता है कि वह एक साधारण प्राणी है, दुनिया की असंख्य चीजों में एक, अथवा धरती के बहुत से प्राणियों में से एक। मनुष्य दर्शन का अवलम्बन इस आशा में लेता है कि वह उस उच्च परिणति को लक्षित कर सकेगा जहाँ पहुँचने की हम आशा करते या कर सकते हैं।

हमारे इन वक्तव्यों का सम्बन्ध जीवन तथा जीवन की अनुभूति के विभिन्न स्तरों या धरातलों की उस कल्पना से है जिनका हम पिछले किसी अध्याय में उल्लेख कर आये हैं। जो व्यक्ति जितने ही बुद्धिमान तथा संवेदनशील होते हैं, वे याथार्थ के उतने ही अधिक विस्तार को छू कर जीवित रहना चाहते हैं, और विश्व-ब्रह्माण्ड से उतनी ही अधिक माँगें करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग में अधिक संवेदनशील तथा मेधावी मनुष्य अपने को दार्शनिक प्रश्नों से उलझते पाते हैं। इस प्रकार के लोग धरती के साधारण जीवन से सन्तुष्ट नहीं हो पाते।

फ़िलासफी या दर्शन उस आन्तरिक बेचैनी की अभिव्यक्ति है जो एक उच्च कोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना में निहित होती है, उन आत्माओं में जो अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहती हैं। इस प्रकार की आत्माएँ साधारण सफलताओं तथा उपलब्धियों से सन्तुष्ट नहीं होतीं। वे अपने सामने ऊँचे लक्ष्यों को रखती हैं, और यह जानने की कोशिश भी करती हैं कि उन लक्ष्यों तक किस तरह पहुँचा जा सकता है। वे दर्शन की ओर आकृष्ट होती हैं, क्योंकि दर्शन का प्रमुख कार्य जीवन की उच्चतम सम्भावनाओं का निरूपण करना है, उन सम्भावनाओं का जिन्हें यथार्थ बनाना सम्भव है। मनुष्य यह चाहता है कि उसका उक्त सम्भावनाओं

का अन्वेषण प्रामाणिक तथा सही हो, एक भुलावा मात्र न हो। इसलिये दर्शन मनुष्य की समस्त सार्थक अनुभूतियों तथा विज्ञानों की समस्त साक्षी को बटोर कर विश्व का एक सम्पूर्ण चित्र खींचने की कोशिश करता है, और उस चित्र की अपेक्षा में जीवन की सम्भावनाओं का निरूपण करता है।

मनुष्य की उस कल्पना को जो इस प्रकार का चित्र खींचती है हम दार्शनिक कल्पना कह सकते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से तत्व-दर्शन का मुख्य उपयोग यह है कि वह मनुष्य की बोध-कल्पना तथा मूल्य-कल्पना को अधिकाधिक उत्प्रेरित करे। दार्शनिक क्रियाओं के महत्व को हृदयंगम करने का एक तरीका यह है कि हम थोड़ी देर को यह सोच लें कि दर्शन का अभाव हो गया। दर्शन का अभाव होने का मतलब यह है कि मनुष्य की दार्शनिक प्रकृति अथवा दार्शनिक ढंग से देखने की और सोचने की वृत्ति लुप्त हो गई। उस दशा में निम्न कोटि की पहेलियाँ बूझने या हल करने की कोशिश करने वालों का अभाव हो जायगा : मनुष्य प्रतीकों की मदद से ऐसे दुरूह तथा जटिल सम्बन्धों की कल्पना कर लेता है कि जिन तक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता; मानवीय व्यवहार की अपेक्षा में भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के अधिक व्यापक नियम उतने प्रभावशाली नहीं होते जितने कि मनोविज्ञान, अर्थ-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, आदि के नियम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी एवं नैतिक प्रेरणाएँ; उदाहरण के लिये मनुष्य किसी से प्रेम करने लगता है इसलिए नहीं कि उस पर भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के सामान्य नियमों का शासन है, बल्कि इसलिए कि उसके मन में बुद्धि, भावना, नैतिक व्यवहार आदि की कतिपय विशेषताओं के प्रति पक्षपात है। यदि दार्शनिकों का अस्तित्व न हो तो कोई उस बड़ी विषमता को नहीं देखेगा जो ब्रह्माण्ड की अपेक्षा में मनुष्य की क्षुद्रतम स्थिति तथा उसकी भयंकर आकांक्षाओं एवं प्रेरणाओं के बीच पाई जाती हैं। दर्शन हमारे सामने अणु तथा विराट जगत के असंख्य रूपों को उपस्थित करता है, जीवन की अनगिनत सम्भावनाओं एवं दृष्टियों की उद्‌भावना करता है, और जीवन तथा जगत के असंख्य सम्बन्धों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार दर्शन हमें जीवन की क्षुद्र स्थितियों से ऊपर उठाकर विश्व-ब्रह्माण्ड की हलचल के केन्द्र में स्थापित कर देता है। दूसरी कोई भी विद्या, ग्रह-नक्षत्र-विषयक खगोलशास्त्र और सूक्ष्म जीवों का अध्ययन करने वाला प्राणिशास्त्र भी, हमारे मन में विस्मयपूर्ण आनन्द की वैसी व्यापक भावना नहीं जगा सकते जैसी कि दर्शन जगाता है। दर्शन हम में जो चेतना उत्पन्न करता है वह जीवन

को उच्चतम कोटि की तृप्ति देती है। खगोल-शास्त्र तथा प्राणि-शास्त्र के पंडित अपने यंत्रों द्वारा विपुल एवं विध सत्ताओं का साक्षात्कार करते हैं, लेकिन उनकी सम्बद्धता में जीवन की आवेगात्मक संभावनाओं का जैसा अनुभव दर्शन में मिलता है वैसा उक्त विज्ञानों में नहीं। इस दृष्टि से देखने पर दर्शन कला के उच्चतम रूपों का समकक्ष जान पड़ता है। बौद्धिक अन्वेषण के क्षेत्र में दर्शन का वही स्थान है जो कलाओं में कविता का। उन लोगों को जिनकी प्रकृति प्रधानतया बौद्धिक है, दर्शन से वैसे भी आनन्द मिलता है जैसे कि आवेगात्मक प्रकृति के लोगों को कविता से। यही कारण है कि तर्कमूलक भाववाद जैसे सिद्धान्त दार्शनिक चिन्तन को बुद्धि-जगत से वैसे ही निर्वासित नहीं कर सकते जैसे कि प्लेटो राज्य से कविता को निर्वासित नहीं कर सका।

यह लक्षित करने की बात है कि दर्शन जिन तथ्यों तथा सम्बन्धों का निरीक्षण करता है उनका निरीक्षण किसी दूसरे विज्ञान में नहीं होता। दार्शनिक निरीक्षण का समावेश इन्द्रियों के प्रत्यक्ष मे नहीं हो सकता। इसीलिये दार्शनिक वक्तव्यों की परीक्षा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा नहीं की जा सकती। यह कहना भी सही नहीं है कि दर्शन के वक्तव्य या कथन तर्कशास्त्रीय वक्तव्य या कथन होते हैं, जिनका लक्ष्य भाषा-प्रतीकों अथवा वाक्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। ऊपर हमने जिन कथनों के उदाहरण प्रतुत किये उनका अर्थ तथा अभिप्राय मानवीय रुचियों एवं प्रयोजनों के व्यापक संदर्भो में ही जाना जा सकता है।

इन विचारणाओं से हम अर्थवत्ता अर्थात् वाक्यों अथवा कथनों के अर्थवान होने की उपयुक्त पहचान प्राप्त कर सकते हैं। वह कोई भी वाक्य या कथन सार्थक होता है जिसका मानवीय रुचियों तथा मानवीय कल्पना की जरूरतों के अनुरूप कोई मतलब है। इस परिभाषा के अनुसार केवल कथन ही सार्थक नहीं होते बल्कि प्रश्न और आदेश तथा विधि-निषेध भी सार्थक एवं बुद्धिगम्य हो जाते हैं। उक्त अर्थ तथा मत में सब प्रकार के वक्तव्य, फिर चाहे वे स्थिति-बोधक (Categorical) हों अथवा सापेक्ष (Hypothetical), वे उपन्यास आदि साहित्य के वाक्य हों अथवा ऐतिहासिक कृतियों के वाक्य, सार्थक समझे जाने चाहिएँ।

जैसा कि हमने ऊपर कहा, विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले वक्तव्यों में तर्कशास्त्रीय सम्बन्ध नहीं हो सकते। लेकिन चूँकि विभिन्न वक्तव्य-क्षेत्र सभी मानवीय प्रयोजनों से सम्बन्धित होते हैं—उन प्रयोजनों से जो एक ही मानव व्यक्तित्व में पाये

जाते हैं—इसलिये विभिन्न विज्ञानों की आवश्यक मान्यताओं, पद्धतियों तथा निष्कर्षों का एक-दूसरे के लिये अर्थ एवं महत्व हो जाता है। **जहाँ तक दर्शन विभिन्न विज्ञानों तथा अनुभवक्षेत्रों का समन्वय करता है, वहाँ तक वह समन्वय तर्क-मूलक न होकर मूल्यात्मक होता है।** दर्शन विभिन्न ज्ञान-समष्टियों तथा वाक्य-रूपों को एक ही ढंग से एकत्रित कर सकता है, अर्थात् उन्हें बोधात्मक महत्व के एक क्रम में व्यवस्थित करके। दूसरा कोई ऐसा तरीका नहीं है जिससे भौतिक विज्ञानों, सौन्दर्य-शास्त्र, नीति-शास्त्र तथा अध्यात्म के क्षेत्र से सम्बन्धित वाक्यों को एकीकृत किया जा सके।

यहाँ हम जो कुछ कह रहे हैं उसका तात्विक अनेकवाद से सम्बन्ध है, जिसका उल्लेख हमने दूसरे अध्याय में किया था। पूछा जा सकता है कि हमारी सहज बुद्धि भौतिक जगत के सम्बन्ध में जिस ज्ञान का प्रतिपादन करती है उसमें तथा भौतिकशास्त्र द्वारा उपस्थित किये हुए जगद्बोध में बौद्धिक सत्यता की दृष्टि से क्या अन्तर है? क्या हमें यह मानना चाहिए कि भौतिकशास्त्र द्वारा उपस्थापित बोध ज्यादा मान्य है? प्रश्न है, क्या कुर्सियों, मेजों तथा मनुष्यों की वास्तविक सत्ता है? अथवा वे अधिक मौलिक परमाणुओं, विद्युदणुओं आदि का मिथ्या आभास या विवर्त मात्र हैं?

उक्त प्रश्नों का उत्तर हमारे अनुसार निम्न होगा। विश्व के सम्बन्ध में कोई भी सिद्धान्त, फिर चाहे वह वैज्ञानिक हो अथवा दार्शनिक, यदि दैनिक अनुभव की वस्तुओं की यथार्थता से इनकार करेगा तो वह स्वयं अपने आधार को नष्ट कर देगा। विज्ञान को भी विभिन्न यंत्रों तथा उपकरणों पर निर्भर करना पड़ता है, क्योंकि उन यंत्रों के बिना प्रयोग नहीं किये जा सकते। इसलिये भौतिकशास्त्र इन यंत्रों की वास्तविकता से इन्कार नहीं कर सकता। इसका मतलब यह हुआ कि भौतिकशास्त्र जड़ जगत के जो सैद्धान्तिक वर्णन उपस्थित करता है, वे ही एकमात्र सही वर्णन नहीं हैं। हमारी सहज बुद्धि विश्व का जो विवरण देती है वह भी एक दृष्टि से सही है, और कवि तथा चित्रकार जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वह भी मिथ्या नहीं है। ज्यादा-से-ज्यादा वैज्ञानिक यह दावा कर सकता है कि, कुछ प्रयोजनों को दृष्टि में रखते हुए, उसके द्वारा दिये हुए विश्व के विवरण सहज बुद्धि के विवरणों की अपेक्षा ज्यादा उपयोगी होते हैं, और प्रकृति के सम्बन्ध में हमारी अन्तर्दृष्टि को अधिक पुष्ट करते हैं। जब हम कहते हैं कि किसी भी क्षेत्र के वर्णन दूसरे वर्णनों से ज्यादा श्रेष्ठ अथवा सही हैं, तो हमारा मतलब यह होता है कि प्रथम वर्णन हमारे ज्यादा स्थायी प्रयोजनों के लिए उपयोगी है। उदाहरण के लिये यह समझा जाता है कि एक विस्फोटक पदार्थ अथवा

विषैली गैस के सम्बन्ध में रसायन-शास्त्र द्वारा दिया हुआ विवरण ज्यादा विश्वसनीय होता है, कारण यह है कि उस विवरण का मनुष्य के एक बड़े प्रयोजन के लिये विशेष महत्व है, अर्थात् उसकी शक्तिशाली बनने की लालसा के लिये। भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत किया हुआ जड़ जगत का विवरण आदरणीय समझा जाता है या आदृत होता है, इसका प्रमुख कारण यह है कि वह विवरण व्यावहारिक धरातल पर सफल होने में हमारा सहायक होता है। किन्तु जिस समय हमारे सामने बहुत से अतिथियों को बिठाने तथा भोजन कराने की समस्या होती है, उस समय हम सहज बुद्धि पर निर्भर करते हैं, और भौतिकशास्त्र से पूछने नहीं जाते कि कुर्सियों तथा मेजों एवं खाद्य पदार्थों का वास्तविक रूप क्या है।

विश्व के अनेक तथ्य-मूलक वर्णनों में वैज्ञानिक वर्णन का उसी प्रकार ऊँचा स्थान है जैसे कि शक्ति-कांक्षा का मनुष्य की दूसरी आकांक्षाओं के बीच, बल्कि उससे भी अधिक। विज्ञान मनुष्य को शक्तिमान ही नहीं बनाता, अधिक सम्पत्ति के उत्पादन का कारण बनकर वह मानवीय सुख में भी वृद्धि करता है। वस्तुतः विज्ञान आज की सभ्यता का प्रमुख आधार है। किन्तु यह सब स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य की दूसरी सांस्कृतिक क्रियाएँ अर्थवती नहीं है, अथवा कम अर्थवती हैं। मानवीय विद्याओं का भी उतना ही महत्व है जितना कि भौतिक विद्याओं का। हमारे विचार में तो मानवीय विद्याओं का और भी अधिक महत्व है। विभिन्न सांस्कृतिक क्रियाओं को ज्ञान अथवा मूल्यवान चेतना का उपकरण मानते हुए दर्शन यह जानना चाहता है कि इस रूप में विभिन्न शास्त्रों की प्रकृति एवं प्रामाणिकता क्या है।

इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करने के लिये दर्शन अनिवार्य रूप से विभिन्न अन्वेषकों के अन्वेषणात्मक व्यापारों, विविध कलाओं में निबद्ध अनुभवों एवं विभिन्न नैतिक तथा धार्मिक शिक्षकों के उपदेशों पर निर्भर करता है। अधुनातन काल में दार्शनिक चिन्तन ने भौतिकशास्त्र के अन्वेषकों के दृष्टिकोण तथा पद्धतियों में होने वाले परिवर्तनों पर विशेष ध्यान दिया है। भौतिक विज्ञान क्या करता है? विभिन्न प्रयोग उसके सामने कतिपय तथ्य उपस्थित करते हैं, उन तथ्यों के बल पर वह समस्त भौतिक यथार्थ की रूपरेखा खींचने का प्रयत्न करता है, जैसे कि कोई समुद्र की सतह पर तैरते हुए हिम-पिण्ड के एक हिस्से को देखकर उसके शेष हिस्से की रूपरेखा बनाने का प्रयत्न करे। वैज्ञानिक अन्वेषण विधि कुछ वैसी ही है जो किसी तस्वीर के कुछ खण्ड दिये हुए होने पर उन्हें इस प्रकार संयुक्त करने में प्रतिफलित होती है कि वे एक

पूर्ण चित्र के भाग बन सकें। श्रोडिन्जर बतलाते हैं कि किसी भी सम्बन्ध में मनुष्य जिन प्रयोगों को कर सकता है उनकी संख्या बहुत बड़ी होती है; इस बड़ी संख्या में से थोड़े ही प्रयोगों को हम वस्तुतः कर पाते हैं। उन थोड़े किये हुए प्रयोगों के बल पर हम यथार्थ की बनावट के सम्बन्ध में कल्पना करते हैं। यह कल्पना कितनी कम निश्चयात्मक होती है यह समझने के लिये इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कोई एक भी नया प्रयोग, ऊपर के उदाहरण में तस्वीर के एक नये टुकड़े की भाँति, हमारी पुरानी व्याख्यात्मक योजना को पूर्णतया बदल दे सकता है। तस्वीर के प्रत्येक नये टुकड़े की भाँति प्रत्येक नया प्रयोग, यथार्थ की रचना के बारे में, हममें नयी कल्पना जगाता है। मानव मस्तिष्क यह प्रयत्न करता है कि सम्पूर्ण उपलब्ध प्रयोगात्मक तथ्यों के आधार पर वह यथार्थ जगत का ऐसा चित्र बनाये जो अपने में संगत हो; लेकिन वास्तविक अनुभव तथा प्रयोगों पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगायी जा सकती, भविष्य के प्रयोग हमारे सामने कुछ भी उपस्थित कर सकते हैं। इसलिये भौतिकशास्त्र के सामान्य कथन कभी पूर्णतया सत्य नहीं होते, वे पूर्ण या चरम सत्य होने का दावा कर ही नहीं सकते।

मानवीय विद्याओं के दृष्टिकोण और निष्कर्ष भी बदलते रहते हैं, किन्तु यहाँ परिवर्तन का दूसरा कारण होता है। मानवीय विद्याओं का विषय एक ऐसा यथार्थ है, अर्थात् मानव जीवन और इतिहास, जो कभी पूर्णतया निर्मित या सिद्ध नहीं होता, बल्कि लगातार विस्तार और जटिलता में बढ़ता रहता है। जैसे ही एक नया महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा जाता है, अथवा एक नई सामाजिक व्यवस्था, चुनाव तथा शासन के एक नये रूप की, कल्पना की जाती है, अथवा विश्व के या विश्व सम्बन्धी चिन्तन के बारे में एक नये सिद्धान्त का निरूपण किया जाता है, वैसे ही मानव-जीवन का स्वरूप बदल जाता है। उदाहरण के लिये गेटे का 'फाउस्ट', टॉलस्टाय की 'एनाकेरीनिना' जैसी कृतियाँ तथा जनतंत्र एवं तानाशाही जैसे शासन के रूप, मानवीय व्यवहार तथा प्रेरणाओं की नवीन सम्भावनाओं का उद्घाटन ही नहीं करते, उनमें वृद्धि भी कर देते हैं।

हमने बतलाया कि भौतिकशास्त्रों की रूपरेखाएँ बदलती रहती हैं, और मानवीय विद्याएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। चूँकि दर्शन की विषय-वस्तुएँ शास्त्र तथा विद्याएँ हैं, इसलिये यह अनिवार्य है कि दर्शन भी बदलता रहे। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि दार्शनिक चिन्तन भौतिक शास्त्रों तथा मानबीय विद्याओं से अधिक

परिवर्तनशील हूँ। वस्तुतः अपनी प्रकृति में दर्शन भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा कलाओं तथा साहित्य के ज्यादा निकट है। इसलिये दर्शन में होनेवाले परिवर्तन कला-साहित्य में होने वाले परिवर्तनों से ज्यादा उग्र नहीं होते। वस्तुतः कला-साहित्य में होने वाले परिवर्तन उतना उनके पुराने रूपों को बदल नहीं देते, जितना कि उनमें नये रूपों को जोड़कर वृद्धि कर देते हैं। इसलिये यह घोषित करना कि दर्शन अथवा तत्व-दर्शन एक वंध्या विद्या है जिसके अन्वेषकों में आपस में सदैव मतभेद रहा है और जिसमें ऐतिहासिक अविच्छिन्नता का अभाव है, उचित नहीं है। मूल्यों के सामान्य विज्ञान के रूप में, अर्थात् एक ऐसी विद्या के रूप में जिसका काम विभिन्न मूल्यों का अध्ययन करना है, दर्शन के इतिहास में उतनी ही अविच्छिन्नता मिलेगी जितनी कि किसी दूसरे शास्त्र के इतिहास में। इसका प्रमाण यह है कि हम आज भी प्राचीन विचारकों के तर्कशास्त्र से सम्बन्धित ही नहीं, बल्कि सौन्दर्य, नैतिकता और अध्यात्म से सम्बन्धित विवेचनों को भी, रसपूर्वक पढ़ते और समझ पाते हैं।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. हर्बर्ट स्पेन्सर, फर्स्ट प्रिन्सिपिल्स, तृतीय संस्करण, (विलियम्स और नार्गेट, लन्दन, १८७५), पृ० १३१, १३२, १३३।

२. दे० इन्टरनेशनल एन्साइक्लोपीडिया आव् यूनीफ़ाइड सायन्स, भाग १, अंक १, आटो न्यूराथ का लेख पृ० १९, और आर० कारनेप का लेख, पृ० ५२-५८।

३. वही, पृ० ३४।

४. वही, पृ० ४९।

५. प्रोसीडिंग्ज़ आफ दी एरिस्टाटीलियन सोसायटी, सप्लीमेंटरी वाल्यूम १९, १९४५, एफ० वैजमैन का पर्चा, पृ० १३१।

६. अरस्तू, मैटाफ़िज़िक्स, बुक ए (१)

७. आर० जी० कालिंगवुड, दी आइडिया आव् हिस्टरी, (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४६), भूमिका पृ० १।

८. यह बात सब प्रकार की समीक्षा-मूल्यांकन की क्रियाओं पर लागू है। कला और साहित्य साक्षात् अनुभव-जगत से सम्बन्धित रहते हैं और वहाँ से सामग्री प्राप्त करते हैं; इसके विपरीत समीक्षा और सौन्दर्य-शास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध अनुभव से हो, यह जरूरी नहीं है। समीक्षा मुख्यतः कला की प्रभविष्णुता और आन्तरिक संगति की जाँच करती है; सौन्दर्यशास्त्र अथवा कला-मीमांसा उक्त प्रभाव और संगति के

स्वरूप का अन्वेषण करती है। ऐसा ही अन्तर नैतिकजीवन और नीतिशास्त्र में है। दर्शन की अपेक्षा विज्ञानों––सामाजिक और भौतिक––का अनुभव-जगत से निकटतर सम्बन्ध होता है।

९. दे० सी० के० ऑगडेन और आई० ए० रिचर्ड्स, द मीनिंग आॅव् मीनिंग, (कीगन पाल, १९२७), पृ० १०-१२।

१०. प्रोसीडिंग्ज़ आव् एरिस्टाटीलियन सोसायटी, नई सीरीज़ भाग ३३, १९३२-३३; एल्० एस्० स्टैबिंग का पर्चा, द मैथड आव् एनेलिसिस इन मैटाफ़िजक्स, पृ० ८२।

११. दे० फिलाॅसिफ़िकल एनेलिसिस, संपादक मैक्स ब्लैक, (कारनेल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५०) कु० एलिस एम्ब्रोस का पर्चा, द प्राब्लेम आव् लिंग्विस्टिक इन्एडीक्वेसी, पृ० २६।

१२. वही, पृ० २७।

१३. द फिलासफी आव् जी० ई० मूर, (द लायब्रेरी आव् लिविंग फिलासफर्स, १९४२), पृ० ३२३।

१४. प्रो० मूर का उदाहरण वही, पृ० ६६४-६५।

१५. दे० पार्सन्स और शिल्ज़ टुवर्ड ए जेनरल थियरी आॅव् एक्शन, पृ० ५०।

१६. लैंग्वेज, ट्रुथ, ऐन्ड लाजिक, पृ० ५९।

१७. वही, पृ० ६०।

१८. वही, भूमिका, पृ० २६।

१९. वही, पृ० ६१, २३।

२०. वीनबर्ग, एन एग्जामीनेशन आॅव् लाजिकल पाॅज़िटिविज्म, पृ० २३२।

२१. टुएन्टिएथ सैंचुरी फ़िलाॅसफ़ी, संपादक डी० डी० रयून्स, (फिलाॅसिफिकल लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९४३), लाजिकल एम्पीरिसिज्म, पृ० ३७८।

२२. वही।

२३. फिलासफी ऐन्ड फिनामिनालाॅजिकल रिसर्च, भाग ८, अंक ४, जून, १९४८ श्री जान वाइल्ड और जे० एल० काबलिज का पर्चा, आन द डिस्टिंक्शन बिट्वीन दी एनेलिटिक ऐन्ड द सिन्थेटिक, पृ० ६६२।

२४. एल्० एस्० स्टेबिंग, ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टु लाॅजिक, प्रस्तावना।

२५. आउटलाइन आव् लाॅज़ आव् थाट से एच० केल्डरवुड द्वारा वाकेबुलरी आव् फिलासफी में उद्धृत पृ० १९३-९४।

२६. सी० डी० ब्राॅड, फ़िलासफी ऐन्ड साइकीकल रिसर्च, (रतलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन, १९५३), पृ० ८

२७. शंकर कहते हैं: 'सृष्टि की आख्यायिका, क्रम आदि के ज्ञान से कोई लाभ नहीं; आत्मैक्य के ज्ञान से मुक्ति मिलती है, यह तो श्रुतियों की प्रसिद्ध बात है।' ऐतरेय उपनिषद्, अध्याय २, भूमिका।

२८. वर्णन इस प्रकार है: 'निरोधहीन, उत्पादहीन, नाशहीन अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, आगमनहीन, निर्गमहीन', इत्यादि।

२९. दे० न्यायामृताद्वैतसिद्धी, संपादक अनन्तकृष्ण शास्त्री, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, १९३४, भूमिका पृ० ७७।

३०. कुमारिल, श्लोकवार्तिक, (बिबलिओथिका इन्डिका संस्करण, कलकत्ता १९०३), पृ० १४८, श्लोक २०२।

३१. लैंग्वेज, ट्रुथ ऐन्ड लाजिक, पृ० ५२।

३२. वही।

३३. वही, पृ० ५७।

अध्याय ७

नीति-धर्म या आचार-नीति

सम्भवतः संसार में कोई ऐसा सामान्य-बुद्धि-संपन्न मनुष्य, स्त्री या पुरुष, नहीं है जो नैतिक भेदों को प्रकट करने वाले शब्दों का व्यवहार नहीं करता। जहाँ मनुष्य बातचीत करता है वहाँ समाज होता है, और समाज का अस्तित्व आवश्यक रूप में नैतिक मूल्यांकन के अस्तित्व से सहचरित है। कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिकता का अनुभव सब मानवीय समाजों की एक सार्वभौम विशेषता है। अतएव, हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि सभ्य समाजों के दार्शनिक तथा सामाजिक विचारक नैतिक प्रश्नों को विशेष महत्व देते आये हैं, यद्यपि नैतिक समस्याओं का सचेत अनुचिन्तन, व्यक्तियों तथा समाजों दोनों के जीवन में, अपेक्षाकृत विलम्ब से शुरू होता है। वे समाज जो अपेक्षाकृत ज्यादा उन्नत हैं अपने नैतिक पक्षपातों को सुचिन्तित नैतिक मन्तव्यों के रूप में प्रतिपादित करने की कोशिश करते हैं, और फिर उन्हें कानूनी धाराओं के रूप में निबद्ध करते हैं। इसी प्रकार वे कलाकार और दार्शनिक जो प्रौढ़ता के स्तर पर पहुँच चुके हैं नैतिक समस्याओं के महत्व से परिचित होने लगते हैं। वैसे ही धर्म-साधना अथवा अध्यात्म भी अपेक्षाकृत उन स्त्री-पुरुषों को रुचिकर विषय लगता है जिनकी अवस्था पक चुकी है और जिनकी अनुभूति प्रौढ़ बन चुकी है।

मनुष्य अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर ही नैतिक तथा दूसरी वैसी समस्याओं पर विचार करते हैं। अक्सर मनुष्य के हृदय में परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ उदित होती हैं, और उसकी विभिन्न इच्छाएँ उसे विभिन्न दिशाओं में चलने की प्रेरणा देती हैं। इसके फलस्वरूप मनुष्य को एक या दूसरे रास्ते को पसन्द करना पड़ता है। एक विचार-शील प्राणी होने के नाते मनुष्य उन सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर लेना चाहता है जो उसकी पसंदों के पीछे छिपे रहते हैं। मनुष्य की शक्तियाँ और उसके साधन सीमित होते हैं। फलतः वह दुनिया की सब चीजों को चाहने पर भी नहीं

पा सकता। इसलिये उसे विभिन्न लक्ष्यों तथा विभिन्न कोटियों के सुखों में से चुनाव करना पड़ता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक बुद्धिमान होता है वह अपने जीवन को उतना ही अधिक महत्व देता है, और अपनी इच्छाओं, संकल्पों आदि के सम्बन्ध में उतना ही अधिक सोचता है। मनुष्य चाहता है कि वह अपने प्रयत्नों तथा शक्तियों को उचिततम दिशा में लगाये और अपने जीवन को अधिक-से-अधिक सफल अथवा समुन्नत करे। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसमें स्वप्न देखने और आशाएँ जगाने की अनन्त क्षमता है; जैसे ही वह एक लक्ष्य तक पहुँच जाता है, वैसे ही एक ज्यादा ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये व्याकुल होने लगता है। साथ ही मनुष्य चाहता है कि वह जीवन के चरम लक्ष्य या गन्तव्य को अपनी कल्पना में पूर्णतया प्रत्यक्ष कर ले, जिससे उसके प्रयत्न, जीवन भर, निश्चित दिशा में अग्रसर होते रहें।

मनुष्य अपने जीवन के मूल्यों को समझना चाहता है, इसका मतलब यह है कि वह अपने जीवन की विभिन्न सम्भावनाओं से सुपरिचित हो जाना चाहता है। मनुष्य स्वभावतः आशावादी होता है, किन्तु थोड़े ही अनुभव के बाद उसे यह पता चल जाता है कि वह दुनिया में हरेक चीज़ नहीं पा सकता; उसे यह भी पता हो जाता है कि हर चीज़ पाने योग्य नहीं है। जैसे-जैसे उसकी ज़िन्दगी का अनुभव बढ़ता जाता है, वह यह महसूस करने लगता है कि उसे अपनी पसन्दों के बारे में अधिक सतर्क होना चाहिए, और अपनी प्रवृत्तियों पर अधिक नियंत्रण भी रखना चाहिए। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसके जीवन में कष्ट, विफलता तथा मनोरथ-भंग के अनुभव न आते हों। अधिक-से-अधिक चतुर, शक्तिमान तथा भाग्यशाली व्यक्ति के जीवन में भी इस प्रकार के अनुभवों के अवसर आते हैं, और तब वह विचार करने लगता है कि सफल जीवन-यापन के नियम क्या हैं, और जीवन का अर्थ तथा लक्ष्य क्या है। मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक खोज, अन्तिम विश्लेषण में, जीवन-विवेक की खोज है। मनुष्य यह जानना चाहता है कि जीवन को उचित ढंग से चलाने या व्यतीत करने का माग कौन-सा है।

जब तर्क-मूलक भाववादी यह कहते हैं कि नीति-शास्त्र अथवा आचार-विज्ञान का अस्तित्व शास्त्र के रूप में सम्भव नहीं है, तब वे केवल यह नहीं कहते हैं कि हमारे नैतिक निर्णय वस्तुतः कथन या वक्तव्य नहीं होते। इस प्रश्न में तो कदाचित् दार्शनिकों को ही रुचि हो सकती है। वे विचारक वस्तुतः एक ज्यादा महत्व की चीज़ की सम्भावना से इनकार करते हैं, अर्थात् इस सम्भावना से कि जीवन को सुचारु रूप से चलाने की

कोई विद्या या कला हो सकती है। बींसवीं सदी के नरनारी प्रायः बेचैनी तथा बौद्धिक उलझन का जीवन व्यतीत करते हैं। हमारे युग के मनुष्य के पास सभी चीजें हैं, केवल एक को छोड़कर; उसके पास केवल जीवन-विवेक का ही अभाव है, जिसकी मदद से वह उचित ढंग से जीवन बिता सके। जीवन के सम्बन्ध में हमारी नासमझी इतनी अधिक बढ़ गई है कि हम इसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं करते कि जीवन-विवेक नाम की कोई चीज होनी चाहिए, और उसकी सम्भावना से भी इनकार करते हैं।

आज के मनुष्य की परेशानियों का असली स्रोत है, उसका यह अन्वेषण कि हमारे नैतिक मूल्य आपेक्षिक होते हैं। अर्थात् चरित्र की अच्छाई-बुराई के बारे में हम जो सम्मतियाँ देते हैं, उसके निर्णय में जिन पैमानों का प्रयोग करते हैं, वे आपेक्षिक हैं। इतिहास के तथा समकालीन विभिन्न समाजों में, जिनका इतिहास के अन्वेषकों तथा नर-विज्ञान ने पता चलाया है, चरित्र की अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मन्तव्य पाये जाते हैं। फलतः उन सभी मन्तव्यों के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो जाती है। तर्क-मूलक भाववादी इस अविश्वास की भावना को शास्त्रीय रूप दे देते हैं।

नैतिक पैमानों की सापेक्षता यह सिद्ध करती जान पड़ती है कि नैतिक मूल्य तथा पैमाने वस्तुनिष्ठ नहीं हैं; इसका मतलब यह होता है कि वे यथार्थ अथवा विश्वसनीय नहीं हैं। अपनी एक पुस्तक "आचार-दर्शन में तर्क-बुद्धि का स्थान' में श्री टूलमिन ने यह प्रतिपादित किया है कि श्रेयत्व (Goodness) अथवा नैतिक अच्छाई (Rightness) को न तो सरल कोटि का गुण माना जा सकता है और न जटिल कोटि का गुण; वस्तुतः श्रेयत्व तथा अच्छाई, अथवा उनके विपरीत चीजें, गुण हैं ही नहीं। लालिमा एक सरल गुण है जो कि सब दीखने वाले लाल पदार्थों में पाया जाता है, किन्तु जिन्हें हम अच्छा कार्य कहते हैं उनमें कोई ऐसा गुण नहीं पाया जाता जो सब को दिखाई दे। उदाहरण के लिये 'नम्रता का व्यवहार' तथा 'अपना ऋण चुकाना' नामक क्रियाओं में कोई ऐसा सामान्य गुण नहीं है जिसकी प्रतीति हो सके। उन दोनो व्यवहारों को अच्छा कहा जायगा, लेकिन उन दोनों में कोई ऐसा सामान्य धर्म या गुण नहीं पाया जाता जिसे हम नैतिक अच्छाई का नाम दे सकें। गुण दो प्रकार के होते हैं। सरल गुण वे हैं जिनकी ओर संकेत किया जा सकता है, अर्थात् जिनका अस्तित्व उन चीजों के संकेत द्वारा जिनमें वह गुण पाया जाता है, दर्शित किया जा सकता है। जिसे हम नैतिक अच्छाई कहते हैं उसे इस प्रकार संकेत से दर्शित नहीं किया जा सकता। अब

एक जटिल गुण का उदाहरण लीजिये। "रेखा-गणित की इस 'पॉलिगान' (अनेक भुज शक्ल) में २५७ भुजायें हैं।" यह गुण सीधे देखने पर प्रकट नहीं होता, किन्तु एक विशेष पद्धति का प्रयोग करने पर उसकी उपस्थिति का बोध हो सकता है। यह विशेष पद्धति गणना या गिनती है। किन्तु मानवीय व्यवहारों की अच्छाई-बुराई का निर्णय करने के लिय ऐसी किसी पद्धति का निर्देश नहीं किया जा सकता। इससे श्री टूलमिन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अच्छाई-बुराई को एक गुण नहीं मानना चाहिए, और उन्हें वस्तुनिष्ठ यथार्थ मानकर नहीं चलना चाहिए।[1]

उक्त धारणाओं के विरुद्ध यहाँ हम यह प्रतिपादित करेंगे कि अच्छाई तथा श्रेष्ठता गुण हैं, शायद वे जटिल गुण हैं जिन्हें एक विशेष पद्धति द्वारा जाना जा सकता है। मतलब यह है कि हमारा मन्तव्य टूलमिन के मत का विरोधी है।

पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्रश्न क्या है। प्रश्न यह नहीं है कि अच्छाई अथवा श्रेयत्व एक ऐसा गुण है या नहीं जो वस्तुनिष्ठ रूप में दिखाई देता है; प्रश्न यह है कि यदि श्रेयत्व अथवा अच्छाई वैसा गुण हो, तब उन असंख्य मतभेदों की व्याख्या कैसे होगी जो कि विभिन्न समाजों की नैतिक मान्यताओं में पाये जाते हैं? संक्षेप में, आज के युग में नीति-शास्त्र की मुख्य समस्या यह है कि नैतिक मान्यताओं के सम्बन्ध में जो असंख्य मतभेद पाये जाते हैं उनकी नैतिक मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठता से कैसे संगति बिठायी जाय।

यहाँ हम पाठकों का ध्यान उन कतिपय निष्कर्षों की ओर आकृष्ट करेंगे जिन पर पिछले अध्यायों में पहुँचा जा चुका है। प्रथमतः मानव व्यवहार, जहाँ तक वह व्यवहार मानवीय विद्याओं के अध्ययन का विषय होता है, भौतिक गतिरूप नहीं होता, उन विद्याओं में मानव-व्यवहार विभिन्न अर्थों के वाहक के रूप में परीक्षा का विषय होता है। यहाँ 'अर्थ' से मतलब उस चीज से है जिसे मनुष्य 'साध्य' अथवा 'साधन' के रूप में मूल्यवान समझता है। मानव-व्यवहार में अनुस्यूत अर्थ या तो लक्ष्य रूप होता है अथवा लक्ष्यों की ओर ले जाने वाला साधन-रूप; उन अर्थों में पाया जाने वाला मूल्य भावात्मक भी हो सकता है और निषेधात्मक भी। दूसरे, यदि ये अर्थ अथवा मूल्य गुण हैं, तो वे आवश्यक रूप में आपेक्षिक होंगे। इसका मतलब यह हुआ कि वस्तुओं, घटनाओं अथवा चरित्रों में अनुस्यूत मूल्य, गुणों की साधारण प्रकृति के अनुसार, दूसरी चीजों की अपेक्षा से ही अर्थवान अथवा अस्तित्ववान

होते हैं। उदाहरण के लिये हम उस कर्म अथवा चरित्र को अच्छा कहेंगे जो वांछनीय परिणाम उत्पन्न करता है। इसी प्रकार किसी स्थिति की श्रेष्ठता उस चेतना की सापेक्ष होती है जो उसका अनुभव करती है, कालिदास या भास का एक नाटक शिक्षित मनुष्य की संवेदना की अपेक्षा से महत्वपूर्ण या मूल्यवान होता है, पशुओं तथा पत्थरों के लिए उसका कोई मूल्य नहीं होता।

उक्त मन्तव्य के कतिपय क्रान्तिकारी परिणाम हैं, जिन पर हमें ध्यान देना चाहिए। वस्तुओं की लालिमा जैसी सरल विशेषता भी उस आँख की रचना की सापेक्ष होती है जो उसे देखती है। जिस आँख में शंकु (Cones) उपस्थित होते हैं और आँख के पर्दे पर उचित रूप में वितरित होते हैं, वही लालिमा को देख सकती है। यदि विभिन्न जन्तुओं की आँखों के पर्दों की रचनाएँ भिन्न-भिन्न हों, तो तथा-कथित लाल वस्तुएँ अलग-अलग रंगों वाली प्रतीत होंगी। इस कल्पना का आधार यह तथ्य है कि सामान्य मनुष्यों तथा वर्णान्ध मनुष्यों के चाक्षुष प्रत्यक्षों में अन्तर होता है।

ऊपर हमने बाह्य प्रत्यक्षों की बात की, अर्थात् उन प्रत्यक्षों की जिनका सम्बन्ध इन्द्रियों से होता है। किन्तु अर्थों के प्रत्यक्षीकरण में बुद्धि तथा सौन्दर्य की संवेदना का भी हाथ रहता है। इसलिये ये प्रत्यक्ष बौद्धिक तथा दूसरी कोटि के उस प्रशिक्षण पर भी निर्भर करते हैं जो किसी व्यक्ति को मिला है। उदाहरण के लिये गणित के एक समीकरण का एक ऐसे व्यवित के लिये कोई महत्व नहीं होता जिसने गणित का अध्ययन नहीं किया है। वैसे ही अखबार देखकर एक शिक्षित राजनीति या कूटनीति का विद्यार्थी जिन अर्थों का प्रत्यक्ष करता है, उनका प्रत्यक्ष एक साधारण मनुष्य को नहीं हो सकता। जहाँ यह सम्भव है कि हम 'पॉलिगान' की भुजाओं की गणना करने के लिये एक निश्चित पद्धति का निर्देश कर दें, वहाँ यह संभव नहीं है कि कोई व्यक्ति गणित तथा भौतिकशास्त्र की लम्बी-चौड़ी जानकारी के बिना आइन्स्टाइन के कतिपय मन्तव्यों का ठीक-ठीक अभिप्राय समझ लें। उसी प्रकार कालिदास तथा शैक्सपियर की कृतियों में पाये जाने वाले सौन्दर्य का ठीक आभास लेने के लिये यह अनिवार्य है कि पाठक को साहित्य का रस लेने की समीक्षात्मक शिक्षा मिली हो। मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में कोई व्यक्ति तब तक विभिन्न सम्बन्धों तथा प्रभावों को ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक उसमें कल्पनात्मक तादात्म्य स्थापित करने की विकसित क्षमता न हो। यद्यपि मूल रूप में यह क्षमता सभी मनुष्यों में विद्यमान होती है, फिर भी उन मनुष्यों की सम्वेदना, जिन्हें काफी शिक्षा नहीं मिली है, इस प्रकार के तादात्म्य को नहीं

प्राप्त कर सकती। वस्तुतः बौद्धिक तथा सौन्दर्य-मूलक अनुभूतियों के क्षेत्र में एक उच्च शिक्षित तथा अपढ़ मनुष्य में उतना ही अन्तर होता है जितना कि दो भिन्न कोटियों के प्राणियों में। जहाँ एक ही समाज के दो व्यक्तियों में काफ़ी अन्तर हो सकता है, वहाँ विभिन्न समाजों के व्यक्तियों में और भी अधिक अन्तर होने की सम्भावना रहती है।

यह सौभाग्य की बात है कि नैतिक भलाई-बुराई का प्रत्यक्ष सदैव लम्बे-चौड़े प्रशिक्षण पर निर्भर नहीं करता। यही कारण है कि विश्वविद्यालय का एक शिक्षक तथा एक किसान दोनो एक विशिष्ट व्यवहार की अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में एकमत हो सकते हैं, जब कि बिहारी के एक दोहे तथा साधारण तुकबन्दी के अन्तर को देखने में उन दोनों का मतैक्य होना बहुत कठिन है। किन्तु जटिल परिस्थितियों में ऐसे मतैक्य की आशा नहीं की जा सकती। यह बिल्कुल सम्भव है कि एक कर्म या व्यवहार जिसे किसान बहुत खराब समझता है, विश्वविद्यालय के शिक्षक को उचित ही नहीं बल्कि श्लाघ्य जान पड़े।

हम पहले कह चुके हैं कि किसी कर्म की भलाई-बुराई को आँकने के लिये हमें उसके परिणामों पर ध्यान देना चाहिए, भले ही वह परिणाम अभी घटित न हुआ हो और केवल कल्पना का विषय हो। किसी व्यक्ति के चरित्र का मूल्यांकन हम उन व्यवहारों के आलोक में करते हैं जिन्हें वह स्वभावतः किया करता है, अथवा उन परिणामों के आलोक में जिन्हें उसकी संकल्पशक्ति अक्सर उत्पन्न किया करती है। जिन लोगों के बारे में हम ज्यादा नहीं जानते उनके सम्बन्ध में नैतिक निर्णय देते समय हम प्रायः उनकी नीतियों तथा व्यवहारों के नतीजों का विचार करते हैं। इसके विपरीत सुपरिचित व्यक्तियों को आँकते समय हम उनकी प्रकृति तथा चरित्र का विचार करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे नैतिक निर्णय का विषय परिस्थितियों के साथ बदलता रहता है। वह उन परिवर्तनों पर भी निर्भर करता है जिन्हें हम स्वयं उत्पन्न करना चाहते हैं। ब्रूटस एक भला आदमी था जिसने जान-बूझकर सीज़र की हत्या की; यह हत्या एक दुष्ट कर्म था। ब्रूटस के विरोधियों ने इस काम पर नजर रखी और कहा कि ब्रूटस एक बुरा व्यक्ति है, क्योंकि उसने एक बुरा काम किया। इसके उत्तर में ब्रूटस का कोई मित्र कह सकता था कि अपनी प्रकृति और चरित्र से ब्रूटस एक भला आदमी है, और यह कि उसने सीज़र की हत्या एक अच्छे परिणाम के लिये की थी।

वे चरम मूल्य अथवा मूल्य-समूह क्या हैं जिनकी अपेक्षा से किसी कर्म या चरित्र की अच्छाई-बुराई का निर्णय किया जाय? आचार-शास्त्र के इतिहास में चरम आदर्श या मूल्य के सम्बन्ध में हम अनेक धारणाएँ पाते हैं, जैसे सुख, पूर्णत्व, आत्म-लाभ, नैतिक नियमों का पालन, ईश्वर के अनुशासन का पालन, इत्यादि। प्रश्न है कि इन धारणाओं की विभिन्नता का क्या कारण है, और इस प्रकार मतभेदों को देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि नैतिक जीवन के कुछ निश्चित नियम या पैमाने हैं? ऊपर के प्रश्न तथा अन्य नैतिक समस्याओं का विचार हम निम्न क्रम से करेंगे। प्रथमतः हम चरम आदर्श अथवा मूल्य की बुद्धिग्राह्य धारणा बनाने की कोशिश करेंगे। दूसरे, हम यह देखेंगे कि उस धारणा से नैतिक मूल्यांकन के किन-किन पैमानों को प्राप्त किया जा सकता है, और विभिन्न पैमानों में किस प्रकार सामन्जस्य अथवा समन्वय किया जा सकता है। इसके बाद हम इस कठिन समस्या को हल करने की कोशिश करेंगे कि व्यक्ति तथा समाज में क्या सम्बन्ध होना चाहिए। ये विचारणाएँ सम्भवतः हमें यह संकेत दे सकेंगी कि एक सुसंस्कृत जीवन में नैतिकता का क्या स्थान होता है।

हमारे विचार में नैतिक अच्छाई तथा श्रेयत्व दोनो गुण हैं, वे एक विशेष कोटि की चीजों की विशेषताएँ हैं। एक कर्म अच्छा या बुरा, नैतिक या अनैतिक होता है; वह स्वयं अच्छाई अथवा नैतिकता नहीं है। एक कर्म नैतिक दृष्टि से उदासीन भी हो सकता है, अर्थात् ऐसा जिसे न नैतिक कहा जा सकता है और न अनैतिक। मानवीय कर्म में नैतिक विशेषताओं के अतिरिक्त भी अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं, वह आशु, प्रवृत्ति-मूलक तथा जल्दबाजी में अनुष्ठित हो सकता है, और संकल्प-मूलक एवं सुचिन्तित भी। इसी प्रकार श्रेयत्व कुछ चीजों तथा अनुभूतियों का गुण हैं, वह किसी खास वस्तु अथवा अनुभव का नाम नहीं है।

श्रेष्ठता या श्रेयत्व, हमारी समझ में, जीवन का गुण है, अथवा जीवनानुभूति का। चेतन प्राणियों की सापेक्षता में ही सौन्दर्य, रंग आदि का कुछ महत्व होता है; उसी प्रकार श्रेयत्व भी जीवन का सापेक्ष है। रंग तथा सौन्दर्य बाहरी वस्तुओं में हो सकता है, संभवतः होता है, किन्तु चरम मूल्यों का अधिष्ठान वे वस्तुएँ नहीं, अपितु उन वस्तुओं का अनुचिन्तन और उसके द्वारा आनन्द लेने की क्रियाएँ हैं। एक नैतिक कर्म की भाँति सुन्दर वस्तु का मूल्य भी साधनात्मक होता है। साध्य अथवा चरम मूल्य वे अनुभूतियाँ है जो सुन्दर वस्तुओं तथा नैतिक कर्मों द्वारा जगायी जाती हैं।

चरम मूल्य या श्रेय स्वयं जीवन का नाम है, वह उस जीवन की विशेषता है जो वांछनीय समझा जाता है। संवेदनशील मनस्वी व्यक्ति निरादरपूर्ण जीवन की अपेक्षा मृत्यु को ज्यादा पसन्द करता है; इसी प्रकार एक ऐसा जीवन जिसमें अनवरत भयंकर शारीरिक कष्ट रहता है, वांछनीय नहीं समझा जाता। इसलिये नैतिक कर्म वह नहीं है जो जीवन की मात्रा को बढ़ाता है, नैतिक अथवा धार्मिक व्यापार वह है जो पहले से मौजूदा जीवन को सुखी तथा श्रेष्ठतर बनाने में मदद करता है।

दो प्रकार के मूल्य हैं जिन्हें चरम कहा जा सकता है। ये मूल्य मनुष्य की उन क्रियाओं द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं जिन्हें हम सभ्यता तथा संस्कृति कहते हैं। जीवन जीने योग्य बनता है, या तो उन क्रियाओं से जो हमारी जरूरतों की निर्विघ्न पूर्ति में सहायक होतीं और भौतिक तथा मानसिक कष्टों को दूर करती हैं, अथवा उन क्रियाओं द्वारा जो हमारे अस्तित्व का प्रसार करती हुईं उसे समृद्ध करती हैं।

विशुद्ध रूप में नैतिक अथवा धार्मिक क्रियाएँ निम्न कोटि की होती हैं: वे जो दूसरों के कष्ट को रोकतीं अथवा दूर करती हैं; वे क्रियाएँ जो दूसरों के सुख के लिये त्याग-रूप होती हैं; तथा आत्म-दमन के वे व्यापार जो किसी महत्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक होते हैं। अन्तिम कोटि का व्यापार तभी नैतिक कहा जाता है जब उद्दिष्ट लक्ष्य निर्वैयक्तिक होता है, जैसे देश की स्वतंत्रता की प्राप्ति। जब कोई व्यक्ति किसी वैयक्तिक बड़े लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आत्म-दमन करता है, जैसे कि ज्ञान अथवा ऊँचे पद की प्राप्ति के लिये, तो हम उसकी प्रशंसा करते हैं। यह प्रशंसा उसके सक्षम व्यक्तित्व के लिये होती है, न कि उसकी नैतिकता के लिये।

मनुष्य शारीरिक अथवा भौतिक कष्ट से विशेष रूप में डरते हैं, मानसिक कष्ट से उसकी अपेक्षा कम। इसलिये वे उस व्यक्ति को जो उनके कष्टों, विशेषतः शारीरिक कष्टों को, दूर करता है, बड़ी कृतज्ञता तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे व्यक्ति की दूसरे लोग भी बड़ी प्रशंसा करते हैं। अन्याय तथा कष्ट के प्रतिकार के लिए जो व्यक्ति जितना ही अधिक त्याग करता और स्वयं कष्ट उठाता है, उसके प्रति लोगों को उतनी ही अधिक कृतज्ञता तथा श्रद्धा होती है। एक विजयी सेनापति की प्रशंसा हम इसलिये करते हैं कि वह युद्ध में असामान्य शक्ति अथवा असाधारण निपुणता का परिचय देता है; एक नैतिक वीर की प्रशंसा इसलिये की जाती है कि वह बड़े निःस्वार्थ भाव से दूसरों के सुख के लिये प्रयत्न करता है।

आत्म-दमन तथा अपने सुख का परित्याग, अपने समय, शक्ति, धन तथा आराम का बलिदान, उच्च कोटि की नैतिकता में आवश्यक तत्व होता है। किसी नैतिक कर्म की महत्ता का माप दो प्रकार से किया जाता है। प्रथमतः यह देखा जाता है कि व्यक्ति-विशेष ने कितना कष्ट सहकर दूसरों की भलाई की, और दूसरे यह देखना होता है कि जिस कष्ट से उसने दूसरों को बचाया वह कितना बड़ा था, और दूसरों का जो कल्याण उसने किया उसका विस्तार कितना था और वह किस कोटि का था। इन कई पैमानों से हम बुद्ध, ईसा तथा महात्मा गांधी जैसे नैतिक वीरों के महत्व का अनुमान कर सकते हैं।

नैतिकता की दृष्टि से वह व्यवहार जिसमें केवल औचित्य का ध्यान रक्खा जाता है, निम्नतमकोटि का होता है। प्लेटो के "रिपब्लिक" ग्रंथ में सिफेलस नामक गृहस्थ ने नैतिकता की औचित्य-मूलक व्याख्या की है। सिफेलस का कहना है कि भला व्यक्ति वह है जो देवताओं और मनुष्यों का ऋण चुकाता रहता है। दूसरे मनुष्य जो हमारा उपकार करते हैं उसका हमें बदला दे देना चाहिये, और हमें देवताओं के अनुग्रह का भी प्रतिकार करना चाहिए। जर्मन दार्शनिक कान्ट की नैतिकता की धारणा इससे कुछ भिन्न है। कान्ट कहता है कि हमें नैतिकता के निरपेक्ष कानून को मानकर चलना चाहिए। कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिसे हम दूसरों के लिए बुरा समझते हैं। बिशप बटलर की नीति-पद्धति में यह बतलाया गया है कि मनुष्य को "आत्म-प्रेम" तथा "दूसरों के हित-सम्पादन" के बीच उचित सामन्जस्य रखना चाहिये। हैनरी सिजविक का कथन है कि हमें बुद्धि-पूर्वक आत्म-हित तथा पर-हित का समन्वय करते हुए चलना चाहिए; बुद्धि यह कहती है कि हमारे अपने हित तथा दूसरों के हितों का समान महत्व है। ये सब सिद्धान्त, किसी-न-किसी रूप में, नैतिक व्यवहार की औचित्य-मूलक व्याख्या देते हैं, और औचित्य की धारणा के आधार पर व्यक्ति तथा समाज के संघर्ष का निपटारा करना चाहते हैं। वे उस उच्चतर नीतिवाद से भिन्न हैं जो अपने हितों का त्याग करते हुए पर-हित-चिन्तन की शिक्षा देता है।

नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में अधिकांश मतभेदों का केन्द्र यह प्रश्न है कि व्यक्ति के लिये चरम साध्य या मूल्य, अर्थात् उच्चतम श्रेय, क्या है। दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर भी बहुत विचार किया है कि कहाँ तक व्यक्ति को समाज के लिये अपने हितों का बलिदान करना चाहिए। विभिन्न देशों तथा युगों के विचारकों ने आदर्श मनुष्य के विभिन्न चित्र खींचे हैं: प्लेटो का "दार्शनिक शासक," अरस्तू का "मनस्वी व्यक्ति",

स्टोइको का "विवेकी पुरुष", गीता का "स्थितप्रज्ञ", बौद्धों का' 'बोधिसत्व", ईसाइयों का "संत" नीत्शे का "अतिमानव" ये सब आदर्श-पुरुष की विभिन्न कल्पनाएँ हैं। अन्य कल्पनाएँ हमें कवियों, नाटककारों तथा उपन्यासकारों की कृतियों में मिल सकती हैं, और कार्लाइल, इमर्सन आदि निबन्धकारों की कृतियों में भी।

आदर्श पुरुष की इन भिन्न, और कभी-कभी विरोधी, धारणाओं में किस प्रकार सामन्जस्य स्थापित किया जा सकता है? कुछ विचारक परलोक में विश्वास करते हैं और कुछ केवल इस धरती में; इस कोटि के विचारकों में स्वभावतः गहरे मतभेद हैं। किन्तु उन विचारकों में भी जो परलोक मानते हैं, मतभेद पाये जाते हैं। इन परिस्थितियों में हम नैतिक अथवा धार्मिक व्यवहार के एक या अनेक सार्वभौम नियमों पर कैसे पहुँच सकते हैं ?

क्या नैतिक व्यवहार का कोई सार्वभौम नियम है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें मनुष्य के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक तथ्यों को याद रखना पड़ेगा। मनुष्य नामक प्राणी की बहुत तरह की ज़रूरतें होती हैं और वह प्रत्येक ज़रूरत को अनेक ढंगों से पूरा कर सकता है। मनुष्य की ज़रूरतों की यह विभिन्नता और, विभिन्न परिवेशों में, उनकी पूर्ति के उपायों की अनेकता का एक परिणाम यह होता है कि विभिन्न जन-समूहों में विभिन्न ज़रूरतें ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती हैं। इस स्थिति का एक नतीजा यह होता है कि विभिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न ढंगों से सुखी तथा दुःखी बन जाते हैं। लेकिन इन भिन्नताओं के बावजूद विभिन्न मनुष्यों के लिये यह सम्भव होता है कि वे एक-दूसरे की सुख-दुख-सम्बन्धी स्थितियों से सहानुभूति कर सकें। ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवन के मुख्य मूल्य दो हैं: एक जरूरतों तथा दूसरे लोगों के दबाव से स्वतंत्रता, और दूसरे व्यक्तित्व का चेतना-मूलक विस्तार। जहाँ तक पहले मूल्य का सम्बन्ध है, विचारकों ने उसकी प्राप्ति के लिये दो विरोधी उपाय बतलाये हैं। कुछ का कहना है कि मनुष्य को अपनी जरूरतों को कम करना चाहिए, और अपने मनोवेगों पर नियंत्रण रखना चाहिए। दूसरों का विचार कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ बढ़ानी चाहिए और अपनी बढ़ी हुई आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए डटकर प्रयत्न करना चाहिए। स्पष्ट ही इन दोनो आदर्शों में धरती-आकाश का अन्तर या विरोध है। यहाँ हम यह निर्णय करने की कोशिश नहीं करेंगे कि इन दोनों में कौन-सा आदर्श कितना अच्छा है, फिर भी इस मौलिक मतभेद के सम्बन्ध में हम कुछ शब्द कहेंगे।

यह लक्षित करने की बात है कि आत्म-नियंत्रण तथा संयम की शिक्षा केवल धर्म-शिक्षकों ने ही नहीं दी है। एपीक्यूरस जैसे सौख्यवादियों ने भी संयम से रहने की सिफ़ारिश की है। एपीक्यूरस "दुख के अभाव" को, न कि "सुख की उपस्थिति" को, विवेकी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य समझता था। वह उन सुखों को अधिक वांछनीय समझता था जो संतुलन की अवस्था से सहचरित रहते हैं। वे सुख जिनकी प्राप्ति के पूर्व वासना की अपेक्षा होती है, और जो दुख से मिश्रित रहते हैं—वे सुख जो लक्ष्य की प्राप्ति से उत्पन्न होते हैं—एपीक्यूरस को पसन्द नहीं थे।[२] इस सम्बन्ध में यह बात याद रखनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपनी सब इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये कोई भी व्यक्ति उन समस्त सुन्दर स्त्रियों को प्राप्त नहीं कर सकता जिन्हें वह पसन्द करने लगे। हमारी बहुत-सी इच्छाओं के मूल में अनुकरण तथा प्रतिद्वन्द्विता की भावना रहती है; हमारी औद्योगिक सभ्यता की समस्त सम्पत्ति ऐसी इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकती। वस्तुतः वे व्यक्ति जो उस जीवन-आदर्श को मानकर चलेंगे जो सब प्रकार की इच्छाओं, वासनाओं तथा महत्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहन देता है, संभवतः अपने को नष्ट ही कर लेंगे। और अधिकांश मनुष्यों के लिए तो वैसे जीवन-दर्शन का अनुसरण सम्भव ही नहीं है। साथही यह माना जा सकता है कि उस आलसी व्यक्ति की अपेक्षा जो सन्तुष्ट दीखने का बहाना करता है, वह व्यक्ति अधिक श्लाध्य है जो अपनी आवश्यक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उचित प्रयत्न करता है। वह समाज जिसमें लोग भौतिक सम्पत्ति की उत्पत्ति का प्रयत्न करते हैं, उस समाज से जहाँ आलस्य तथा गरीबी बुरी चीजें नहीं समझी जातीं, ज्यादा अच्छा माना जाना चाहिये।

यह लक्षित करने की बात है कि बौद्ध धर्म ने, जो सांसारिक सुख के त्याग की शिक्षा देता है, साधुओं के लिए 'अप्रमाद' के गुण पर विशेष गौरव दिया है। इसी प्रकार योग-दर्शन में पंतजलि ने साधक के लिए यम, नियम आदि के कठिन अनुशासन का निर्देश किया है। जब धर्म-शिक्षकों ने यह बतलाया कि हमें संसारिक सम्पत्ति तथा सुखों के प्रति उदासीन होना चाहिए, तो उन्होंने यह भी शिक्षा दी कि मनुष्य को आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए। वस्तुतः एक स्वस्थ व्यक्ति, फिर चाहे वह धार्मिक हो अथवा नहीं, हमेशा अपनी सृजनात्मक शक्तियों का उपयोग करता रहता है, ताकि वह अस्तित्व के उच्चतर धरातल पर पहुँच सके।

ऊपर के वक्तव्य द्वारा हम पाठकों के मन पर यह अंकित करना चाहते हैं

कि एक ही व्यक्ति के लिये, कल्पनात्मक तादात्म्य द्वारा विभिन्न, यहाँ तक कि विरोधी आदर्शों से सहानुभूति करना सम्भव है। यह बात प्रसिद्ध यूनानी जीवनीकार प्लूटार्क के उस मनोभाव द्वारा पुष्ट होती है जो उसने एक स्थान पर विजयी सिकन्दर तथा डायोजिनीज़ नामक दार्शनिक के प्रति प्रकट किया है। प्लूटार्क ने कहीं यह छिपाने की कोशिश नहीं की है कि उसके मन में सिकन्दर के प्रति ऊँची प्रशंसा का भाव था। उसने सिकन्दर तथा डायोजिनीज़ से सम्बन्धित एक घटना का विवरण दिया है, जहाँ उसकी दार्शनिक निर्लिप्तता प्रतिफलित हुई है। जब सिकन्दर डायोजिनीज़ से मिलने गया तो वह धूप में लेटा हुआ था। सम्राट न उसे नम्र स्वर में सम्बोधित किया और पूछा, 'मैं आप की क्या सेवा कर सकता हूँ?' 'सिर्फ मेरी धूप छोड़ दो', डायोजिनीज़ ने उत्तर दिया। प्लूटार्क बतलाता है कि यह उत्तर सुनकर सिकन्दर आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। उसे उक्त संत की लापरवाही में एक उच्चतर महत्ता दिखाई दी, और जब उसके दरबारी साथी उक्त दार्शनिक को एक राक्षस कह कर उसकी हँसी उड़ा रहे थे, सिकन्दर ने कहा—'यदि मैं सिकन्दर न होता तो मैं चाहता कि मैं डायोजिनीज़ बन जाऊँ।'[३]

यह आख्यान ऐतिहासिक है या नहीं, यह विशेष महत्व की बात नहीं है। उक्त कथा एक ऐसे मनोभाव को हमारे सम्मुख उपस्थित करती है जिसके सम्बन्ध में यह सोचा जा सकता है कि वह सिकन्दर के मन में आया और जिसका प्लूटार्क ने भी अनुभव किया। दूसरी जगह एनेक्ज़ार्कस के एक कथन को उद्धृत करते हुए प्लूटार्क इस प्रकार टिप्पणी करता है: 'उस कथन द्वारा एनेक्ज़ार्कस यह कहना चाहता था कि वे भड़कीली चीज़ें जिनके पीछे विजेता लोग इतने खतरे और श्रान्ति का आह्वान करते हैं, सचमुच ही घृणास्पद हैं; क्योंकि, अन्ततः, विजेताओं का सुख-भोग साधारण लोगों के उपभोगों से शायद ही कुछ बढ़ पाता हो।'[४] मतलब यह है कि संसारिक सम्पत्ति, कुल मिलाकर, एक नश्वर चीज़ है। यह विचार जहाँ "दी इमीटेशन आफ़ क्राइस्ट" जैसे धार्मिक ग्रंथों में पाये जाते हैं, वहाँ वे इतिहासकारों की कल्पना से बाहर नहीं हैं।

हमारे युग के वे अन्वेषक जो विभिन्न समकालीन तथा अतीत समाजों या जातियों में प्रचलित आदर्शों को तटस्थ दृष्टि से देख सकते हैं, उन आदर्शों से सहानुभूति करना कठिन नहीं पायेंगे। किन्तु जिन लोगों में इस प्रकार की तटस्थता नहीं है, वे उन प्राचीन आदर्शों के प्रति ज्यादा आकृष्ट होंगे जो उनके अपने जीवन की ज़रूरतों के अनुरूप हैं। बात यह है कि जिन्हें हम जीवन अथवा व्यवहार के आदर्श कहते हैं वे निश्चित

रूप में विभिन्न समाजों अथवा उनके कुछ हिस्सों की ज़रूरतों के सापेक्ष होते हैं। ऐसी जघन्य प्रथाएँ भी जैसे वृद्ध लोगों को मार डालने की प्रथा, उन समाजों में जहाँ भोजन की बहुत ज्यादा कमी है, स्वाभाविक जान पड़ सकती हैं।

ऊपर की विचारणा से यह निर्गत होता है कि मानव-व्यवहार के लिये ऐसे नियमों का निर्देश नहीं किया जा सकता जिनका विभिन्न समाजों में अंध भाव से अनुसरण किया जा सके। इसी प्रकार हम उस व्यवहार के ऐसे कानूनों का भी ठीक-ठीक निरूपण नहीं कर सकते जो हमें उसके सम्बन्ध में निश्चित भविष्यवाणियाँ करने में सहायक हो सकें। वस्तुतः मानव-व्यवहार के क्षेत्र में व्यवहार की दिशा का परिवर्तन वैसे ही स्वाभाविक है जैसे कि भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में परिवर्तनों का एक दिशा में घटित होते रहना। जिस प्रकार मनुष्य का बुद्धिमूलक सफल व्यापार उसकी सृजनशील अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करता है, वैसे ही उसका नैतिक व्यवहार भी। जिस व्यक्ति में उस प्रकार की अन्तर्दृष्टि का अभाव है वह, धर्मभीरु होते हुए भी, सदैव नैतिक आचरण अनुष्ठित कर सकेगा, इसमें सन्देह है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। यदि सृजनशीलता मानव-व्यवहार की सार्वभौम विशेषता है, तो फिर मनुष्य ऐसे अटूट नियमों अथवा विश्वसनीय आदर्शों की खोज क्यों करता है जिन पर वह अन्ध भाव से निर्भर कर सके? और क्यों कभी-कभी संवेदनशील लोगों के मन में नैतिक अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़े होते हैं?

उक्त प्रश्नों में से प्रथम का उत्तर इस प्रकार है। जहाँ प्रत्येक मनुष्य सृजनशील जीवन के स्पन्दन में साझेदार होना चाहता है, वहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी सृजनशीलता का उपयोग नहीं करना चाहता। वस्तुतः सृजनशील शक्तियों का उपयोग वहाँ तक ही प्रिय लगता है जहाँ तक वह स्वच्छन्द अर्थात् बाहर से अनिर्धारित होता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति भी, जिसकी प्रकृति उसे लगातार सृजनशील होने को बाध्य करती है, सृजनात्मक व्यवहार को न तो सरल ही पाता है, न अमिश्रित रूप में सुखपूर्ण। एक बड़ी कलाकृति अथवा एक महत्वपूर्ण विचार-पद्धति का निर्माण वस्तुतः एक उतनी ही, या उससे भी ज्यादा, श्रान्त करने वाली क्रिया है जैसी कि एक नये बच्चे को अस्तित्व में लाने की क्रिया। एक उपन्यास लिखने की अपेक्षा किसी उपन्यास को पढ़ना कहीं ज्यादा सरल और आनन्दप्रद है; इसी प्रकार एक फ़िल्म को देखना जितना सुखद है उतना उसका निर्माण करना नहीं। सृजनशीलता का अर्थ है जोखिमपूर्ण साहसिक कार्य में हाथ डालना। अधिकांश मनुष्य उपयोगिता के दायरे

में रहते हैं और अपरिचित एवं रोचक नवीनता की खोज की अपेक्षा नीरस किन्तु परिचित क्षेत्र में ठहरना ज्यादा पसन्द करते हैं। यही कारण है कि आँकड़ों के आधार पर निर्धारित किये हुए मानव-व्यवहार के नियम काफ़ी दूर तक सही होते हैं। फिर भी यदि ज्यादा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की प्रगति के सम्बन्ध में सफल भविष्यवाणियाँ नहीं की जा सकतीं, तो इसका कारण यह है कि वह प्रगति ऐसे नर-नारियों द्वारा निर्धारित होती हैं जो असाधारण सृजनशीलता वाले होते हैं, और जिनका व्यवहार नियमों के दायरे में नहीं बँध पाता।

जिस प्रकार इतिहास-प्रसिद्ध वीरों के संकल्प तथा निर्णय सदैव सुरक्षा तथा उपयोगिता की परिधि में नहीं रहते, वैसे ही नैतिक वीर पुरुष सम्मानपूर्ण समझी जाने वाली परम्परा तथा व्यवहार के नियमों पर कुठाराघात करते हैं, और, नई परिस्थितियों के अनुकूल, नये आदर्शों तथा नियमों की घोषणा कर देते हैं। गौतम बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स इसी कोटि के नैतिक वीर या नेता थे। बुद्ध जी ने अपने समय के हिन्दू समाज की खराबियों की कठोर आलोचना की और कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध ऐसे आदर्शों की शिक्षा दी जो मजदूरों तथा दलितों का हित-साधन करने वाले थे। बौद्धिक क्षेत्र में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वेबलेन ने अपनी पुस्तक "थियरी आफ दी लेज़र क्लास" (अवकाश-प्राप्त वर्गों का सैद्धान्तिक अध्ययन) में, जहाँ उसने अभिजात वर्गों के चरित्र तथा मान्यताओं के खोखलेपन का उद्‌घाटन किया है, कुछ वैसा ही कार्य किया है।

जीवन की साधारण स्थितियों में भी सृजनशील व्यक्ति नियमों को अक्षरशः मानकर नहीं चलता। वह उनके आन्तरिक अभिप्राय के अनुकूल चलता है। वह निर्जीव नियमों को अपनी सजीव मानवता अथवा मानवीय भावना पर हावी नहीं होने देता। फिर भी यह ठीक है कि सर्वसाधारण की प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध सोचने या करने में हमेशा खतरा होता है, और वैसा करने में प्रायः व्यक्ति के मन में अन्तर्द्वन्द्व छिड़ जाता है। यह द्वन्द्व एक ओर उस रूढ़िवादी परम्परा के जो सद्‌बुद्धि (Conscience) के रूप में व्यक्ति के अन्दर क्रियाशील होती है, और दूसरी ओर उसकी मौलिक, सृजनशील संवेदना के बीच उत्थित होता है। केवल वही व्यक्ति जिसमें विद्रोह करने का साहस है और जो विद्रोह की स्थिति में टिका रह सकता है, सृजनात्मक नैतिकता की प्रगति में योग दे पाता है।

नैतिक निर्णय के क्षेत्र में एक दूसरे प्रकार के द्वन्द्व की सम्भावना भी रहती है।

हमें अक्सर दो कार्य-दिशाओं में ऐसा चुनाव करना पड़ता है जो पूर्णतया वांछनीय नहीं होता, जहाँ या तो दो में से एक श्रेय का परित्याग करना पड़ता है, या दो में से एक बुराई का स्वीकार। कवि शेली के जीवन में एक ऐसा क्षण आया था जब उसे दर्शन और कविता के बीच चुनाव करना पड़ा। इसी प्रकार हैनरी बर्गसां को दर्शन और गणित के बीच चुनाव करना पड़ा। एक दुखपूर्ण नाटकीय स्थिति में किसी नारी के सामने यह प्रश्न आ सकता है कि वह अपने पति के जीवन की रक्षा करे, अथवा अपने पुत्र या भाई की। इस प्रकार के अवसरों के लिये कोई ऐसा नियम नहीं बतलाया जा सकता जिसे बिना सोचे-बिचारे मानकर चला जा सके। अपनी सृजनशील जटिल प्रकृति के कारण मानव-जीवन अक्सर अनेक सम्भावनाओं के ऐसे संगमस्थल पर आकर खड़ा हो जाता है जहाँ उसके सुख और दुख की अनेक राहें दिखाई पड़ती हैं।

नैतिक अन्तर्दृष्टि के विकास का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य क्रमशः किसी स्थिर नैतिक आदर्श के रूप को अधिकाधिक निश्चित या निर्दिष्ट करता चलता है। उस अन्तर्दृष्टि की प्रगति का ठीक अर्थ यह है कि हम क्रमशः मनुष्य के सुखी तथा दुखी होने के, और उसके सुख-दुःख के विविध कारणों के, विभिन्न रूपों से परिचित होते चलते हैं। मानव सुख-दुःख के विविध रूपों तथा कारणों की समुचित जानकारी के लिये साहित्य की विभिन्न कृतियाँ, जीवनियाँ एवं इतिहास पढ़ने का ज्यादा महत्व हो सकता है, बनिस्बत दर्शन-ग्रंथों तथा धर्म-पुस्तकों के उलटने के। महाभारत का "स्त्री पर्व," जहाँ मृत वीरों की माताओं तथा पत्नियों को अपने प्रियजनों के लिये रोते हुए दिखलाया गया है; "यद्ध और शान्ति" (War and Peace) तथा "पश्चिम का सुनसान युद्ध-क्षेत्र" (All quiet on the Western Front) जैसे उपन्यास, अपने सूक्ष्म अंकन द्वारा, युद्ध के प्रति जितनी घृणा पैदा कर सकते हैं उतनी नैतिक तथा राजनैतिक शास्त्र के पंडितों के लेख और व्याख्यान नहीं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जैसे ही वह किसी कष्ट की वास्तविकता अथवा सम्भावना का साक्षात्कार करता है, वैसे ही उसे हटाने की कोशिश करने लगता है। इतिहास में महान नैतिक शिक्षक वे व्यक्ति हुए हैं जिनमें, अपनी मौखिक शिक्षा द्वारा, लोगों के सुख दुख की परिस्थितियों का संकेत कराने की क्षमता थी। हमारे कहने का मतलब यह नहीं है कि दार्शनिकों तथा विचारकों द्वारा जिन सामान्य नियमों का उद्घाटन होता है वह, व्यक्तियों तथा समाजों के लिये, जीवन के दिशा-निर्धारण में सहायक नहीं होता; किन्तु हम कहना चाहते हैं कि वैसे नियम और सिद्धान्त यथार्थ जीवन में

निरपवाद रूप में लागू नहीं किये जा सकते। और यह मान्यता कि नतिकता के नियम निरपवाद रूप में सत्य होते हैं, अक्सर मानव-प्रगति में बाधक सिद्ध होती है। प्रतिक्रियावादी राजनैतिक नेता तथा शासक अक्सर, पुराने सिद्धान्तों के नाम पर, सामाजिक प्रगति में बाधक बन जाते हैं। इस प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों के उदाहरण सुलभ है, जैसे राजाओं के दैवी अधिकार, व्यक्ति की व्यापारिक स्वतंत्रता, तात्विक अथवा बुद्धि-मूलक आत्म (Real or Rational Self) तथा विद्यमान आत्म या व्यक्तित्व (Actual Self) का भेद, इत्यादि।

हमारा यह कथन कि नीति के क्षेत्र में निरपवाद नैतिक सिद्धान्त या आदर्श प्राप्त नहीं किये जा सकते, दो प्रकार के लोगों को चकित और स्तंभित करने वाली प्रतीत होगा; उन लोगों को जो कि अपने दैनिक जीवन में ही नहीं बल्कि उच्चतम आकांक्षाओं के क्षेत्र में भी एक स्थिर अभ्यास (Habit) के अनुकूल चलना चाहते हैं, अर्थात् जो अपनी जीवन दिशा के बारे में स्वयं चिन्तन करने के कष्ट से बचना चाहते हैं; और उन लोगों को जो यह देखना चाहते हैं कि नैतिक व्यवहार के नियम भौतिक-शास्त्र के नियमों की भाँति अखंड हों। एक अपेक्षाकृत स्थिर युग में साधारण नर-नारी स्वीकृत मूल्यों तथा पैमानों के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऐसे समाज में ज्यादा सृजनशील लोग भी यह आवश्यकता नहीं महसूस करते कि पुराने मूल्यों तथा मान्यताओं को छोड़कर चलें। किन्तु सांस्कृतिक संकट के समय में साधारण तथा असाधारण दोनो कोटियों के मनुष्य मति विभ्रम तथा तनाव की स्थिति में पड़ जाते हैं। साधारण लोगों के लिये विभिन्न आदर्शों द्वारा निर्धारित विरोधी नैतिक मानों को आदर देना कठिन हो जाता है; और असाधारण, सृजनशील व्यक्ति परिवेश को नयी रूपरेखा देना कठिन पाते हैं। इस कठिनाई से बचने का एक ही उपाय है, यह कि जहाँ तक संभव हो लोग उन ईमानदार नेताओं के साथ सहयोग करें जो कि बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर जोर देते हैं।

मानव-व्यवहार के नियम गणित के सूत्रों में नहीं बाँधे जा सकते, लेकिन इसके लिये वे नियम दोषी नहीं हैं। यह ठीक है कि मनुष्य ने जितनी भाषाएँ अथवा प्रतीक-पद्धतियाँ बनाई हैं उनमें गणित की भाषा सबसे ज्यादा पूर्ण तथा सही है। किन्तु यह जरूरी नहीं है कि मनुष्य की सब प्रकार की अनुभूतियाँ गणित के माध्यम से प्रकट की जा सकें। यह सम्भव नहीं है कि कवि लोग अपनी कविता गणित के प्रतीकों में लिखें, और प्रेमी लोग अपनी प्रेम-चर्चा बीज गणित तथा "कैलक्युलस" की भाषा में करें।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है मानव-व्यवहार के नियम गुणात्मक होते हैं। वे नियम जिन शब्दों द्वारा प्रकट किये जाते हैं उन शब्दों का अर्थ एकदम नपा-तुला नहीं होता, उनमें से प्रत्येक का अर्थ अनेकात्मक एकता-रूप होता है। जीवंत कल्पना द्वारा ही वह एकता ग्रहण की जा सकती है। उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं कि "एक प्रिय बालक की मृत्यु दुःख का कारण होती है", तो यहाँ बालक, सुख आदि शब्द किसी सुस्थिर या सुनिश्चित अर्थ को व्यक्त नहीं करते, उनके अर्थ एक-एक क्षेत्र का संकेत करते हैं। सृजनशील कल्पना द्वारा ही मनुष्य उन अर्थों को ठीक से समझ सकता है।

नैतिकता के नियम-सूत्र

हमारे नैतिक व्यवहार के नियमन के लिये, अथवा उसके नियामक, दो सिद्धान्त हैं; दोनों की व्याख्या और प्रयोग सृजनात्मक ढंग से ही हो सकता है। पहला नियामक कानून निम्न प्रसिद्ध उक्ति में निहित है "दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा कि तुम अपने प्रति कराना चाहते हो।" इस उक्ति का अर्थ मुख्यतः निषेधात्मक है, न कि भावात्मक। उसका मतलब है कि दूसरे के ऊपर वैसी अनुभूतियाँ न लादो जिन्हें, उन दूसरों की स्थिति में, तुम खुद नापसन्द करोगे। इससे मिलती-जुलती एक उक्ति संस्कृत में है जो निषेधात्मक अर्थ देती है। यह उक्ति महाभारत (शान्ति पर्व) में पाई जाती है और इस प्रकार है: 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् जो चीज़ अपने प्रतिकूल पड़ती है, उसे दूसरों के प्रति आचरण में न बरतो। जर्मन दार्शनिक कान्ट का "निरपेक्ष आदेश" जो इसी नियम को विधि-रूप तथा निषेध-रूप में लागू करने की कोशिश करता है, हमें आत्म-विरोध में फँसा देता है। कान्ट का निरपेक्ष आदेश इस प्रकार है: 'उस नियम के अनुकूल काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम के रूप में पालन किये जाते देखना पसन्द करो।' इस नियम के अनुसार यदि हम यह इच्छा करें कि मनुष्य को ब्रह्मचारी अथवा दानी होना चाहिए, तो उसमें आत्म-विरोध उत्पन्न हो जायगा। यदि सब लोग ब्रह्मचारी होंगे, तो फिर बच्चे उत्पन्न होने बन्द हो जायेंगे, और इस प्रकार ब्रह्मचारियों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। वैसे ही यदि सब लोग दानी होंगे, तो फिर दान लेनेवाला कौन रहेगा? कान्ट का सिद्धान्त ब्रह्मचर्य और दान को विरोधग्रस्त व्यवहार दर्शित करता है। उस सिद्धान्त का विधायक रूप भी समुचित नहीं। यह कामना करने में कि प्रत्येक व्यक्ति

को कवि अथवा गणितशास्त्री होना चाहिए, कोई अन्तर्विरोध नहीं है, फिर भी सरकार द्वारा ऐसा कानून बनाया जाना जो कविता लिखने तथा गणित सीखने को अनिवार्य बना दे, उचित नहीं होगा।

ऊपर हमने जिस नियम का उल्लेख किया उसका प्रयोग करने के लिये यह ज़रूरी है कि प्रयोग करने वाला अपने को उस स्थिति में रख सके जिसमें कोई दूसरा व्यक्ति है। स्पष्ट ही यह व्यापार सृजनशील कल्पना की अपेक्षा रखता है। वह व्यक्ति जो कल्पना द्वारा अपने को दूसरों की स्थिति में नहीं रख सकता, उन दूसरों से उचित व्यवहार नहीं कर सकता। इसका मतलब यह है कि नैतिक व्यवहार वे ही प्राणी कर सकते हैं जिनमें कल्पना-शक्ति का सद्भाव है।

नैतिकता का दूसरा नियम भावात्मक अथवा विधि-रूप है। उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है : "मनुष्य को यथाशक्ति निर्वैयक्तिक ढंग से स्वतंत्र, अथवा अर्थवान् जीवन-क्षणों के उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिए।" हम दूसरे प्राणियों, मनुष्यों अथवा पशुओं, की सख्त जरूरतों को पूरा करके, उनकी स्व त्रता-वृद्धि द्वारा, उन्हें सुखी बना सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हम दूसरों की वैध ज़रूरतों को पूरा करके सदैव ही सुख की मात्रा में वृद्धि कर सकते हैं। बुद्ध जैसे धार्मिक शिक्षक भी मनुष्य को स्वतंत्र एवं सुखी बनाना चाहते हैं, वे मुख्यतः आत्म-नियंत्रण की शिक्षा देकर मनुष्यों को दुर्वासनाओं के दबाव से मुक्ति दिलाते हैं। इसी प्रकार एक अज्ञानी व्यक्ति को ज्ञान देने का अर्थ भी उसे एक प्रकार की मुक्ति देना है। केवल अज्ञान तरह-तरह के भयों तथा गलत इच्छाओं का कारण होता है। ज्ञान तथा विवेक द्वारा हम ऐसी चीजों से मुक्ति पाते हैं। अब दूसरी कोटि का उदाहरण लीजिये। कलाकार, कवि तथा दार्शनिक भी मानवता के सुख की वृद्धि करते हैं, लेकिन उनका तरीका दूसरा है। वे मनुष्यों की सृजनशक्तियों को प्रेरणा देते हैं और उनके चेतना-मूलक अस्तित्व का प्रसार करते हैं।

सृजनात्मक सांस्कृतिक क्रिया की एक विशेषता यह है कि वह आत्म-त्याग नहीं चाहती। कवि तथा दार्शनिक अपने विशिष्ट कार्यों के लिये बहुत से कष्ट उठा सकते हैं, लेकिन उनका परिश्रम तथा कष्ट-सहन स्वेच्छापूर्वक होता है, वह दूसरों के लिये नहीं होता। कहना चाहिए कि कलाकार अथवा विचारक अपने व्यक्तित्व के घटिया अंगों को कष्ट देता है, ताकि उस व्यक्तित्व के उच्चतर अंग उन्नति एवं विकास कर सकें।

इस प्रकार वे लोग जिस अनुभव अथवा जीवन-स्पन्दन की उत्सृष्टि करते हैं, उसका उपभोग दूसरे मनुष्य भी कर सकते हैं। यह माना जा सकता है कि कवि या दार्शनिक को यदि यह पता रहे कि उसके प्रयत्नों का दूसरों के लिये कोई अर्थ नहीं है, तो वह उतना परिश्रम न करे। फिर भी मोटे रूप में यह सही है कि सृजनात्मक व्यापार खास तौर से दूसरों के लिये अनुष्ठित नहीं किया जाता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कवि अथवा विचारक केवल अपने के लिये परिश्रम करता है। वस्तुतः कला तथा चिन्तन की सृष्टियाँ निर्वैयक्तिक रूप में अर्थवती होती हैं। सत्य का अनुसन्धान तथा सौन्दर्य का सृजन करते हुए मनुष्य स्वयं अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के प्रति भी उदासीन होता है, वह अपने हितों का बलिदान करके भी अपनी सृष्टि को पूर्ण बनाने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सृजनात्मक सांस्कृतिक क्रिया का क्षेत्र नैतिकता के क्षेत्र का अतिक्रमण करता है। किसी कवि या विचारक को हम तब तक नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं कह सकते जब तक कि उसके चिन्तन अथवा कला-सृष्टि के पीछे मानव-जाति के कल्याण करने की सचेत भावना भी वर्तमान न हो। हो सकता है कि एक कलाकृति सुन्दर होने के साथ-साथ मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलाने वाली भी हो, जैसा कि तुलसीदास का "मानस" है, किन्तु वह उद्देश्य कला-सृष्टि का आवश्यक अंग नहीं है। यही बात विचारात्मक कृतियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। निश्चित ही सत्य की कुछ-न-कुछ उपयोगिता भी होती है, किन्तु विचारक लोग सत्य का अनुसन्धान उपयोगिता के लिए नहीं करते। इसलिये कलासृष्टि तथा दार्शनिक अथवा अन्य कोटि के चिन्तन को हम विशिष्ट रूप में नैतिक व्यवहार नहीं कह सकते।

कर्तव्य-पालन तथा साधुता

(Duty and Virtue)

ऊपर हमने नैतिक जीवन के दो सार्वभौम नियमों का निरूपण करने का प्रयत्न किया। किन्तु "नैतिक" तथा "नैतिकता" शब्दों का अर्थ सुनिर्दिष्ट नहीं है। नैतिक अथवा प्रशंसनीय व्यवहार के निम्न तीन उदाहरणों पर विचार कीजिये :

क ने उधार लिया हुआ रुपया समय पर चुका दिया।

ख महोदय अपने अगले उपन्यास को उत्तम बनाने के लिये कड़ा परिश्रम कर रहे हैं।

ग नामक व्यक्ति के पास इतना रुपया है कि वह मोटर खरीद ले, किन्तु इसके बदले वह विश्वविद्यालय के गरीब छात्रों की मदद करना ज्यादा ठीक समझते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उक्त तीनों व्यक्तियों के व्यवहारों की एक समान प्रशंसा होनी चाहिए? एक अर्थ में ऋण चुकाना हमारा कर्तव्य है। उपन्यास को उत्तम बनाने की कोशिश भी कर्तव्य है, किन्तु पहले अर्थ में नहीं। इसी प्रकार यह किसी व्यक्ति का कर्तव्य नहीं कहा जा सकता कि वह अपनी साधारण जीवन-चर्या से हटकर विश्वविद्यालय के छात्रों की मदद करता फिरे। वस्तुतः कर्तव्य उसे कहना चाहिए जिसके करने की हमसे आशा की जाती है, अथवा जिसे न करना बुराई समझी जायगी। यदि हम इस परिभाषा को मान लें, तो यह अनुगत होता है कि हमारे लिये कर्तव्य-पालन की परिधि के बाहर भी सत्कार्य करने की सम्भावना रहती है।

हमारा प्रस्ताव है कि उक्त तीन कर्मों की अच्छाई का वर्णन करने के लिए, उनकी मूल्यात्मकता के उद्घाटन के लिये, हमें तीन विशेषणों का प्रयोग करना चाहिए। हम कहेंगे कि जहाँ क का व्यवहार उचित और मुनासिब है, तथा ख का व्यवहार प्रशंसनीय है, वहाँ ग का व्यवहार साधुता-मूलक (Virtuous) है। उक्त तीन प्रकार के व्यवहारों के लिये एक ही विशेषण का प्रयोग करना उचित नहीं होगा। उस दशा में हम व्यवहार के साधारण औचित्य तथा साधुता के उदात्त रूप में अन्तर नहीं कर सकेंगे। उक्त तीनो ही व्यवहारों को हम अच्छा कहेंगे, किन्तु, स्पष्ट ही, उनकी अच्छाइयों के दर्जे हैं। हमारी राय में प्रथम व्यवहार को जो उचित तथा प्रत्याशित है कर्तव्य-पालन के अन्तर्गत रखना चाहिए, और दूसरे व्यवहारों को प्रशंसनीय एवं साधु व्यवहारों को कोटियों में। इस प्रकार हम कर्तव्य-निष्ठा तथा साधुता में अन्तर करना पसन्द करते हैं।

किसी भी शास्त्र का काम अनुभूत तथ्यों की व्याख्या करना है, ऐसे तथ्यों की जो सर्वसाधारण के अनुभव में आते हैं। नीति-शास्त्र भी इस नियम का अपवाद नहीं है। नीति-शास्त्र अथवा आचार-शास्त्र का काम हमारी, अर्थात् मनुष्य की, नैतिक चेतना द्वारा उपस्थापित तथ्यों की व्याख्या करना है। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य स्वभावत: अच्छाई की अनेक कोटियाँ विविक्त करता और मानता है। वह कुछ कामों तथा कतिपय व्यक्तित्वों को ज्यादा महत्व देता है, और कुछ को कम। यह दावा नहीं किया जा सकता कि विभिन्न जातियों अथवा समाजों के मनुष्य श्रेष्ठता की विभिन्न

कोटियों के सम्बन्ध में एक ही मत रखते हैं; फिर भी, जैसा कि प्लूटार्क सरीखे लेखकों ने लक्षित किया है, एक ही स्तर के दो व्यक्तित्वों अथवा योग्यताओं के बीच नैतिक योग्यता अथवा श्रेष्ठता को प्रायः अधिक महत्व दिया जाता है। भले ही हम इस प्रश्न का उत्तर न दे सकें कि दार्शनिक अरस्तू तथा कवि शेक्सपियर में, अथवा कवि गेटे तथा सेना-नायक नेपोलियन में, कौन अधिक बड़ा अथवा महत्वशाली है; किन्तु इन सभी की अपेक्षा बुद्ध और ईसा ज्यादा बड़े महापुरुष माने जाते हैं। इसी प्रकार जहाँ हम सब प्रकार की त्रुटियों अथवा भूलों पर रुष्ट होते हैं, वहा नैतिक त्रुटियों के प्रति जितना रोष प्रकट किया जाता है उतना दूसरी भूलों के लिये नहीं।

इन विचारणाओं से हम निम्न निष्कर्ष निकालते हैं। विभिन्न लोगों के व्यवहारों तथा व्यक्तित्वों में कई तरह की श्रेष्ठता हो सकती है; एक व्यक्ति कवि रूप में प्रशंसनीय हो सकता है, और दूसरा परोपकारी समाज-सेवक के रूप में। किन्तु उन श्रेष्ठताओं में, सम्भवतः, नैतिक श्रेष्ठता को ज्यादा महत्व दिया जाता है। यहाँ याद रखना चाहिए कि जब हम दो विभिन्न वर्गों की श्रेष्ठताओं की तुलना करें, तो हमें उनके समान स्तर पर ही ध्यान देना चाहिए। उदाहरण के लिए यह उचित न होगा कि हम एक महाकवि की तुलना एक छोटे से समाज-सेवक से करने लगें, अथवा एक गांधी जैसे बड़े मानव-हितैषी की तुलना एक साधारण कवि अथवा वैज्ञानिक से करने लगें। हमने यह भी देखा कि एक व्यक्ति नैतिक दृष्टि से प्रशंसनीय न होते हुए भी दूसरी दृष्टियों से महत्वशाली हो सकता है। इस सम्बन्ध में एक दूसरे निष्कर्ष की ओर भी हम आपका ध्यान आकृष्ट करेंगे। यदि नैतिकता का अर्थ कर्तव्य-पालन तक सीमित कर दिया जाय, तो यह कहना होगा कि सन्तों का जीवन तथा चरित्र नैतिकता के दायरे से बाहर की चीज़ होती है।

ऊपर हमने नैतिक जीवन के जिन नियमों का उल्लेख किया है उनका सम्बन्ध कर्तव्य-पालन के क्षेत्र से है, साधुता के क्षेत्र से नहीं। नैतिक जीवन के नियम यह बतला सकते हैं कि मनुष्य, सामाजिक सन्तुलन तथा औचित्य की रक्षा के लिये, कैसे व्यवहार करे। खास तौर से वे यह बता सकते हैं कि मनुष्य क्या न करे। किन्तु मनुष्य बहुत उच्च कोटि का जीवन कैसे प्राप्त करे, अपने जीवन में उच्चतम कोटि की कला-सृष्टि अथवा विचार-सृष्टि कैसे करे, इसके लिए नियमों का निर्देश नहीं किया जा सकता। मानव-व्यवहार के किन्हीं भी नियमों की जानकारी से जिस प्रकार कोई व्यक्ति महाकवि अथवा बड़ा गणितशास्त्री नहीं बन सकता, वैसे ही उन नियमों की जानकारी से कोई

एक ऊँची कोटि का साधु अथवा धर्म-शिक्षक भी नहीं बन सकता। जीवन की विभिन्न भूमिकाओं में मनुष्य का व्यवहार सृजनात्मक होता है, और उस सृजनात्मक जीवन का कोई निश्चित नियम या कानून नहीं है।

नैतिक जीवन और व्यवहार का कोई वह विवरण पूर्ण नहीं समझा जा सकता जो मनुष्य द्वारा की जाने वाली दूसरे मूल्यों की खोज की उपेक्षा करेगा। सच यह है कि आचार-दर्शन को सभ्यता और संस्कृति के सामान्य विवेचन से अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न का कि "मानव जीवनमूल्यों के बीच, उन मूल्यों के जो सभ्यता तथा संस्कृति की धारणाओं में निहित हैं, नैतिकता का स्थान कहाँ है?" हमारा उत्तर इस प्रकार होगा। यदि नैतिकता का अर्थ कर्तव्य-पालन लिया जाय, तो नैतिक व्यवहार का अर्थ होगा सभ्य व्यवहार। समाज की विभिन्न संस्थाएँ सभ्य व्यवहार के रूपों को अनिवार्य प्रथाओं अथवा रूढ़ियों का रूप दे देती हैं। इस व्यवहार का सम्बन्ध श्रेष्ठ जीवन के साधनों से होता है, उनका उद्देश्य जीवन-व्यापार को ठीक से, स्वतंत्र रूप में, चलाना रहता है। किन्तु जिसे हमने साधुता का व्यवहार कहा है, वह उपयोगिता के दायरे का अतिक्रमण करता है, उसकी स्थिति सांस्कृतिक मूल्यों के बीच है। जिन्हें हम साधु पुरुष कहते हैं उनका व्यवहार स्वयं उन्हीं के व्यक्तित्वों को पवित्र नहीं करता; वह व्यवहार जहाँ विपन्न मनुष्यों को सुखी बनाता है, वहाँ दर्शकों को उदार परोपकार-भावना से अनुप्राणित भी करता है।

व्यक्ति और समाज

अब हम नीति-शास्त्र के कतिपय कठिन प्रश्नों से उलझने का प्रयत्न करेंगे। क्यों व्यक्ति समाज के लिये किसी प्रकार का त्याग करे? क्यों वह अपने साथियों के लिये कोई कष्ट उठाये? समझा जाता है कि इस प्रकार त्याग करना नैतिक दृष्टि से वांछनीय है। किन्तु हम कह चुके हैं कि नैतिक व्यवहार वह व्यवहार है जो किसी अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो। भला आत्म-त्याग द्वारा कौन से लक्ष्य की प्राप्ति होती है? इसी से सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न है—यह कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है कि साधुता (Virtue) स्वयं ही अपना पारितोषिक है, स्वयं अपना लक्ष्य है? यह मान्यता प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट के सिद्धान्त से सम्बन्धित है, लेकिन कान्ट ने स्वयं ही कहा था कि केवल साधुता अथवा नैतिक उच्चता काफ़ी नहीं है, उसके साथ सुख को

भी सहचारित होना चाहिए। जो मनुष्य जितना ही अधिक साधु-प्रकृति होता है, उसे उतना ही अधिक सुख प्राप्त होना चाहिए।

इन समस्याओं को हल करने के लिये यह ज़रूरी है कि हम मनुष्य की सामाजिक प्रकृति और उसकी जरूरतों को ठीक-ठीक समझें। कन्फ़्यूशियस तथा प्लेटो के समय से यह मान्यता चली आती है कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है। कुछ आधुनिक विचारकों का ख़याल है कि मनुष्य से नीचे की भूमिका में भी सामाजिक जीवन उपस्थित होता है: उदाहरण के लिये बन्दरों आदि में भी सामाजिक जीवन पाया जाता है। किन्तु पशु की भूमिका में सामूहिक अस्तित्व मुख्यतः आत्म-रक्षण का उपकरण होता है। प्लेटो ने बतलाया था कि मानवीय धरातल पर समाज हमारी जरूरतों की सहयोग-मूलक पूर्ति में सहायक होता है। सामाजिक जीवन में इस सहयोग का अर्थ विभिन्न श्रमों का विभाजन है। समाज में विभिन्न मनुष्य अलग-अलग कोटियों के काम करते हुए एक-दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति में सहायक होते हैं। दूसरे, मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो कल्पनाशील है; इसलिये वह भविष्य की बात सोचता है। वह केवल आज की आवश्यकताओं की पूर्ति की ही चिन्ता नहीं करता, बल्कि उन आवश्यकताओं के भविष्य में आने वाले दबाव की बात भी सोचता है। इस प्रकार सुरक्षा की इच्छा मनुष्य द्वारा उस वस्तु का निर्माण कराती है जिसे हम सभ्यता कह आये हैं। सभ्यता की प्रगति के मुख्यतः दो रूप हैं: उन उद्योगधन्धों की अधिकाधिक पूर्णता जिनके द्वारा उपयोगी चीजें निर्मित की जाती हैं, और उन संस्थाओं का विकास जिनके द्वारा क्रमशः अधिकाधिक मनुष्यों में सहयोग बढ़ता है। किन्तु मनुष्य अथवा नरनारी उपयोगी सामग्री के उत्पादन के लिये जहाँ सहयोग करना चाहते हैं, वहाँ उस सामग्री पर अधिकार करने के लिए आपस में लड़ते भी हैं। दुनिया में सम्पत्ति के लिये संघर्ष चलता है, और शक्ति के लिये भी; इन संघर्षों के परिणामस्वरूप विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों के बीच प्रतियोगिता, वर्ग-युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय (राष्ट्रों के बीच) युद्ध होते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों, समूहों, वर्गों तथा राज्यों के बीच नियंत्रणकर्ता और नियंत्रित का सम्बन्ध उत्पन्न होता है। सभ्यता की उन्नति का एक अर्थ यह भी है कि व्यक्तियों तथा दलों के ऊपर पड़ने वाले अन्यायपूर्ण नियंत्रण एवं दबाव ख़त्म हो जायँ, और क्रमशः अधिकाधिक व्यक्तियों, समूहों, तथा जातियों को आत्म-शासन का अधिकार मिले।

ऊपर की विचारणाओं से निम्न अप्रिय निष्कर्ष निकलता है: मनुष्यों की एकता तथा पारस्परिक प्रेम और आदर का कारण यह नहीं है कि वे सुरक्षा तथा स्वतंत्रता

चाहते हैं। ये उपयोगी प्रेरणाएँ अक्सर उनके बीच संघर्ष भी उत्पन्न करती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि मनुष्य सम्पत्ति तथा शक्ति से प्राप्त होने वाले अवकाश, स्वतंत्रता तथा सुरक्षा के लिये दूसरों को हानि पहुँचाने को उद्यत हो जाते हैं। समाज अथवा पुलिस का भय ही उन्हें वैसा करने से कुछ हद तक रोक पाता है।

मैं यहाँ एक दूसरा मन्तव्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मेरी समझ में मनुष्य की सामाजिकता का मूल उसकी पशु-पुलभ जरूरतों में नहीं हैं, उसका मूल मनुष्य की सृजनशील प्रकृति में है। यदि हम जीव-योनियों के विकास का अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि हर धरातल पर जीवधारी परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया करने में सृजनात्मक विविधता का समावेश कर लेते हैं। अनेक जीव झुण्डों में रहना चाहते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि वे एक-दूसरे की भौतिक समीपता में आनन्द का अनुभव करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि दूसरे ऐसे जीवों की संनिधि, जो हमारे मित्र हैं, अथवा कम-से-कम शत्रु नहीं हैं, हमें स्वास्थ्यकर प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि मेलों तथा उत्सवों में इतनी भीड़ रहती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अधिकांश जीवनधारी एक-दूसरे की भौतिक निकटता को पसन्द करते और उसकी कामना करते हैं।

किन्तु मनुष्य अपने साथियों की भौतिक निकटता ही नहीं चाहता, वह उनके आध्यात्मिक सामीप्य की भी कामना करता है। मानव व्यक्ति लगातार प्रतीकों के माध्यम से दूसरे नर-नारियों की जीवन-क्रिया में साझेदार बनता है, और इस प्रकार अपने अस्तित्व को अनुक्षण, नया तथा समृद्ध बनाता रहता है।

मनुष्य की सृजनशील प्रकृति में दो प्रकार की हलचलें होती रहती हैं। एक ओर तो वह दूसरों के अनुभवों तथा संवेदनाओं को ग्रहण करके अपने अस्तित्व का प्रसार करता है; दूसरी ओर वह यह चाहता है कि उसकी अर्थवती अनुभूतियाँ दूसरों के द्वारा ग्रहण की जायँ और सराही जायँ। कोई कवि केवल अपने ही लिये गीत नहीं लिखता, और कोई दार्शनिक केवल अपने उपयोग के लिये सिद्धान्तों का निर्माण नहीं करता। ऐसा जान पड़ता है कि शारीरिक जीवन की भाँति आध्यात्मिक जीवन भी अपने को पुनः सृष्ट करके बनाये रखना चाहता है। दूसरों के अनुभवों को ग्रहण करने तथा जीने की हमारी कामना कितनी बलवती होती है, इसका सबूत किसी भी रंगमंच अथवा सिनेमा में पहुँच कर प्राप्त किया जा सकता है। हम सिनेमा जाते हैं, इसका मुख्य

कारण यह है कि, सिनेमा-हाल में बैठकर, फिल्म के अभिनेताओं के कार्यकलाप देखते हुए, हम उनकी प्रतिक्रियाओं तथा भावनाओं का आरोप स्वयं अपने ऊपर कर लेते हैं, जिससे हमारे जीवन की क्रिया वेगवान हो जाती है। इसी प्रकार नित्य प्रति अखबार तथा पुस्तकें पढ़कर, और अपने मित्रों के साथ लम्बी-चौड़ी गप करके, हम अपनी जीवनगति को तीव्र तथा समृद्ध बनाते हैं। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के कारण एकान्तवास का दण्ड बहुत कड़ा दण्ड समझा जाता है।

हमारी वस्तु-संग्रह की प्रवृति हमें स्वार्थी तथा हिसाब रखने वाला बना देती है। उस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर हम दूसरे मनुष्यों को केवल साधन-रूप में देखने लगते हैं, जिनका सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये उपयोगी होना चाहिए। किन्तु जब व्यक्ति सृजन-मूलक साहचर्य खोजता है, तो उसे संपर्क में आनेवाले नर-नारी दूसरी ही रोशनी में दिखाई देते हैं। ऐसा व्यक्ति दूसरे मनुष्यों के विकास तथा उन्नति में अभिरुचि लेता है, इसलिये नहीं कि उस उन्नति से कोई व्यक्तिगत भौतिक लाभ होगा, बल्कि इसलिये कि उनकी आध्यात्मिक उन्नति तथा उससे समृद्ध होने वाले जीवन में वह स्वयं भी साझेदार हो सकेगा, और इस प्रकार अपने आनन्द की वृद्धि कर सकेगा। तो, एक मनुष्य दूसरों के लिये त्याग क्यों करे? हमारा उत्तर है कि एक आध्यात्मिक एवं सृजनशील प्राणी होने के नाते ही हम मनुष्य से यह आशा तथा प्रार्थना कर सकते हैं कि, न केवल वह दूसरे मनुष्यों में अभिरुचि ले, बल्कि उनके लिए त्याग भी करे।

कुछ ऐसे ही प्रयोजन की पूर्ति के लिए उच्च प्रकृति के पुरुष अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियों को उच्च प्रवृतियों के नियंत्रण में रखते हैं। सामाजिक जीवन यह ज़रूरी बना देता है कि हम एक सीमा तक आत्म-नियंत्रण करें; किन्तु उच्च कोटि के लोग केवल इसलिये भी आत्मनियंत्रण करते हैं, इसलिये भी इंद्रियों तथा मन को वश में रखना सीखते हैं, कि वैसा करने से व्यक्तित्व की ऊर्ध्व प्रगति होती है। अन्ततः मनुष्य की प्रगति का अर्थ यह है कि वह कमशः उन मूल्यों को प्राप्त करने के प्रयत्न से विरत हो जाय जो केवल व्यक्तिगत हैं, और उन मूल्यों की खोज करे जो निर्वैयक्तिक हैं। जब हम स्वतंत्रता, न्याय, सत्य, कला, साहित्य, आदि की प्रतिष्ठा के लिये प्रयत्न करने का महत्व समझ लेंगे, तो हमारे लिए यह कठिन न होगा कि हम दूसरों के लिये त्याग करें।

यह समझना ग़लत है कि इस प्रकार त्याग करने में कोई आनन्द नहीं होता।

जब एक कवि अच्छा गीत लिखने के लिये और एक वैज्ञानिक एक बढ़िया सिद्धान्त की कल्पना के लिये प्रयत्न करता है, तो वह एक ऐसी चीज़ की सृष्टि करता है जिसका अनुचिन्तन उसे तथा दूसरे समानधर्मा लोगों को भी सदैव आनन्द देता रहेगा। जब दूसरे लोग हमारी आध्यात्मिक सृष्टियों में आनन्द लेते हैं तो हमें कुछ वैसा ही सुख होता है जैसा कि उस माँ को जिसके बच्चे को प्रशंसा या प्रेम दिया जा रहा है। एक नयी आध्यात्मिक सृष्टि करने में वैसे ही परिश्रम तथा आनन्द होता है जैसे कि एक नये बच्चे को जन्म देने में। दोनों ही प्रकार की सृष्टियों के मूल में जीवन की वह अदम्य प्रवृत्ति रहती है जो उसे अपने को बार-बार उत्सृष्ट करने को बाध्य करती है।

साधुता स्वयं अपना साध्य है

वह परोपकारी साधु-प्रकृति का मनुष्य जो लगातार दूसरों के लिये अपने सुख का बलिदान करता है, एक दूसरी कोटि के आनन्द को प्राप्त करता है। कलाकार तथा वैज्ञानिक की भाँति वह पुरुष भी उन सुखों के प्रति उदासीन होता है जिनका सम्बन्ध हमारी सृजनशील प्रकृति से नहीं है। साधु व्यक्ति उन वस्तुओं की कामना नहीं करता जो अधिकांश लोगों को आकृष्ट करती हैं। इस प्रकार वह अपने को उन वस्तुओं की ज़रूरत से मुक्त कर लेता है। स्वयं मुक्त होकर वह अपने उन साथियों की मदद करने की कोशिश करता है जो ज़रूरतमन्द तथा दुखी हैं। दूसरे नर-नारियों की सेवा करते हुए वह स्वयं अपने कष्ट की परवाह नहीं करता। सेवा तथा सहायता द्वारा वह जीवन के ऐसे क्षणों अथवा रूपों की सृष्टि करता है जो दुखियों के कष्ट दूर करके उन्हें सुखी बनाते हैं; स्वयं साधु पुरुष उनके सुख से सुखी हो जाता है। एक परिश्रम से लिखी हुई कलाकृति में आलोचक लोग अक्सर दोष निकालते हैं, कला-सृष्टि से मिलने वाली प्रशंसा तथा सुख सुनिश्चित नहीं होते। किन्तु उपकारी व्यक्ति जो दुखियों की भलाई करता है, उसका परिणाम सबको प्रत्यक्ष होता है, उसके बारे में किसी शंका-सन्देह की गुंजाइश नहीं रहती। कला में रस लेने के लिये पूर्व शिक्षा की आवश्यकता होती है, किन्तु दुःख तथा कष्ट की अनुभूति इतनी सार्वभौम है कि उसे कम-से-कम बुद्धि के लोग समझ लेते हैं। उपकारी पुरुष कष्ट से मुक्ति तथा सुखपूर्ण जीवन-क्षणों की सृष्टि करता है। इन जीवन-क्षणों से जहाँ दुखियों का कष्ट सुख में बदल जाता है, वहाँ उस सृष्टि का दर्शक भी अप्रभावित नहीं रहता; देखने वालों को भी यह जानकर आनन्द होता है कि कुछ लोगों का दुख दूर हो गया। कलात्मक

तथा विचारात्मक कृतियों का आनन्द कल्पना के उपभोग में रहता है, जब कि नैतिक कर्म द्वारा उत्पन्न आनन्द प्रत्यक्ष अनुभूत होता है । कला-सृष्टि तथा नैतिक सृष्टि के एक दूसरे अन्तर पर भी ध्यान देना चाहिए। नैतिक प्रयत्न का फल तुरन्त मिल जाता है, दुखियों के कष्ट के निराकरण के रूप में। उपकारी साधु पुरुष प्रत्यक्ष देखता है कि उसका प्रयत्न सफल हुआ, उस प्रयत्न से कोई दूसरा व्यक्ति सुखी हुआ। किन्तु कलाकार अथवा विचारक के भाग्य में प्रायः यह देखना नहीं होता कि उसकी कृति पाठकों को कहाँ तक आनन्द दे रही है। उसके पास पाठकों की प्रतिक्रिया सीधे नहीं पहुँचती, उसे केवल समीक्षकों का न्यूनाधिक सहानुभूतिपूर्ण निर्णय ही सुनने को मिलता है।

क्या साधुता स्वयं अपना पुरस्कार है ? उत्तर में निवेदन है कि 'हाँ'। प्रेमी के चुम्बन की भाँति साधुता की व्यावहारिक अभिव्यक्ति दोनो सम्बद्ध पार्टियों को आनन्द देती है। यही कारण है कि साधु व्यवहार का प्रभाव संक्रामक होता है। कवि की प्रशंसा सुनकर हम स्वयं कविता लिखना शुरू नहीं कर देते। हम में यह इच्छा पैदा हो सकती है कि हम भी कवि हों, किन्तु वह इच्छा हमें कवि बनने की योग्यता नहीं दे देती। किन्तु जब हम किसी उदार-प्रवृति व्यक्ति को दूसरों का भला करते देखते हैं, तो उसका हम पर सीधे प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार का व्यवहार हम में परोपकार की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। प्लूटार्क ने लिखा है : 'साधु व्यवहार की यह विशेषता है कि जहाँ हम उसकी प्रशंसा करते हैं वहाँ हम में उसके अनुकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है. . .नैतिक श्रेष्टता में अपूर्व आकर्षण रहता है।'[5] किन्तु वह साधुता जो स्वयं अपना पुरुस्कार होती है, कर्तव्य-पालन से ज्यादा ऊँची चीज है। समाज हमें कर्तव्य-पालन के लिए बाध्य कर सकता है, किन्तु वह हमें परोपकारी साधु बनने के लिये बाध्य कर नहीं सकता। कर्तव्यनिष्ठ पुरुष प्रायः समाज की रूढ़ियों तथा अनुशासन को मानकर चलने वाला होता है। इसके विपरीत साधु व्यवहार उन व्यक्तियों में ही पाया जाता है जिनकी नैतिकता सृजनात्मक है, और जो दूसरों के जीवन में सुख के क्षण उत्पन्न करने में आनन्द अनुभव करते हैं। लोग कर्तव्य का पालन प्रायः अनिच्छा तथा भय से करते हैं। यदि पुलिस तथा समाज का भय न हो तो बहुत से लोग कानून की परवाह न करें। किन्तु असली अर्थ में धार्मिक अथवा साधु पुरुष स्वेच्छा से दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार एक कथाकार अपने ही द्वारा दिये हुए अपने पात्रों के जीवन से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है, वैसे ही साधु प्रकृति मनुष्य दूसरों को सुखी बनाकर स्वयं उसी सुख का कल्पनात्मक उपभोग करता है।

साधु पुरुष हम उसे कहेंगे जो दूसरों के हित-साधन में सृजनात्मक आनन्द का अनुभव करता है। इसके विपरीत कर्तव्यनिष्ठ पुरुष प्रायः समाज के नियमों तथा रूढ़ियों के अनुरूप चलने वाला होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ लोग कर्तव्य-पालन करने में आनन्द का अनुभव भी करते हैं। ऐसे लोग यह समझते हैं कि सामाजिक कानून तथा रीति-रिवाज निरर्थक नहीं है। वे लोग कल्पना द्वारा उन नियमों तथा रिवाजों की उपयोगिता तथा सौन्दर्य का आभास पा लेते हैं। ऐसे लोगों की स्थिति उन व्यक्तियों के, जो अनिच्छा से कर्तव्य का पालन करते हैं, तथा उन व्यक्तियों के जो स्वेच्छा से दूसरों का हितसाधन करते हैं, बीच में समझनी चाहिए।

कुछ विचारकों ने निःस्वार्थ अथवा दूसरों के हित-चिन्तन के जीवन के पक्ष में यह तर्क दिया है कि वैसा जीवन व्यवहार-नीति की दृष्टि से श्रेष्ठ होता है, अर्थात् वह अधिक विवेक तथा चतुराई का द्योतक है। उनका कहना है कि केवल अपने सुख की खोज स्वयं अपने ही उद्देश्य में असफल होती है। प्रकृतिवादी के पक्ष का समर्थन करते हुए श्री स्टेस ने लिखा है: 'ईसा तथा बुद्ध जैसे नैतिक प्रतिभासम्पन्न महापुरुषों की बड़ी खोज यह थी कि स्वार्थपूर्ण जीवन सुखी जीवन नहीं होता, और अपने को सुखी बनाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम दूसरों के सुख के लिये प्रयत्न करें।' आगे वे कहते हैं: 'ऐसा क्यों है, यह कहना मुश्किल है। मनुष्य सुखी नहीं हो सकता जब तक उसके चारो ओर सब सुखी नहीं हैं। कारण यह कि व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता से संसक्त है। मानवजाति के सुख में ही उसका सुख है।'[७]

ऊपर के वक्तव्य से हमारा दो बातों में मतभेद है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वार्थपरता से कभी लाभ होता ही नहीं, और मनुष्य तब तक सुखी नहीं हो सकता जब तक कि दूसरे सब लोग सुखी न हों। पुराने जमाने से राजाओं तथा उनके पार्श्ववर्ती अमीरों और सब प्रकार के मालिकों के सुख का एक आधार यह भी रहा है कि वे दूसरों से काम करा के स्वयं आराम से रहते रहे हैं। हमारे प्रतियोगिता-मूलक समाज में, जहाँ अच्छी नौकरी आसानी से नहीं मिलती, अक्सर एक व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर नौकरी तथा उसके साथ सुख के साधन प्राप्त कर लेता है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कभी-कभी एक की हार अथवा असफलता दूसरे के सुख और सफलता का कारण बन सकती है। इस स्पष्ट तथ्य का खण्डन ऐसे किसी कल्पित सिद्धान्त द्वारा नहीं हो सकता कि व्यक्ति का अस्तित्व मानवजाति के अस्तित्व से संसक्त है।

हम मानते हैं कि व्यक्तियों तथा जातियों के पारस्परिक संघर्ष, जिनका सम्बन्ध उनके स्वार्थों से होता है, वास्तविक हैं। जैसा कि हमने पीछे संकेत किया, उन संघर्षों के मूल में भौतिक सामग्री, महत्वपूर्ण पद आदि की एषणाएँ रहती हैं। इन संघर्षों का सम्बन्ध प्रायः साधनों से रहता है, और उनका लक्ष्य जरूरतों से मुक्ति तथा आर्थिक निश्चिन्तता या सुरक्षा है। अभिलषित साधन भौतिक पदार्थ तो होते ही हैं, कभी-कभी मनुष्य भी होते हैं।

यहाँ हम जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन कर रहे हैं उसके अनुसार उक्त संघर्षों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान दूसरा ही है। सम्भव है कि इन संघर्षों को पूर्णतया खत्म न किया जा सके, शायद उनकी पूर्ण समाप्ति श्रेयस्कर भी न हो, लेकिन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्थाओं में उचित परिवर्तन द्वारा उन्हें कम जरूर किया जा सकता है। इस समस्या पर हम आगे अधिक प्रकाश डालेंगे। यहाँ हम उस जीवन-दृष्टि का संकेत करने की चेष्टा करेंगे जो व्यक्ति के लिये उपादेय है। विभिन्न मूल्यों के प्रति व्यक्ति का रुख कैसा होना चाहिए?

इस प्रसंग में हमें एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। विभिन्न मनुष्यों के स्वार्थों एवं हितों में संघर्ष होता है, यह सत्य है; किन्तु स्वयं व्यक्ति की विभिन्न रुचियों में भी संघर्ष हो सकता है। हरेक व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं, जब वह दो कार्य-दिशाओं में से ठीक से चुनाव नहीं कर पाता। "जीने की कला" के सम्बन्ध में हमारे विचार इस प्रकार हैं। चूँकि मनुष्य अपनी प्रकृति से एक सृजनशील प्राणी है, इसलिये वह तब तक पूर्णतया सुखी नहीं हो सकता जब तक वह अपनी सृजनात्मक शक्तियों के उपयोग की व्यवस्था न करे। धन, सम्पत्ति तथा भौतिक सामग्री अवश्य ही मनुष्य के सुख में वृद्धि करती हैं, किन्तु उनसे मिलने वाले सुख प्रायः निषेधात्मक होते हैं। औसत आदमी अपनी जरूरतों की पूर्ति के सम्बन्ध में निश्चिन्तता चाहता है, इसलिये वह एक निश्चित आय की कामना करता है। किन्तु इस प्रकार की निश्चिन्तता अथवा सुरक्षा की भावना काफ़ी नहीं है। मनुष्य तब तक सुखी नहीं हो सकता जब तक वह कोई सृजनात्मक कार्य न करता रहे। जिसे हम इस पुस्तक में संस्कृति के नाम से पुकारते आये हैं, वह केवल एक दिखावे की चीज़ नहीं है। वह मानव-प्रकृति की आवश्यकता है। इसलिये वह कलाकार या विचारक जिसकी आय मामूली है, एक ऐसे करोड़पति से जिसका व्यक्तित्व संस्कृत नहीं है, अधिक सुखी हो सकता है।

साथ ही हमें कहना है कि मनुष्य की सृजनशील प्रकृति अपने को विविध रूपों में अभिव्यक्त तथा सन्तुष्ट कर सकती है। सम्भवतः साधु मनुष्य की नैतिक सृजनशीलता, कुछ दृष्टियों से, समान श्रेणी के कलाकार अथवा गणितशास्त्री की सृजनशीलता से अधिक सन्तोषप्रद होती है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि दूसरों के हित-चिन्तन अथवा परोपकार में लगे बिना मनुष्य सुखी हो ही नहीं सकता। हमारा विश्वास है कि एक बड़ा कवि, दार्शनिक अथवा गणितशास्त्री दूसरों के हित-चिन्तन की विशेष परवाह किये बिना भी सुखी हो सकता है। लेकिन वह कोई व्यक्ति पूर्णतया सुखी नहीं हो सकता जो अपनी सृजनात्मक शक्तियों का उपयोग करना नहीं सीखता, और केवल उपयोगिता के क्षेत्र में परिश्रम करता रहता है। केवल अपने हितों तथा स्वार्थों में ज्यादा फँसे रहना सिर्फ़ इसीलिये बुरा नहीं है कि उससे कभी-कभी दूसरों के हितों की हानि होती है, बल्कि इसलिये भी कि वैसी प्रवृत्ति हमारी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को कमज़ोर बनाती है। एक बड़े-से-बड़ा भौतिकवादी भी तब तक ज़िन्दगी से अधिकतम आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह अपनी स्वार्थपरता, लोभ तथा परिग्रह-शीलता पर कुछ नियंत्रण न करे, और अपनी सृजनात्मक प्रकृति के कोमल पक्षों का विकास न करे। एक ऐसा व्यवसायी व्यक्ति जिसने कठोर लेन-देन के व्यापारों में अधिक फँसे रहकर अपनी नैसर्गिक मृदुलता को खो दिया है, कभी भी उस उच्च कोटि के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता जो गहरी कोमल मैत्री के सम्बन्ध में प्राप्त होता है, अथवा जो ललित कलाओं के रस-ग्रहण तथा चिन्तनात्मक ग्रंथों के अध्ययन से उपलब्ध होता है।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. एस० ई० टलमिन, ऐन एग्ज़ामीनेशन आव् द प्लेस आव् रीज़न इन एथिक्स, (केम्ब्रिज, १९५०), पृ० १९।

२. दे० बर्ट्रान्ड रसेल, हिस्टरी आव् वेस्टर्न फिलासफी, पृ० २६७।

३. दे० प्लूटार्क, लाइव्ज़ (सिलेक्टेड), (मेण्टर बुक्स, १९५२), पृ० १७३।

४. वही, पृ० १८७।

५. वही, पृ० ६४।

६. डब्ल्यू० टी० स्टेस, रिलीजन ऐन्ड द माडर्न माइन्ड, (मैकमिलन, १९५३), पृ० २८८।

अध्याय ८

धर्म-दर्शन की प्रकृति और पद्धति

इस अध्याय में हम मानव-जीवन तथा अनुभूति के उस पक्ष का विचार करेंगे जिसे अंग्रेज़ी में 'रिलीजन' कहते हैं। हमारी भाषा में 'रिलीजन' का कोई ठीक पर्याय नहीं है। धर्म शब्द का सम्बन्ध आचार-नीति से अधिक है, मोक्ष अथवा पूर्णता की खोज से कम। जो जीवन मोक्ष अथवा पूर्णत्व की खोज करता है, वह कर्तव्य-पालन-रूप नैतिकता से उदासीन भी हो सकता है। आध्यात्मिक जीवन के इस पहलू को "मोक्ष-धर्म" कह सकते हैं। हमारी भाषा में आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग प्रायः मोक्षान्वेषी जीवन के लिये होता है।

सब प्रकार के विश्लेषण का स्वरूप विश्लेषण के प्रयोजन से निर्धारित होता है। दार्शनिक विश्लेषण का प्रयोजन है, विश्लेष्य की प्रामाणिता तथा महत्व को आँकना। विलियम जैम्स ने यह सम्मति प्रकट की है कि धार्मिक अथवा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के स्वरूप का अन्वेषण उनके मूल्यांकन से अलग रखा जाना चाहिए। वह कहते हैं:

हाल की लिखी हुई तर्क-शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों में किसी वस्तु से सम्बन्धित दो प्रकार के अन्वेषणों में अन्तर किया गया है। पहले अन्वेषण के क्षेत्र में पूछा जाता है कि वस्तु का स्वभाव क्या है? वह कैसे अस्तित्व में आयी? उसकी रचना या बनावट, उद्भव तथा इतिहास क्या है? दूसरे अन्वेषण के क्षेत्र में हम पूछते हैं, उस वस्तु का जो अब अस्तित्ववान है, महत्व अथवा प्रयोजन क्या है? पहले प्रश्न के उत्तर में एक तथ्य-सम्बन्धी कथन किया जाता है। दूसरे के उत्तर में एक मूल्यात्मक कथन करना पड़ता है।[१]

जेम्स का विचार ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तु के सत्तामूलक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण में कोई प्रयोजन निहित नहीं होता, वैसा विश्लेषण प्रयोजन को छोड़कर

किया जा सकता है। किन्तु यह सही नहीं है। आश्चर्य की बात है कि उपयोगितावादी अथवा व्यवहारवादी (Pragmatist) होते हुए भी जेम्स यह न देख सके कि अन्वेषक के प्रयोजन और उसके अन्वेषण में आवश्यक लगाव होता है। हमारा विचार है कि हम किसी घटना अथवा वस्तु का पूर्ण विश्लेषण नहीं कर सकते। सब प्रकार का विश्लेषण एकांगी अथवा आंशिक होता है; कार्य-कारण-मूलक विश्लेषण भी इसका अपवाद नहीं है। जब हम किसी वस्तु या घटना का संकेत करते हैं तो हमेशा उसके किसी पहलू पर ध्यान देते हैं, और उस पहलू के कारणों का ही निर्देश करते हैं। मतलब यह है कि हमारा ज्ञान आवश्यक रूप में अमूर्त (Abstract) अथवा चयनात्मक होता है। इसलिये जब दार्शनिक किसी चीज़ का विश्लेषण इस दृष्टि से करता है कि बाद में वह उसका मूल्यांकन करे तो, आवश्यक रूप में, उसका विश्लेषण उस वैज्ञानिक के विश्लेषण से भिन्न हो जाता है जिसका लक्ष्य पदार्थ की बनावट या रचना का उद्घाटन है। उपरोक्त उद्धरण में जेम्स ने एक दूसरी गलती भी की है; उसका यह विचार गलत है कि किसी वस्तु की रचना, उद्भव तथा इतिहास-सम्बन्धी प्रश्न एक ही कोटि के होते हैं। केवल जीवित प्राणियों का इतिहास होता है, और वस्तु के उद्भव के अन्वेषण का एक जीव-विज्ञानी के लिये वही अर्थ नहीं होता जो एक समाजशास्त्री अथवा भौतिक विज्ञान के ज्ञाता के लिये होता है।

मोक्षधर्म के अध्ययन के सम्बन्ध में जेम्स ने एक और परामर्श दिया है, जो ज्यादा रोचक है। जेम्स का कहना है कि आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन हम साधारण लोगों के अनुभवों के आलोक में न करके उन आध्यात्मिक प्रतिभाओं के जीवन की अपेक्षा में करें जिनके लिये आध्यात्मिक साधना एक तीव्र ज्वर जैसा अस्तित्व रखती है।[२] मतलब यह कि आध्यात्मिक जीवन को समझने के लिये हमें उसके ज्यादा विकसित रूपों पर ध्यान देना चाहिए। जेम्स का यह मत हमें उचित लगता है। जब हम कला की प्रकृति समझना चाहते हैं तो हम उसका अध्ययन बड़े कलाकारों की कृतियों की अपेक्षा में करते हैं, यद्यपि कलात्मक रुचि प्रायः सभी मनुष्यों में पाई जाती हैं। इसी प्रकार जब हम उपन्यास अथवा गणित का स्वरूप समझना चाहते हैं तो हम बड़े उपन्यासकारों तथा गणितशास्त्रियों की कृतियों पर ध्यान जमाते हैं, यद्यपि कहानी कहने तथा गिनने की प्रवृत्तियाँ सभी नर-नारियों में पाई जाती हैं। जेम्स के पक्ष में एक दूसरी परिस्थिति भी है। अपने उन्नत रूप में ही मोक्ष धर्म जादू-टोना, पुराणों तथा दूसरी सम्बद्ध चीजों से अलग हो पाता है। प्रसिद्ध जर्मन विचारक वुण्ट ने लिखा

है कि सांस्कृतिक चेतना को हम जितने ही कम विकसित रूप में देखते हैं, उतना ही हम पाते हैं कि मोक्ष-धर्म-सम्बन्धी तत्व दूसरे तत्वों में मिश्रित हो रहे हैं।[३] किसी जाति की पौराणिक गाथाओं में तत्वदर्शन, कविता, नीति-भावना तथा मोक्षधर्म के तत्त्व संकुल रूप में मिश्रित होते हैं। अतएव यदि हम "रिलीजन" या आध्यात्मिक साधना के स्वरूप को समझना चाहते हैं, तो हमें उन रहस्यवादी सन्तों तथा दूसरी कोटि के साधकों की जीवनियों का अध्ययन करना चाहिए जिनमें आध्यात्मिक खोज विकसित रूप में वर्तमान थी।

जेम्स के मत की आलोचना की गई है। यूरेन नामक लेखक का कहना है कि जेम्स का प्रसिद्ध ग्रंथ "वेराइटीज़ आफ़ रिलीजस एक्सपीरियन्स" अपवादों का अध्ययन करता है।[४] चूंकि जेम्स यह दावा करते हैं कि वह समस्त आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अनुभूति का अध्ययन कर रहे हैं, इसलिये अपवाद जैसे दीखने वाले अर्ध-विक्षिप्त लोगों के अनुभव सामान्य आध्यात्मिक अनुभूति के प्रतिमान नहीं बन सकते। न आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में, न कला में ही हम अपवादों को अपना मानदण्ड बना सकते हैं। उदाहरण के लियें कला के क्षेत्र में अनेक अजीब वाद पाये जाते हैं जैसे कि अनागतवाद (Futurism) समघनवाद (Cubism), वर्तुल-गतिवाद (Vorticism) इत्यादि; ऐसे वादों के आधार पर हम कला के स्वरूप का ठीक से निर्धारण नहीं कर सकते।[५]

अपनी समीक्षा के बावजूद यूरेन को मानना पड़ा है कि जेम्स की पुस्तक एक महत्वपूर्ण कृति है। ऐसा जान पड़ता है कि जेम्स द्वारा बताई हुई पद्धति सफलता से काम करती है। वास्तविकता यह है कि जिसे हम असामान्य (Abnormal) कहते हैं, फिर चाहे उसकी उपस्थिति विक्षिप्त व्यक्ति में हो अथवा प्रतिभाशाली में, स्वयं सामान्य का ही अतिरंजित रूप है। सामान्य और असामान्य के बीच कोई खाई नहीं है। सामान्य जीवन के आधार पर ही असामान्य की भी व्याख्या की जा सकती है। सच यह है कि हम असामान्य को जहाँ तक समझ पाते हैं वहाँ तक यही जानते हैं कि किस प्रकार वह सामान्य की ही एक सम्भाव्य परिणति है। हम नेपोलियन अथवा गांधी जैसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को समझ पाते हैं, क्योंकि उनकी विशिष्टताएँ सामान्य गुणों का ही अतिरंजित रूप होती हैं।

जिस प्रकार सामान्य तथा असामान्य के बीच अविच्छिन्नता (Continuity)

है, वैसे ही आदिम तथा सभ्य समाजों में भी। यदि हमारी और आदिम मनुष्यों की प्रकृति में समानता न हो, तो हम उन्हे हर्गिज़ न समझ सकें। प्रश्न है, इस अविच्छिन्नता का स्वरूप क्या है ? गैलोवे ने लिखा है : 'मानव प्रकृति एक है, जिसके कारण आज घटित होने वाली मानसिक क्रियाएँ वैसी ही अतीत क्रियाओं को समझने की कुंजी बन जाती हैं। अपने बौद्धिक व्यापारों में मनुष्य ने बड़ी उन्नति कर ली है, किन्तु बौद्धिक जीवन के पीछे वे संवेदनाएँ, प्रवृत्तियाँ तथा प्रेरणाएँ होती हैं जो मानव विकास की सभी भूमिकाओं में प्रायः वही रहती हैं।'[६] किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि आज की "संस्कृतियाँ" आदिम "संस्कृतियों" का विकसित रूप हैं, और वे "संस्कृतियाँ" आधुनिक "संस्कृतियों" तक पहुँचने की सीढ़ियाँ मात्र हैं। आदिम तथा आधुनिक की अविच्छिन्नता की एक दूसरी व्याख्या संभव है। विभिन्न ऐतिहासिक जातियों अथवा समाजों ने जिन विभिन्न "संस्कृतियों" को विकसित किया है, वे उन विभिन्न रूपों की प्रतीक हैं जिनमें मानव-जीवन अपने को अभिव्यक्त तथा सन्तुष्ट कर सकता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मानव-शिशु को, उसके जन्म के बाद, जिस "संस्कृति" में रख दिया जाय वह उसी के अनुरूप बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न "संस्कृतियाँ" एक ही मानव-प्रकृति की विभिन्न सृजनात्मक सम्भावनाएँ प्रकट करती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि मनुष्य के व्यवहारों की अत्यर्थ विविधरूपता का कारण उसकी सृजनशीलता ही है। मनुष्यों के विभिन्न भौतिक परिवेश, उनके विभिन्न सामाजिक अनुभव, उनकी परम्पराओं की विभिन्नताएँ, जो उनकी प्रथाओं तथा रूढ़ियों में प्रतिफलित होती हैं, तथा उनके दूसरी जातियों से सम्पर्कित होने के अवसर, ये सभी मानव-समाजों के विभिन्न जीवन-रूपों का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

किन्तु कोई भी "संस्कृति" मानव प्रकृति से बाहर नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों में दो प्रकार के भेद मुख्य होते हैं : एक उनकी आस्थाएँ तथा विश्वासों के भेद, और दूसरे उनके प्रकृति पर न्यूनाधिक नियन्त्रण के भेद। विभिन्न जातियों के विभिन्न विश्वासों तथा उन से अनुगत होने वाले निष्कर्षों को हम वैसे ही समझ सकते हैं जैसे कि कल्पित मान्यताओं अथवा स्थापनाओं के निष्कर्षों को। जब हम कहते हैं कि आदिम तथा सभ्य मनुष्य के बीच अविच्छिन्नता है, तो हमारा यह मतलब नहीं होता कि उनकी आस्थाएँ तथा विश्वास एक-से हैं। हमारा तात्पर्य यह है कि आदिम तथा सभ्य मनुष्य दोनो सुन्दर तथा असुन्दर, शक्तिपूर्ण तथा रहस्यमयी सत्ताओं के प्रति

एक-सी ही आवेगात्मक प्रतिक्रिया करते हैं। यह ठीक है कि मानव-चेतना तत्व पदार्थों के अथवा विश्व की संचालक शक्तियों के, बारे में लगातार भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करती आई हैं। उसके लिये सौन्दर्य, शक्ति तथा रहस्यमयता के रूप भी बदलते रहते हैं। फिर भी इन चीजों से सम्बद्ध मनुष्य की मूल भावनाएँ या प्रतीतियाँ प्रायः वही रहती हैं। उन प्रतीतियों की समानता के कारण ही आज का सभ्य पुरुष आदिम जातियों की आवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को समझ सकता है, और उनकी व्याख्या कर सकता है। इस सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह है कि आदिम जातियों का मोक्षधर्म तथा आधुनिक मनुष्यकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंकी व्याख्या एक ही सिद्धान्त द्वारा संभव होनी चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे कि आदिम कला तथा आजकी कला को समझने के लिये भिन्न सिद्धान्तों की कल्पना नहीं की जाती, बल्कि एक ही सिद्धान्त-सूत्र की अवतारणा की जाती है।

धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का स्वरूप

धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति, हमारे-मत में मूलतः एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा उपस्थिति (सत्ता) की प्रतीति है जो जीवन के समस्त मूल्यों का मूल या आधार समझी जाती है। जिसे हम धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन कहते हैं, वह वह जीवन है जो उक्त लक्ष्य तथा सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है। यह परिभाषा धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना तथा जीवन के विषय के सम्बन्ध में मुख्यतः दो बातें कहती है: प्रथमतः उस विषय के स्वरूप का हमें धुँधला आभास ही रहता है, दूसरे, यह समझा जाता है कि वह विषय या तत्व उन सब मूल्यों का आधार है जिनका अन्वेषण मनुष्य करता है। धार्मिक चेतना के इस विषय की कभी एक ईश्वर के रूप में कल्पना की जाती है, और कभी अनेक देवी-देवताओं के समूह के रूप में। दूसरी स्थिति में ऐसी भावना या मान्यता रह सकती है कि विभिन्न देवी-देवताओं में पूर्णत्व के विभिन्न पहलू मौजूद हैं। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के दो सबसे महत्वपूर्ण देवता इन्द्र और वरुण समझे जाते हैं। इन्द्र बल तथा शक्ति के अधिष्ठाता हैं, और वरुण मुख्यतः नैतिक व्यवस्था के संरक्षक हैं। एकेश्वरवादी धर्मों में अकेले ईश्वर को सब प्रकार के गुणों तथा ऐश्वर्यों का आश्रय माना जाता है। बौद्ध धर्म में सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक धारणा निर्वाण की है, जो कि मानव-जीवन का रहस्यपूर्ण लक्ष्य है; किन्तु निर्वाण का वही अर्थ है जो कि बुद्धत्व का, और बौद्धधर्म के जन-प्रसिद्ध रूपों में बुद्ध की कल्पना प्रायः वैसे ही की जाती है जैसे कि दूसरे धर्मों में ईश्वर की।

ईश्वर तथा पूर्णत्व की विभिन्न कल्पनाओं, और मानव-जीवन के लक्ष्य-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं में, जहाँ अनेक समानताएँ पाई जाती हैं, वहाँ अनेक भेद भी दिखाई देते हैं। इन धारणाओं तथा कल्पनाओं पर विभिन्न "संस्कृतियों" की छाप रहती है। उदाहरण के लिये मुसलमानों के ईश्वर तथा वैष्णवों के ईश्वर में बहुत अन्तर है। इसी प्रकार बौद्धों के निर्वाण तथा मुसलमानों और ईसाइयों के स्वर्ग में कोई समानता नहीं है। यदि हम आदिम जातियों तथा आधुनिक सभ्य जातियों की कल्पनाओं पर ध्यान दें, तो और अधिक भेद दिखाई देता है। साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि विभिन्न धर्मों में पाये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों तथा उपासना एवं भक्ति के रूपों में आश्चर्यजनक समानताएँ पाई जाती हैं।

यहाँ दो सम्बद्ध प्रश्न उठते हैं। प्रथमतः, ईश्वर तथा मानव-जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं? दूसरे, इन धारणाओं की प्रामाणिकता क्या है? एक तीसरा प्रश्न भी हो सकता है, क्या इन धारणाओं तथा कल्पनाओं का मानव-जीवन के लिये कोई खास महत्व है?

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले हम इस बात पर ज़ोर देना चाहेंगे कि धार्मिक धारणाओं का स्वरूप ऐतिहासिक होता है। इसका मतलब यह है कि विभिन्न ऐतिहासिक युगों तथा जातियों में उक्त धारणाओं का स्वरूप अलग-अलग हो जाता है। जिसे हम प्रत्ययात्मक अथवा धारणात्मक ज्ञान कहते हैं, उसका उद्गम हमारी अनुभव-राशि में होता है। विभिन्न धार्मिक धारणाएँ यह सिद्ध करती हैं कि विभिन्न जातियों की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति भी अलग-अलग होती है। इस अनुभूति में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं? परिवर्तन की एक दिशा यह है कि जहाँ आदिम समाजों में नैतिक तथा बौद्धिक, बोधात्मक तथा आवेगात्मक, लौकिक तथा पारलौकिक, उपासना-सम्बन्धी तथा जादू-टोना से सम्बन्ध रखने वाले, मनुष्य के यथार्थ जीवन से सम्बन्धित तथा उसके आदर्श स्वप्नों के लगाव रखने वाले तत्व एक-दूसरे से मिले रहते हैं, वहाँ, सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ, मनुष्य अपनी विभिन्न रुचियों एवं स्वार्थों तथा उनके विषयों को अलग-अलग कर लेते हैं, और अपनी पूजा तथा उपासना के विषयभूत पदार्थों को दूसरी चीजों से विविक्त कर लेते हैं। मनुष्य जिन देवताओं की उपासना करता है उनका उसके जीवन की महत्वपूर्ण समझी जाने वाली वाली जरूरतों से घना सम्बन्ध रहता है। उदाहरण के लिये वैदिक आर्यों के जीवन में कृषि का विशेष स्थान था, इसलिये उन्होंने अपने मुख्य देवता इन्द्र की कल्पना इस

प्रकार की कि वह कृषि के लिये उपयोगी हो सके। वैदिक इन्द्र बादलों तथा वर्षा का स्वामी है। जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति की भौतिक शक्तियों पर अधिकार बढ़ता गया, वैसे-वैसे उसके उपास्य देवताओं की प्रकृति बदलती गई। अब वह अपने देवताओं में अधिक सूक्ष्म, आध्यात्मिक विशेषताओं का आरोप करने लगा। कारण यह था कि अब मनुष्य को प्रकृति पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा सूक्ष्म आध्यात्मिक गुणों की उपलब्धि करना ज्यादा कठिन जान पड़ता था। जिन चीजों को मनुष्य कठिनाई से प्राप्त कर सकता है, उनका सम्बन्ध वह उपास्य देवता से जोड़ देता है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरी चीज पर भी ध्यान देना चाहिए। एक ही संस्कृति के अन्तर्गत पढ़े-लिखे विद्वान लोग ईश्वर अथवा चरम तत्व की कल्पना एक प्रकार से करते हैं, और साधारण लोग दूसरे प्रकार से। हमारे देश में यह माना जाता है कि अपनी-अपनी बौद्धिक योग्यता के अनुसार विभिन्न लोगों को ईश्वर की उपासना भिन्न ढंगों से करनी चाहिए। इस मन्तव्य को अधिकारी-भेद का सिद्धान्त कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति हर प्रकार के ज्ञान तथा उपासना का अधिकारी नहीं होता। हमारे ऋषि उच्च कोटि के जिज्ञासुओं को ही अध्यात्म की शिक्षा देने को तैयार होते थे।

धार्मिक धारणाओं की उत्पत्ति

अब हम इस पर विचार करेंगे कि धार्मिक-आध्यात्मिक धारणाओं का उदय कैसे होता है, और उनकी प्रामाणिकता क्या है। आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अनुभूति की परिभाषा में हमने इस बात पर जोर दिया है कि उस अनुभूति का विषयभूत तत्व रहस्यमय होता है। इस रहस्यमयता को किस प्रकार समझा जाय, और उसका सामान्य जीवनानुभूति से कैसे सम्बन्ध स्थापित किया जाय? कुछ रहस्यवादियों ने कहा है कि आध्यात्मिक अनुभूति एक निराली अनुभूति होती है जिसका मनुष्य की साधारण संवेदनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। रहस्यवादियों के इस दावे को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि आध्यात्मिक अनुभूति एक अतिमानवीय अनुभूति है, जिसका सामान्य व्यक्तियों के जीवन और अनुभव से कोई लगाव नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि तथा-कथित रहस्यवादी सन्तों की अनुभूति एकदम निराली होती है, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे लोग सामान्य मनुष्यों से भिन्न कोटि के प्राणी होते हैं। उस दशा में यह समझना कठिन हो जायगा कि क्यों धार्मिक शिक्षकों

तथा सन्तों की शिक्षाएँ जन-साधारण को इतनी भली लगती हैं, और किस प्रकार वे शिक्षक और सन्त जन-मन तथा जन-जीवन को प्रभावित कर पाते हैं।

इन कारणों से हम किसी ऐसी चीज को मानने को तैयार नहीं हैं जैसा कि श्री अरविन्द घोष का ऊर्ध्व चेतन (Super-mind) है, जिसके बारे में यह समझा जाता है कि वह साधारण मनुष्यों द्वारा अप्राप्य अनुभूतियाँ प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत हम मानते हैं कि ऊँची-से-ऊँची बुद्धि तथा अधिक-से-अधिक रहस्यमय अनुभूति का बोध उन साधारण-से-साधारण लोगों तक पहुँच सकना चाहिए जो आवश्यक बौद्धिक तथा कल्पनात्मक तैयारी करने को उद्यत हों। बुद्धि तथा कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ानें सामान्य मानव-अनुभूति की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करतीं। बड़े-से-बड़े प्रतिभाशालियों की बड़ी-से-बड़ी सृष्टियाँ, अन्तिम विश्लेषण में, जन-साधारण के अनुभवों, विचारों, इच्छाओं तथा आशाओं का विस्तार अथवा नवीन संगठन मात्र होती हैं।

जहाँ हम यह स्वीकार करते हैं कि आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना का विषय रहस्यमय होता है, वहाँ हम यह नहीं मानते कि वह विषय हमारे साधारण अनुभवों की सीमा का अतिक्रमण करने वाला होता है। सच यह है कि रहस्यमयता की भावना भी हमारी सामान्य अनुभव-शक्ति का ही अंग है। व्यावहारिक जीवन की उलझनों में पड़कर हमारी यह भावना कुंठित होने लगती है, किन्तु वह कभी पूर्णतया नष्ट नहीं होती।

रहस्यानुभूति तथा अवचेतन

मनुष्य सृजनशील है, किन्तु उसकी सृजनशीलता किस प्रकार व्यापृत होती है, यह कोई नहीं जानता। लेखक और कलाकार "प्रेरणा" की बात करते हैं, यह शब्द भी यह प्रकट करता है कि कला तथा चिन्तन में नवीन भावों तथा विचारों का स्फुरण रहस्यमय ढंग से होता है—अर्थात् प्रतिभाशालियों के विशेष महत्वपूर्ण विचार और कल्पनाएँ उनके मस्तिष्क में अकस्मात् उपस्थित होती हैं।

कभी-कभी देखा गया है गणित की जिस समस्या का हल जागृत अवस्था में प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलता, वह हल स्वप्नावस्था में अपने आप प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार शतरंज के खेल में एक खिलाड़ी हिसाब लगाने पर जितना निर्भर करता है, उतना ही अचानक सूझों पर भी। ऐसा जान पड़ता है कि हमारे मानसिक जीवन की

सृजनात्मक प्रगति मुख्यतः अवचेतन की अँधेरी तहों में घटित होती है।[७] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उक्त प्रगति को लाने में सचेत प्रयत्न का कोई हाथ ही नहीं होता। इसका प्रमाण यह है कि किसी क्षेत्र में महत्वपूर्ण कोटि की सूझें उन्हीं के मन में आती हैं जो उस क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं।

अचेतन अथवा अवचेतन की सृजन-क्रिया का सचेत मस्तिष्क से क्या सम्बन्ध होता है? प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग ने यह प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति से भिन्न एक जातीय अवचेतन होता है, अर्थात् वह अवचेतन जिसका सम्बन्ध मानवजाति से। युंग मानते हैं कि हमारे अवचेतन के कुछ तत्व जातीय अवचेतन से ग्रहण किये जाते हैं। प्रस्तुत लेखक को जातीय अवचेतन की सत्ता में विश्वास नहीं है। हम मानते हैं कि अन्ततः अवचेतन का हरेक तत्व सचेत अनुभूति से प्राप्त होता है। **व्यक्ति का अवचेतन उसकी अनुभूति के उन तत्वों से गठित होता है जिनका उसके जीवन में अभी तक उचित उपयोग नहीं हो पाया है।** अवचेतन के गर्भ में दमित इच्छाएँ अथवा प्रतीतियाँ हो सकती हैं, किन्तु यह जरूरी नहीं है कि वहाँ केवल वही चीजें हों। वस्तुतः मनुष्य की प्रतीतियाँ तथा संवेदनाएँ सदैव उसकी व्याहारिक जीवन की ज़रूरतों का अतिक्रमण करती हैं। हमारी वे संवेदनाएँ और प्रतीतियाँ, जिनका हमारे उपयोगी तथा ज्ञात जीवन से सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, हमारे अवचेतन में प्रविष्ट हो जाती हैं। अधिक-से-अधिक व्यावहारिक तथा असंवेदनशील व्यक्ति में भी इस प्रकार की प्रतीतियों तथा संवेदनाओं का संचय रहता है। उदाहरण के लिये मृत्यु की उपस्थिति में नितान्त व्यावसायिक वृत्ति का मनुष्य भी विचलित हो जाता है, और उदात्त भावनाओं का अनुभव करने लगता हैं। इसी प्रकार एक ऊँचे शैल-शिखर, विस्तृत समुद्र तथा त्याग और साहस के महान कर्म की उपस्थिति में सभी के हृदय में निरुपयोगी कोटि की विचित्र संवेदनाएँ जगती हैं। हम यह नहीं मानते कि हमारी अवचेतन प्रतीतियाँ केवल दमित वासनाओं से ही निर्मित होती हैं। विभिन्न व्यक्तियों की रुचियाँ अलग-अलग होती हैं, और उनकी अवचेतन प्रतीतियाँ तथा वृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। अवचेतन जगत प्राणियों को सुखद भी हो सकता है और कष्टपूर्ण भी। जिन अवचेतन अनुभूतियों का प्रभाव किसी भौतिकशास्त्री, गणितज्ञ अथवा शतरंज के खिलाड़ी के सृजनात्मक व्यापारों पर पड़ता है, उनका मूल दमित वासनाओं में नहीं हो सकता। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि एक कलाकार, कवि अथवा संगीतज्ञ की सृजन-क्रिया पूर्वोक्त व्यक्तियों की सृजन-क्रिया से एकदम भिन्न होती है।

इस रोशनी में देखने पर यह जान पड़ेगा कि मनुष्य का अवचेतन उन जरूरतों, इच्छाओं तथा संवेदनाओं का भंडार होता है, जिनका अभी कोई उपयोग नहीं हो सका है। एक ही "संस्कृति" तथा परिवेश में रहने वाले लोगों के अवचेतन की अनुभूतियों में कुछ समानता होती है, जो अपने को पौराणिक तथा अन्य प्रचलित कथा-कहानियों आदि में अभिव्यक्त करती है। अवचेतन का मुख्य कार्य यह होता है कि वह संचित अनुभूतियों में जहाँ-तहाँ विस्तार, अथवा उनके नये संस्थान, उत्पन्न करे। किन्तु जैसे ही ये विस्तार तथा संस्थान तैयार होकर चेतन में आते हैं वैसे ही मनुष्य की समीक्षा-बुद्धि उनकी परीक्षा करने लगती है। फलतः अवचेतन की सृष्टियों को चेतन मन के बोध तथा विश्वासों के साथ समझौता करना पड़ता है। किन्तु कभी-कभी विपरीत प्रतिक्रिया भी आवश्यक हो सकती है। अवचेतन की सृष्टियों के लिये स्थान बनाने की ज़रूरत चेतन अनुभव के नियमों में परिवर्तन की माँग भी कर सकती है।

चेतन तथा अवचेतन के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाले एक परिणाम पर दृष्टिपात करना चाहिए। जैसे-जैसे चेतन के क्षेत्र में विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे अवचेतन का क्षेत्र घटता जाता है। उदाहरण के लिये विज्ञान की प्रगति ने मानवीय अवचेतन की उन क्रियाओं में बाधा डाल दी है जिनके द्वारा चमत्कारी घटनाओं तथा जादू आदि के प्रभावों की कल्पना की जाती थी। इतना निश्चित है कि एक ऐसे व्यक्ति के मन में जिसने वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त की है, उस प्रकार की कल्पनाएँ प्रायः नहीं उठतीं जैसी कि अज्ञानी लोगों के मन में उठा करती हैं।

तो, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का विषय मनुष्य के अवचेतन अथवा उपचेतन मन का प्रक्षेप होता है। अवचेतन तथा उपचेतन में भेद करना कठिन है, हमारे लिये वह प्रयोजनीय भी नहीं है। दोनों का काम एक ही, अर्थात् ऐसी प्रतीति को शरण देना जिसका सचेत जीवन के प्रयोजनों से सम्बन्ध नहीं बन सका है। अवचेतन की धर्म-सम्बन्धी वृत्तियाँ, अथवा आध्यात्मिक प्रतीतियाँ, दूसरी कोटि की प्रतीतियों से भिन्न होती हैं। यह भेद कुछ वैसा ही होता है जैसा कि दर्शन तथा दूसरे विज्ञानों का भेद। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण चेतना-मूलक जीवन तथा अनुभूति से होता है। वस्तुतः वह अनुभव मनुष्य की सम्पूर्ण अर्थवती अनुभूतियों की प्रतीयमान एकता-रूप होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि दर्शन तथा धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म-चेतना में

जिस एकता की धुँधली प्रतीति होती है, उसे दर्शन तर्कशास्त्रीय तथा अन्य मूल्यों के आलोक में समझने का प्रयत्न करता है।

ऊपर हमने कहा था कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं द्वारा निर्धारित होती हैं। एक तीसरी चीज भी है जो उसके स्वरूप को प्रभावित करती है, अर्थात् विशिष्ट जन-समूह अथवा व्यक्ति का स्वभाव। यह बात प्रत्येक युग की धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना के सम्बन्ध में लागू है। वह उस चेतना की विभिन्न भूमिकाओं अथवा सोपानों (Stages) पर भी लागू है। प्रसिद्ध लेखक रयूडाल्फ ऑटो ने लिखा है: 'पदावली की समानता के बावजूद-और यह समानता आश्चर्यजनक हो सकती है—रहस्यवादी अनुभूति उतनी ही विविध होती है जितनी कि सामान्य धार्मिक चेतना।'[८] ऑटो ने एक ओर शंकर की शीतल एवं निरुद्वेग तथा फ़ारस की उष्ण और आवेगपूर्ण रहस्यानुभूति में, और दूसरी ओर बुद्धिवादी वेदान्तीय रहस्यानुभूति तथा ज्योतिवादियों (Illuminists) की अभिचारान्वेषी, चमत्कार-प्रिय रहस्य-भावना में अन्तर किया है।[९]

धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना द्वारा उपस्थापित अनुभूति अनेक कोटियों की हो सकती है: मुख्यतः बौद्धिक तथा आवेगात्मक सत्ता या सत्ताओं से सम्बन्धित; अथवा मूल्यात्मक। उस चेतना का विषय एक ऐसी कारण-सत्ता भी हो सकती है जो सुख और दुख उत्पन्न करती है, और एक ऐसी दुनिया भी जिसमें सुख-दुख के उपादान संचित हैं। उस दशा में उक्त चेतना का विषय भय तथा आतंक की संवेदना उत्पन्न करता है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान का विश्वरूप देखकर अर्जुन के मन में कुछ ऐसा ही भय-संचार हुआ था। इसके विपरीत धार्मिक चेतना का विषय अपने को सब प्रकार के सौन्दर्य तथा कल्याणमय गुणों के आश्रय के रूप में भी उपस्थित कर सकता है; वैसा विषय उपासना तथा प्रशंसा की भावनाएँ जगाता है। यह भी सम्भव है कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय शक्ति, शील, सौन्दर्य तथा उदात्तभाव के साथ - साथ कृपाशीलता तथा रौद्र भाव का आधार भी प्रतीत हो।

इन भिन्नताओं को सामने रखते हुए यह सम्भव नहीं दीखता कि मनुष्य की धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का कोई एक प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत कर दिया जाय। किन्तु डा० ऑटो का विश्वास है कि विभिन्न युगों तथा देशों में पाई जाने वाली धार्मिक चेतना के विषय में कुछ गुण ऐसे पाये जाते हैं जो सार्वभौम हैं, जैसे शक्ति तथा विराटता,

रहस्यमयता और आकर्षण। आॅटो ने इन गुणों के समूह को एक नई धारणा में पिरोने का प्रयत्न किया है। यह धारणा विशुद्ध अथवा अतीन्द्रिय (Holy or Numenous) की धारणा है।[१०] किन्तु हमारा विचार है कि आॅटो का यह मन्तव्य उनके ही द्वारा प्राप्त किये हुए कतिपय निष्कर्षों के विरुद्ध पड़ता है। उदाहरण के लिये हमारा विश्वास है कि शकराचार्य की बौद्धिक रहस्य-भावना का वर्णन उक्त धारणाओं की मदद से नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म को निर्गुण कहा जाता है, वह किसी चीज का कारण नहीं हो सकता और न उस पर किसी प्रकार का प्रभाव ही पड़ सकता है। ब्रह्म को विराट अथवा उदात्त, या आकर्षण आदि गुणों का आधार कहना समुचित नहीं प्रतीत होता। शायद वेदान्त के ब्रह्म को हम एक ही तरह विशेषित कर सकते हैं, अर्थात् यह कह कर कि वह रहस्यपूर्ण है। आॅटो ने एक दूसरी बात भी कही है। उनके मत में धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का एक तत्व है, "निर्भरता की भावना" (Creature Consciousness) अर्थात् यह भावना कि मैं किसी स्रष्टा की सृष्टि हूँ, उस पर पूर्ण रूप से निर्भर हूँ। हमारा विश्वास है कि कोई भी अद्वैतवादी इस प्रकार की भावना का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह लगातार इस तथ्य पर मनन करता है कि मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म से अभिन्न हूँ। ल्यूबा नाम के लेखक ने ठीक ही लिखा है कि 'आधुनिक मनुष्य की अध्यात्म चेतना से भय तथा आतंक की संवेदनाएँ प्रायः बहिष्कृत हो चुकी हैं।'[११]

गुह्य शक्तिवाद ('मानाइज्म')

ऊपर हमने कहा कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय रहस्यपूर्ण जान पड़ता है और उसका धुंधला बोध ही हो पाता है। इसका कारण यह है कि उसका सामान्य अनुभव के विषयों से क्या सम्बन्ध है, यह निरूपित नहीं हो पाता। हम प्रायः एक जटिल अनुभूति को समझने के लिये उसे अनुभव-खंडों में विश्लेषित करते हैं, अर्थात् ऐसे मूल अनुभवों में जिनसे हम सुपरिचित हैं; किन्तु धार्मिक चेतना की विषयभूत सत्ता के सम्बन्ध में हम इस प्रकार का विश्लेषण तथा समन्वय नहीं कर पाते। हम यह नहीं देख पाते कि साधारण अनुभव के किन तत्वों से वह विषय उद्भूत तथा ग्रथित होता है। इसलिये हमें ऐसा जान पड़ता है कि वह विषय या सत्ता एक रहस्यपूर्ण ढंग से हमारे सामने उपस्थित हो गयी है, और वह तत्वतः रहस्यपूर्ण ही है। आदिम काल के धर्मों में उक्त विषय या सत्ता एक रहस्यपूर्ण शक्ति (Mana) के रूप में कल्पित की जाती है, बाद में यही शक्ति देवताओं, भूत-प्रेतों आदि का रूप धारण कर लेती

है। प्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री दुरखाइम ने लिखा है कि "माना" वह मौलिक तत्व है जिसमें से वे विविध सत्ताएँ निर्मित हुई हैं जिनकी विभिन्न धर्मों में विभिन्न कालों में पूजा होती आई है। तरह-तरह की आत्माएँ, दैत्य, भूत, प्रेत तथा देवता इसी शक्ति के विविध रूप हैं जिन्हें वह, व्यक्तित्व-सम्पन्न बनती हुई, धारण करती हैं।[१२] प्रारम्भ में धार्मिक चेतना ने जिन सत्ताओं का साक्षात्कार किया वे व्यक्तित्व-सम्पन्न देवता आदि थे अथवा एक निर्वैयक्तिक शक्ति, यह निश्चित करना हमारे लिये आवश्यक नहीं है। हमारे मन्तव्य की पुष्टि के लिये यह देख लेना काफी है कि धार्मिक चेतना का विषय सदैव रहस्यपूर्ण होता है और वह मनुष्य की अवचेतन सृजन-क्रिया द्वारा उत्सृष्ट किया जाता है। टाइलर ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह अलौकिक चेतन सत्ताओं में विश्वास है। यह परिभाषा इस बात पर गौरव देती है कि धर्म-चेतना की विषयभूत सत्ता की एक जीवित शक्ति के रूप में कल्पना की जाती है। किन्तु वह निर्वैयक्तिक शक्ति जिसे "माना" कहते हैं, भौतिक पदार्थों से उतनी ही सम्बन्धित है जितनी कि जीवित प्राणियों से। उदाहरण के लिये वह शक्ति जैसे राजाओं, न्यायाधीशों, वैद्यों आदि में प्रतिफलित मानी जाती है, वैसे ही ताबीजों, मूर्तियों आदि में भी। कुछ जातियों में "टोटेम" (निषिद्ध जन्तु अर्थात् वह जन्तु जिसे मारकर खाना निषिद्ध है) में भी वैसी शक्ति का होना माना जाता है। कहीं-कहीं ऐसे नियम होते हैं कि उन वस्तुओं को जिन में इस शक्ति की उपस्थिति मानी जाती है, स्पर्श नहीं करना चाहिए। वस्तुतः उस शक्ति के बारे में दोनों धारणाएँ पाई जाती हैं, यह कि वह कुछ चीजों को पवित्र बनाती है, और यह कि वह कुछ वस्तुओं को अपवित्र बना देती हैं। इसलिये एक लेखक ने कहा है कि 'टोटेम-पूजा वस्तुतः "माना" की उपासना का ही एक रूप है।'[१३]

परम श्रेय की कल्पना

अब हम धर्म-चेतना के व्यावहारिक रूप का विचार करेंगे। सदैव नहीं, फिर भी प्रायः ,यह समझा जाता है कि धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभव की विषयभूत सत्ता में कारण-शक्ति निहित रहती है। प्रायः उन सब धर्मों में जो एक या अनेक सत्ताओं की पूजा-उपासना करते हैं यह विश्वास पाया जाता है। किन्तु जैसा कि हम आग देखेंगे यह मन्तव्य उन दार्शनिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में सही नहीं है जो चरम तत्व की कल्पना एक निरपेक्ष, निर्गुण तत्व के रूप में करते हैं। यही बात बौद्ध धर्म के सम्बन्ध

में कही जा सकती है, क्योंकि बौद्ध मत एक चरम कारण अथवा स्रष्टा में विश्वास नहीं करता। किन्तु एक बात में दुनिया के सब धर्म समान मत रखते हैं। वे मानते हैं कि धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का विषय सब मूल्यों का अधिष्ठान होता है। धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन में उस चरम मूल्य के प्रति एक व्यावहारिक मनोभाव विद्यमान रहता है। यहाँ हम एक और बात कहना चाहेंगे। वह परम श्रेय जिसकी कामना धार्मिक-आध्यात्मिक साधना में निहित होती है, स्पष्ट रूप में निरूपित नहीं हो पाता, उसके स्वरूप का रहस्यमय आभास ही रहता है। मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के हर रूप और भूमिका में परम श्रेय रहस्यमय लक्ष्य के रूप में ही आभासित होता है। वह वस्तुतः जीवन की एक ऐसी संभावना होती है जिसे अवचेतन शक्तियाँ रहस्यमय रूप में प्रक्षिप्त करती हैं। इस मान्यता से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है; वह कोई भी विषय अथवा लक्ष्य जिसे हम बहुत स्पष्ट रूप में जानते हैं धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय नहीं हो सकता। मतलब यह कि धार्मिक-आध्यात्मिक साधना द्वारा प्राप्त होने वाला लक्ष्य सदैव रहस्यपूर्ण ही बना रहना चाहिए। सर जेम्स फ्रेज़र ने धर्म का वर्णन करते हुए कहा है कि वह उन शक्तियों को प्रसन्न करने की कोशिश है जिनके बारे में यह विश्वास रहता है कि वे मनुष्य से ऊँची हैं, और मनुष्य तथा प्रकृति की प्रगति पर नियन्त्रण रखती हैं।[१४] यह परिभाषा इस बात पर जोर देती हैं कि धर्म-चेतना के विषय की कल्पना मुख्यतः एक शक्ति अथवा कारण के रूप में की जाती है, जिसका प्रधान उपयोग उपासक की ज़रूरतों को पूरा करना है। हम इससे इनकार नहीं करते कि धार्मिक लोग इस प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रायः देवताओं की उपासना करते हैं। किन्तु हम यह मानने को तैयार नहीं है कि वैसी क्रियाएँ खास तौर से धार्मिक क्रियाएँ हैं। क्योंकि कुछ धार्मिक साधक ऐसे होते हैं—और अनेक दार्शनिकों तथा रहस्यवादियों की गणना ऐसे साधकों में होगी—जो ईश्वर तथा अन्य देवताओं को उस ढंग से प्रसन्न करने की कोशिश नहीं करते, और उनसे अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए प्रार्थना नहीं करते।

जिसे हम धार्मिक-आध्यात्मिक मनोभाव कहते हैं उसके मुख्य तत्व निम्न जान पड़ते हैं: एक उच्चतर गन्तव्य अथवा परम श्रेय की धुँधली चेतना; इस दुनिया के मूल्यों की अपर्याप्तता की चेतना जो कि विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति के अनुसार न्यूनाधिक तीव्र होती हैं; फलतः अपने वर्तमान जीवन से असन्तोष और उच्चतर लक्ष्य की ओर बढ़ने

की प्रेरणा तथा प्रवृत्ति। इस लक्ष्य को ईश्वर, निर्वाण, पूर्णत्व अथवा मोक्ष आदि नामों से पुकारा जाता है। यह सर्वविदित है कि भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मोक्ष की विभिन्न धारणाएँ पायी जाती हैं। उदाहरण के लिये वेदान्त और सांख्य के अनुसार मोक्ष का रूप एक है तथा न्याय-वैशेषिक के अनुसार दूसरा। रामानुज जैसे ईश्वरवादियों की मोक्ष-सम्बन्धी धारणा भिन्न ही है। इसी प्रकार बौद्ध निर्वाण का आदर्श हिन्दू धारणाओं से भिन्न है। मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में यह मतभेद इस मन्तव्य की पुष्टि करता है कि उस लक्ष्य के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अधूरी है। हमारी समझ में जीवन का धार्मिक-आध्यात्मिक लक्ष्य मानव-जीवन की वह उच्चतम सम्भावना है जिसकी किसी युग के सर्वाधिक संवेदनशील तथा विकसित व्यक्तियों अथवा विचारकों द्वारा कल्पना की जाती है।

नेति-नेति

यह लक्षित करने की बात है कि संसार के धार्मिक-दार्शनिक साहित्य में जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में प्रायः निषेधात्मक वर्णन पाये जाते हैं। दार्शनिक दृष्टि इस लक्ष्य को प्रायः चरम तत्व से समीकृत करती है। संसार के सभी रहस्यवादी सन्तों तथा दार्शनिकों ने यह मत प्रकट किया है कि परम ब्रह्म अथवा ईश्वर अवर्णनीय है, अर्थात् उसकी भावात्मक विशेषताओं का संकेत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का उल्लेख उपनिषदों में जगह-जगह पाया जाता है। दूसरे देशों के धार्मिक ग्रंथों में भी उनका अभाव नहीं है। उदाहरण के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म का निम्नलिखित निषेध-मूलक वर्णन मिलता है। 'वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, लाल नहीं है. . .उसमें छाया नहीं है, अँधेरा नहीं है. . . उसमें रस, गंध रूप, शब्द, गति कुछ भी नहीं है।'[१५] अन्यत्र ब्रह्म को नेति-नेति (ऐसा नहीं ऐसा नहीं) कहा गया है, जिसका मतलब यह कि ब्रह्म के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी दूसरी वस्तु के सदृश या समान है। इसी प्रकार केनोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म तक न वाणी पहुँचती है, न मन, न आँखें। उसके वर्णन का केवल एक ही उपाय है, यह कहना कि वह 'है'।[१६] इस ढंग का निषेधात्मक वर्णन निर्वाण का भी मिलता है; बौद्ध साहित्य में निर्वाण अक्सर चरम तत्व का पर्याय बन जाता है। उदाहरण के लिये अपने ग्रंथ 'माध्यमिक कारिका' के प्रारम्भ में नागार्जुन ने बुद्ध की इस प्रकार स्तुति की है:

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ।
यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम्
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम् ।

अर्थात् जिन पूर्ण बुद्ध ने विरोध और उत्पत्ति, उच्छेद और नित्यता, एकार्थता और नानार्थता, आगम और निर्गम से शून्य प्रपंच का उपशम करने वाले कल्याण-स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश किया था उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

अन्यत्र निर्वाण का वर्णन इस प्रकार है :

अप्रहीणमसंप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ।।

अर्थात्, "जो न राग आदि की हानिस्वरूप है, न किसी वस्तु की प्राप्ति-स्वरूप, न उच्छिन्न है, न शाश्वत, न निरुद्ध है और न उत्पन्न, उसे निर्वाण कहा जाता है।"

(**माध्यमिक कारिका**)

पाश्चात्य साहित्य में भी ईश्वर अथवा चरम तत्व के ऐसे वर्णन पाये जाते हैं। श्री स्टेस की पुस्तक "टाइम ऐण्ड इटरनिटी" के दूसरे अध्याय में कुछ ऐसे वर्णन एकत्रित किये गये हैं। श्री स्टेस ने उक्त अध्याय को शीर्षक दिया है, "निषेध-रूप परम तत्व", जो कि बड़ा सार्थक है।

धार्मिक साहित्य में धर्म-साधना के विषयभूत तत्व की रहस्यमयता का एक दूसरे ढंग से भी संकेत किया गया है। इस तत्व का वर्णन परस्पर-विरोधी विशेषणों अथवा विरोधाभासों के द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिये हम कठोपनिषद् में पढ़ते हैं : 'बैठे हुए वह दूर चला जाता है, सोता हुआ सर्वत्र चलता है। उस देवता को जिसमें हर्ष है भी और नहीं भी है, मेरे सिवाय कौन जान सकता है?'[१७] यह रोचक बात है कि शंकराचार्य ने अपने भाष्य में एक जगह बड़ी गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार किया है कि ब्रह्म को आनन्दमय भी कहा जा सकता है अथवा नहीं। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि निर्गुण ब्रह्म को हम आनन्दमय भी नहीं कह सकते।[१८]

निष्काम उदासीनता अथवा वैराग्य

धर्म-साधना का विषयभूत तत्व इस धरती से सम्बद्ध सत्ताओं तथा मूल्यों से भिन्न-रूप प्रतीत होता है। आध्यात्मिक अनुभूति का अर्थ एक ऐसे लक्ष्य अथवा तत्व की प्रतीति है जो ऐहलौकिक अनुभव का अतिक्रमण करता है। वह अनुभूति मनुष्य को ऐहिक जीवन से विरक्त करने वाली होती है। यही कारण है कि विश्व के धर्म-साहित्य में हम लगातार वैराग्यवाद की झलक पाते हैं। स्टेस का कथन है कि जहाँ ईश्वर अथवा परम तत्व का निषेध-मूलक वर्णन सभी धर्मों में पाया जाता है, वहाँ हिन्दू धर्म में उसकी प्रधानता है।[१९] हम यह मान सकते हैं कि स्टेस का यह कथन भारत के दार्शनिक साहित्य पर लागू होता है। किन्तु यह कहना गलत होगा कि वैराग्य-वाद का व्यावहारिक रूप खास तौर से हिन्दू धर्म की विशेषता है। नीचे हम "इमीटेशन आफ क्राइस्ट" पुस्तक से, जो कि ईसाई धर्म की एक लोकप्रिय पुस्तक है, कुछ उद्धरण देंगे, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ईसाई भक्त भी वैराग्यवाद को महत्व देते रहे हैं :[२०]

दुनिया के शोरगुल से जितना हो सके दूर रहो, क्योंकि दुनिया की चीजों की चर्चा, वह फिर चाहे कितनी ही शुद्धता अथवा सच्चाई के साथ की जाय, एक बड़ी बाधा है। वह हमें जल्दी ही अपवित्र करती है, और हम अहंकार के दास बन जाते हैं। (१।१०)

जब हम अपने लिये पूर्णतया मृत हो चुकेंगे, और अपने प्रति बिल्कुल ही आसक्ति नहीं रखेंगे, तब हम दैवी चीजों का स्वाद ले सकेंगे, और स्वर्गीय अनुभूति पा सकेंगे। (१।११)

बड़े सन्त लोग मनुष्यों के सम्पर्क से बचते थे। एक ने कहा : जब जब मैं मनुष्यों के बीच जाकर लौटा हूँ, मुझे लगा है कि मैं पहले से हीन बन गया हूँ। (१।२०)

खाना और पीना, सोना और जागना, परिश्रम तथा आराम करना, और दूसरी ज़रूरतों को महसूस करना, साधक व्यक्ति के लिये बड़े कष्ट का कारण होता है, उस साधक के लिये जो कि पाप से बचना चहता है... लेकिन धिक्कार है उसको जो अपने उस कष्ट को समझते नहीं। और अधिक धिक्कार है उन्हें जो इस दुःखपूर्ण अपवित्र जीवन से अनुराग करते हैं ... जब तक हम अपने इस दुर्बल शरीर को साथ लिये फिरते हैं, तब तक हम कभी भी पाप से नहीं बच सकते, और न अशान्ति और दुःख को ही बचा सकते हैं। (१।२२)

आध्यात्मिक शिक्षकों ने सदैव आंतरिक जीवन पर बल दिया है। कठोपनिषद् कहता है कि केवल वह धीर पुरुष आत्मा का प्रत्यक्ष करता है जिसकी दृष्टि भीतर की ओर मुड़ी हुई है, और जिसमें अमरत्व की कामना है।[२१] टामस केम्पिस भी कहते हैं 'वह जो कि भीतर का जीवन व्यतीत करता है, बाहर की चीजों को कोई महत्व नहीं देता ऐसे आध्यात्मिक साधक के लिये किसी खास स्थान अथवा समय की जरूरत नहीं होती ... कोई चीज मनुष्य के हृदय को उतनी अपवित्र नहीं करती जितना कि दूसरे प्राणियों के प्रति अशुद्ध प्रेम।'[२२] (२।१)

एक मानववादी की दृष्टि में इन उद्गारों का क्या तात्पर्य हो सकता है ?

हमरी समझ में परलोकवाद तथा वैराग्यवाद का अन्तरंग अभिप्राय दो प्रकार का है। पहली बात यह है कि साधक व्यक्ति में सदैव एक दैवी असन्तोष की ज्वाला जलती रहती है। वह उन सब चीजों के प्रति जो वर्तमान जीवन में उपलब्ध हो सकती हैं, असन्तोष का अनुभव करता है। वह सदैव उच्चतर और महत्तर का स्वप्न देखता रहता है, और धरती के जीवन की सीमाओं में विकलता का अनुभव करता है। मानव-प्रकृति में दो प्रकार की जरूरतें हो सकती है। एक का सम्बन्ध उसके अस्तित्व की रक्षा से होता है, और दूसरी का उसकी सृजनशील प्रकृति के विकास से। प्रथम कोटि की ज़रूरत सीमित होती हैं। उनकी संतुष्टि करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही ऊब महसूस करने लगता है। किन्तु दूसरी कोटि की जरूरतें असीम होती हैं, उनकी कभी सम्पूर्ण तृप्ति नहीं हो सकती। उनकी प्रेरणा से मनुष्य सदैव ऊँचे और अधिक ऊँचे स्वप्न देखता तथा उन्हें पूर्ण करता है। इस प्रकार की प्रेरणाओं की चरम परिणति मनुष्य की धार्मिक-आध्यात्मिक जरूरतों में प्रतिफलित होती हैं।

मनुष्य की वैराग्य-भावना तथा परलोकवाद का एक दूसरा अभिप्राय भी जान पड़ता है। मनुष्य उपयोगिता के क्षेत्र के प्रति—उस क्षेत्र के जहाँ साधन और साध्य हैं, जहाँ संघर्ष और उससे उत्पन्न होने वाली श्रान्ति है—असंतोष का अनुभव करता है। मानव-जीवन का लक्ष्य सृजनात्मक है; लगता है जैसे वह अपनी पशु-प्रकृति की सीमाओं से परेशान है, और उनका अतिक्रमण करना चाहता है। मनुष्य में ऊँचे तथा सुन्दर जीवन की कल्पना करने की शक्ति है, अपनी निम्न प्रकृति की वास्तविकता उसे कष्ट देती है। मनुष्य उस चेतना से पलायन करना चाहता है जो उसे छोटे-छोटे संघर्षों तथा प्रयत्नों में बाँध रखती है। हमारी सृजन-वृत्ति ऐसे क्षणों में उत्कलित

होती है जब हम उपयोगिता के क्षेत्र से विरत होते हैं। शायद इसीलिये आध्यात्मिक साधक "दुनिया के शोरगुल" से पलायन करना चाहता है।

सन्तों का चरित्र

उपयोगिता के निम्न क्षेत्र के प्रति उदासीनता सब प्रकार की सृजनशीलता की आवश्यक शर्त है। इतिहासकार ट्वाइनबी ने प्रतिभाशालियों के सम्बन्ध में कहा है कि उनकी जीवनचर्या में दो प्रकार की गति रहती है : वे अपने को समाज या दुनिया से विच्छिन्न कर लेते हैं, और फिर उसमें वापस जाते हैं। ट्वाइनबी का यह विचार सच जान पड़ता है, ऐसा कोई भी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति नहीं हुआ जिसने, अपना सृजनात्मक कार्य करने के लिये, अपने को दुनिया से अलग न किया हो। किन्तु अधिकांश प्रतिभाशालियों के जीवन में इस प्रकार का अलगाव कभी-कभी, तथा अव्यवस्थित ढंग से, अनुष्ठित होता है; किन्तु आध्यात्मिक साधक तटस्थता या वैराग्य का अभ्यास नियमित ढंग से करता है।

जिन्हें हम सन्त कहते हैं उनके चरित्र का स्वयं, उनकी तथा समाज की दृष्टियों से, क्या महत्व है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें सन्तों के चरित्र पर निकट से दृष्टिपात करना होगा। सन्त में जो तटस्थता तथा वैराग्य पाया जाता है वह निषेध-मूलक ही नहीं होता। सन्त अपने को उन चीजों के प्रति जो व्यक्तित्व को संकीर्ण बनाती हैं, जो एक को दूसरे मनुष्यों से संघर्ष में फँसाने वाली हैं, उदासीन बना लेते हैं। किन्तु विपरीत वस्तुओं के प्रति, जैसे पर-हित-चिन्तन, सन्तोष तथा स्वभावगत मधुरता, उनका भाव मैत्री तथा स्वीकार का होता है। सन्त-प्रकृति की प्रधान विशेषता है, संतुलित माधुर्य अथवा मधुर संतुलन। संत के स्वभाव में रागात्मक तत्व होता ही न हो, ऐसा नहीं है; हमारे अधिकांश सन्त और कवि, जैसे सूरदास, चैतन्य महाप्रभु और रामकृष्ण परमहंस, बड़े भावुक पुरुष थे। किन्तु यह ठीक है कि संत का आवेग दूसरे मनुष्यों के चंचल मनोवेगों से भिन्न कोटि का होता है। आध्यात्मिक सन्तुलन अथवा प्रसन्नता के लिये पतंजलि ने निम्न उपाय बतलाये हैं। साधक को दूसरों के सुख में मैत्रीपूर्ण सन्तोष होना चाहिए, दुःखियों के प्रति करुणा होनी चाहिए, धार्मिक लोगों के व्यापारों में आनन्द महसूस करना चाहिए, और पापी के प्रति उपेक्षा का भाव

रखना चाहिए।[२३] इन चार सद्गुणों पर बौद्ध दर्शन में भी ऐसे ही गौरव दिया गया है। जेम्स ने संत-प्रकृति के अनेक तत्वों का उल्लेख किया है जैसे : यह अटूट विश्वास कि एक आदर्श तत्व या शक्ति है जिसका हमारे जीवन से लगाव है; कष्ट-सहिष्णुता और शारीरिक सुख के प्रति वैराग्य; करुणा तथा परोपकार की प्रवृत्ति; सब के प्रति मैत्री की भावना, समस्त भय का अभाव; मधुर अनिर्वाच्य आन्तरिक शान्ति, इत्यादि।

कौन मनोवैज्ञानिक यह कहने का साहस करेगा कि सन्त का व्यक्तित्व, किसी भी दृष्टि से, वांछनीय नहीं है? समाज के लिये सन्त का कितना महत्व है इस सम्बन्ध में जेम्स कहते हैं कि संसार की भलाई के लिये वे सद्गुण जो सन्त में पाये जाते हैं नितान्त आवश्यक हैं।[२४] सन्त संसार की उपयोगिताओं तथा मूल्यों के प्रति उदासीन होता है; इस प्रकार की उदासीनता के बिना न न्याय ही हो सकता है, और न विवेकपूर्ण शासन। इसके बिना विज्ञान, कला आदि के क्षेत्र में कोई उन्नति नहीं हो सकती, और मैत्री, बन्धुभाव, देश-भक्ति, साहस आदि गुणों की भी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

कला, विज्ञान आदि में अभिरुचि रखते हुए, दुखी नर-नारियों की सेवा करते हुए, अव्यावहारिक दीखने वाले ऊँचे आदर्शों का सपना जगाते हुए संसार के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति सदैव से यह प्रमाणित करते आये हैं कि मनुष्य की सृजनशील आध्यात्मिक प्रकृति उसके पशु-सामान्य व्यक्तित्व से कहीं ऊपर है। मानवता की उन्नति की ओर ले जाने वाले प्रतिभाशालियों के इस जुलूस में सन्तों तथा धर्म-शिक्षकों का स्थान सदैव से सब से आगे रहा है।

समाज और आध्यात्मिकता

अभी दो महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देना बाकी है। प्रथमतः, धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का उन मूल्यों से क्या सम्बन्ध है जिनका लगाव हमारे ऐहिक जीवन से है? और दूसरे, धार्मिक आध्यात्मिक-चेतना जिन विषयों को उद्भासित करती है वे कहाँ तक तात्विक होते हैं? दोनो प्रश्न एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। उनके उत्तर भी एक-दूसरे से जुड़े हुए होंग। प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि दो नितान्त भिन्न कोटि के अस्तित्व-क्रम हैं, एक तो भौतिक अस्तित्व का क्रम है जो कालिक है, और दूसरा पारलौकिक अस्तित्व का क्रम है जो शाश्वत अर्थात् काल-प्रवाह के बाहर है। कहा गया

है कि इन दोनो अस्तित्व-क्रमों में कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई कथन या वाक्य उन दोनों के सम्बन्ध को बतलाता है तो वह प्रतीकात्मक रूप में सत्य होगा, शाब्दिक अर्थ में नहीं।[२५] स्टेस का विचार है कि धर्म तथा अध्यात्म की भाषा सदैव ही प्रतीकात्मक होती है, उसका उद्देश्य किसी वस्तु-सत्ता का वर्णन नहीं होता, उसका लक्ष्य जिज्ञासुओं तथा साधुओं के मन में ऊँची भावनाएँ जागृत करना होता है। उक्त अस्तित्व-क्रमों में इतनी अधिक दूरी है कि एक को दूसरे की दृष्टि से अतात्त्विक या मिथ्या कहा जा सकता है। भौतिक अस्तित्व-क्रम की अपेक्षा से दैवी अस्तित्व-क्रम को मिथ्या तथा भ्रान्त कहा जा सकता है, वैसे ही दैवी अथवा आध्यात्मिक क्रम की अपेक्षा से इस संसार को मिथ्या अथवा भ्रमपूर्ण कहना पड़ेगा।[२६] यह दूसरा मन्तव्य अद्वैत वेदान्त की एक प्रमुख मान्यता है।

किन्तु एक मानवतावादी ऐसे अस्तित्व-क्रम में विश्वास नहीं कर सकेगा जो परिचित, ऐहलौकिक जीवन का अतिक्रमण करता है। मानववाद के अनुसार मानवीय अस्तित्व एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जहाँ ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियाँ आकर इकट्ठी होती हैं। यदि ब्रह्माण्ड में कुछ ऐसी चीजें हैं जो मनुष्य के पर्यवेक्षण तथा कल्पना का अतिक्रमण करती हैं, तो उनका, मानव-अस्तित्व के लिये, कोई अर्थ नहीं हो सकता। मनुष्य कभी भौतिक प्रकृति-जगत को न समझ पाता यदि प्रकृति के व्यापारों का लगाव मनुष्य की रुचियों तथा पर्यवेक्षण से न होता। जिसे हम दैवी अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व-क्रम कहते हैं उसकी अभिव्यक्ति भी मनुष्य के उन स्वप्नों तथा आदर्शों में होनी चाहिए जिनकी वह सामान्यतः कल्पना किया करता है। दैवी अस्तित्व-क्रम तथा ऐहलौकिक, भौतिक अस्तित्व-क्रम में कोई विरोध नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे दोनों ही मानव-व्यक्तित्व में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। मनुष्य एक साथ ही भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो प्रकार के जीवन व्यतीत करता है।

वह तटस्थ उदासीनता जो मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की विशेषता है, उसकी प्रकृति के बाहर की चीज नहीं है। इस उदासीनता की कल्पना केवल निषेध-रूप में नहीं करनी चाहिए। ऐन्द्रिय सुखों तथा परिग्रह-भावना के प्रति किंचित उदासीनता के बिना, किसी प्रकार के आध्यात्मिक, सृजनशील जीवन से अनुराग नहीं हो सकता। किन्तु दोनो जीवन एक-दूसरे के निषेधक नहीं हैं। पतंजलि ने स्पष्ट बतलाया है कि योग के साधक में मैत्री, करुणा तथा मुदिता अर्थात् दूसरे के सुख में सन्तोष-भावना के गुण होने चाहिएँ। उनकी यह शिक्षा इस बात की द्योतक है कि योगी में भी करुणा

जैसे गुणों का होना आवश्यक है। मतलब यह कि जिसे हम उदासीनता तथा वैराग्य कहते हैं उसमें एक खास तरह का अनुराग भी निहित है।

आध्यात्मिक साधक में जो वैराग्य-भावना या उदासीनता पाई जाती है, उसका कुछ-न-कुछ अंश प्रत्येक ऊंची प्रकृति के मनुष्य में होता है। उस उदासीनता का एक मतलब यह है कि मनुष्य उन चीजों के लिये जो स्पष्ट ही सीमित मूल्यवाली हैं, ज्यादा परेशान हो। गुड़िया खो जाने से छोटी बच्ची नितान्त व्याकुल हो जाती हैं, किन्तु उस हानि का उसके माता-पिता पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। यह जानते हुए कि गुड़िया थोड़े मूल्य की चीज़ है, वे मन-ही-मन बच्ची की परेशानी को देखकर हँसते हैं। इसी प्रकार एक सन्त-प्रकृति शासक युद्ध में अपने बेटे की हार की खबर सुनकर अविचलित रह सकता है। बच्ची के पिता तथा उक्त शासक के मन में क्रमशः अपनी-अपनी सन्तति के लिये सहानुभूति हो सकती है, और वे उनका कष्ट दूर करने के लिये प्रयत्नशील भी हो सकते हैं किन्तु बिना आसक्ति के। सन्त का खास तौर से यह स्वभाव होता है कि जहाँ वह अपने व्यक्तिगत कष्टों के प्रति उदासीन होता है, वहाँ दूसरों के कष्ट के लिये बहुत संवेदनशील भी होता है। सन्तों का वर्णन करते हुए सन्त कवि तुलसीदास ने कहा है कि 'जैसे अंजलि में रखा हुआ फूल दोनों हाथों को समान रूप में सुगन्ध देता है, वैसे ही सन्त मित्रों तथा शत्रुओं दोनों की भलाई करते हैं'।[२७] अरण्यकाण्ड के अन्त में राम ने सन्तों के स्वभाव का वर्णन इस प्रकार किया है: 'वे अपनी प्रशंसा से संकुचित और दूसरों की प्रशंसा सुनकर सुखी होते हैं। शुद्ध स्वभाव के सन्त सब के सहज मित्र होते हैं; श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, करुणा उनके स्वाभाविक गुण हैं।' बौद्ध ग्रंथों में चार महत्वपूर्ण सद्गुणों का उल्लेख किया है जिन्हें ब्रह्म-बिहार कहते हैं; उनका पालन भिक्षुओं तथा साधारण गृहस्थों सब को करना चाहिए। ये सद्गुण वही हैं जिनका उल्लेख "योग-सूत्र" में है, अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। बौद्ध धर्म यह सिखलाता है कि हमें प्राणियों के प्रति प्रेम की भावना रखनी चाहिए। साधक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'उसका मन, प्रेम की भावना लिये हुए, एक दिशा में व्याप्त होता है, फिर दूसरी में, फिर तीसरी में, फिर चौथी में, और फिर समस्त ब्रह्माण्ड में; ऊपर, नीचे चारों ओर और सर्वत्र वह अपनी प्रेम-भावना को प्रसारित करता है, दूर तक, जहाँ माप की सम्भावना नहीं है'।[२८] जेम्स कहते हैं: जब हमें मदद की जरूरत होती है, उस समय हम सन्त की सहायता पर जितना भरोसा कर सकते हैं, उतना किसी दूसरे पर नहीं।[२९]

दुनिया की वस्तुओं के प्रति उदासीन होते हुए सन्त के मन में यह विश्वास विद्यमान हो सकता है कि इस संसार से श्रेष्ठतर कोई दूसरा जीवन-क्रम है; यह भी सम्भव है कि उसमें इस प्रकार का कोई विश्वास न हो, उसे सिर्फ इतना दिखाई देता है कि इस दुनिया की चीजों का मूल्य तथा महत्व सीमित है, अथवा उनमें महत्व नहीं है। पहली स्थिति में साधक सम्भवतः कुछ वैसे आवेगों तथा मनोभावों का भी अनुभव करेगा जिनका वर्णन ऑटो ने किया है। दूसरी स्थिति में भी वह उस मानसिक शान्ति को प्राप्त कर सकेगा जो व्यर्थ की दुश्चिन्ताओं तथा प्रयत्नों से विरत होने पर मिलती है। इस शान्ति-भावना को स्वयं में धार्मिक साधना का लक्ष्य कहा जा सकता है। फिर भी प्रायः धर्म-साधना के लक्ष्य की भावात्मक रूप में कल्पना की जाती है, और वैसी कल्पना उनमें भी पाई जाती है जो ईश्वर अथवा ब्रह्म में विश्वास नहीं रखते। बौद्ध धर्म एक ऐसा बड़ा धर्म है जो ईश्वर को नहीं मानता, किन्तु बौद्ध निर्वाण का अर्थ अस्तित्व का विनाश नहीं है, जैसा कि पहले लोग समझते थे। यह कहना कि निर्वाण का अर्थ विच्छेद या विनाश है, बुद्ध के अनुसार एक दुष्टतापूर्ण प्रवाद है।[३०] "सर्वसिद्धान्त-संग्रह" में लिखा है कि बुद्ध के अनुसार मुक्ति अथवा निर्वाण का अर्थ लगातार निर्दोष चेतन दशाओं का प्रवाहित होते रहना है।[३१] नागार्जुन का एक महत्व-पूर्ण वक्तव्य है कि 'संसार निर्वाण से किंचित् भी भिन्न नहीं है, और निर्वाण संसार से थोड़ा भी भिन्न नहीं है।'[३२] बौद्ध निर्वाण का अर्थ विश्व-चेतना (विश्व-सम्बन्धी चेतना) का विनाश नहीं है, उसका मतलब एक विशेष प्रकार की विश्व-चेतना का विनाश है। भगवद्गीता में यह सिखलाया गया है कि कर्मयोगी को उसी प्रकार जीवित रहना और बरतना चाहिए जैसे दुनिया के दूसरे लोग करते हैं। भेद यही होगा कि कर्मयोगी उदासीन एवं तटस्थ होगा, और निष्काम भावना से कर्म करेगा, जब कि दूसरे लोग सकाम कर्म करते हैं। वस्तुतः धार्मिक साधक का अनुराग उन निर्वैयक्तिक मूल्यों से होता है जिनका, उसकी कल्पना में, परम श्रेय से सम्बन्ध है। हम कह सकते हैं कि यह परम श्रेय मानव-जीवन की सृजनात्मक सम्भावनाओं का उच्चतम रूप ही है।

हमने ऊपर कहा था कि तथा-कथित अवचेतन की सृष्टियाँ अन्ततः चेतन जीवन में ही उद्भूत होती हैं। रहस्यवादी की अधिक से अधिक रहस्यपूर्ण उक्तियों का सम्बन्ध उसके सांस्कृतिक वातावरण तथा देश-काल के दार्शनिक विचारों से होता है। श्री जी० ए० को ने लिखा है कि 'जिसे हम रहस्यवादी अनुभूति कहते हैं, वह केवल उन शिक्षाओं को उद्भासित करती है जो रहस्यवादी को पहले मिल चुकी हैं।'[३३] इसका मतलब यह

हुआ कि रहस्यवादी की उक्तियों का उसके समाज के विचारों से बहुत-कुछ लगाव होता है। यही नहीं, किसी व्यक्ति का वैराग्य किस कोटि का और कितना शक्ति-पूर्ण होगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि उसने जीवन के किन-किन मूल्यों को जाना है । वैराग्य का अर्थ जीवन से घृणा तथा अलगाव नहीं है। ठीक तौर से मनुष्य का वैराग्य उन्हीं चीज़ों के प्रति हो सकता है जिनकी कमियों अथवा सीमित महत्व का उसने अनुभव किया है। वस्तुतः वैराग्य जीवन से पलायन नहीं है। जीवन के मूल्यों की उपलब्धि का प्रयत्न करते हुए ही हम में उनके प्रति उदासीनता की भावना जगती है। जीवन-मूल्यों के प्रति वैराग्य वास्तव में उच्चतर मूल्यों के प्रति आसक्ति का द्योतक है। मीमांसकों की यह शिक्षा कि संन्यास लेने से पहले मनुष्य को जीवन की विभिन्न स्थितियों से होकर गुज़रना चाहिए, संन्यास से पहले गृहस्थ में रह चुकना चाहिये, यह प्रमाणित करता है कि उक्त विचारकों की मानव-प्रकृति में गहरी अन्तर्दृष्टि थी।

आध्यात्मिक अनुभूति की प्रामाणिकता

प्रश्न किया जा सकता है कि आध्यात्मिक अनुभूति कहाँ तक प्रामाणिक होती है ? जर्मन विचारक फ़कनर तथा अंग्रेज़ दार्शनिक सेमुएल एलेक्जैण्डर ने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए एक नये ढंग का तर्क दिया है। उनका कहना है कि हमारे भीतर किसी की उपासना करने की आवश्यकता महसूस होती है। जिस प्रकार हमारी अन्य क्षुधाएँ, जैसे कि भोजन तथा काम-वासना से सम्बन्धित ज़रूरतें, यह सिद्ध करती हैं कि उन्हें पूरा करने वाले पदार्थों की सत्ता है, वैसे ही उपासना की ज़रूरत यह सिद्ध करती है कि कोई उपास्य सत्ता अथवा देवता है।[३४] किन्तु हमें यह युक्ति समीचीन नहीं जान पड़ती। यह नहीं कहा जा सकता कि सब मनुष्य अपने भीतर उपासना करने की प्रवृत्ति का अनुभव करते हैं। किन्तु धार्मिक-आध्यात्मिक संवेदना में एक दूसरी कोटि की प्रामाणिकता की उपस्थिति मानी जा सकती है। जहाँ तक उस संवेदना का अर्थ जीवन के मूल्यों के प्रति एक खास कोटि का मनोभाव है, वहाँ तक उस संवेदना की उपस्थिति ही उसका प्रमाण है। हम यह पहले ही संकेत कर चुके हैं कि हमारी सौन्दर्य-भावना तथा उससे सम्बद्ध आवेगात्मक स्थितियाँ एक विशेष अर्थ में प्रामाणिक होती हैं। कवि अथवा कलाकार हमारे मन में जिन कल्पना-मूलक मनोदशाओं को जगता है, उनकी प्रभावपूर्ण अनुभूति ही उन्हें प्रामाणिक अथवा यथार्थ बनाती है। यह ज़रूरी नहीं है कि ये दशाएँ तभी प्रामाणिक मानी जायं जब वे सब मनुष्यों में समान रूप में

उत्पन्न हों। एक ही वस्तु-सत्ता के सम्बन्ध में विभिन्न कलाकार विभिन्न कोटियों की अनुभूतियाँ प्रकट करते हैं, और वे सभी अनुभूतियाँ एक साथ यथार्थ अथवा प्रामाणिक होती हैं। कालिदास के प्रेम-काव्य तथा शेक्सपियर के प्रेम-काव्य में विशेष समानता नहीं है, फिर भी वे दोनो साथ-साथ विश्वसनीय तथा प्रामाणिक हैं। इसी प्रकार यह ज़रूरी नहीं है कि विभिन्न सन्तों और साधकों का आध्यात्मिक अनुभव एक दूसरे के समान ही हो। साधु शान्तिनाथ ने अपनी पुस्तक "एक सत्यान्वेषी के अनुभव" (Experiences of a Truth-seeker) में लिखा है कि उन्हें यह विश्वास नहीं रहा कि समाधि की दशा में हमें सत्य का साक्षात्कार होता है, क्योंकि समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेने वाले विभिन्न योगी सत्य के सम्बन्ध में अलग-अलग मत प्रकट करते पाये जाते हैं।[३५] सत्य के सम्बन्ध में योगियों द्वारा दिये हुए वर्णन एक-दूसरे से भिन्न होते हैं और उस विवरण के रूप बहुत-कुछ विभिन्न योगियों द्वारा प्राप्त शिक्षा द्वारा निर्धारित होते हैं।[३६] साधु शान्तिनाथ की इस राय से हम सहमत नहीं है। मानव-प्रकृति में अनेक सृजनात्मक सम्भावनाएँ निहित हैं, इसलिये मनुष्य अपनी उच्चतम की कल्पना अनेक रूप में कर सकता है। ये विभिन्न रूप सब-के-सब एक साथ प्रामाणिक हो सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि विभिन्न कवियों द्वारा लिखे हुए भिन्न प्रेम-काव्य, अथवा उनके विभिन्न सौन्दर्य आदि के वर्णन, एक साथ ही सही तथा प्रामाणिक होते हैं। वस्तुतः प्रेम अथवा सौन्दर्य की अनुभूति परिमाण में अपरिमित होती है, और वह अपने को असंख्य रूपों में व्यक्त कर सकती है। इसी प्रकार समाधि की अनुभूति भी अपने को विभिन्न रूपों में मूर्त तथा प्रकाशित करे, तो हमें आश्चर्य न होना चाहिए।

आदिम धर्म

सिद्धान्त में हम यह मान चुके हैं कि धर्म के आदिम तथा विकसित रूपों में अविच्छन्नता होनी चाहिए। किन्तु हम अभी तक यह नहीं दिखा सके हैं कि विकसित आध्यात्मिक चेतना में जो तत्व होते हैं वे आदिम धार्मिक चेतना में भी पाये जाते हैं। जान पड़ता है कि इस सम्बन्ध में हमें निराश होना पड़ेगा। नर विज्ञान के पंडितों ने आदिम धर्म के सम्बन्ध में जो तथ्य इकट्ठे किये हैं वे हमारी विशेष मान्यता के विरोधी जान पड़ते हैं।

इस विभिन्नता या विरोध के दो पहलू हैं। प्रथमतः नर-विज्ञान ने यह कोशिश की है कि तथा-कथित धार्मिक जीवनके तथ्यों का समावेश उपयोगी जीवनके क्रममें कर ले;

दूसरे उनका विश्वास है कि आदिम धर्म एक प्रकार का मिथ्या विज्ञान है, अथवा वह विज्ञान या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास में एक सीढ़ी मात्र है। इस दूसरी दृष्टि से यह अनुगत होता है कि धर्म नाम की वस्तु क्रमशः मानव-जीवन तथा सभ्यता से विलुप्त हो जायगी।

फ़्रेजर के अनुसार धर्म में दो तत्व होते हैं: एक चिन्तनात्मक और दूसरा व्यावहारिक। एक ओर तो धर्म में मनुष्य से उच्चतर अलौकिक शक्तियों में विश्वास रहता है; और दूसरे, उन शक्तियों को प्रसन्न करनेके लिये तरह-तरह के अनुष्ठान किये जाते हैं।[३७] मनुष्य देवताओं को प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न करता है क्योंकि उसे यह विश्वास रहता है कि देवता लोग उसके हितों को आगे बढ़ा सकते हैं। मैलिनाउस्की का कथन है: 'यह सिद्ध किया जा सकता है कि धर्म का मनुष्य की मूल, जैवी आवश्यकताओं से आन्तरिक सम्बन्ध रहता है, यद्यपि यह सम्बन्ध सीधे दिखाई नहीं देता।' [३८] उनके मत में 'धर्म-चेतना विचार अथवा चिन्तन में उत्पन्न नहीं होती, न वह भ्रांत, ज्ञान में ही जन्म लेती है। उसका जन्म जीवन की यथार्थ, दुखपूर्ण स्थितियों में होता है, अर्थात् मनुष्य की योजनाओं और यथार्थ के विरोध में।'[३९]

फ़्रेज़र ने इस मन्तव्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि धर्म वैज्ञानिक दृष्टि के विकास में एक सोपान मात्र है। धर्म की उत्पत्ति जादू-टोने में होती है, और जब जादू-टोने से काम नहीं चलता, तो विज्ञान का उदय होने लगता है। मानव-चिन्तन का विकास, कुल मिलाकर, जादू-टोने से धर्म की ओर, और धर्म से विज्ञान की दिशा में हुआहै, इसलिये धर्म जहाँ वह प्रकृति की व्याख्या रूप होता है, क्रमशः विज्ञान द्वारा स्थानच्युत कर दिया जाता है।[४०] फ़्रेजर के अनुसार जादू, धर्म तथा विज्ञान तीनो विचारात्मक सिद्धान्त हैं, उनमें आधुनिक साइन्स ने बाकी दो को हटाकर जगह ले ली है।[४१] अपनी यह सम्मति देते हुए फ़्रेज़र महोदय योरप तथा अमेरिका के एक प्रतिनिधि विचारक के रूप में दिखाई देते हैं, जो वहाँ की प्रबल वैज्ञानिक परम्परा का उचित महत्व-ख्यापन करते हैं।

प्रसिद्ध मानस-शास्त्री फ़ायड भी धर्म को एक प्रकार की भ्रांति मानता है जो कि क्रमशः दूर हो जायगी। धर्म का जन्म मनुष्य की इच्छाओं में होता है। हर मनुष्य में एक इच्छा यह होती है कि उसकी रक्षा करने वाला एक पिता हो। ईश्वर की कल्पना भी प्रायः जगत-पिता के रूप में की गई है। एक दैवी शक्ति का दयामय शासन जीवन के

खतरों के समक्ष हमें निश्चिन्त बनाता है, तथा नैतिक व्यवस्था की स्थापना करके हमारी न्याय की माँग को पूरा करता है, ऐसी माँग जो मानवीय "संस्कृति" में प्रायः अपूर्ण रह जाती है; और धरती के अस्तित्व का परलोक में विस्तार करके अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिये देशकाल का आधार उपस्थित कर देता है।[४२]यहाँ हमें जर्मन दार्शनिक कान्ट के सिद्धान्तों की याद आती है। क्यों हमें ईश्वर, अमरता आदि में विश्वास करना चाहिए? कान्ट का उत्तर है : हमें ईश्वर को इसलिये मानना चाहिए कि विश्व में धार्मिक तथा अधार्मिक लोगों के प्रति पूर्ण न्याय हो सके। देखा जाता है कि पृथ्वी पर धार्मिक मनुष्य हमेशा सुखी नहीं होता, और सुखी लोग हमेशा धार्मिक नहीं होते। इस विषमता को मिटा देना ईश्वर का ही काम है। फ्रायड ने अपने मन्तव्य में एक दूसरी बात भी कही है ; धर्म का एक काम यह भी है कि वह मनुष्य की असामाजिक प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखे।

मैलिनाउस्की का विचार है कि मनुष्य की मूल जरूरतें उसकी दैवी प्रकृति से सम्बद्ध हैं। फ्रायड के अनुसार वे ज़रूरतें मनुष्य की मनोवैज्ञानिक तथा जैवी दोनों प्रकृतियों से सम्बन्धित हैं। किन्तु यह बात मैलिनाउस्की को भी स्वीकार है कि धार्मिक विश्वास जीवन को अग्रगति देने वाले होते हैं, और इस प्रकार उनका सांस्कृतिक महत्व होता है। अमरता का आश्वासन देकर धर्म मनुष्य को मृत्यु की भयावनी परिस्थिति में ढाढ़स या तसल्ली देता है। इस प्रकार धर्म मनुष्य को मृत्यु तथा विनाश की शक्तियों के द्वारा पराजित होने से बचाता है'[४३]'शरीर से भिन्न आत्मा में विश्वास का असली मूल मनुष्य की 'गहरी आवेगात्मक माँगों में, अर्थात् उसकी अधिकाधिक जीवन के लिय माँग में है।'[४४] जीवन की अभिलाषा, जीवन के अतिरेक की कामना को ही, हम सृजनशीलता कहते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि नर-विज्ञान मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदि के पंडित मनुष्य की इस मूल प्रेरणा को, जो मानव व्यक्तित्व की दूसरी समस्त प्रेरणाओं के साथ जुड़ी है, स्वीकार नहीं करते।

जिसे हम उदासीनता या तटस्थता कहते हैं वह अधिक जीवन की इच्छा का ही गुणात्मक पहलू है। महात्मा ईसा ने गरीबी की बड़ी प्रशंसा की है, लेकिन उन्होंने भी कहा कि 'मैं यहाँ इसलिये आया हूँ कि लोग जीवन पा सकें, और उसे प्रचुर मात्रा में पा सकें।' सृजनशील जीवन विभिन्न धरातलों पर जिया जा सकता है: ऐन्द्रिय धरातल पर, बौद्धिक धरातल पर और आध्यात्मिक धरातल पर। किन्तु धार्मिक-आध्यात्मिक मनुष्य जीवन की कामना उसके उच्चतम धरातल पर करते हैं। प्रश्न

है, क्या मनुष्य के आदिम जीवन में हम उस प्रकार की उच्चता की खोज जो वैराग्य तथा उदासीनता से सहचरित होती है, पा सकते हैं ? नर-विज्ञान ने जिन तथ्यों को उपस्थित किया है उनसे उक्त प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर नहीं मिल सकता। इसके दो कारण हैं: पहली बात तो यह है कि सब शास्त्रों की भांति नर-विज्ञान के प्रदत्त (Data) या तथ्य चयनात्मक होते हैं। नर-विज्ञान जिन अन्वेषण-पद्धतियों का उपयोग करता है उनके द्वारा मनुष्यों की वैयक्तिक भावनाओं का पता लगाना कठिन है। वह आदिम समाजों के बाहरी धार्मिक जीवन को देख सकता है, पर उस जीवन से सहचरित वैयक्तिक मनोभावों का उचित आकलन नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि नर-विज्ञान के पंडित प्रायः धार्मिक-आध्यात्मिक कोटि के लोग नहीं होते, और वे उस प्रकार की बौद्धिक तथा रागात्मक तैयारी भी नहीं कर पाते जो उच्चतर कोटि की धार्मिक-आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को समझने के लिये जरूरी है। कोई भी अन्वेषक अनुभव के उन क्षेत्रों के बारे में उचित प्रश्न नहीं पूछ सकता जिन क्षेत्रों से उसका परिचय नहीं है। एक तीसरा करण भी है। हमारे विकसित आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना के ज्ञान का आधार मुख्यतः रहस्यवादी सन्तों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ विस्तृत साहित्य है ; इस कोटि का साहित्य आदिम समाजों में एकदम ही उपलब्ध नहीं है।

फिर भी ज्यादा विचारशील नर-विज्ञानियों ने यह संकेत किया है कि आदिम धर्म-चेतना में भी वैयक्तिक अथवा निजी तत्व रहते हैं, यद्यपि उन तत्वों का स्पष्ट विश्लेषण नहीं किया जा सका है। मैलिनाउस्की ने लिखा है : 'जिस किसी ने धर्म-तत्व का गहरे, सच्चे रूप में अनुभव किया है वह जानता है कि आध्यात्मिकता के शक्ततम क्षण एकान्त में आते हैं, अर्थात् उस समय जब मन दुनिया से विमुख होता है और व्यक्ति संसार से हटकर ध्यान-मग्न होता है, न कि भीड़ की स्थिति में जहाँ मन उचटा हुआ रहता है। क्या यह सम्भव है कि आदिम धर्मों में इस प्रकार की एकान्त प्रेरणा का नितान्त अभाव हो ? कोई भी अन्वेषक जिसने आदिम मनुष्यों को सीधे सम्पर्क से जाना है और सम्बद्ध साहित्य का ठीक से अनुशीलन किया है, इस सम्बन्ध में संदिग्ध नहीं होगा। दीक्षा के समय नये व्यक्ति को सबसे अलग कर लेना, धार्मिक परीक्षणके क्षणों में व्यक्ति के निजी संघर्ष, एकान्त स्थलों में आत्माओं, देवताओं तथा अन्य शक्तियों से सम्पर्क, ये सब चीजें यह दर्शित करती हैं कि आदिम धर्म अक्सर एकान्त की चीज होता है।'[१४५]

विज्ञान, दर्शन और अध्यात्म: धर्म या मोक्षधर्म का भविष्य

मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास में धर्म का सम्बन्ध उसकी सभी महत्वपूर्ण क्रियाओं से रहा है: पौराणिकता तथा जादू से, अनुष्ठान और नैतिकता से, विज्ञान और दर्शन से, संगीत और स्थापत्य से, कला और साहित्य से। श्री हॉकिंग ने धर्म को "कलाओं की जननी"[४६] कहा है। यहाँ उन्होंने कला शब्द का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में किया है और उसमें ललित कलाओं, कानून, विज्ञान, नैतिकता आदि सभी का समावेश कर लिया है। वह कहते हैं कि धीरे-धीरे विभिन्न कलाओं ने अपने को धर्म से मुक्त किया है, और अलग-अलग, स्वयं अपने को लक्ष्य मानते हुए, विकास किया है—कला कला के लिये, विज्ञान विज्ञान के लिये, नैतिकता नैतिकता के लिये, इत्यादि। बर्ट्रण्ड रसेल के अनुसार प्रत्येक ऐतिहासिक धर्म के तीन पहलू रहे हैं, चर्च अथवा पुरोहित-मंडल, कतिपय अनुष्ठान, और व्यक्तिगत नैतिकता के नियम। इन तीनों ही रूपों में धर्म का विज्ञान से झगड़ा होता आया है।[४७] यह भी स्पष्ट है कि इस झगड़े में लगातार विज्ञान की जीत होती गई है, और धर्म की हार। इसलिये यह प्रश्न उठता है कि धर्म का क्या भविष्य है? अथवा, क्या धर्म का कोई भविष्य है? क्या धर्म नाम की वस्तु कुछ दिनों बाद तिरोहित ही नहीं हो जायगी?

यहाँ हम पाठकों को याद दिलायेंगे कि कुछ विचारकों के अनुसार स्वयं दर्शन भी, एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में, कालान्तर में तिरोहित हो जायगा। तर्क-मूलक भाववादियों ने अभी ही तत्वमीमांसा का निराकरण कर दिया है। उनसे पहले ऐंगेल्स ने अपनी "डुहरिंग निरास" (Anti-Duhring) पुस्तक में यह घोषणा की थी कि द्वन्दात्मक भौतिकवाद को विज्ञानों से भिन्न किसी दर्शन की जरूरत नहीं है। किन्तु इन निराशापूर्ण भविष्यवाणियों के बावजूद दार्शनिक चिन्तन चलता ही जा रहा है; हमारा विश्वास है कि इसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभव तथा संवेदना भी चलते ही रहेंगे। कारण यह है कि दर्शन और मोक्षधर्म दोनों का विषय जीवन के मूल्य हैं, न कि तथ्य; जब तक मनुष्य मूल्यों का अनुसन्धान करता रहेगा, जब तक वह दार्शनिक-आध्यात्मिक खोज से विरत नहीं होगा। दार्शनिक होने के नाते मनुष्य सम्पूर्ण मूल्य-क्रम को समझ लेना चाहता है; धार्मिक होने के नाते वह उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि कर लेना चाहता है।

विज्ञान और दर्शन तथा अध्यात्म में जो विरोध है उसे एक-दूसरे ढंग से प्रकट

किया जा सकता है। विज्ञान का काम है सब प्रकार के तथ्यों के अस्तित्व की व्याख्या करना। वैज्ञानिक व्याख्या मूलतः कारणवादी व्याख्या होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद का बौद्ध सिद्धान्त बतलाता है कि 'यह होने पर यह होता है, उसके उत्थित होने से उसका उदय होता है, उसके न होने से यह नहीं होगा, उसके विनाश से यह विनष्ट हो जाता है।'[४८] ये वक्तव्य वैज्ञानिक कथनों तथा निषेधों के सामान्य रूप को प्रकट करते हैं। उनमें कार्य-कारण-मूलक सम्बन्धों तथा अन्योन्याश्रित परिवर्तनों (Functional Relations) दोनों का समावेश हो जाता है। इसके विपरीत दार्शनिक वक्तव्य उन सम्बन्धों का उद्घाटन करते हैं जो तर्क-मूलक आधार (Ground) तथा उसके निष्कर्षों (Consequences) में होते हैं, और उन सम्बन्धों का भी जो दूसरे मूल्यात्मक मानों के प्रयोग में निहित हैं। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति के उदय में दार्शनिक कही जाने वाली प्रतीतियों का महत्वपूर्ण हाथ रह सकता है।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. विलियम जेम्स, द वेरायटीज आँव् रिलीजस एक्सपीरिएन्स, (द माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क), पृ० ५६।

२. वही, पृ० ८।

३. विलहैल्म वुण्ट, एथिक्स भाग १, द फैक्ट्स आँव् मॉरल लाइफ, (जार्ज एलेन और अनविन, लन्दन, तीसरा सं० मुद्रण १९२२), पृ० ५५।

४. ए० आर० यूरेन, रीसेन्ट रिलीजस साइकालॉजी, (टी० ऐन्ड टी० क्लार्क, एडिनबरा, मुद्रण १९२८), पृ० ७२।

५. वही, पृ० ७३।

६. जार्ज गैलोवे, द फिलासफी आँव् रिलीजन, (टी० ऐन्ड टी० क्लार्क, एडिनबरा, मुद्रण १९४५), पृ० ५७।

७. तु० की० 'अवचेतन चेतना का पृष्ठगर्भ (मैट्रिक्स) है, और उसमें नये जीवन की संभावनाएँ निहित रहती हैं।' ऐन इन्ट्रोडक्शन टु युंग'ज़ साइकालॉजी, (फ्रीडा फोरधेम, पैलिकन बुक्स, १९५३), पृ० २१।

८. रयूडाल्फ आटो, मिस्टिसिजम ईस्ट ऐन्ड वेस्ट, (मैकमिलन, न्यूयार्क, १९३२), पृ० १३९।

९. वही, पृ० ७०, १५१।

१०. दे० आटो, दी आइडिया आव् द होली।

११. यूरेन, वही, पृ० १६० ।

१२. यूरेन द्वारा उद्धृत, पृ० १८६ ।

१३. दे० ऐटकिन्सन ली, ग्राउन्ड वर्क ऑव् द फिलॉसफी ऑव् रिलीजन, (डकवर्थ, लन्दन, १९४६), पृ० १९ ।

१४. सर जेम्स फ़्रेज़र, द गोडेल्न बाउ, संक्षिप्त सं० (मैकमिलन, १९४७) पृ० ५० ।

१५. बृहदारण्यक, ३।८ ।

१६. दे० केनोपनिषद् १।३ तथा कठोपनिषद् २।६।१२ ।

१७. कठोपनिषद् १।२।२१ ।

१८. ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।९ ।

१९. दे० डब्ल्यू० टी० स्टेस, टाइम ऐन्ड इटर्निटी, (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, १९५२), पृ० ९ ।

२०. टामस ए कैम्पिस, दी इमीटेशन ऑव् क्राइस्ट, (कालिन्स, लन्दन और ग्लासगो), पृ० ४५, तथा आगे ।

२१. कठोपनिषद्, २।१।१ ।

२२. इमीटेशन ऑव् क्राइस्ट, २।१ (पृ० १०९)

२३. योगसूत्र, १ । ३३ ।

२४. द वैरायटीज़, इत्यादि, पृ० ३६८ ।

२५. टाइम ऐन्ड इटर्निटी, पृ० ७४ ।

२६. वही, पृ० ८६, १२३ और आगे ।

२७. रामचरित मानस, बालकाण्ड, दोहा ३ ।

२८. श्रीमती रिज डेविड्स के "डायलाग्ज़ ऑव् द बुद्ध" से क्रिस्टमस हम्फ्रेज़ द्वारा उद्धृत, बुद्धिज़्म (पैलिकन बुक्स, १९५२), पृ० १२५ ।

२९. जेम्स, वैरायटीज़, पृ० ३६१ ।

३०. राधाकृष्णन्, इन्डियन फिलासफी, भाग १, संशोधित सं० (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन, १९२९), पृ० ४५० ।

३१. राधाकृष्णन् द्वारा उद्धृत, वही, पृ० ४४८ ।

३२. माध्यमिक कारिका २५, १९ ।

३३. यूरेन, वही, पृ० २१२ ।

३४. फेकनर की युक्ति का संकेत श्री सी० ई० एम्० जोड की 'द रिकवरी ऑफ़ फेथ' (फेबर ऐन्ड फेबर, लन्दन, १९५२), में पृ० ९१ पर है। एलेक्ज़ेन्डर के मत के लिए देखिए स्पेस, टाइम ऐन्ड डीइटी (मैक मिलन, लन्दन, १९२०) भाग २, बुक ४,

अध्याय २ एलेक्ज़ेन्डर के मत में धार्मिक-आध्यात्मिक संवेदना के संकेतों को चिन्तन द्वारा विस्तृत करने से ईश्वर की धारणा मिलती है। किन्तु वह यह भी मानते हैं कि ईश्वरत्व का गुण सिद्ध पदार्थ नहीं है, अपितु सदैव भविष्य में उत्पन्न होने वाला गुण रहेगा। यह मत हमारी धारणा के निकट है।

३५. दे० साधु शान्तिनाथ, एक्सपीरिएन्सेज़ ऑव ए ट्रुथ सीकर, अवैद्यनाथ, गोरखपुर, अध्याय १५।

३६. वही, पृ० ४७९।

३७. जे० फ्रेज़र, वही, पृ० ५०।

३८. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् द शोसल सायन्सेज़, कल्चर, पृ० ६४२।

३९. वही।

४०. फ्रेज़र, वही, पृ० ७११, ७१२।

४१. वही, पृ० ७१२।

४२. सिग्मन्ड फ्रायड, द फ़्यूचर ऑव् ऐन इल्यूजन, (अं० अनु० होगार्थ प्रेस, लन्दन, १९२८), पृ० ५२।

४३. बी० मेलिनाउस्की, मैजिक, सायंस ऐन्ड रिलीजन, (द फ्री प्रेस, इलियानिस, १९४८), पृ० ३३।

४४. वहीं।

४५. वही, पृ० ३८।

४६. डब्ल्यू० ई० हाकिंग, द मीनिंग ऑव् गॉड इन ह्यूमैन एक्सपीरियेन्स, पृ० १३-१४।

४७. दे० बर्ट्रान्ड रसेल, रिलीजन ऐन्ड सायन्स, (होम यूनिवर्सिटी लायब्रेरी), पृ० ८

४८. मज्झिम निकाय से राधाकृष्णन् द्वारा उद्धृत, इन्डियन फ़िलॉसफी, भाग १, पृ० ३७१।

अध्याय ९

प्रेम और मैत्री : शिक्षा और राजनीति

अब तक हमने इसका वर्णन किया कि मनुष्य की सृजनशील आत्मा किस प्रकार अपने को कला, दर्शन, नैतिकता तथा धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना में अभिव्यक्त करती है। अब हम उन स्थितियों का विवेचन करगे जिनम मनुष्य की सृजन-वृत्ति अपने को चरितार्थ कर पाती है। वैसा करने के लिये हमें अध्यात्म की तटस्थ ऊँचाई से नीचे उतरना होगा, और फिर उस धरती के जीवन में प्रवेश करना होगा, जहाँ मानवीय सृजनशीलता का नाटक अहर्निश खेला जाता है।

आध्यात्मिक जीवन में जिस उदासीनता तथा वैराग्य की अपेक्षा होती है वह सांसारिक धन-सम्पत्ति के प्रति होता है, अथवा उसके नरनारियों के प्रति ? क्या आध्यात्मिक व्यक्ति में मैत्री और प्रेम की भावना होती है ? अथवा यह समझना चाहिए कि मैत्री और प्रेम की आध्यात्मिक जीवन से संगति नहीं बैठती ? यदि यह मान लिया जाय कि आध्यात्मिक जीवन आत्मा के जीवन का सर्वोच्च रूप है तो यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण बन जाता है कि उस जीवन में हमारे कतिपय महत्वपूर्ण आवेगों के लिये स्थान होता है या नहीं। प्रायः यह समझा जाता है कि संत लोग इस दुनिया के प्रति वैराग्य रखते हैं, और परलोक में अभिरुचि लेते हैं। जब टॉमस कैम्पिस ने यह कहा कि 'दुनिया के शोरगुल से भागो' तो वह इसी मनोवृत्ति को प्रतिफलित कर रहे थे। किन्तु सन्तों के जीवन का जो चित्र तुलसीदास जैसे लेखकों ने खींचा है, वह उतना निषेधात्मक नहीं है। जिन सन्तों तथा धर्म-शिक्षकों ने मानव-इतिहास को प्रभावित किया है वे अकेले में नहीं, बल्कि विश्व के नर-नारियों के बीच, रहते थे। महात्मा बुद्ध, ईसा, कबीर, नानक, दादू आदि इसी कोटि के संत थे। तुलसी जैसे भक्त कवि की गणना भी उन्हीं के बीच होनी चाहिए। कौन यह कहने का साहस करेगा कि इन महापुरुषों में मैत्री आदि के आवेगों का अभाव या कमी थी ? उनमें

से कुछ, जैसे सूरदास और तुलसीदास, संत बनने से पहले, एक दूसरे अर्थ में प्रेमिक रह चुके थे, अर्थात् सांसारिक अर्थ में। अपने प्रसिद्ध महाकाव्य "रामचरित मानस" में तुलसीदास ने जगह-जगह यह बतलाने की कोशिश की है कि भले लोग, खास तौर से राम के भक्त, संतों के साहचर्य में विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं। मतलब यह है कि संत-समाज में न केवल दूसरे सन्तों के लिये, बल्कि सब प्रकार के भले लोगों के लिये जगह रहती है। किन्तु सन्तों के आवेगात्मक जीवन की एक विशेषता परिलक्षित होती है : उस जीवन में इन्द्रिय-सम्बन्धी विकारों के लिये कोई स्थान नहीं होता। सन्तों की भावनाएँ तथा आवेग विशुद्ध आध्यात्मिक धरातल से सम्बद्ध होते हैं। इन्द्रियों के सुखभोग को सन्देह की दृष्टि से देखते हुए सन्त लोग प्रायः स्त्रियों के सम्पर्क से बचे रहना चाहते हैं।

सन्तों के चरित्र को यहीं छोड़कर हम पूछेंगे कि साधारण सांसारिक जीवन में प्रेम तथा मैत्री का क्या स्थान है? प्रेम किसे कहते हैं और उसकी ज़रूरत क्या है?

राल्फ लिन्टन नामक विचारक ने एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्य की एक बड़ी जरूरत यह है कि दूसरे लोग उसके प्रति मैत्री-मूलक आवेगों का प्रदर्शन करें।[१] सम्भवतः मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के मूल में यही ज़रूरत रहती है। अपनी शारीरिक जरूरतों के कारण छोटे शिशु को दूसरे मनुष्यों पर निर्भर होना पड़ता है, किन्तु बाद के जीवन में वह दूसरे मनुष्यों में जो रुचि लेता है उसका कारण केवल यह प्रारम्भिक निर्भरता ही नहीं है। इसी प्रकार हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ प्रेम की भूख की व्याख्या नहीं कर सकतीं, क्योंकि प्रेम का मनोभाव और उसकी आवश्यकता का अनुभव बहुत ही जटिल वस्तुएँ हैं।

जिसे हम सभ्य जीवन कहते हैं उसका आधार पारस्परिक सहयोग तथा सेवा-विनिमय है। इसमें सन्देह नहीं कि पारस्परिक सहयोग करने वालों में कभी-कभी मैत्री का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वैसा सम्बन्ध उत्पन्न हो ही जाय। आज के समाज में नर-नारियों का अधिकांश सम्बन्ध आर्थिक अर्थात् ठेके पर निर्भर बनता जा रहा है। आज सहयोग एक यान्त्रिक प्रक्रिया बन गई है जिसके द्वारा बहुत से मनुष्य, कुछ थोड़े मनुष्यों के निर्देशन में, एक अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने के लियें काम करते हैं। इस प्रकार के सहयोग के उदाहरण आधुनिक युग के किसी भी कारखाने अथवा कार्यालय में पाये जा सकते हैं। ऐसा भी

नहीं कि यह सहयोग एक ही समाज अथवा राष्ट्र के सदस्यों के बीच होता हो। आज मनुष्यों के सहयोग-मूलक कार्य का दायरा बहुत बढ़ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, यातायात, तथा डाक-वितरण जैसे क्षेत्रों में विभिन्न देशों के नागरिक अनजाने ही एक-दूसरे के हित के लियें सहयोग करते हैं। इन उदाहरणों से यह भी सिद्ध होता है कि एक-दूसरे को जाने बिना भी लोग परस्पर सहयोग कर सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि सभ्य जीवन के लियें प्रेम और मैत्री आवश्यक नहीं हैं। पुलिस का सिपाही और मैजिस्ट्रेट, जज और एसेम्बली का सदस्य, वज्ञानिक और इंजीनियर, बैंक का क्लर्क और कारखाने का श्रमिक, मैनेजर और विक्रेता ये सब, बिना सम्बद्ध लोगों को जाने, और बिना मैत्री आदि आवेगों के, अपने-अपने कार्य सुचारु रूप से अनुष्ठित कर सकते हैं।

हम मानते हैं कि प्रेम हमारे सृजनात्मक जीवन की आवश्यकता है, उस जीवन के प्रत्येक रूप और प्रत्यक स्तर की। प्रेम का सब से स्थूल रूप भौतिक प्रणय है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के मूल में क्या रहता है? सम्भवतः नर-नारियों का आकर्षण कभी विशुद्ध रूप में भौतिक नहीं होता। एक व्यक्ति दूसरे के प्रति आर्कषित होता है, इसीलियें नहीं कि वह भौतिक दृष्टि से सुन्दर है, बल्कि इसलियें भी कि उसके व्यक्तित्व में एक विशेष कोटि का आकर्षण है जो कि कतिपय आत्मिक, आवेगात्मक और बौद्धिक, गुणों में प्रतिफलित है। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रेम-पात्र के व्यक्तित्व में भौतिक सौन्दर्य भी एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। इस आकर्षण का मतलब क्या है? सामान्य रूप में आकर्षण के मूल में सम्बद्ध व्यक्ति का यौवन होता है। उपन्यासकार शरत्चन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है: सौन्दर्य का मतलब है प्रजनन की योग्यता, जब तक एक मनुष्य में प्रजनन की शक्ति बनी रहती है तब तक उसके व्यक्तित्व में यौवन-मूलक सौन्दर्य झलकता रहता है। प्रेम-पात्र के भौतिक आकर्षण का एक अर्थ यह है कि वह प्रेमिक की सृजनशील शक्तियों को उकसाने की क्षमता रखता है। तो क्या यह कहना चाहिए कि भिन्न लिंगों का पारस्परिक आकर्षण एक तरीका है जिसके द्वारा प्रकृति विशिष्ट जीव-योनि को कायम रखती है? यह वर्णन उचित हो सकता है, उसकी कमी यह है कि प्रकृति की प्रयोजनशीलता को एक रूपक के रूप में ही लिया जा सकता है।

हमारी दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रेमिक के मन में, प्रेम की अवस्था में,

किस प्रकार की भावना वर्तमान होती है ? वह अपनी ओर से क्या महसूस करता है, और स्वयं प्रेम-पात्र के सम्बन्ध में क्या महसूस करता है ? ये प्रश्न प्रेम के सभी रूपों और सभी स्तरों को लेकर उठाया जा सकता है।

प्रेमिक को जान पड़ता है कि उसकी प्रेमिका अतिशय रमणीयता अथवा मूल्यवत्ता का अधिष्ठान है। उसे लगता है कि वह अपने प्रेम-पात्र का समुचित वर्णन नहीं कर सकता। प्रेमिका के गुण उसमें तीव्र आकांक्षा उत्पन्न करते हैं। उसकी सुन्दरता और मधुरता, उसकी संवेदनशीलता और स्नेहशील प्रकृति, उसकी बुद्धि और चतुरता, उसकी आकर्षक चाल-ढाल और स्पष्ट व्यवहार, उसकी उच्च सदाशयता : ये सब चीजें प्रेमिक के अवधान तथा आकांक्षा का विषय बन जाती हैं। जिसे हम आकांक्षा या कामना कहते हैं, वह जीवन की बढ़ी हुई गति का प्रतीक है; इसी प्रकार प्रेम-भावना बढ़ी हुई जीवन-शक्ति की द्योतक है। किसी के प्रेम में होने की स्थिति बड़ी प्रिय तथा अर्थवती जान पड़ती है, उसके द्वारा प्रेमिक की समस्त वृत्तियाँ तथा संवेदनाएँ उत्तेजित हो जाती हैं। प्रेमिक चाहता है कि अपनी समस्त विशेषताओं को लिये हुए प्रेमिका उसकी बन जाय। **प्रेमिक में यह कामना होती है कि वह प्रेमिका की मोहक जीवन-प्रक्रिया में, भौतिक और आत्मिक दोनो स्तरों पर, साझीदार बन जाय।** एक रहस्यमय ढंग से प्रेमिका प्रेमी में नये जीवन-स्पन्दन को जागृत करती है। प्रारम्भ में भौतिक रूप में, और बाद में आवेगात्मक भूमिकाओं में, वह उसे अधिक जीवन्त बना देती है। सम्भवतः उच्चतम कोटि का प्रेम प्रेमियों के आध्यात्मिक धरातल को भी ऊँचा बना देता है।

यद्यपि सभी लोग प्रेम की आवश्यकता महसूस करते हैं, विशेषतः भौतिक प्रेम की, फिर भी कभी-कभी एक ऐसे व्यक्ति के जीवन में प्रेम का आविर्भाव हो जाता है जो उसे खोज नहीं रहा था। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रेम के सभी रूप जीवन-गति को तीव्र करने वाले होते हैं। यदि प्रेमियों का व्यक्तित्व सुसंस्कृत हो तो वे प्रेम द्वारा निश्चय ही मानसिक, और बाद में आध्यात्मिक, विस्तार का अनुभव करते हैं।

वे नर-नारी जो सांस्कृतिक दृष्टि से सृजनशील होते हैं, जैसे कलाकार और विचारक, प्रेम की आवश्यकता का विशेष अनुभव करते हैं। वे प्रायः ऐसे व्यक्तियों की ओर आकृष्ट होते हैं जिनसे उनकी अन्तः प्रकृति का सामंजस्य है। अपेक्षाकृत निष्क्रिय कोटि का प्रेमी प्रेमिका के सम्पर्क द्वारा अपनी जीवन-प्रक्रिया को तीव्र बनाने की आशा

से पुलकित होता है; इसके विपरीत सक्रिय कोटि का प्रेमी यह चाहता है कि प्रेमिका स्वयं उसके आत्म-प्रसार में सहायक हो। प्रथम कोटि का प्रेमी ऐसी नारी से प्रेम करने लगेगा जिसकी विशेषताएँ स्वयं उसकी क्षमताओं की पूरक हैं; दूसरी कोटि का प्रेमिक ऐसी प्रेमिका को खोजेगा जिसकी हृदय-बुद्धि उसके समान हो, और जो उसे प्रशंसा-मूलक प्रोत्साहन दे सके। एक ही प्रेमिक व्यक्तित्व में दोनो प्रकार की ज़रूरतें मौजूद हो सकती हैं। सम्भवतः प्रत्येक प्रेमी प्रेमिका से उक्त दोनों ही कोटियों का सहयोग तथा आदान-प्रदान चाहता है। किन्तु एक बात निश्चित है: सृजनशील प्रकृति का मनुष्य ऐसे ही साथी के साथ सुखी हो सकता है जो उसकी विशिष्ट योग्यताओं को समझ सके। एक संवेदनशील व्यक्ति केवल आदान से सन्तुष्ट नहीं होता, वह यह महसूस करना चाहता है कि उसके सम्पर्क से उसके साथी को कुछ मिल रहा है। इस प्रकार के व्यक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा होता है: मेरे साथी को यह अनुभव होना चाहिए कि हमारा सम्पर्क उसके लिये उपयोगी, महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है। जो व्यक्ति हमारे विशेष गुणों की सराहना कर सकता है, वह हमें सहज ही अपने से बाँध लेता है। अन्ततः हम उसी व्यक्ति से प्रेम कर सकते हैं जो हमारे व्यक्तित्व की विशेष क्षमताओं को आदर दे सके। प्रेम के सम्बन्ध में एक आवश्यक तत्व यह है कि प्रेमिक लोग एक-दूसरे को समझपूर्ण स्नेह का आधार दे सकें।

सृजनशील व्यक्तियों को वैसे आधार और स्नेह की बड़ी भूख होती है। स्नेह-मिश्रित आधार ही वह वस्तु है जिसे प्रेरणा कहते हैं। जो प्रेमिका प्रेमिक कलाकार अथवा विचारक को सहानुभूतिपूर्ण प्रशंसा दे सकती है, वह, उसके सृजन के श्रम को शान्त करके, उसे आगे सृजनशील होने की प्रेरणा देती है। प्रेमिका से प्राप्त समुचित प्रशंसा, उसकी स्नेहपूर्ण चिन्ता और सहायता, पुरुष की सृजन-क्रिया को अपेक्षित आधार देती और उसके विकास में सहायक होती है।

ऐसा जान पड़ता है कि प्रेम में कुछ निर्भरता का भाव रहता है। अपनी शान्ति तथा सुख के लिये प्रेमिक प्रेमिका पर निर्भर करने लगता है। उसे लगता है कि प्रेमिका के बिना वह निःशक्त तथा निःस्व हो जाता है। अपनी प्रेमिका के प्रति असली प्रेमिका मनोभाव होता है: मुझे तुम्हारी सख्त ज़रूरत है। प्रेमिका का प्रेमी के प्रति कुछ अंश तक वैसा ही भाव होना चाहिये जैसा कि मा का बच्चे के प्रति होता है। नितान्त निकटता के क्षणों में प्रेमिक को प्रेमिका के सम्मुख अपने विशुद्ध, साहाय्यापेक्षी रूप में उपस्थित हो सकना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि प्रेमिक में उचित स्वाभिमान

नहीं होना चाहिए, फिर भी अभिमान और प्रेम एक साथ नहीं चल सकते। प्रमिक में प्रेमिका के सम्पर्क द्वारा अपने जीवन को समृद्ध करने की अभिलाषा स्वाभिमान से तीव्रतर होनी चाहिए। और नारी में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह प्रेमिक को मातृत्व का संरक्षण दे सके।

इसका क्या कारण है कि केवल नारी ही पुरुष को प्रेरणा देती है? क्या इसका यह मतलब है कि शारीरिक धरातल की भाँति अन्य धरातलों पर भी पुरुष की सृजन-शीलता को उकसाने के लिये नारी की आवश्यकता होती है? अथवा यह कि उन दोनो की भिन्न क्षमताएँ उन्हें एक-दूसरे की ज़रूरतें पूरा करने के योग्य बना देती हैं? नारी चाहती है कि वह पुरुष के प्रयत्नों से लाई हुई भौतिक तथा दूसरी कोटि की सम्पत्ति को ग्रहण करें। सम्भवतः वह स्वयं इस योग्य नहीं होती कि सम्पत्ति के लिये सीधे संघर्ष करे। शायद वह स्वयं सृजन भी नहीं करती, केवल एक कोटि के सृजन को छोड़कर। पुरुष की तुलना में नारी, शायद, अधिक संतुलित, निश्चयात्मक तथा स्थिर प्रकृति की होती है। उसका स्नेह भी ज्यादा स्थायी होता है। सम्भवतः वह अपने प्रेमिक के माध्यम से ही सांस्कृतिक प्रगति में योग दे सकती है। वह पुरुष को प्रेरणा देती है, और उसके समर्पण को स्वीकार करती है। वह सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने प्रेमिक की दृष्टि से देखती है। सम्भवतः वह यह चाहती है कि उसके प्रेमिक की दृष्टि व्यापक हो, किन्तु वह स्वयं एक स्वतंत्र दृष्टि विकसित करने की आकांक्षा नहीं रखती। नारी ऐसे पुरुष को खोजती है जो भौतिक तथा सामाजिक धरातल पर उसका रक्षण करे, और उसके लिए संसार की समृद्धि, पद तथा शक्ति जीत कर लाये। सम्भवतः नारी स्वयं संघर्ष करके विजय करना नहीं चाहती, वह चाहती है कि उसका पति, पुत्र अथवा भाई विजय करे, और उस विजय में वह गर्व का अनुभव करे। नारी के सौन्दर्य और आकर्षण का एक ही लक्ष्य होता है : एक ऐसे पुरुष को वशवर्ती बना लेना जो जीवन भर उसके लिये, उसके अस्तित्व के रक्षण तथा प्रसार के लिये, प्रयत्न करता रहेगा।

नारी समर्थ अथवा पुरुषार्थी मनुष्य को पसन्द करती है; साथ ही यह भी सच है कि वह उसी व्यक्ति को प्रेम दे सकती है जो उसका स्नेहपूर्ण संरक्षण चाहता है। पति की अपेक्षा वह अपने बच्चे को ज्यादा प्यार करती है, और वह पति को वहीं तक प्यार कर सकती है जहाँ तक वह उस पर अपनी निर्भरता प्रकट करे। जो प्रेमिक नारी की मातृत्व-भावना को जागृत नहीं करता, वह उसे पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर सकता।

ऐसी नारी तब तक पूर्ण रूप से सुखी नहीं हो सकती जब तक उसके बच्चा न हो जाय।

सृजनशील कलाकार अथवा विचारक को प्रेम की ज़रूरत क्यों होती है? जान पड़ता है कि सृजन का श्रम तब तक दूर नहीं होता जब तक उसकी सृष्टि पर किसी की प्रेमपूर्ण दृष्टि न पड़े। भवभूति के "उत्तर रामचरित" में सीता ने इस बात को लेकर दुःख प्रकट किया है कि उनके उत्पन्न किये हुए शिशुओं को प्यार करने के लिए आर्यपुत्र (राम) मौजूद नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार कलाकार भी चाहता है कि उसकी सृष्टि पर उसकी प्रेमिका की स्नेहपूर्ण दृष्टि पड़े। ऐसा जान पड़ता है कि अपने विभिन्न सृजनशील रूपों में जीवन को सर्वत्र स्नेह की आवश्यकता होती है; मानव-जीवन अनवरत अपने अस्तित्व को दूसरों में प्रसारित करना चाहता है।

हमारी सर्वश्रेष्ठ सृष्टि स्वतःस्फूर्त होती है। किन्तु हमारा सृजन-प्रयत्न समाज द्वारा तब ही स्वीकार होता है जब वह अनुशासित तथा संगठित हो। प्रायः यह अनुशासन तथा संगठन उस जीवन-क्षण की आन्तरिक आवश्यकता होती है जिसकी सृष्टि किसी चित्र अथवा कविता, किंवा एक बौद्धिक सिद्धान्त-सूत्र के रूप में, की गई है। इस अनुशासन में गुजरते हुए कलाकार अथवा विचारक को एक प्रकार का आनन्द होता है। कभी-कभी वह अनुशासन अखरता भी है। हमारी सामाजिक जिन्दगी में लीकों तथा रूढ़ियों के रूप में बहुत-कुछ ऐसा अनुशासन रहता है जिसका अनुसरण निरर्थक तथा कष्टप्रद लगता है। समाज चाहता है कि हम अक्सर अपने ऊपर कृत्रिमता का लबादा डाले रहें, वह लगातार हमारे व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधक होता है। यही कारण है कि कलाकार, जो कि मनुष्य की सामान्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि होता है, समाज के अनुशासन और दबाव को असह्य पाता है। कलाकार की सृजनशील प्रकृति अक्सर उसे सामाजिक अनुशासन का उल्लंघन करने को उकसाती है। फलतः एक रूढ़िवादी समाज में लेखक तथा कलाकार अक्सर अकेलापन महसूस करते हैं। कलाकार नवीन सृष्टियाँ करता है, और वह चाहता है कि उन सृष्टियों के लिये कहीं उसे स्नेहपूर्ण अवलम्ब मिले, जिससे वह समाज में विच्छिन्न महसूस न करे।

किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि प्रेम की आवश्यकता केवल कलाकार को ही होती है। वस्तुतः प्रेम की भूख सार्वभौम है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक मनुष्य,

अपने प्रत्येक गतिलेश के लिये, किसी दूसरे के समर्थन तथा स्वीकृति की आवश्यकता महसूस करता है। प्रत्येक नर-नारी अपने जीवन में एक ऐसे व्यक्ति के प्रवेश की प्रतीक्षा करता है जो उसे पूर्णतया समझ सके, अर्थात् जो उसके व्यक्तित्व के बहुमूल्य गुणों को ठीक-ठीक पहचानकर उसे स्नेह दे सके। व्यक्तित्व के परिपूर्ण विकास अथवा प्रस्फुटन के लिये एक ऐसे साथी की उपस्थिति आवश्यक जान पड़ती है। हमें एक ऐसे साथी या मित्र की ज़रूरत रहती है जो हमारे व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार कर ले, जिसके सामने पहुँचने में हमें दुराव अथवा दम्भ की ज़रूरत न हो, जहाँ हम अपने असली रूप में, बिना किसी दिखावे के, प्रकट हो सकें और जो हमारे बौद्धिक-आत्मिक व्यक्तित्व को प्यार करते हुए भी उसके पशु-सुलभ पक्ष को घृणा की दृष्टि से न देखे। प्रत्येक मनुष्य में यह कामना रहती है कि वह कहीं पर अपने प्रकृत नग्न रूप में उपस्थित हो सके, उस रूप में जिसे वह सदैव समाज की आँखों से बचाता रहता है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने जिन ग्रन्थियों का उल्लेख तथा विवेचन किया है उनके उदय का मुख्य कारण वह तनाव है जो कि समाज की कृत्रिम रूढ़ियों तथा माँगों और सामान्य नैसर्गिक मानव-व्यक्तित्व की ज़रूरतों के विरोध से उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि प्रेम एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को व्याकुल विक्षिप्तता से बचाकर उसे स्वस्थ रखती है।

प्रेम और विवाह

प्रायः यह समझा जाता है कि प्रेम की तीव्रता और रोमान्स वैवाहिक बन्धन के विरुद्ध होता है। कीर्केगार्ड ने लिखा है : 'नारी के द्वारा अनेक मनुष्य प्रतिभासम्पन्न बन गये हैं, वीर पुरुष, कवि, अथवा सन्त; किन्तु उस नारी के द्वारा नहीं जिसे उन्होंने पा लिया, बल्कि उसके द्वारा जिसे वे नहीं पा सके थे।' तात्पर्य यह कि अप्राप्य अथवा अप्राप्त नारी का प्रेम मनुष्य को ऊँचाई पर ले जाने वाला होता है। इसका मतलब यह हुआ कि वह नारी जिससे मनुष्य विवाह करता है उसके विकास तथा उत्थान का कारण नहीं हो सकती। यह मन्तव्य चौंकाने वाला है, और मानव-सभ्यता की सबसे पुरानी संस्था, अर्थात् विवाह-संस्था, की हेयता घोषित करता है, । समस्या बड़ी जटिल है, और उस पर थोड़े में विचार करना बड़ा कठिन है। फिर भी इस सम्बन्ध में हम कुछ बातें कहना चाहेंगे। जैसा कि हमने कहा कि प्रेम और मैत्री का सम्बन्ध मनुष्य की सृजनशील प्रकृति से है, जीवन के उपयोगी पक्ष से नहीं। प्रेमी

लोगों में यह प्रवृत्ति होती है कि वे एक-दूसरे के सम्बन्ध में बड़ी ऊँची कल्पनाएँ करें, और एक-दूसरे के व्यक्तित्व को सौन्दर्य तथा दूसरे मूल्यों का अधिष्ठान मानकर चलें। गृहस्थ जीवन की असुन्दर ज़रूरतें प्रेमियों के रोमान्टिक स्वप्नों में हस्तक्षेप करती हैं, और उनके मनों से पारस्परिक आकर्षण हटाने लगती हैं। यह आकर्षण नष्ट न हो, इसके लिये दो उपायों का संकेत किया जा सकता है। प्रथमतः उन युवक-युवतियों को जो विवाह करना चाहते हैं, पति-पत्नी के भावी सम्बन्ध तथा गृहस्थ जीवन की ज़रूरतों के बारे में ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो उनमें यथार्थ-दृष्टि का उन्मेष कर सके। दोनो ओर केवल भौतिक आकर्षण को महत्व नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि उनमें कहाँ तक रुचियों तथा स्वभावोंकी समानता है। दूसरे, उनको यह देखना चाहिए कि अपनी विशिष्ट रुचियों तथा महात्वाकांक्षाओं के साथ वे कहाँ तक एक-दूसरे की ज़रूरत महसूस करते रहेंगे। हमारा अनुमान है कि स्थायी प्रेम उन्हीं पति-पत्नी के बीच कायम रह सकता है जो किसी निरुपयोगी सृजनशीलता के क्षेत्र में लगातार एक-दूसरे की सहायता की अपेक्षा करते रह सकते हैं।

हम प्रेम की परिभाषा दे चुके। किसी से प्रेम करने का अर्थ है उसकी जीवन-प्रक्रिया में साझेदार बनने की आकांक्षा, अथवा उसके जीवन-स्पन्दन को आत्मसात् करने की कामना। साथ ही प्रेमिक की एक दूसरी इच्छा भी होती है, अर्थात् अपने जीवन-स्पन्दन को दूसरे द्वारा ग्रहण तथा स्वीकृत कराने की आकांक्षा। परिपूर्ण प्रेम में ये दोनो तत्व रहते हैं, उसमें जीवन के सुन्दर, सप्राण स्पन्दनों का आदान-प्रादान रहता है। वह प्रेम जिसका आधार केवल शारीरिक आकर्षण और भोग है, स्थायी नहीं हो सकता। न वह प्रेम टिक सकता है जिसका आधार केवल सामाजिक सुविधा है। स्थायी प्रेम केवल उन दो व्यक्तियों के बीच रह सकता है जो लगातार एक-दूसरे को आकर्षक पाते हैं, और अनवरत एक दूसरे के आन्तरिक व्यक्तित्व को समृद्ध करते रह सकते हैं।

सच्चे प्रेमी जानबूझकर अपने को एक-दूसरे से छिपाने की कोशिश नहीं करते, वे लगातार यह प्रयत्न करते हैं कि अपने आन्तरिक व्यक्तित्वों को एक-दूसरे तक पहुँचा दें। वे निरन्तर एक-दूसरे को सुखी बनाने की कोशिश भी करते हैं। वह प्रेम जो इस प्रकार के कोमल सम्बन्ध-सूत्र के बदले प्रेमपात्र से पराजय-मूलक समर्पण चाहता है, असली प्रेम नहीं होता। वास्तविक प्रेम प्रेमपात्र के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को कुचलना नहीं चाहेगा। असली प्रेमी एक-दूसरे को समझने और पाने का प्रयत्न

करते रहते हैं, यह प्रवृत्ति एक-दूसरे को सुखी बनाने की इच्छा का आवश्यक परिणाम होती है। विशुद्ध प्रेम केवल यह नहीं चाहता कि प्रेमपात्र पर अधिकार करके उससे अधिकाधिक भौतिक सुख पा लिया जाय; उसकी मूल भावना यह होती है कि प्रेमपात्र के व्यक्तित्व का संरक्षण करते हुए उसकी समृद्धि और विकास में योग दिया जाय।

मैत्री का अर्थ एक ऐसा प्रेम-सम्बन्ध है जिसमें शारीरिक आकर्षण के तत्व विद्यमान नहीं होते। मैत्री का सम्बन्ध प्रायः एक ही लिंग के ऐसे सदस्यों में होता है जिनमें रुचियों आदि की समानता है। भिन्न लिंग के सदस्यों में विशुद्ध मैत्री का सम्बन्ध होना, अर्थात् ऐसा सम्बन्ध जिसमें शारीरिक आकर्षण मौजूद न रहे, कठिन होता है। इस प्रकार की मैत्री में यदि दोनो ओर से पर्याप्त आत्म-नियन्त्रण रखा जाय, तो वह सम्बन्ध उच्च कोटि की पारस्परिक प्रेरणा का स्रोत बन सकता है।

ऐसा जान पड़ता है कि सन्त तथा धार्मिक शिक्षक केवल मैत्री की भावना से सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी इस भावना का विषय सम्पूर्ण मानवता होती है। फिर भी वे उन लोगों के साथ ज्यादा निकटता का अनुभव करते हैं जो उनके शिष्य अथवा अनुयायी होते हैं। किन्तु सन्त की मैत्री-भावना में तटस्थ उदासीनता का ऐसा गहरा पुट रहता है कि वह प्रिय से प्रिय व्यक्ति के वियोग अथवा मृत्यु से भी विशेष विचलित नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि सन्त लोग, जो कि आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित होते हैं, अपनी शान्त तथा शुद्ध जीवन-प्रेरणा द्वारा दूसरों को लाभान्वित करने में तत्पर रहते हैं। वे स्वयं यह ज़रूरत महसूस नहीं करते कि दूसरों के जीवन-स्पन्दन में साझेदार बनकर अपने व्यक्तित्व का प्रसार करें। कलाकार अथवा विचारक की अपेक्षा सन्त की उदासीनता तथा तटस्थता ज्यादा पूर्ण होती है।

सारांश यह कि प्रेम और मैत्री सांस्कृतिक जीवन का आवश्यक अंग हैं। वे उस जीवन की आवश्यक हेतु स्थितियों को भी निर्मित करते हैं। भौतिक और आध्यात्मिक दोनो धरातलों पर प्रेम-सम्बन्ध सम्बद्ध व्यक्तियों की जीवन-क्रिया को समृद्ध करनेवाला होता है। सामान्यतः सभी प्राणी प्रेमानुभूति के क्षण में अतिस्तत्व-प्रसार का अनुभव कर लेते हैं; सृजनशील आध्यात्मिक क्रिया द्वारा आत्म-प्रसार की क्षमता थोड़े ही लोगों में पाई जाती है। प्रेम का मार्ग सबसे सीधा और सहज मार्ग है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के जीवन में प्रवेश करके उसका उपभोग, और इस प्रकार अपने अस्तित्व का प्रसार, करता है।

शिक्षा का आदर्श

अब हम दूसरा प्रश्न उठायेंगे : शिक्षा का लक्ष्य अथवा प्रयोजन क्या है, और संस्कृत जीवन के विकास में उसका क्या योग रहता है।

शिक्षा की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। कहा गया है कि 'शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वयस्क होता हुआ व्यक्ति समूह के जीवन और "संस्कृति" में प्रवेश करता है;[३] अथवा 'वह प्रक्रिया जिसके द्वारा समाज के ज्यादा अनुभवी सदस्य सीखने की क्रिया पर सोद्देश्य नियन्त्रण करते हैं;[४] अथवा 'समाज के वयोवृद्ध लोगों का वह प्रयत्न जिसके द्वारा वे आगे आने वाली पीढ़ी का जीवन अपने आदर्शों के अनुरूप ढालते हैं।'[५] पहली परिभाषा इस बात पर ज़ोर देती है कि शिक्षा का अर्थ, मुख्यतः, सांस्कृतिक विरासत का सम्प्रेषण है। दूसरी और तीसरी परिभाषाएँ इस बात पर गौरव देती हैं कि यह सम्प्रेषण एक चयनात्मक तथा नियन्त्रित क्रिया होती है। शिक्षा की ज़रूरतें और लक्ष्य क्या हैं, शिक्षा की नीति क्या होनी चाहिए, इसके सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता निम्न कारणों से पड़ती है। प्रथमतः मानवजाति के पूर्वजों से मिले हुए जानने तथा व्यवहार करने के रूप इतने अधिक हैं कि कोई एक व्यक्ति उन्हें समग्रता में आत्मसात् नहीं कर सकता। कोई भी बालक या वयस्क वे सब चीजें नहीं सीख सकता जो कि सम्पूर्ण मानवजाति को विदित हैं। दूसरे, विभिन्न बालकों तथा वयस्कों की रुचियाँ एवं क्षमताएँ अलग-अलग होती हैं। तीसरे, शिक्षा देने वाले अधिकारी (पुराने ज़माने में यह अधिकार चर्च को था, और अब राज्य को है) प्रायः यह चाहते हैं कि बालकों में खास तरह की आदतें तथा मनोभाव उत्पन्न हों, अर्थात् शिक्षार्थियों की मनोवृत्ति एक खास तरह की बने। सामूहिक रूप में मानवजाति ही नहीं आज का कोई भी समाज जितना जानता है उतना किसी एक व्यक्ति को नहीं सिखाया जा सकता। इसके अतिरिक्त समाज के सामूहिक जीवन में कुछ ऐसी आदतें, व्यवहार तथा मनोभाव भी पाये जाते हैं जो वांछनीय नहीं समझे जाते। एक और बात है। कुछ चीजों को सभी लोग वांछनीय समझते हैं, और कुछ को कुछ खास लोग। ऐसी परिस्थितियों में शिक्षक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह बालकों को वैसी चीज़ें सिखाये जिनके विरुद्ध समाज के अधिक प्रभावशाली वर्गों तथा व्यक्तियों को कोई आपत्ति न हो।

प्रश्न है : पूर्वजों से विरासत में मिले हुए ज्ञान-विज्ञान, मनोभावों, व्यवहारों तथा

आदतों की राशि में से उन चीजों का चयन किन दृष्टियों तथा मन्तव्यों के अनुकूल किया जाय जिनका सम्प्रेषण वांछनीय है ?

यहाँ हम आप का ध्यान एक चीज़ की ओर आकृष्ट करेंगे। प्रायः सभी यह मानते हैं कि शिक्षा व्यक्ति के लिये वांछनीय तथा उपयोगी होती है। प्रायः यह समझा जाता है कि अशिक्षित व्यक्ति से शिक्षित व्यक्ति अच्छा होता है; खास तौर से उच्च शिक्षा की उपलब्धि एक सौभाग्य समझा जाता है। बहुत-से समाजों में उच्च शिक्षा का लाभ थोड़े ही लोग उठा पाते हैं, वे व्यक्ति जो अपेक्षाकृत समृद्ध घरानों के होते हैं, अथवा वे प्रतिभाशाली छात्र जो अपनी योग्यता से छात्रवृत्ति (वजीफ़ा) आदि पा जाते हैं। इस दृष्टि से भारतवर्ष जैसे गरीब देश और ब्रिटेन, अमेरिका आदि समृद्ध देशों में केवल इतना अन्तर है कि जहाँ उन देशों में बहुत से वज़ीफे आदि उपलब्ध हैं, वहाँ हमारे देश में बहुत थोड़े विद्यार्थी उस प्रकार की सहायता प्राप्त कर पाते हैं।

मैं इस साधारण बात पर ज़ोर देना चाह रहा हूँ कि शिक्षा उनके लिये, जो उसे प्राप्त करते हैं, लाभप्रद तथा वांछनीय होती है। क्या इस परिस्थिति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य बच्चों तथा बड़ों में कुछ ऐसी क्षमताएँ उत्पन्न करना है जिनके द्वारा वे कतिपय श्रेयों का उपभोग एवं कतिपय मूल्यों की सृष्टि कर सकें ? यह आश्चर्य की बात है कि इस सम्बन्ध में शिक्षा-विशारदों में मतैक्य नहीं है। यह कहने का कि शिक्षा द्वारा शिक्षार्थियों को लाभ होता है, यह अर्थ नहीं कि उस प्रकार लाभ पहुँचाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। उदार जनतंत्रवादी विचारकों ने, जो कि व्यक्तित्व के मूल्य तथा महत्व पर जोर देते हैं, अवश्य ही इस बात पर गौरव दिया है कि शिक्षक को यह मानकर चलना चाहिए कि शिक्षार्थी बालक स्वयं में एक साध्य है, और उसकी शक्तियों का विकास अथवा उसके व्यक्तित्व की पूर्णता ही शिक्षा का लक्ष्य है। किन्तु सब लोग इस को स्वीकार नहीं करते। तानाशाही देशों में यह समझा जाता है कि राष्ट्रीय जीवन का चरम ध्येय मातृभूमि अथवा पितृभूमि का गौरव, अथवा एक विशेष प्रकार की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था को क़ायम रखना, है, जिसकी प्रतिष्ठा के लिये जीवन के बाकी मूल्य तथा क्रियाएँ होनी चाहिएँ। ऐसे देशों में प्रायः शिक्षा का उपयोग बच्चों को आज्ञाकारी तथा देशभक्त नागरिक बनाने में होता है। जहाँ उदारवादी विचारकों का कथन है कि 'सारा कल्याण अथवा श्रेय मानव-व्यक्ति का कल्याण या श्रेय होता है,'[६] वहाँ दूसरे लोगों ने इस बात पर जोर

दिया है कि व्यक्ति का कल्याण समाज-कल्याण से अलग नहीं किया जा सकता, और यह कि समाज के लिये व्यक्ति के हितों की उपेक्षा की जा सकती है।

मान लीजिए कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति का तथा समाज का लाभ होता है, तब यह प्रश्न उठता है कि वह लाभ या कल्याण है क्या? इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयत्न में शिक्षा-दर्शन, अज्ञात रूप में, जीवन-दर्शन में परिणत हो जाता है। जैसा कि प्लेटो समझते थे, व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में शिक्षा का सबसे ज्यादा हाथ रहता है। फलतः शिक्षक की जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। एक गलत शिक्षा-दर्शन को अपनाने का अर्थ होगा शिक्षा की एक गलत नीति को अपनाना, और यदि उस नीति का बहुत दिनों तक जोरशोर से अनुगमन किया गया, तो न केवल आज के समाज के कल्याण में व्याघात उपस्थित होगा, बल्कि भविष्य में भी उस समाज की सभ्यता तथा संस्कृति की प्रगति पर बुरा असर पड़ेगा।

इस प्रश्न का उत्तर देना कि शिक्षा का उद्देश्य क्या है, उतना ही कठिन है जितना कि इस दार्शनिक समस्या को सुलझाना कि जीवन का लक्ष्य क्या है। हम यह मानकर चल सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य किसी समाज के सदस्यों को इस योग्य बनाना है कि वह सुन्दर तथा सार्थक जीवन व्यतीत कर सकें; किन्तु स्वयं सार्थक तथा सुखी जीवन की परिभाषा क्या है? परलोकवादी तथा अध्यात्मवादी विचारक इस प्रश्न का जो उत्तर देंगे वह स्पष्ट ही भौतिकवाद के समर्थकों को ग्राह्य न होगा। इस सम्बन्ध में हम निम्न मानववादी मान्यता को स्वीकार करके बढ़ना चाहेंगे: आदर्श जीवन के विभिन्न वर्णन ऐसे होने चाहिएँ जिन्हें हम इस धरती के अनुभवों के आलोक में समझ सकें, और जिनकी उस जीवन की अपेक्षा में तुलना तथा व्याख्या हो सके।

अब हम श्रेष्ठ तथा वांछनीय जीवन, एवं श्रेष्ठ तथा वांछनीय शिक्षा, के सम्बन्ध में दो विरोधी आदर्शों को उपस्थित करेंगे। इनमें से प्रत्येक आदर्श विश्व-सम्बन्धी अनेक दार्शनिक दृष्टियों से, तथा अनेक शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों से, सम्बन्धित है।

प्रथम दृष्टिकोण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। मनुष्य नाम के प्राणी की बहुत-सी ज़रूरतें हैं, जिनमें से कुछ वही हैं जो पशुओं में भी होती हैं। इन ज़रूरतों की पूर्ति के लिये भौतिक परिवेश से प्राप्त होने वाली अनेक चीज़ों की ज़रूरत होती है। मनुष्य को अपनी ज़रूरत की सामग्री प्राप्त करने के लिये अपने भौतिक परिवेश का

वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना चाहिए। इस अध्ययन के लिये हमें अनुभवात्मक तथा आलोचनात्मक पद्धतियों का अवलम्ब लेना चाहिए। सावधानी से निरीक्षण तथा तर्क करते हुए ही मनुष्य अपने भौतिक परिवेश पर अधिकार प्राप्त कर सकता और उसे अपनी ज़रूरतों की पूर्ति का उपकरण बना सकता है; बैठे-बैठे मन-मोदक खाने से, अथवा अंडबंड कल्पनाएँ करने से, कोई लाभ नहीं है। शिक्षा वह उपकरण है जो व्यक्ति को अपने परिवेश पर नियन्त्रण करने के लिये तैयार करता है। मनुष्य की एक दूसरी आवश्यकता है, अपने को मानव-परिवेश के अनुकूल बनाना; इसके लिये यह आवश्यक है कि हम मनुष्यों, उनकी संस्थाओं, और मानव-इतिहास का अध्ययन करें। यहाँ भी हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम विशुद्ध रूप में वैज्ञानिक पद्धतियों का अवलम्ब लें, और सिर्फ़ उन्हीं निष्कर्षों को स्वीकार करें जिनकी समुचित परीक्षा हो चुकी है।

मनुष्य के जीवन की और उसके ज्ञान की सार्थकता उसके कर्म में है। इसलिये उस ज्ञान से कोई फायदा नहीं जो कर्म को प्रभावित नहीं करता। वस्तुतः मनुष्य के ज्ञान की उन्नति, उसकी कर्म-क्षमता की उन्नति के समानान्तर होती है। साधारण सूचनाएँ ज्ञान बन जाती हैं जब उनका मानव-हितों तथा रुचियों से सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है; और ज्ञान सत्य बन जाता है, जब कर्म द्वारा उसकी परीक्षा कर ली जाती है। बालक की शिक्षा का आधार तथा केन्द्र उसकी रुचियाँ होनी चाहिएँ, जिससे कि वह शिक्षा में रस ले सके। इसलिये शिक्षालयों के पाठ्यक्रम का केन्द्र विद्यार्थियों की क्रियाएँ होनी चाहिएँ।

मानव-जीवन में वर्तमान और उसकी ज़रूरतें ही महत्वपूर्ण हैं।' वह वर्तमान जो सतत प्रगतिमान है, हमारी रुचियोंका केन्द्र होता है। यदि इतिहास के अध्ययन को सार्थक बनाना है, तो उसके उन अंशों पर गौरव देना चाहिए जिनका, विद्यार्थियों द्वारा वर्तमान के लिये महत्व देखा जा सके।" वर्तमान से असम्बद्ध इतिहास व्यर्थ है। आज की दुनिया तेजी से बदल रही है। इस दुनिया में पुराने लोगों की बहुत-सी शिक्षाएँ व्यर्थ हो गई हैं। जैसा कि श्री व्हाइटहेड ने लिखा है:

पुराने लोगों के जीवन-विवेक में पुनरावृत्ति पर गौरव दिया है,.. अतीत में महत्वपूर्ण परिवर्तन एक मनुष्य के जीवन से कहीं ज्यादा लम्बे समय में होता था। फलतः मनुष्यों को यह शिक्षा दी जाती थी कि वे अपने को स्थिर जीवन-दशाओं के

अनुकूल बनायें। किन्तु आज परिवर्तन का काल एक मनुष्य के जीवन से कहीं ज्यादा छोटा हो गया है, इसलिये प्रशिक्षण (Training) ऐसा होना चाहिए जो व्यक्तियों को नव-नवीन परिस्थितियों का सामना करने के योग्य बना दे।[८]

शिक्षा-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण को हम सुविधापूर्वक, यद्यपि बहुत सही रूप में नहीं, वैज्ञानिक-यथार्थवादी दृष्टि कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण की सबल प्रतिध्वनियाँ, जिनमें न्यूनाधिक आशावाद तथा निराशावाद का मिश्रण होगा, प्राचीन तथा नवीन ऐसे अनेक विचारकों में पाई जा सकेंगी जैसे डिमोक्राइटस और एपीक्यूरस, होलवाश और डिडेरो, मार्क्स और एंगेल्स, हर्बर्ट स्पेन्सर, पैरेटो, ड्यूई, और रसेल। संक्षेप में यह दर्शन चाहता है कि हम वैज्ञानिक तथा व्यवहारवादी, बुद्धिवादी तथा यथार्थवादी बनें। यह दर्शन धार्मिक परलोकवाद तथा कल्पना-परक रोमान्स का विरोधी है।

हम अब दूसरी दृष्टि का प्रतिपादन करेंगे। इस दृष्टि को, सुविधा के लिये, हम नैतिक-सौन्दर्यात्मक-मानववादी कहेंगे। प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन युतांङ्ग ने लिखा है कि 'जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण मूल्यों का दृष्टिकोण है, न कि तथ्यों का।'[९] स्पष्ट ही जिन मूल्यों में हमारी रुचि होनी चाहिए वे मानव-मूल्य हैं, उनका आश्रय और अभिव्यक्ति का माध्यम मानव-जीवन है। वे वस्तुतः श्रेष्ठ अथवा वांछनीय जीवन के ही विविध रूप हैं। जैसा कि कवि पोप ने कहा है "मनुष्य के अध्ययन का उपयुक्त विषय स्वयं मनुष्य है।" दूसरे शब्दों में मनुष्य को विशेष रूप में यह जानने की इच्छा होनी चाहिए कि कैसे मानव-जीवन सुन्दर, सार्थक तथा श्रेष्ठ बन सकता है। उपनिषदों के ऋषियों ने यह शिक्षा दी थी कि 'अपने को जानो' (आत्मानंविद्धि) अपने को जानने का अर्थ केवल यही जानना नहीं है कि हम इस समय क्या हैं। उसे जानने के मानी यह भी हैं कि हम अपने जीवन की सम्भावनाओं को समझें, और यह जानें कि हमें क्या होना चाहिए। आत्मज्ञान का उचित अर्थ है उन समस्त बौद्धिक-नैतिक और सौन्दर्य-मूलक सम्भावनाओं को जानना जो मानव-जीवन में यथार्थ बनायी जा सकती हैं; उसका अभिप्राय है मानव-जीवन के उन क्षणों को जानना है जिनमें वह सप्राण तथा प्रशस्त रूप में, अस्तित्व के विभिन्न धरातलों पर वर्तमान रहा है। अपने को जानने का अर्थ है एक सुकरात की सचाई तथा साहस से, एक बुद्ध के गम्भीर प्रश्नों तथा त्याग से, और दान्ते, पेट्रार्क, शेक्सपियर, अथवा कालिदास के यक्ष के तीव्र आवेगों से परिचित होना।

यह काफ़ी नहीं है कि हम अपने परिवेश पर नियन्त्रण करें, अथवा धनी बन जायँ। मुख्य चीज़ वह नहीं है कि जो किसी मनुष्य के पास है, बल्कि वह जो कोई मनुष्य 'है' अथवा 'बन रहा है'। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य यह नहीं है कि मनुष्य की दूसरे मनुष्यों तथा वस्तुओं के ऊपर शक्ति बढ़ जाय। उसका उद्देश्य है व्यक्ति के अस्तित्व को उन सब चिन्तन तथा संवेदना की क्रियाओं में प्रसरित कर देना जो मानव-जाति के महान सदस्यों के जीवन का अंग रह चुकी हैं। धन और शक्ति को स्वयं अपने में साध्य नहीं समझना चाहिए, वे केवल साधन हैं जिनके द्वारा जीवन के सुन्दर तथा उच्चतर स्पन्दनों को प्राप्त करने की सुविधाएँ हासिल की जा सकती हैं।

इससे यह निर्गत होता है कि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य शिक्षार्थियों की मूल्य-भावना का विकास होना चाहिए, अर्थात् उनमें यह योग्यता उत्पन्न करने की कोशिश की कि वे चिन्तन, संवेदना तथा कर्म के उच्चतर एवं निम्नतर रूपों को एक-दूसरे से अलग कर सकें, और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को ऊँचा बना सकें। अपने से ऊँचे तथा श्रेष्ठतर व्यक्तियों के प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना भी शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। शिक्षार्थी लोग यह सीखें कि दूसरे मनुष्य स्वयं अपने में साध्य हैं, उनके अपने हित-साधन का उपकरण मात्र नहीं है। जैसी कि लिन युतांङ ने व्याख्या की है, 'कन्फ़्यूशियस के अनुसार किसी सभ्यता के मूल्यांकन का चरम मानदण्ड यह है: क्या वह अच्छे पुत्र, अच्छे भाई, अच्छे पति, अच्छे मित्र और **ऐसे अच्छे व्यक्ति जिनमें सूक्ष्म कोमल संवेदना इतनी विकसित है कि वे किसी का दिल नहीं दुखायेंगे,** उत्पन्न करती हैं?'[१०] शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये ऐसे व्यक्तियों, ऐसे पुत्रों, भाइयों, पतियों आदि को उत्पन्न करना। इसके अतिरिक्त शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिये **ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना जिनमें मानव-जाति की श्रेष्ठतम प्रवृत्तियां, उसके सुन्दरतम सपने और महत्तम प्रेरणायें, सृजनात्मक जीवन-क्रिया में पुनरुन्मेष पायेंगी।**

यह दृष्टिकोण दुनिया के कतिपय महानतम धर्म-शिक्षकों, दार्शनिकों तथा नीतिशास्त्रियों, मानववादियों तथा अमरग्रंथवादियों (Classicists) के मन्तव्यों को प्रतिफलित करता है। इसके समर्थकों या हामियों में हम प्लेटो और अरस्तू, कन्फ़्यूशियस, लाउत्से और बुद्ध, ईसा मसीह, कान्ट, गांधी और टॉलस्टाय जैसे दर्जनों महापुरुषों की गणना कर सकते हैं। यह दृष्टिकोण इस बात पर गौरव देता है कि मनुष्य की महत्ता उसके 'होने' में है, न कि उसमें जो उसके पास है, अथवा जो वह करता है, जब कि करने का अर्थ "भौतिक परिवेश को बदलना" हो।

प्रश्न है : क्या जीवन तथा शिक्षा से संबंधित इन विरोधी आदर्शों में सामन्जस्य स्थापित किया जा सकता है ? क्या कोई ऐसा दृष्टिकोण हो सकता है जिसमें इन दोनों की सचाई का समावेश हो सके ? ऐसा ही प्रश्न वैयक्तिक श्रेय तथा सामाजिक श्रेय और सामान्य शिक्षा तथा विशेषीकरण की समस्याओं को लेकर भी उठाया जा सकता है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि मनुष्य जिन मूल्यों की सृष्टि करता है उन्हें दो वर्गों में समावेशित किया जा सकता है, अर्थात् सभ्यता और संस्कृति में। सभ्यता उस चीज़ को कहते हैं जो मनुष्य की निषेधात्मक स्वतंत्रता, अर्थात् ज़रूरतों तथा अन्यायपूर्ण शासन से स्वतंत्रता, का विस्तार करती है; और संस्कृति उन क्रियाओं का नाम है जिनके द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व प्रसार पाता और समृद्ध होता है। सभ्यता और संस्कृति दोनों का संरक्षण मनुष्य का ही काम है; जिन्हें हम सांस्कृतिक क्रियाएँ कहते हैं, उनके अनुष्ठान के लिये सभ्यता का अधार आवश्यक है। इसलिये शिक्षक का कर्तव्य है कि वह छात्रों को सभ्यता तथा संस्कृति दोनों के संरक्षण तथा संवर्द्धन के लिये तैयार करे।

जैसा कि कहा जा चुका है सभ्यता दो प्रकार की प्रक्रियाओं का नाम है जिन्हें हम क्रमशः उत्पादन-तंत्र और संस्था-बद्ध जीवन कह सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य को, इच्छा या अनिच्छा से, इन दोनों प्रक्रियाओं में भाग लेना पड़ता है। वस्तुओं के उत्पादक तथा उपभोक्ता की हैसियत से प्रत्येक मनुष्य का सम्बन्ध औद्योगिक दुनिया से बन जाता है। गांधीजी ने, आदर्श रूप में, यह प्रतिपादित किया था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने खानपान की दैनिक ज़रूरतों की पूर्ति के लिये शारीरिक श्रम करना चाहिए। किन्तु उनका यह प्रस्ताव ग्राह्य नहीं जान पड़ता; बात यह है कि आजकल विद्या के हरेक क्षेत्र में विशेषीकरण की अथवा विशेष ज्ञान की ज़रूरत है। उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये इतना आवकाश चाहिए कि शिक्षार्थी खेत या कारखाने में काम करने के लिये समय नहीं पा सकता। आधुनिक सभ्यता को कायम रखने और चलाने का कार्य बड़ा जटिल है, और उसके लिये भौतिकशास्त्र, गणित, रसायनशास्त्र, इंजीनियरिंग, शरीर-शास्त्र आदि की विस्तृत जानकारी चाहिए जो कि पर्याप्त समय तथा शक्ति का व्यय किये बिना नहीं हो सकती। आज ज्ञान के क्षेत्र में इतना विस्तार हो गया है किसी एक विषय के सम्पूर्ण अंगों की जानकारी भी कठिन हो गयी है, अनेक विषयों की जानकारी की तो चर्चा ही क्या है। आज की सभ्यता विशेषज्ञों के बिना नहीं चल सकती।

किन्तु इन विशेषज्ञों के ज्ञान से मानवजाति तभी लाभ उठा सकती है जब वे उसके हित के लिये परस्पर सहयोग करें।

मतलब यह कि आज की दुनिया में विशेष ज्ञान अथवा विशेषीकरण (Specialization) नितान्त आवश्यक है। किन्तु इसके साथ यह भी ज़रूरी है विभिन्न विशेषज्ञों में सामाजिक -राजनैतिक जिम्मेदारी तथा सहयोग की भावना हो। उन सब को यह समझना चाहिए कि ज्ञान, अन्ततः, मनुष्य के सुख तथा प्रगति के लिये है। मनुष्य के सुख को महत्व देने का अर्थ है मानव व्यक्तित्व में निहित मूल्यों की अवगति। इसका मतलब यह हुआ कि वैज्ञानिक विशेषज्ञ को भी ऐसी शिक्षा की ज़रूरत है जिसके द्वारा वह मूल्य-जगत में प्रवेश कर सके। उसे यह जानना चाहिए कि जहाँ "जो है" का ज्ञान आवश्यक है, वहाँ यह जानना भी कम ज़रूरी नहीं है कि कौन-सी चीजें मूल्यवान तथा वांछनीय है। यह दूसरी कोटि का ज्ञान कुछ तो आन्तरिक आत्मानुभूति से मिलता है, और कुछ मानवीय विद्याओं द्वारा सुशिक्षित कल्पना-शक्ति से।

मूल्य-जगत में प्रवेश से हमारा क्या तात्पर्य है? वैज्ञानिक वस्तुओं का अध्ययन करते समय उनके तथ्यात्मक पहलू का ध्यान करता है, वह समझना चाहता है कि कोई चीज है क्या, वह यह जानने की कोशिश नहीं करता कि उस चीज़ में किस प्रकार के मूल्य निहित हैं। विभिन्न विज्ञान यह जानना चाहते हैं कि कैसे वस्तुएँ अस्तित्व में आती हैं, कैसे एक वस्तु दूसरी वस्तु को उत्पन्न करती है, और कैसे विभिन्न वस्तुएँ अथवा घटनाएँ एक-दूसरे को जन्म देती हैं। विभिन्न परिवर्तनीय वस्तुएँ किस प्रकार एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए आपस में सम्बद्ध होती हैं, इसे सही, मात्रा-निर्देशिनी भाषा में प्रकट करना विज्ञान का लक्ष्य है। और जब कि हम उन वस्तुओं तथा घटनाओं का प्रथम अन्वेषण करते हैं जो कि गति-रूप में घटित होती रहती हैं, उस समय हमारे सामने मूल्यों का प्रश्न उठता ही नहीं।

वह प्रश्न तब उठता है जब हम विभिन्न घटनाओं तथा कर्मों को मानवीय प्रयोजनों की अपेक्षा में देखते हैं। वैज्ञानिक यह अहंकारपूर्ण दावा करता है कि उसकी खास पद्धतियों द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान महत्वपूर्ण होता है। जब वह यह कहता है तो सामान्यतया यह संकेत देता है कि वैज्ञानिक जानकारी मनुष्य के लिये उपयोगी है। वायुयान, रेडियो, सिनेमा आदि विज्ञान की उपलब्धियाँ कही जाती हैं, किन्तु वे उपलब्धियाँ इसलिये है कि मनुष्य के लिये उपयोगी हैं। निष्कर्ष यह कि साइन्स या

विज्ञान को स्वयं अपने महत्व के मण्डन के लिये यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य और उसके प्रयोजन महत्वपूर्ण हैं।

यहाँ एक ज्यादा समझदार वैज्ञानिक कह उठेगा : ओहो ! आप की बात ठीक है; किन्तु विज्ञान का मूल्य केवल उपयोगिता में नहीं। ज्ञान के रूप में भी विज्ञान का महत्व है; वैज्ञानिक अन्वेषण में हम निरुपयोगी सौन्दर्यपूर्ण सामन्जस्य की खोज करते हुए विश्व के तथ्यसमूह का अनुचिन्तन करते हैं। उत्तर में हम कहेंगे कि शायद आप यह कहना चाहते हैं कि वैज्ञानिक अन्वेषण तथा चिन्तन, अज्ञात ढंग से, स्वयं उस व्यक्तित्व को महत्वशाली बना देता है जो अन्वेषण तथा चिन्तन कर रहा है। सम्भव है उक्त वैज्ञानिक इस मन्तव्य का विरोध करना चाहे। किन्तु हमारा विश्वास है कि वह विज्ञान के महत्व की कोई दूसरी व्याख्या नहीं दे सकेगा। विविध वस्तुएँ या तो साध्य-रूप में महत्वपूर्ण होती हैं, अथवा साधन-रूप में, अथवा दोनो रूपों में। वायुयान अथवा रेडियो साधन-रूप में मूल्यवान है। एक सुन्दर गीत द्वारा उत्पन्न किया गया मनोभाव स्वयं अपना साध्य है और इस प्रकार मूल्यवान है। स्वास्थ्य तथा वैज्ञानिक जानकारी साध्य-रूप तथा साधन-रूप दोनों तरह से मूल्यवान है। शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्ति में ऐसी योग्यताओं को उत्पन्न करना जिनके द्वारा वह विभिन्न मूल्यों की सृष्टि, सुरक्षा तथा उपभोग कर सके।

सबसे बड़ी बात यह है कि शिक्षार्थी में मानव-व्यक्तित्व के प्रति वास्तविक स्नेह, आदर तथा श्रद्धा का भाव उत्पन्न होना चाहिए, यह जानते हुए कि वह व्यक्तित्व असंख्य मूल्यात्मक संवेदनाओं, अनेक प्रकार की प्रतीतियों तथा कर्मों का, आश्रय है। विश्व-ब्रह्माण्ड में, हमारी दृष्टि से, कोई भी ऐसी मूल्यवान वस्तु नहीं है जो किसी-न-किसी रूप में जीवधारियों, विशेषतः मनुष्य के, सुख तथा आनन्द का साधन न होती हो। प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने कहा था कि 'ब्रह्माण्ड में मनुष्य की सत्संकल्प-शक्ति (Good Will) को छोड़कर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे निरपेक्ष रूप में भला या शुभ कहा जा सके।' हमारी राय में संकल्प-शक्ति के स्थान पर निम्न शब्द रख देने चाहिएँ : "मूल्यों की सृष्टि में लगा हुआ मानव व्यक्तित्व।" वैसा व्यक्तित्व ही विश्व-ब्रह्माण्ड की सबसे महत्वपूर्ण चीज़ है। प्रत्येक व्यक्तित्व स्वयं अपना लक्ष्य अथवा साध्य होता है; एक व्यक्तित्व दूसरों के लिये रक्षणीय तथा साध्य बन जाता है, जब वह ऐसे अर्थवान अनुभवों की सृष्टि करता है जिनका उपभोग दूसरे लोग भी कर सकें। किसी मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि दूसरों की उन क्रियाओं में हस्तक्षेप

करे जिनके द्वारा वे अपने व्यक्तित्व को समृद्ध तथा सुखी बनाते हैं, वह हस्तक्षेप उसी दशा में उचित हो सकता है जब वे क्रियाएँ दूसरों के समान प्रयत्नों में बाधा डालने वाली हों।

हमारे कर्मों का सामान्य लक्ष्य है, सचेत जीवन अथवा अनुभूति के वांछनीय रूपों की सृष्टि और प्रोत्साहन; शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य है, शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास। यह बात वैज्ञानिक शिक्षा के बारे में उतनी ही सही है, जितनी कि मानवीय विद्याओं के शिक्षण में। यह विकास किस प्रकार होता है? उत्तर है, दुनिया के महान लोगों की बौद्धिक तथा आवेगात्मक प्रक्रियाओं में साझेदार बनकर शिक्षार्थी अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इस वक्तव्य के स्पष्टीकरण की ज़रूरत है। पढ़ते समय शिक्षार्थी से यह कहा जा सकता है कि उसके पठन-पाठन का लक्ष्य का परिवेश पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। उससे यह भी कहा जा सकता है कि उसकी शिक्षा का उद्देश्य उसमें वह योग्यता उत्पन्न करना है जिसके द्वारा वह आगे वैज्ञानिक सत्यों का अनुसंधान कर सके। मतलब यह कि विद्यार्थी की रुचि को वैज्ञानिक अन्वेषण के उपयोगी पक्ष से भी सम्बद्ध किया जा सकता है, और उसके निरुपयोगी, सौन्दर्य-मूलक पक्ष से भी। उसके मन में यह धारणा भी पैदा की जा सकती है कि साइन्स का महत्व प्रकृति पर विजय तथा शक्ति-संचय में है, और यह धारणा भी कि वैज्ञानिक अन्वेषण एक आध्यात्मिक साधना है, जिसका उद्देश्य मनुष्य में ब्रह्माण्ड की मननात्मक चेतना उत्पन्न करना है। ज्ञान के उपयोगी पक्ष पर एक-दूसरे प्रकार से भी गौरव दिया जा सकता है: शिक्षार्थी से यह कहा जा सकता है कि परिश्रमपूर्वक पढ़ने से उसका जीवन सफल, अर्थात् संसार की दृष्टि से समृद्ध, बन सकेगा। इसमें कोई हर्ज नहीं कि शिक्षक और विद्यार्थी शिक्षा के सभी विभिन्न लक्ष्यों को, अथवा उससे मिलने वाले लाभों को, सामने रक्खें; किन्तु विद्यार्थियों के जीवन पर शिक्षा का चरम प्रभाव क्या पड़ेगा, तथा राष्ट्र की संस्कृति की गुणात्मक विशेषताएँ क्या होंगी, यह इस पर निर्भर करेगा कि शिक्षक-वर्ग शिक्षा के किस उद्देश्य पर अधिक गौरव देता है।

यहाँ एक कट्टर भौतिकवादी अधैर्य-पूर्वक कह उठेगा: 'मानव व्यक्तित्व की महत्ता के नाम पर शायद आप यह कहना चाहते हैं कि भौतिक विज्ञान और हमारी भौतिक सभ्यता की देन विशेष महत्वपूर्ण नहीं है? वैज्ञानिक सभ्यता ने हमें जो चीज़ें दी हैं उनके महत्व को कम करके शायद आप यह सिखलाना चाहते हैं कि हम फिर प्राचीन वैराग्यवाद तथा परलोकवाद को अपना लें?' हम इन अभियोगों को स्वीकार नहीं

करते। जब हम मानव व्यक्तित्व के विकास तथा हित की बात करते हैं तो हमें उसके भौतिक एवं आत्मिक दोनो पक्षों का ध्यान रखना चाहिए। हम स्वयं केवल इतनी बात कहना चाहते हैं कि भौतिक सम्पत्ति तथा सामग्री स्वयं अपने में महत्वपूर्ण नहीं होतीं, उनका महत्व मानव-व्यक्तित्व की अपेक्षा से ही है। इस सिद्धान्त का एक पहलू यह है कि समाज के एक हिस्से या वर्ग को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह दूसरे वर्ग या हिस्से को अपने हित-साधन का उपकरण मात्र बना डाले।

उक्त मान्यता का एक दूसरा पहलू भी है। मानव-व्यक्तित्व के विकास का यह अर्थ नहीं है कि हम अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को दबा डालें, या कुचल डालें; उसका मतलब सिर्फ यही है कि हम अपनी निम्नतर प्रवृत्तियों का इसलिये दमन अथवा नियन्त्रण करें कि हमारी उच्च प्रवृत्तियाँ ज्यादा विकसित हो सकें। व्यक्तित्व का विकास एक गुणात्मक धारणा है। उसका यही अर्थ हो सकता है कि हम क्रमशः निम्नतर तथा उच्चतर, घटिया और बढ़िया के, भेद को अधिकाधिक देखना सीखें, और उच्चतर चीजों को घटिया चीजों पर तरजीह दें। विवेकी मनु ने कहा है: 'न मांस-भक्षण में दोष है, न मदिरा में, न मैथुन में; ये सब मनुष्य की प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु उनसे निवृत्ति या बचाव बड़ा फल देनेवाला है।'[११] शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए विद्यार्थियों को उनकी बुद्धि तथा कल्पना के विकास द्वारा सोचने, महसूस करने और संकल्पों के उच्चतर रूपों से परिचित कराना जिससे वे स्वतः ही निम्नतर रूपों के प्रति उदासीन बन जायँ, और इन्द्रियों से सुख-भोग में सीमा का उल्लंघन न करें।

हम यह नहीं कहते कि समृद्ध तथा सृजनशील जीवन में इन्द्रियों के सुख-भोग के लिये उचित स्थान नहीं होना चाहिए। हम इसके पक्ष में नहीं हैं कि इन्द्रियों को क्षुधित अवस्था में रक्खा जाय; हमारा अनुमान है कि वैसी दशा में मन और बुद्धि भी संतुलित ढंग से काम नहीं कर सकते। व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन में त्याग तथा शारीरिक कष्ट-सहन पर ज्यादा गौरव देना हानिकर होता है; उस गौरव के फलस्वरूप एक प्रतिक्रिया होती है जो व्यक्ति तथा जाति को अमर्यादित इन्द्रिय-भोग की तरफ ले जाती है। फ्रायड ने कहा है कि जो चीज़ निषिद्ध है उसकी बलवती इच्छा होती है, जिस सुखभोग का निषेध किया जाता है उसके प्रति तीव्र आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ज्यादा सही नीति यह नहीं है कि युवकों तथा युवतियों को इन्द्रियों के सुख-भोग से रोका जाय, सही नीति यह है कि उनमें उच्चतर कोटि के सुखों के प्रति आसक्ति पैदा कर दी जाय। शिक्षार्थियों को कला, साहित्य तथा विज्ञानों की शिक्षा इस प्रकार

देनी चाहिये कि उनके मन में उन सब विषयों के लिये सच्ची रुचि पैदा हो जाय। सबसे बड़ी बात यह है कि शिक्षार्थियों में ऐसी प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए कि वे, यह महसूस करते हुए कि हम विश्व-ब्रह्माण्ड के नागरिक हैं, उसके बारे में बड़े प्रश्न उठायें, और उन पर बहस करें।

यद्यपि हम इन्द्रिय-सुखों को निन्दित नहीं समझते, फिर भी हम कहेंगे कि आज के युग में शारीरिक सुखों में जितनी अभिरुचि हो गई है, वह श्रेयस्कर नहीं है। इस स्थिति के दो कारण हैं। प्रथमतः मनुष्य की धार्मिक आस्थाएँ विघटित हो गई हैं, जिसके फलस्वरूप वह अपने को इस दुनिया की चीजों में भुला देना चाहता है। दूसरे, विज्ञान ने सुख-भोग की इतनी सामग्री प्रस्तुत कर दी है कि वह मनुष्य के अवधान के अधिकांश को घेर लेती है। यह भी कहा जा सकता है कि मध्य युग में जो जीवन-निषेध पर विशेष गौरव दिया गया, उसके विरोध में अब प्रतिक्रिया हो रही है। इस प्रतिक्रिया को लाने में, योरपीय पुनर्जागृति के युग में, मानववाद का भी हाथ रहा था। बाद में धार्मिक सुधार (Reformation) तथा बुद्धिवाद (Rationalism) ने ऐहलौकिकता को पुष्ट किया।[१२] कारण कुछ भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि "भौतिक" तथा "शारीरिक" में बढ़ी हुई आसक्ति मानव-जीवन की सृजनात्मक प्रवृत्तियों के लिये खतरनाक और उसे नीचे की ओर ले जानेवाली है।

बढ़ी हुई भौतिकता तथा शरीरोपासना किस प्रकार सांस्कृतिक जीवन को क्षति पहुँचाती और उसे नीचे ले जाती है, इसका विश्लेषण अपेक्षित है। मनुष्य की सृजन-वृत्ति की दो दिशाएँ हैं, बाहरी और भीतरी। उसकी बाह्य गति भौतिक परिवेश को परिवर्तित करती है, और आन्तरिक गति मानव-जीवन के आदर्श रूपों के चित्र खड़े करती है। भौतिक परिवेश में किए जानेवाले परिवर्तन, और समाजिक परिवेश के परिवर्तन भी, दीखनेवाली चीजें हैं; उस दिशा में मनुष्य की जो प्रगति होती है वह चरम चक्षुओं को प्रत्यक्ष रहती ह। किन्तु मनुष्य के आन्तरिक जीवन में होनेवाले परिवर्तन इन्द्रियग्राह्य नहीं होते; वे परिवर्तन पूर्णतया प्रतीकों के माध्यम से घटित होते हैं, और अपने को विचार-पद्धतियों, कलाकृतियों आदि के रूप में व्यक्त करते हैं। ये दोनो प्रकार की सृजन-क्रियाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। आत्मिक सृष्टि के धरातल पर हमारी सृजन-क्रिया रहस्यमय मूल्यों, अथवा रहस्यमय रूप में मूल्यवान् अनुभूतियों, को प्रक्षिप्त करती है। आइन्स्टाइन ने कहा है: 'सबसे सुन्दर चीज़ जिसका हम अनुभव कर सकते हैं, रहस्य अथवा रहस्यात्मक है। यह रहस्य-

तत्व समस्त कलाओं तथा विज्ञान का स्रोत है।'[१३] इसमें हम जोड़ेंगे : अनुभूत रहस्य तत्व सदैव अवर्णनीय तथा अपरिमित मूल्य या अर्थवत्ता का वाहक प्रतीत होता है। उच्चतम धरातल पर मनुष्य की सृजन-क्रिया आध्यात्मिक अथवा अलौकिक रूप धारण कर लेती है। उस सृजनात्मक स्फुरण का यह फल होता है कि मनुष्य ससीम गोचर विश्व के प्रति उदासीनता तथा वैराग्य का अनुभव करने लगता है।

अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति अथवा "संस्कृति" पूर्णतया भौतिक तब बन सकती है जब वह उच्चतर धरातलों पर सृजनशील होना बन्द कर दे। यह उच्चतर धरातल दार्शनिक-आध्यात्मिक धरातल है। दीर्घकालीन मनन, श्रद्धा तथा वैराग्य-भावना अथवा उदासीनता की वृत्ति द्वारा मनुष्य उन धरातलों पर पहुँचता है। चूँकि सृजन-शीलता मनुष्य का स्वभाव है, इसलिये वह तब तक सुखी नहीं हो सकता जब तक वह सृजन-व्यापार में न्यूनाधिक अनवरत न लगा रहे।

आज के मनुष्य का जीवन शून्य जान पड़ता है, उसका मूल कारण यह है कि उसने उच्चतर धरातलों पर सृजनशील होना बन्द या कम कर दिया है, और वह इन्द्रिय-सुखों की ओर दौड़ता रहता है। इन्द्रिय-भोग पाप हो या नहीं (कोई भी चीज पाप होती है अथवा नहीं), फिर भी यह निश्चित है कि शारीरिक सुख-भोगों में फँसकर मनुष्य जीवन की श्रेष्ठतम सम्भावनाओं की उपलब्धि नहीं कर सकता। कहा गया है कि जो सुख के पीछे भागते हैं, वे सुखी नहीं हो पाते। यह सौख्यवाद (Hedonism) का विरोधाभास है। सुख के पीछे पड़े रहने से न तो तृप्ति ही मिलती है, और न जीवन-क्रिया ही वेगवान् हो पाती है। इसके विपरीत सुखान्वेषी शीघ्र सुख-भोगों से ऊब महसूस करने लगता है। कैटेल नामक लेखक का कथन है कि आज के मनुष्य का जीवन असन्तुलित है, और उसका एक प्रमाण यह है कि आज का मनुष्य 'सुख-भोग की खोज में प्रायः उन्मत्त हो रहा है।' 'पिछले युद्ध के बाद ऐसा समझा गया था कि शारीरिक सुख-भोग, वेगपूर्ण यात्रा, सुरा-भोजों आदि के प्रति बढ़ती हुई आसक्ति, महायुद्ध की प्रतिक्रिया थी, किन्तु इतनी संख्या में लोगों का सुख भोग में संसक्त होना एक पुरानी बीमारी-सी जान पड़ती है।'[१४] किसी भी सुखी युग में थोड़े से लोगों में भी ऐसी प्रवृत्ति मुश्किल से पाई जाती है। कैटेल के विचार में शारीरिक सुख-भोग की ओर बढ़ी हुई इस लालसा का कारण यह है कि मनुष्य उस बड़े आनन्द के स्रोतों से विच्छिन्न हो गया है जो एक प्रयोजनपूर्ण जीवन-दर्शन की परिधि में रहते हुए उपलब्ध हो सकता है।[१५]

हमारा विश्वास है कि इस प्रकार का जीवन-दर्शन तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक हम अपनी नैसर्गिक मूल्य-प्रतीतियों पर विश्वास करना न सीखें। अवश्य ही यह मूल्य-चेतना आलोचनात्मक होनी चाहिए, अंधश्रद्धा पर आधारित नहीं। "आलोचनात्मक" से हमारा तात्पर्य यह है कि हम विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों की मूल्यानुभूतियों पर तुलनात्मक दृष्टि डालें, और उनके बीच समन्वय स्थापित करने की कोशिश करें। वस्तुतः हमारे विचार में मूल्यों का अनुचिन्तन आत्म-चिन्तन का ही एक रूप है, क्योंकि वे चरम मूल्य, जो सब प्रकार के मूल्यांकन का आधार हैं, अन्ततः हमारे अपने अस्तित्व का ही वास्तविक या कल्पित रूप हैं। जीवन के उन चरम मूल्यों को हम इतने अन्तरंग ढंग से जानते हैं कि उनके बारे में यह कथन ठीक है कि वे 'जाने नहीं जाते, अपितु पहिचाने जाते हैं।'[१६]

जीवन की गहरी तृप्तियों अथवा आनन्दों का सम्बन्ध उन लक्ष्यों तथा वस्तुओं से होता है जिनमें हमारे लिये रहस्यपूर्ण आकर्षण रहता है। उदाहरण के लिये हमें वैसा आकर्षण उस व्यक्ति में मिलता है जिसे हम प्रेम करने लगते हैं। प्रेमपात्र की भौतिक, ऐन्द्रिय तथा आत्मिक क्रियाएँ, जिन्हें पकड़कर हम आत्मसात् कर लेना चाहते हैं, रहस्यमय ढंग से अर्थवती जान पड़ती हैं, और ऐसा आभासित होता है कि उनका सम्पर्क हमें अपूर्व रहस्यमय आनन्द दे सकेगा। इस प्रकार का आनन्द उन चीज़ों से कभी प्राप्त नहीं हो सकता जिनका मूल्य स्पष्ट तथा बुद्धिग्राह्य होता है, जैसा कि शक्ति, सम्पत्ति आदि साधनभूत पदार्थों का। साध्य-रूप मूल्य बुद्धि की पकड़ में आने योग्य नहीं होते, वे स्वयं में अपने लक्ष्य होते हैं और एक रहस्य में लिपटे हुए-से प्रतीत होते हैं। स्वास्थ्य-जैसे स्पष्ट साध्य का आकर्षण भी रहस्यमय होता है। सामान्यतः सुन्दर वस्तुओं, उच्च कोटि के नैतिक कर्मों आदि के द्वारा हमारे मन में जो भावना जगाई जाती है वह रहस्यमय होती है। जब एक बच्चा माँ से बातें करते हुए मुसकराता है, जब दो प्रेमी स्नेहपूर्वक एक-दूसरे को निहारते हैं, चाँदनी रात में जब एक झरना अपनी रजतच्छटा बिखेरता है, तब, उन्हें देखकर, हमारे मन में एक ऐसे आकर्षण का अनुभव होता है जिसके मूल्य तथा महत्व का हिसाब नहीं लगाया जा सकता। हमारे जीवन की सार्थकता एक ऐसे आदर्श के लिये प्रयत्न करने में है जो हमारी नैतिक तथा सौन्दर्य-मूलक प्रतीति, एवं रहस्यात्मक भावनाओं को, एकता में पिरोता दिखाई दे।

हम यह नहीं मानते कि जीवन की चरम सार्थकता की भावना का ईश्वर तथा

परलोक-सम्बन्धी आस्था से आवश्यक लगाव है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म ने भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या को प्रभावित किया, यद्यपि उसका ईश्वर तथा परलोक में विश्वास नहीं था। हिन्दू दार्शनिक ईश्वर तथा आत्मा को मानते हैं, किन्तु उन्होंने भी स्वीकार किया है कि जीवन के चरम साध्य अर्थात् मोक्ष का अनुभव इसी जीवन में किया जा सकता है। जीवन्मुक्ति की धारणा का यही अभिप्राय है कि मनुष्य जीते-जी मुक्ति की अवस्था का अनुभव कर सकता है। अनन्त मूल्यवत्ता का अधिष्ठान होते हुए भी मुक्ति की अवस्था इसी जन्म में सुलभ हो सकती है। यूनानी विचारक आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को नहीं मानते थे। उन्होंने यह भी नहीं माना कि मनुष्य के चरम सुख का सम्बन्ध ईश्वर की उपासना अथवा अनुग्रह से है। अरस्तू का विचार था कि सुखी जीवन नैतिक जीवन है, सुख को नैतिक उच्चता के जीवन (Virtuous Living) से अलग नहीं किया जा सकता। उसके अनुसार उच्चतम जीवन दार्शनिक चिन्तन तथा मनन का जीवन है, और यह जीवन इस धरती से विच्छिन्न नहीं है।[१७]

व्यक्ति, समाज और राज्य

अब हम एक दूसरी समस्या पर विचार करेंगे। हमारी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए? किस व्यवस्था में नागरिकों के सांस्कृतिक व्यक्तित्व विकसित होते रह सकते हैं? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, क्योंकि कोई भी शिक्षक अपने विद्यार्थियों में उन आदर्शों की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता जिनका समाज की मान्यताओं से विरोध है। सच यह है कि अधिकांश समाजों में शिक्षक को यह स्वतंत्रता ही नहीं दी जायगी कि वह विद्यार्थियों को ऐसे आदर्शों की शिक्षा दे जो समाज तथा राज्य को ग्राह्य नहीं हैं। दूसरे, समाज जिन मूल्यों को मानता है उनकी उपेक्षा करना शिक्षक के लिये सहल नहीं है। उदाहरण के लिये पूँजीवादी समाज प्रतियोगिता पर आधारित है; इस समाज में किसी शिक्षक के लिये यह सहज सम्भव नहीं है कि वह धनोपार्जन के प्रति उदासीन रहे। भले ही वह अपने लिये धन-सम्पत्ति न चाहे, किन्तु अपने बच्चों के लिए उन्हें चाह सकता है। बिना धन के बच्चों को उच्च शिक्षा भी नहीं दिलाई जा सकती। उनके भविष्य को अच्छा बनाने के लिये धन की अपेक्षा होती है। निष्कर्ष यह कि शिक्षा में प्रतिफलित आदर्शों का विशिष्ट समाज में प्रचलित मूल्यों तथा सामाजिक जीवन की जरूरतों से आवश्यक लगाव होता है।

एक शिक्षा-सम्बन्धी विचारक के लिय यह अवश्य ही सम्भव है कि वह समाज

की पूर्ण उपेक्षा करके शिक्षा के आदर्शों की कल्पना करे। किन्तु समाज की शिक्षा-पद्धति में उन आदर्शों की तब तक प्रतिष्ठा नहीं हो सकती जब तक उन्हें राज्य की सहायता न मिले। प्लेटो का विचार था कि आदर्श राज्य की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक हमारे शासक आदर्श पुरुष न हों। बिना शक्ति के भले मनुष्य भी समाज में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न नहीं कर सकते,जब कि वह शासक जो भला नहीं है, उन भले लोगों की अच्छी-से-अच्छी योजनाओं को व्यर्थ कर सकता है।

अराजकतावादियों के विचार में राज्य को इतना महत्व देना समीचीन नहीं है। वे चाहते हैं कि राज्य अथवा सरकार नाम की संस्था को एकदम ही खत्म कर दिया जाय। इसी प्रकार साम्यवादियों का खयाल है कि समाजवाद की सार्वभौम स्थापना के बाद राज्य नाम की संस्था तिरोहित हो जायगी। किन्तु मौजूदा स्थिति को देखते हुए यह समझ में नहीं आता कि अधिकारियों अथवा उन वर्गों की इच्छा के बिना, जो राज्य-शक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, राज्य या सरकार को कैसे हटाया जा सकता है। आज विज्ञान ने बड़े भयंकर अस्त्र-शस्त्र निर्मित कर दिये हैं, उन अस्त्र-शस्त्रों के कारण आज की सरकारें इतनी शक्तिवान हो गई हैं कि उन्हें जनता के विद्रोह द्वारा खत्म करना असम्भव हो गया है। इसलिए जब तक दुनिया की विशेष शक्तिशाली सरकारें छोटे राज्यों को, और बाद में स्वयं अपने को, खत्म न कर देना चाहें, तब तक इसकी कोई सम्भावना नहीं है कि दुनिया से "राज्य" नाम की संस्था का लोप हो सकेगा। जहाँ तक इतिहास की साक्षी का प्रश्न है, वह निश्चित रूप में यह बतलाता है कि राज्य नाम की संस्था लगातार विद्यमान रही है। इसलिये हमें राज्य के तिरोभाव पर निर्भर न करके, यह पूछना चाहिए कि किस प्रकार के राज्य में, किस प्रकार के शासन-विधान में, उन आदर्शों की उपलब्धि हो सकती है जिनका वर्णन हमने शिक्षा के प्रकरण में किया है।

राज्य का स्वरूप और उसका कार्य क्या है, और राज्य वांछनीय है या नहीं, इस सम्बन्ध में विभिन्न, यहाँ तक कि विरोधी, विचार तथा मनोभाव पाये जाते हैं। राजनीति-दर्शन के पंडित यह अनवरत कोशिश करते आये हैं कि राज्य के लक्ष्य तथा प्रयोजन की ठीक-ठीक व्याख्या करें, और उन मानदण्डों का निरूपण करें जिनके द्वारा यह जाँचा जा सके कि कोई राज्य ठीक ढंग से कार्य कर रहा है, या नहीं। प्लेटो और अरस्तू, टॉमस हाब्ज़, जॉन लाक, रूसो और हीगल जैसे भिन्न मतों वाले विचारक इस बात में सहमत हैं कि राज्य की संस्था बड़ी ज़रूरी है, जिसके बिना हमारा काम

नहीं चल सकता। अरस्तू कहता है : 'जहाँ सारी संस्थाएँ श्रेय अथवा भलाई को लक्ष्य बनाती हैं, वहाँ सबसे बड़ी संस्था अर्थात् राज्य का, जिसमें शेष सब समुदाय समावेशित हैं, लक्ष्य सर्वोच्च श्रेय को सर्वाधिक मात्रा में उत्पन्न करना है।'[१८] भौतिकवादी हाब्ज़ का कथन है कि 'मनुष्य में लगातार शक्ति को पाने की अभिलाषा रहती है, जो कि मृत्यु के साथ ही समाप्त होती है।'[१९] इस शक्तिलिप्सा पर नियन्त्रण करने के लिये राज्य की आवश्यकता है। राज्य के बिना सभ्य जीवन सम्भव नहीं है। अरस्तू और हाब्ज़ दोनों से आगे बढ़कर हीगल कहता है कि 'राज्य निरपेक्ष बुद्धितत्व है, वह दैवी शक्ति है जो स्वयं ही अपने ज्ञान तथा संकल्प का विषय है; राज्य आत्मा का आन्तरिक तत्व है, वह दुनिया के बीच ईश्वर का संचार है।'[२०]

उक्त विचारकों से दूसरे ध्रुव पर साम्यवादी तथा अराजकतावादी हैं जिनके विचार में राज्य का अस्तित्व सारी बुराइयों की जड़ है। उदाहरण के लिये साम्यवादियों के अनुसार राज्य एक वर्ग की सत्ता तथा प्रभुत्व का प्रतीक होता है। वर्ग-भेद के लोप के साथ राज्य का भी लोप हो जायगा। साम्यवादी तथा अराजकतावादी निजी सम्पत्ति के भी विरोधी हैं। बाकुनिन का विचार है कि 'निजी सम्पत्ति राज्य नाम की संस्था का कारण भी है, और उसका परिणाम भी; वह सब प्रकार की भौतिक तथा नैतिक बुराइयों को उत्पन्न करती है।'[२१] क्रोपाटकिन के मत में राज्य के अस्तित्व के मंडन में कोई ऐतिहासिक युक्ति नहीं दी जा सकती, इतिहास यह सिद्ध करता है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक सहयोग-मूलक प्रवृत्तियों का विरोधी है।[२२]

राज्य-सम्बन्धी इन विरोधी वक्तव्यों को कैसे समझा जाय, और कैसे उनमें सामंजस्य स्थापित किया जाय? हमारी समझ में मुख्य तथ्य निम्न हैं। प्रथमतः इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि कुछ बातों में राज्य राष्ट्र के सब सदस्यों को लाभ पहुँचाता है। राज्य-शक्ति कानून तथा शान्ति की स्थापना करती है, और बाहर के आक्रमणों से लोगों को सुरक्षित रखती है। इस सुरक्षा के वातावरण में नागरिक लोग स्वच्छन्दतापूर्वक अपने-अपने कार्यों में लगे रहते हैं और उन प्रयोजनों की पूर्ति करते हैं जिनका दूसरों की स्वतंत्रता तथा शान्ति से विरोध नहीं है। जैसा कि प्रो० लास्की ने लिखा है : "राज्य के साथ सुरक्षा आती है और सुरक्षा के आधार पर लोग अपनी ज़रूरतों की पूर्ति शान्तिपूर्वक कर पाते हैं।'[२३] जिन तृप्तियों की मनुष्य खोज करता है वे भौतिक भी हैं, और आत्मिक भी। मनुष्य केवल भौतिक सामग्री की ही कामना नहीं करता और केवल उन्हीं के उत्पादन में नहीं लगा रहता, वह दूसरे मनुष्यों

के साथ मिलकर सांस्कृतिक क्रियाएँ भी करना चाहता है। जहाँ समाज विभिन्न वर्गों में बँटा होता है और राज्य कुछ वर्गों के हितों का संरक्षण करता है, वहाँ भी विशुद्ध सांस्कृतिक क्रियाओं द्वारा राष्ट्र के सभी नागरिक लाभान्वित होते हैं।

दूसरी ओर यह भी सत्य है कि राज्य-शक्ति प्रायः कुछ वर्गों तथा व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथमतः, हर समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो ज्यादा चतुर, साहसी तथा मनोबल वाले रहते हैं; ऐसे लोग क्रमशः दूसरों को अपना अनुगत बना लेते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति धीरे-धीरे शक्तिशाली बन जाते हैं। लेकिन शक्ति-सम्पन्न बनने के लिये व्यक्ति को दूसरों की सहायता अथवा उदासीनता की जरूरत होती है। कोई भी व्यक्ति तब तक शक्तिशाली नहीं बना रह सकता जब तक कि उसे अनेक दूसरे सक्रिय लोगों का सहयोग तथा प्रभावशाली लोगों की सहायता प्राप्त न हो। सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव प्रायः सम्पत्तिवानों के पास रहता है, इसलिये अक्सर राज्य अथवा राज्य के कर्मचारी सम्पत्तिशाली लोगों के सहकारी बन जाते हैं। किन्तु जहाँ धन तथा प्रभाव का गठबन्धन नहीं होता, जैसा कि आज के रूस में है और जैसा कि हिटलर की जर्मनी में था, वहाँ राज्य के शक्तिशाली कर्मचारी धनवान लोगों की उतनी परवाह नहीं करते। वे उन नेताओं को प्रसन्न करने की कोशिश करते हैं जिनका दलों पर प्रभाव होता है। साथ ही यह भी सही है कि कोई भी सरकार जनता के एक बड़े भाग को रुष्ट करके सुरक्षित नहीं रह सकती। जहाँ सम्पत्ति का महत्व है, वहाँ जनसंख्या भी महत्वशून्य नहीं है। थोड़ से अमीर लोग, जिनका सैनिक शक्ति पर अधिकार है, कुछ दिनों तक अवश्य ही बहुमत की उपेक्षा करते रह सकते हैं। किन्तु यह उपेक्षा बहुत दिनों तक सम्भव नहीं है। इसीलिये किसी सरकार की ऐसी स्थिति वांछनीय नहीं समझी जाती, और विभिन्न सरकारें प्रायः यह कोशिश करती हैं कि उनके शासन को वैधानिक रूप प्राप्त हो जाय। केवल शक्ति से सरकार की स्थापना नहीं हो सकती। जैसा कि रूसो ने कहा है : "शक्ति अधिकार उत्पन्न नहीं करती, बड़े से बड़ा शक्तिशाली इतना शक्तिमान नहीं होता कि सदैव मालिक बना रहे, जब तक कि वह अपनी शक्ति को वैधानिक अधिकार में परिवर्तित न कर दे।'[२४] इस परिवर्तन को उत्पन्न करने के लिये विभिन्न सरकारें विभिन्न विचार-पद्धतियों (Ideologies) को प्रचारित करती हैं। सरकार विभिन्न वर्गों के लोगों के प्रति भिन्नतामूलक व्यवहार करती है; उस व्यवहार को वैधानिक रूप देने के लिये उसे कुछ कारण बताने पड़ते हैं। ये कारण अथवा युक्तियाँ

ऐसी होनी चाहिएँ कि उन्हें अधिकांश जनता स्वीकार कर ले। मतलब यह कि सरकार जिस विचार-सरणि को मानती है, उसे सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत होना चाहिए, ताकि ऐसा जान पड़े कि वह विचार-पद्धति समस्त जनता की चीज़ है। इसका एक मतलब यह भी है कि किसी सरकार द्वारा स्वीकृत विचार-पद्धति केवल एक वर्ग की वस्तु नहीं हानी चाहिए। अन्यथा राज्य की सरकार उन वर्गों पर जो उस विचार-सरणि को स्वीकार नहीं करते नग्न अर्थात् पशु शक्ति (Naked Power) का प्रयोग कर रही होगी। एक विचार-पद्धति को हम जनता की चीज कहते हैं उस दशा में जब उसे अधिकांश लोग मानते हों, और जब उसकी विरोधी किसी दूसरी विचार-पद्धति का प्रचार न हो रहा हो। विचार-सरणि की सृष्टि तथा प्रचार किसी के द्वारा क्यों न हो, यदि जनता उसे स्वीकार करती है तो वह जनता की विचार-पद्धति कहलायेगी। विचार-पद्धतियों का निर्माण प्रायः किसी देश के बुद्धिजीवियों तथा विचारकों द्वारा किया जाता है, न कि सरकारों द्वारा। किन्तु सरकारें अथवा राज्य उन विचार-पद्धतियों को बढ़ावा देती हैं जो शासक-वर्ग के लिये हितकर होती हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि शासक-वर्गों के हितों का विरोध करनेवाली, और शोषितों के लिये हितकर, विचार-पद्धतियाँ शोषित वर्ग के बुद्धिजीवियों द्वारा ही निर्मित्त हो सकती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि शोषितों को लाभ पहुँचाने वाली विचार-पद्धतियाँ उन विचारकों द्वारा निर्मित तथा प्रचारित होती हैं जिनका उन शोषित वर्गों से कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं है। नई विचार-पद्धतियों के जन्म का कम-से-कम आंशिक कारण यह भी होता है कि सामाजिक परिवेश में कुछ नई शक्तियाँ उत्पन्न हो चुकी होती हैं, और वे शक्तियाँ एक ज्यादा न्यायपूर्ण तथा सुखकर व्यवस्था की ओर संकेत करती हैं। ऐसी दशा में नयी विचार-सरणि में एक प्रकार का नैतिक आकर्षण दिखाई देने लगता है, जिसके कारण वह लोकप्रिय अथवा प्रसिद्ध होने लगती है। समाजवाद नाम की विचार-सरणि का, जिसका प्रचार मार्क्स तथा दूसरे चिन्तकों ने किया, इतिहास ऊपर के मन्तव्य का सबसे बड़ा प्रमाण है। आधुनिक समाजवाद के प्रवर्त्तक मुख्यतः तीन व्यक्ति हैं: फर्डिनैण्ड लसाले, कार्लमार्क्स तथा फ़्रेडरिक एंगेल्स। उनमें से कोई भी श्रमिक वर्ग का व्यक्ति न था। फिर भी यदि, सन् १८८३ ई० में मार्क्स की मृत्यु हो जाने के बाद, प्रायः तीस वर्ष तक जो योरप में समाजवाद का व्यापक प्रचार हुआ, उसका कारण यह नहीं था कि समाजवादी विचार-सरणि को योरप के शासकों ने स्वीकार कर लिया, बल्कि यह कि उस सिद्धान्त में एक नैतिक आकर्षण था, और उसने समकालीन शासन-प्रणालियों को एक नैतिक

चुनौती दी। इन तीस वर्षों को ध्यान में रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता—जैसा कि मार्क्सवादियों का विचार है—कि 'किसी युग में सब से प्रभावशाली विचार शासकों के विचार होते हैं।'

तथापि, बीसवीं सदी में प्रतिष्ठित होनेवाली तानाशाही सरकारों का इतिहास यह संकेत करता है कि राज्यों के शासक अच्छी-से-अच्छी विचार-सरणियों को दबा सकते हैं। आज विज्ञान ने शासकों के हाथ में भयंकर भौतिक शक्ति दे दी है। शासक लोग हजार ढंग से जनता के मस्तिष्क को प्रभावित कर सकते हैं, और वे नितान्त निर्दय उपायों का अवलम्ब लेते हुए विद्रोही विचारकों को समाप्त कर सकते हैं। आज के युग में सचमुच ऐसा जान पड़ता है कि बेचारे नागरिक, विशेषतया शक्तिमान राष्ट्रों और उनके पीछे चलने वाले देशों के नागरिक, शक्तिशाली शासकों के सामने प्राय: असहाय हैं।

यह देखते हुए कि राज्य अपनी शक्ति का काफ़ी दुरुपयोग कर सकता है, अराजकतावादी विचारक यह सलाह देते हैं कि राज्य नाम की संस्था को नष्ट कर देना चाहिए। किन्तु प्रश्न यह है कि उस संस्था का विनाश, और विनाश संभव न होने पर उसकी शक्तियों का संकोचन, किस प्रकार किया जाय? राज्य पर इस प्रकार का दबाव कौन डाल सकता है कि वह अपनी शक्तियों को कम करे, और अपने कार्य के क्षेत्र को संकुचित करे? संसार के सब शासकों की चिन्ता का मुख्य विषय यह होता है कि कैसे वे अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करें और फिर उसे कायम रक्खें; वे शासक अपनी शक्तियों को स्वेच्छा से खत्म करने को कैसे तैयार होंगे? उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में, और इस प्रश्न के भी कि कैसे राज्य द्वारा शिक्षा की एक खास नीति को स्वीकृत कराया जाय, हमें कहना है कि राज्य अथवा सरकार उस प्रकार के कानूनों का निर्माण तभी कर सकती है जब उस पर, वैसा करने के लिये, जनता की ओर से जोर पड़े। किन्तु जनता के दबाव की चिन्ता राज्य को तब होगी जब उसकी सत्ता जनता की इच्छा पर निर्भर हो। इसका मतलब यह हुआ कि एक जनतंत्रात्मक राज्य में ही जनता का दबाव सरकार की नीति को प्रभावित कर सकता है, और वैसे ही राज्य में सरकार ऐसे कानून बना सकती है जिनके द्वारा उसकी शक्तियाँ कम हो जायँ। इस जनतंत्री तरीके के अतिरिक्त दूसरा मार्ग विद्रोह या क्रान्ति का है। लेकिन अणुबम के इस युग में जनता के विद्रोह को दबा देना किसी भी सरकार के लिये बायें हाथ का खेल हो गया है।

कहा गया है कि 'राज्य या सरकार वह पद्धति है जिसके द्वारा जनता की बाध्य करने की शक्ति को संगठित किया जाता है।'[२५] एक जनतंत्रात्मक राज्य में जनता की सामूहिक विवेक-बुद्धि का भी संगठन हो सकना चाहिए। विचारशील नेताओं के दबाव से सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति में परिवर्तन किया जा सकता है, और लोगों में यह भावना फैलाई जा सकती है कि कि धन तथा शक्ति का अन्वेषण उतना श्लाध्य नहीं है, और यह कि नैतिक, बौद्धिक तथा सौन्दर्यमूलक संवेदना का विकास ज्यादा वांछनीय चीजें हैं। एक जनतंत्र में ही यह सम्भव है कि इस प्रकार की विचार-पद्धति का प्रचार किया जाय, क्योंकि तानाशाही शासक मुख्यतः शक्ति के पुजारी होते हैं, वे अपने सहयोगियों तथा अनुयायियों की ही बात मान सकते हैं, विचारशील चिन्तकों की नहीं, विशेषतः ऐसे चिन्तकों की जो राजनीति से अलग रहते हैं और इसलिये शासकों के लिये उपयोगी नहीं होते। किन्तु एक जनतंत्र में यह सम्भव है कि ऐसे लोग जो सचमुच विचारशील और सुसंस्कृत हैं, विधान-सभाओं में चुनकर भेजे जायँ। विधान-सभाओं में न जा सकने पर भी वे लोग स्वेच्छापूर्वक जनता के मस्तिष्क का निर्माण कर सकते हैं, और इस प्रकार जनता के माध्यम से सरकार पर प्रभाव डाल सकते हैं। किन्तु तानाशाही राज्यों में चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं होती, और इसकी कोई आशा नहीं हो सकती कि विचारशील नेताओं के माध्यम से देश की विवेक-शक्ति अपने को प्रभावशाली बनाकर चरितार्थ कर सकेगी।

जनतंत्र और समाजवाद

मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त कि समस्त सरकारें विशेष वर्गों की सरकारें होती हैं, सही नहीं है। संसार के जनतंत्रों का इतिहास उसके विरुद्ध पड़ता है। यह लक्षित किया गया है कि दलगत वफादारी वर्गगत वफादारी का अतिक्रमण कर जाती है।[२६] मतलब यह कि लोग अपने राजनैतिक दल की चिन्ता करते हुए वर्ग की वफादारी का परित्याग कर देते हैं। उदाहरण के लिये इंगलैण्ड में वामपक्षी दलों के सदस्य केवल श्रमिक लोग ही नहीं होते; श्रमिकों के नेता अक्सर दूसरे वर्गों के होते हैं। इसी प्रकार दक्षिणपंथी दलों में भी विभिन्न वर्गों के सदस्य रहते हैं। मैकाइवर ने लिखा है कि 'जहाँ-जहाँ जनतंत्र की विजय हुई वहाँ-वहाँ दल और वर्ग का तादात्म्य खत्म हो गया।'[२७] स्वयं हमारे देश में कांग्रेस, प्रजासोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ आदि की सदस्यता मिश्रित है; खास कर मध्य वर्ग के लोग सभी दलों में पाये जाते हैं, साम्यवादी दल

भी इसका अपवाद नहीं है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि धीरे-धीरे मध्य वर्गों का लोप हो जायगा। किन्तु उसकी भविष्यवाणी सही नहीं उतरी। न केवल मध्य वर्गों का लोप ही नहीं हुआ, अपितु उनकी संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है, विशेषतया जनतंत्रात्मक देशों में।[२८] यह परिस्थिति मार्क्स के इस सिद्धान्त की भी विरोधिनी है कि सरकार एक खास वर्ग की चीज होती है। उदाहरण के लिये इंगलैंड में मजदूर पार्टी तथा टोरी पार्टी दोनों की चुनावगत सफ़लता मध्यवर्गों पर निर्भर करती है, दोनो ही पार्टियों में काफी संख्या मध्यवर्गीय लोगों की है। जनतंत्रात्मक सरकारें पूँजीवादियों के हाथ की कठपुतली नहीं होतीं, इसका सबसे बड़ा सबूत वे पूँजी-विरोधी कानून हैं जो ऐसी सरकारों ने बनाये हैं। इस प्रकार के कानूनों के उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं : आय के हिसाब से बढ़ता हुआ इनकम टैक्स; मृत्यु कर; महत्वपूर्ण उद्योगों का क्रमिक राष्ट्रीयकरण; इत्यादि। इसी प्रकार सरकार के इस तरह के काम जैसे समस्त बालकों के लिए अनिवार्य शिक्षा का विधान, किसी खास वर्ग के लिये ही हितकर नहीं सिद्ध किये जा सकते।[२९]

निष्कर्ष यह कि जनतन्त्रात्मक सरकार को किसी खास वर्ग की सरकार नहीं कहा जा सकता। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि जनतन्त्रात्मक राज्य पर भी धनवानों तथा प्रभावशाली लोगों का नियन्त्रण हो जाने का भय रहता है। एक ऐसे जनतंत्र को जो अपने नागरिकों के गुणात्मक विकास को लक्ष्य बनाता है, धीरे-धीरे समाजवाद की ओर अग्रसर होना चाहिए।[३०] हमारी समझ में समाजवाद के दो मुख्य तत्व हैं। प्रथमतः समाजवाद आर्थिक सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण नहीं कर सकेगा; दूसरे, समाजवाद में बड़ी आर्थिक विषमताएँ नहीं होनी चाहिएँ। इसका मतलब यह है कि लोग जीवन के लिये आवश्यक भौतिक सामग्री की प्राप्ति के लिये न्यूनाधिक समान अवसर प्राप्त करते रहें। एक पूर्ण जनतंत्र वह होगा जहाँ सब नागरिकों को आत्म-विकास तथा उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों। इस प्रकार की समानता तब तक नहीं आ सकती जब तक कि भौतिक चीजों की उत्पत्ति तथा वितरण एवं शिक्षा आदि पर राज्य का नियन्त्रण न हो।

जिस समाज में भौतिक वस्तुएँ सुख और आराम का ही नहीं बल्कि सामाजिक महत्व का कारण भी समझी जाती हैं वहाँ उन वस्तुओं की कामना प्रतियोगिता के आधार पर होने लगती है। इस प्रतियोगिता की स्पिरिट के कारण ही अमेरिका जैसे समृद्ध देशों में भी अधिकांश मनुष्य असन्तुष्ट रहते हैं, पारस्परिक होड़ की प्रवृत्ति उन्हें अशान्त

तथा आकुल बनाये रखती है। एक प्रतियोगिता-मूलक समाज में लोगों के मस्तिष्क में हमेशा चिन्ता और तनाव बना रहता है। समाजवादी व्यवस्था में ही यह सम्भव है कि संवेदनशील तथा बुद्धिमान् नागरिक इस प्रकार की आकुलता और तनाव से मुक्ति पा सकें।

तात्पर्य यह कि हमें एक समाजवादी जनतंत्र अथवा जनतंत्रात्मक समाजवाद की स्थापना का प्रयत्न करना चाहिए। मुझे यदि उक्त दो चीजों में से एक की अप्रिय पसन्द करनी पड़े, अर्थात् "जनतंत्रहीन समाजवाद" और "समाजवादहीन जनतंत्र" में, तो मैं दूसरी व्यवस्था पसन्द करूँगा। कारण यह है कि एक ऐसे समाज में जहाँ जनतंत्र के मुख्य तत्व मौजूद नहीं हैं–अर्थात् सोचने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता–वहाँ स्थिर उन्नति की आशा नहीं हो सकती। सार्वभौम मतदान के अधिकार तथा चिन्तन और प्रकाशन की स्वतंत्रता के रूप में जनतंत्रात्मक व्यवस्था में ऐसे उपकरण मौजूद रहते हैं जो भीतर से उसका सुधार करते रहें, और इस प्रकार उसे बहुत काल तक पतन की ओर बढ़ने से रोक सकें। यदि एक देश और समाज में दूरदर्शी विचारशील नेता उत्पन्न होते रहें तो कोई कारण नहीं कि वह अपनी गलतियों से फायदा न उठायें और उन्हें दूर करके अपने भविष्य को उन्नत न बना सकें।

लेकिन क्या जनतंत्र और समाजवाद मिलकर मानव-कल्याण के लिये पर्याप्त हैं?

बीसवीं सदी में यह देखा गया है कि राज्य नाम की संस्था की शक्ति बढ़ गई है। ऐसा जान पड़ता है कि आज के राज्य में व्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है, उस बेचारे की कोई हस्ती नहीं है। आइन्स्टाइन और रसेल जैसे महापुरुष भी दुनिया की घटनाओं पर विशेष प्रभाव नहीं डाल पाते, वे अपनी-अपनी सरकारों एवं नेताओं के निर्णयों को भी प्रभावित नहीं कर पाते। आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में जनता के जीवन पर अधिकाधिक सरकार का नियन्त्रण होता जाता है। इस नियन्त्रण को लाने में दैनिक प्रेस, रेडियो, सिनेमा, आदि सभी का हाथ हो सकता है। सरकार आदि के बढ़ते हुए हस्तक्षेप का फल यह है कि लोगों के मन में एक अजीब भय तथा अरक्षा की भावना घर कर लेती है, और वे अधिकाधिक सरकार पर निर्भर करने लगते हैं। सिनेमा और रेडियो धीरे-धीरे लोगों की सृजनात्मक शक्तियों को क्षीण बना देते हैं। आज विश्व में सर्वत्र लोग शान्ति चाहते हैं, किन्तु यह कोई नहीं जानता कि अगले युद्ध का खतरा कैसे हटाया जाय। प्रश्न है कि जनतंत्र तथा समाजवाद का आदर्श

कहाँ तक हमें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाइयों को दूर करने में सहायक हो सकता है ?

इसमें सन्देह नहीं कि आज संसार में जो तनाव की स्थिति है उसका मुख्य कारण राज्यों का पारस्परिक संघर्ष है। किन्तु थोड़ा-बहुत तनाव सदैव रहता है। रसेल ने लिखा है कि राज्य का यह स्वभाव है कि जहाँ वह भीतरी हिंसा का प्रतिरोध करता है, वहाँ बाहर उसका प्रसार करता है।[११] अपनी सीमा के भीतर राज्य व्यक्तियों को संघर्ष तथा हिंसा करने से रोकता है, किन्तु जब बाहर युद्ध करने का प्रश्न आता है, तो उसे विशेष हिचक नहीं होती। दूसरे राज्यों से सम्बन्ध बनाते समय प्रत्येक राष्ट्र केवल अपने लाभ का ध्यान करता है, और उसका मुख्य लक्ष्य आर्थिक तथा राजनैतिक शक्ति को प्राप्त करना रहता है। यों तो राज्य सदैव से इन चीज़ों की खोज करता आया है, पर आज उसकी ये प्रवृत्तियाँ ज्यादा खतरनाक बन गई हैं। कारण यह है कि आज के युद्ध में राष्ट्र की समस्त जनता को हिस्सा लेना पड़ता है, और वह नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति के भयंकर विनाश का कारण बन जाता है।

प्रो० लास्की ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि हमारे युद्धों का कारण हमारे समाज का वर्गमूलक संगठन है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में युद्ध अनिवार्य है। विश्व में शान्ति की व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक विभिन्न राज्य अपनी कुछ शक्तियाँ एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को समर्पित न कर दें, किन्तु पूँजीवादी सरकारें ऐसा हर्गिज़ नहीं करेंगी। बात यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार प्रभुत्व का अधिष्ठान बनी रहना चाहती है, ताकि वह पूँजीपतियों के हितों की रक्षा कर सके। इसलिये जब तक सरकारें पूँजीवादी प्रणाली के संरक्षण को अपना प्रधान भीतरी लक्ष्य मानती हैं तब तक उन्हें बाहरी युद्ध के प्रयोग को अपनी नीति का अंग बनाये रखना पड़ेगा। निष्कर्ष यह हुआ कि पूँजीवादी व्यवस्था की परिस्थिति विश्व में प्रभावपूर्ण शान्ति-क्रम की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा है। प्रो० लास्की का विश्वास है कि जैसे ही पूँजीवाद की समाप्ति और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो जायगी, वैसे ही दुनिया से युद्ध का ख़तरा समाप्त हो जायगा।[१२]

क्या ही अच्छा होता कि हम प्रो० लास्की के इस आशावादी विचार को ग्रहण कर सकते। यह समझ में नहीं आता कि एक समाजवादी सरकार, सरकार होने के नाते, पूँजीवादी सरकारों से क्यों विशेष भिन्न होगी। रूस का राजनैतिक इतिहास यह

बिल्कुल ही सिद्ध नहीं करता कि एक समाजवादी राज्य, अर्थात् ऐसा राज्य जहाँ आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित वर्ग-विभाजन नहीं है, कूटनीति द्वारा शक्ति प्राप्त करने में कम अभिरुचि रखेगा। सोवियत संघ को शक्ति-संचय करने की और अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने की उतनी ही चिन्ता रहती है जितनी कि दूसरे राज्यों को। यह स्थिति कि सोवियत संघ को दूसरे देशों में अपना व्यापार बढ़ाने की चिन्ता रहती है या नहीं, ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि राज्य का अन्तिम लक्ष्य शक्ति होता है, और राजनैतिक शक्ति तथा आर्थिक सुविधा को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। आज की सरकारें अपने को अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित करने के लिये अतिशय धन का व्यय कर डालती हैं।

वास्तविकता यह है कि न जनतंत्र ही और न समाजवाद ही, अकेले या साथ-साथ, आज के मनुष्य की ज़िन्दगी की तथा उसकी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जटिल समस्याओं को हल कर सकते हैं। ये व्यवस्थाएँ ज्यादा से ज्यादा यही कर सकती हैं कि वे एक ऐसा ढाँचा प्रस्तुत कर दें जिसके भीतर मनुष्य अपने को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सकें। किन्तु प्रगति केवल एक बाहरी चीज नहीं है, असली प्रगति आन्तरिक होती है और वह जीवन में आन्तरिक अनुशासन माँगती है। बाहरी सामाजिक-राजनैतिक परिवेश में परिवर्तन द्वारा इस अनुशासन में मदद मिल सकती है, किन्तु वह परिवर्तन उस अनुशासन का स्थान नहीं ले सकता। मनुष्य की वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा सामाजिक-राजनैतिक प्रयोगों को जो अब तक सीमित सफलता मिली है, उससे हमें यह महत्वपूर्ण शिक्षा लेनी चाहिये कि बाह्य परिवर्तन काफ़ी नहीं है। न तो भौतिक परिवेश के परिवर्तन से और न सामाजिक-राजनैतिक परिवेश के पुनः संगठन से ही, मनुष्य का पूर्ण कल्याण हो सकता है। उसके लिये यह जरूरी है कि उन परिवर्तनों के पीछे आत्मिक लक्ष्यों तथा ज़रूरतों की प्रेरणा रहे। उन ज़रूरतों तथा लक्ष्यों का निरूपण मनुष्य की ऊँची प्रकृति ही कर सकती है, अर्थात् वह प्रकृति जो सौन्दर्यानुभूति, दार्शनिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक साधना में अभिव्यक्ति पाती है।

जनतंत्र और समाजवाद उन बाहरी स्थितियों की प्रतिष्ठा कर सकते हैं जो मनुष्य की आत्मिक प्रगति के लिये अपेक्षित हैं; किन्तु वे स्वयं इस प्रगति के पर्याय नहीं हैं। यह ज़रूरी हो सकता है कि विभिन्न राष्ट्रों के नागरिक राजनैतिक मामलों में अभिरुचि लें, किन्तु इससे यह अनुगत नहीं होता कि राजनीति से ऊँची और कोई चीज़ है ही नहीं, और उन नागरिकों को किसी दूसरी चीज में अभिरुचि लेनी ही नहीं चाहिए।

राजनीति दर्शन का स्थान नहीं ले सकती, और राजनैतिक मतवाद जीवन-दर्शन का काम नहीं दे सकते। कुछ दिनों से योरप के लोग इस बात पर ज़ोर देते आये हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है; आज उन्हें कुछ हद तक अपना यह पाठ भूलना पड़ेगा।[३३] उन्हें यह भूलना पड़ेगा कि एक आदर्श-मनुष्य मात्र एक आदर्श नागरिक होता है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य एक समाज, जाति अथवा देश का सदस्य होता है, और उसे उनके प्रति वफ़ादार होना चाहिए। किन्तु एक चिन्तनशील और कल्पना-शक्ति-सम्पन्न प्राणी होने के नाते मनुष्य को दूसरी चीज़ों के प्रति भी वफ़ादार होना चाहिए। उसमें सम्पूर्ण मानवजाति का ध्यान होना चाहिए, और मानवता के अतीत का भी। अतीत के साथ ही उसे मनुष्य के भविष्य की चिन्ता भी होनी चाहिये। इतिहास में जहाँ-जहाँ मनुष्य ने सौन्दर्य और नैतिक उच्चता की प्रतिष्ठा की है, और भविष्य में वैसी प्रतिष्ठा की जो सम्भावनाएँ हैं, उन सब के प्रति हममें वफ़ादारी तथा श्रद्धा की भावना होनी चाहिए। साथ ही मनुष्य के लिये यह उचित है कि वह अपने को धरती के जीवन तक सीमित न करे, बल्कि, समस्त ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप में, तथ्यों तथा मूल्यों के अशेष विस्तार के प्रति प्रतिक्रिया करे। प्लेटो का विचार था कि एक आदर्श राज्य की प्रतिष्ठा दार्शनिकों के शासन में ही हो सकती है। एक जनतंत्रात्मक राज्य, जिसके शासक समस्त नागरिक होते हैं, आदर्श राज्य तब ही बन सकता है जब उसके नागरिक दार्शनिक हों, अथवा दार्शनिकों की विवेक-बुद्धि के अनुसार चलनेवाले हों। यहाँ यह स्मरण रहे कि दार्शनिक विवेक का अर्थ मुख्यतः जीवन के विविध मूल्यों के आपेक्षिक महत्व का बोध है।

आज का मनुष्य अपनी अनेक उलझी हुई समस्याओं के हल की ओर कदम भी नहीं बढ़ा सकता जब तक कि वह प्राचीन ऋषियों की इस शिक्षा का महत्व न समझे कि हमें अपने को जानना चाहिए। यह शिक्षा उपनिषदों ने दी है, लाउत्से और बुद्ध, सुकरात और ईसा, पतंजलि और टॉमस एक्वीनास आदि ने भी दी है। टॉलस्टॉय, रामकृष्ण परमहंस, और गाँधीजी ने भी वैसी ही शिक्षा दी है। मानव व्यक्तित्व उच्चतम कोटि के मूल्यों का अधिष्ठान है, वह केवल भौतिक परिवेश से उठनेवाले उत्तेजकों (Stimuli) के प्रति प्रतिक्रियाओं की परम्परा नहीं है। मनुष्य की महत्ता इसमें है कि वह उन चीज़ों का अतिक्रमण करे जो उसके निकट हैं और उसके लिये उपयोगी हैं, और मूल्यों तथा आदर्शों के उस जगत के प्रति प्रतिक्रिया करे जिनके चित्र उसकी बुद्धि तथा नैतिक एवं सौन्दर्यमूलक कल्पना द्वारा खड़े किये जाते हैं। यही कारण है कि आज के

सब से बड़े अमेरिकी करोड़पति की अपेक्षा से बुद्ध और प्लेटो श्रेष्ठतर मनुष्य जान पड़ते हैं। मनुष्य की असलियत उसकी सृजनशील प्रकृति में है, वह लगातार अपनी जैवी-सामाजिक प्रकृति की जरूरतों और उनके उपभोग से सम्बद्ध सीमाओं का अतिक्रमण करता है। उसे वैसा अतिक्रमण करते रहना चाहिए।

आज के मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वह अपनी प्रकृति की सृजनात्मक सम्भावनाओं में फिर आस्था रखना सीखे और उनके प्रति विस्मय तथा श्रद्धा का भाव जागृत करे। इसका यह मतलब नहीं कि जब तक कि संसार का प्रत्येक मनुष्य चिन्तन तथा मनन की दार्शनिक-आध्यात्मिक ऊँचाई पर न पहुँच जाय तब तक संसार का कल्याण नहीं हो सकता। मतलब सिर्फ यह है कि दुनिया के लोगों को अपने सामने उन महापुरुषों का आदर्श रखना चाहिए जिन्होंने विश्व के कल्याण के लिये ज्ञान का संचय तथा नैतिक-आध्यात्मिक साधना की है, तथा त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक ऊँचाई को प्राप्त किया है—बड़े-बड़े व्यवसायी पूँजीपति और कूटनीति के ज्ञाता, राज्यों के मंत्री और पार्लामेण्टों के सदस्य, जिनके पास धन अथवा शक्ति है, आदर्श-रूप में नहीं देखे जाने चाहिएँ।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों धरातलों पर मानव-जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिये यह ज़रूरी है कि हम उस जीवन तथा उसकी अनुभूतियों की गुणात्मक विशेषताओं का अध्ययन करें। धन और ज़मीन अथवा देशगत विस्तार, अस्त्र-शस्त्र तथा व्यापार आदि के विचार को गौण बना देना पड़ेगा। यदि विभिन्न देशों के विचारक तथा नेता, और बाद में सरकारें, हमारे इन मन्तव्यों को स्वीकार कर लें, तो दुनिया के मुख्य देशों में क्रमशः असली साम्यवादी जनतंत्रों की स्थापना हो जाय।

निकोलाय बार्ज्याएव ने यह प्रतिपादित किया है कि संस्कृति और जीवन तथा संस्कृति और सभ्यता में एक प्रकार का विरोध है। जब जीवन समृद्ध, सभ्य तथा सुखी बन जाता है तब सांस्कृतिक सृजनशीलता का ह्रास हो जाता है, और क्रमशः संस्कृति का स्थान सभ्यता ले लेती है।[१४] हमारी समझ में इस निराशावादी मन्तव्य को स्वीकार करने की ज़रूरत नहीं है। हमारा अनुमान है कि समृद्ध जीवन भी तब तक वस्तुतः सुखी नहीं हो सकता जब तक उसमें सांस्कृतिक क्रियाओं का योग न हो, क्योंकि अन्तिम विश्लेषण में, सबसे ऊँची कोटि का आनन्द सांस्कृतिक होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि विज्ञान और सभ्यता की प्रगति ने मनुष्य की सृजनात्मक

प्रवृत्तियों को क्षत किया है। विज्ञान और दर्शन की प्रगति विस्मय तथा रहस्य की भावनाओं पर निर्भर करती है; विज्ञान की प्रगति के साथ ये भावनायें घटती नहीं, बल्कि बढ़ती ही जाती हैं। सांस्कृतिक ह्रास का कारण निम्न स्थितियाँ जान पड़ती हैं : लोभ तथा वासनात्मकता की वृद्धि और उच्चतर मूल्यों में अनास्था का प्रसार; इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगों में संयम का अभाव; अच्छाई-बुराई के पैमानों के सम्बन्ध में सन्देहवाद की वृद्धि, आन्तरिकता का अभाव, जीवन के विभिन्न लक्ष्यों तथा हितों के अन्वेषण में दिशाहीनता; उस धैर्य तथा संकल्प-शक्ति की कमी जिनकी संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में उच्च कोटि की उपलब्धियां करने के लिये अपेक्षा होती है। तात्पर्य यह कि सांस्कृतिक ह्रास अथवा अधःपतन के कारण मुख्यतः दो होते हैं : जीवन के मूल्यों तथा उसकी उच्चतर सम्भावनाओं में आस्था का अभाव, और मानवीय महात्वाकांक्षाओं का भौतिक तथा क्षणिक चीजों की ओर रुझान। इस प्रकार की प्रवृत्ति तब होती है जब सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक वातावरण में अनिश्चय की भावना होती है, और लोग कल्पना-मूलक दूरदर्शिता के जीवन से विरत होकर बेचैनी से क्षणिक उत्तेजना-मूलक सुखों को पाने की कोशिश करते हैं। ह्रासोन्मुख संस्कृति एक गहरे अर्थ में अधार्मिक अथवा अनाध्यात्मिक होती है। सांस्कृतिक अधःपतन का एक पक्ष होता है, उच्च वर्ग के लोगों में जन-साधारण के प्रति उपेक्षा। सांस्कृतिक या नैतिक अधःपतन का यह पक्ष मानव-व्यक्तित्व की अवहेलना का आवश्यक परिणाम होता है।

सिद्धान्तहीन अवसरवादिता, प्रतियोगिता तथा शोषण को हटाकर समाजवादी व्यवस्था लोगों में भौतिक सामग्री के प्रति अधिक संतुलित मनोभाव उत्पन्न कर सकती है। उस व्यवस्था में भौतिक सामग्री की वृद्धि सांस्कृतिक क्रियाओं के लिये ख़तरनाक नहीं रहेगी। बात यह है कि भौतिक सम्पत्ति का अतिशय मोह केवल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं होता, उसका कारण प्रायः उस सामाजिक आदर की भूख होती है जो धनवानों को प्राप्त होता है। समाजवादी व्यवस्था में विभिन्न लोगों के सम्पत्ति-सम्बन्धी भेद कम हो जायँगें। इसीलिये भौतिक सम्पत्ति का महत्व भी कम हो जायगा। उस दशा में भौतिक सम्पत्ति सामाजिक श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं रह जायगी। और वह समाज या जाति जो अपने नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास को सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था तथा शिक्षा का लक्ष्य मानती है, भौतिक लाभ के लिये दूसरी जातियों का शोषण भी नहीं करना चाहेगी। हमारी सम्पत्ति की लालसा हमें स्वार्थी तथा अहंकारी बना देती है। उन प्रवृत्तियों के वश होकर हम

दूसरे मनुष्यों को अपने व्यक्तिगत लाभ का साधन समझने लगते हैं। किन्तु एक सृजनशील व्यक्ति दूसरे मनुष्यों में इसलिये रुचि नहीं लेता कि वे आगे चलकर उसके लिये लाभकारी सिद्ध होंगे, बल्कि इसलिए कि वह उनके सम्पर्क से अपने अस्तित्व को समृद्ध कर सकता है। यदि राष्ट्र संघ जैसी संस्थाएँ मानवजाति की विभिन्न इकाइयों में एकता स्थापित करना चाहती हैं, तो उन्हें चाहिए कि व्यक्तियों और जातियों में इस बात का प्रचार करें कि वे आध्यात्मिक-सांस्कृतिक क्रियाओं को अधिक महत्व दें, और दूसरे देशों की वैसी क्रियाओं में साझेदार बनें। जब दुनिया के देश धन तथा शक्ति के बदले सांस्कृतिक प्रगति को अपना प्रमुख लक्ष्य बना लेंगे तो उनके लिए यह कठिन नहीं होगा कि वे अपनी राज्य-शक्ति का एक हिस्सा किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सौंप दें। यदि प्रो० लास्की का मन्तव्य ठीक है, तो उस दशा में दुनिया के देशों के बीच सच्ची शान्ति की स्थापना हो सकेगी।

संकेत और टिप्पणियाँ

१. भवभूति, उत्तररामचरितम्, अंक ३, श्लोक ६ के बाद।

२. दे० रीडर थॉम्ट, कीर्केगार्डस फिलासफी आव् रिलीजन, (प्रिंसटन, १९४९), पृ० २१।

३. एन्साइक्लोपीडिया आव् द सोशल सायन्सेज़, भाग ५, पृ० ४०३।

४. वही।

५. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, चौदहवाँ संस्करण, एज्यूकेशन पर लेख, पृ० ९६४।

६. दे० जान एल्० चाइल्ड्स, एज्यूकेशन ऐन्ड मारल्स, (ऐपलेटन सेंचुरी क्राफ्ट्स, न्यूयार्क, १९५०), पृ० २७।

७. थियोडोर ब्रेमेल्ड, पैटर्न्स आव् एज्यूकेशनल फिलासफी, (वर्ल्ड बुक कं० न्यूयार्क, १९५०), पृ० १५७।

८. जान एल्० चाइल्ड्स द्वारा उद्धृत, वही पृ० ११३।

९. लिन् युताङ द विज्डम आव् चाइना, (माइकेल जोजेफ, लन्दन, १९४८), पृ० १४।

१०. वही, पृ० १५ (गौरव हमारा)।

११. मनुस्मृति, ५।६

१२. इस सम्बन्ध में दे० मैक्स वेबर, द प्रोटेस्टेन्ड एथिक ऐन्ड द स्पिरिट आफ कैपिटेलिज्म, अं० अनु० टैलकाट पार्सन्स कृत, (चार्ल्स स्क्रिबनर्स सन्स, न्यूयार्क) और क्रेन बिन्टन, आइडियाज ऐन्ड मैन (जोनेथन केप, लन्दन, १९५१) अध्याय ९-१०।

१३. आर० बी० कैटेल द्वारा उद्धृत साइकालॉजी ऐन्ड द रिलीजस क्वेस्ट, (टॉमस नेल्सन ऐन्ड सन्स, लन्दन ऐन्ड न्यूयार्क, १९३८), पृ० ६२।

१४. वही, पृ० ५३।

१५. वही, पृ० ५५।

१६. जे० एस० ब्रूबाकर, मार्डन फ़िलासफ़ीज ऑव् एज्यूकेशन, (मैक-ग्रा हिल बुक कं०, न्यूयार्क, १९५०), पृ० ३०५।

१७. अरस्तू के सुख-सम्बन्धी विवरण के लिये दे० एथिका नाइकोमेकिया, बुक १

१८. अरस्तू, पॉलिटिक्स, बुक १

१९. दे० जार्ज एच्० सैबाइन, ए हिस्टरी आव् पोलीटीकल थियरी (जार्ज जी० हैरेप ऐन्ड कं० लि० लन्दन, १९३९), पृ० ४६३।

२०. वही, पृ० ६४१।

२१. दे० एफ़्० डब्ल्यू कोकर, रीसेन्ट पोलीटीकल थाट, (दी एपलेटन सेंचुरी कम्पनी, न्यूयार्क और लन्दन, १९३४), पृ० २०४।

२२. वही, पृ० २०९।

२३. हैराल्ड जे० लास्की, द स्टेट इन थियरी ऐन्ड प्रैक्टिस, (जार्ज एलेन एन्ड अनविन्, लि०, लन्दन, १९३६), पृ० १६-१७।

२४. मैकाइवर द्वारा, द वेब आव् गवर्न्मेंन्ट, (मैकमिलन, न्यूयार्क, १९४७) पृ० १७ पर उद्धृत।

२५. नग्न शक्ति की परिभाषा के लिये दे० बर्ट्रान्ड रसेल, पावर ए न्यू सोशल एनेलिसिस, (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन, लन्दन, मुद्रण १९४६), अध्याय ६।

२६. लास्की, वही, पृ० २७।

२७. मैकाइवर, वही, पृ० १२२-२३।

२८. वही, पृ० २११।

२९. राय लेविस और ऐंगस माड, द इंगलिश मिडिल क्लासेज़, (पैंगुइन बुक्स, १९५३), अध्याय १।

३०. जनतांत्रिक उपलब्धियों के अधिक विवरण के लिये दे० कार्ल पापर, द ओपेन सोसायटी ऐन्ड इट्स एनीमीज भाग २ (जार्ज रतलेज एन्ड सन्स, लि० लन्दन, १९४५), पृ० १२९-३०।

३१. सिलेक्टेड पेपर्स आफ बर्ट्रान्ड रसेल, (द माडर्न लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९२७), पृ० ७१।

३२. लास्की, वही, पृ० २२९।

३३. वही।

३४. दे० पी० ए० सारोकिन, सोशल फिलासफीज आव् ऐन एज आव् क्राइसिस, पृ० १४३।

शब्द-कोष

अध्यात्म	Religion
अध्यात्मवाद प्रत्ययवाद	Idealism
अन्त: प्रेक्षण	Introspection
अन्वेषण-पद्धति	Methodology
अनुभव-निरपेक्ष	Apriori
अतिमानव	Superhuman
अन्योन्याश्रय	Petitio Principii
अवचेतन	Unconscious
अवधान	Attention
अवयवी	Whole, Gestalt
अविच्छिन्नता	Continuity
अभिव्यंजनावाद	Expressionism
अस्तित्ववाद	Existentialism
आँकड़ा विज्ञान	Statistics
आक्षिप्त अभिप्राय	Implication
आक्षिप्त करना	To imply
आगमन	Induction
आगमनात्मक आगमन-मूलक	Inductive
आत्मनिष्ठ आत्म-परक आत्मपाती	Subjective
आत्मनिष्ठतावाद	Subjectivism

आत्मिक	Spiritual
आदिम	Primary
आध्यात्मिक	Religious
आवश्यक, अनिवार्य	Necessary
आवश्यक मान्यता	Postulate
आवेगात्मक	Emotional
आवेग-मूलक	Emotive, Emotional
आयाम, सिम्त	Dimension
उत्सृष्ट प्रत्यय	Construct
उद्योग-तंत्र	Technique of production
उदासीनता, वैराग्य	Detachment
उपचेतन	Sub-conscious
उपयोगिता	Utility
उपयोगी	Utilitarian, useful
उपलब्धि	Achievement
ऋणात्मक	Negative
एकात्मकता	Identity
कथन	Proposition
कथन-रूप	Propositional form
कल्पना	Imagination
कल्पना-मूलक	Imaginative
कल्पना-प्रसूत	Speculative
काल्पनिक प्रयोग	Imaginary Experiment
कृति-शक्ति	Will
क्रम	Order
गत्यात्मक	Dynamic
गुणात्मक	Qualitative
गुह्य शक्ति	Mana
गुह्य शक्तिवाद	Manaism

चरम तत्व	Reality
चरम श्रेय परम श्रेय	Summum Bonum
चिदचिद्भिन्नाद्वैत	Neutral Monism
जातिप्रत्ययवाद	Theory of Ideas
तत्व-दर्शन	Ontology, Metaphysics
तथ्य	Fact
तथ्य-सामग्री	Data
तर्क-मूलक तार्किक	Logical
तर्क-मूलक भाववाद	Logical Positivism
तारतम्यात्मक श्रेणी	Hierarchy
तार्किक आधार	Ground
दर्जे	Degrees
देश-काल-सातत्य	Space-Time Continuum
द्वैत द्वैतवाद	Dualism
धनात्मक	Positive
धारणा	Concept
निगमन	Deduction
निश्चयात्मक	Necessary, Certain
निष्कृष्ट	Deduced
निष्कृष्ट नियम	Derivative Laws
निर्धारक	Determinant
निर्धारण	Determination
निर्वैयक्तिकता	Impersonality
निर्मिति	Construction
पक्षवाक्य	Premise
पद	Term, Status
पद्धति	System, Method

पद्धति-मूलक भौतिकवाद	Methodological Materialism
परम्परा	Tradition
परिणमन	Reduction
परिभाषा	Definition
परिभाषित करना	To define
परिवर्तन-मूलक सहचार	Functional Correlation
परिवेश	Environment
पुनरुक्ति	Tautology
पुनर्जागृति	Renaissance
पुनर्निर्माण, पुनर्ग्रंथन	Reconstruction
पुनःसंगठन, पुनर्ग्रंथन	Rearrangement
पूर्वाभासित करना	Anticipate
प्रत्यय	Idea, Concept
प्रत्याहरण	Abstraction
प्रतिभा, प्रतिभाशाली	Genius
प्रतीक	Symbol
प्रभाववादी आलोचना	Impressionistic Criticism
प्रामाणिकता	Validity
प्रेषण	Communication
भूतशास्त्रवाद, भौतिकतावाद	Physicalism
मात्रा-मूलक	Quantitative
मानववाद	Humanism
मानदण्ड, पैमाना	Criterion
मानवीय अधीतियाँ	Humanities
मानवीय विद्याएँ	Human Studies
मूल गुण	Primary Quality
मूल प्रवृत्ति	Impulse

मूल्य	Value
मूल्यानुप्राणित मूल्यात्मक	Evaluative
यंत्रवाद	Mechanism
रचना-तंत्र शिल्प-विधान	Technique
रूपाकार	Form
वक्तव्य	Statement, Proposition
वर्ग	Class
वस्तुगत, वस्तु-परक, वस्तुपाती	Objective
विक्षिप्त	Neurotic
विवर्त्तमान मूल्य या तत्त्व	Variable
विकास	Evolution, Development
विकासवाद	Evolutionism
विद्युदणु	Electric Particles
विवर्त्त, आभास	Appearance
विविक्त करना	Distinguish
विपरीत	Contrary
विरोध	Contradiction
विरोधी, विरुद्ध	Contradictory
विस्तार	Extension
वियोजक	Analytic
विरोधाभास	Paradox
वेग	Velocity, Speed
व्यक्तिवाद	Individualism
व्यवस्था	Arrangement, Order
व्याख्या	Explanation
व्याख्यासूत्र	Explanatory Principle or Concept.
व्यापन	Diffusion

वैचित्र्य-मूलक कल्पना	Fancy
संकट	Crisis
संदेहवाद, संशयवाद	Scepticism
संप्रेषण	Transmission
संयोजक	Synthetic
संवेदना	Feeling
संभावना	Possibility
संस्कृति	Culture
संस्थान	Pattern
सदसद्बुद्धि	Conscience
सभ्यता	Civilization
समष्टि	System, Whole
समानात्मक	Identical
समाजशास्त्रीय आलोचना	Sociological Criticism
सर्वाहंवाद	Solipsism
सहचार	Correlation
सहप्रामाणिकता	Simultaneous Validity
सहमति, समझौता	Contract
साधनात्मक मूल्य	Instrumental Value
साध्यात्मक मूल्य	Ultimate Value
सापेक्ष	Relative
सापेक्षवाद	Relativity
सापेक्षतावाद	Relativism
सामान्य	General, Normal
सामान्य कथन	Generalisation
सामान्यरूपता	Normality
सार्थकता	Significance
सार्वभौम	Universal
सीढ़ी, सोपान	Stage

सृजानात्मक सृजनशील	Creative
सृजनशीलता	Creativity
स्तर	Level
स्थापना-निगमन-मूलक	Hypothetical-Deductive
स्थित्यात्मक	Static
हेतु	Reason
हेतुस्थिति	Condition